

प्रकाशक :

दशमुक्त माधवप्रिया, मंत्री  
जैन संस्कृति सशोधन मंडल  
हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

---

सन् १९५२ : द्वितीय संस्करण ३  
मूल्य पाँच रुपया केठ आना

---

मुद्रक

जयन्तल जैन  
व्यवसायक

अहमदाबाद । बम्बई ।

## समर्पण

उस भगिनी-मण्डल को कृतज्ञ समर्पण जिसमें  
श्रीमती मोतीबाई जीवराज तथा श्रीमती  
माणिवहन शिवचन्द कापाडिया आदि बहिर्ने  
मुख्य हैं, जिसके द्वारा विद्या-जीवन  
तथा शारीरिक-जीवन में मुझको  
सदा हार्दिक सहायता मिलती  
रही है ।

—सुखलाल संघवी

सुविधा मुखलातेन तत्पार्थस्य विवेचनम् ॥  
'परिचयेन' तस्मिन् विज्ञानस्यः पुरस्कृतम् ॥

## ग्रन्थानुक्रम

	विषय	पृष्ठ
१	लेखक का वक्तव्य	७-१८
२	परिचय का विषयानुक्रम	१९-२०
३	परिचय	१-९१
४	अभ्यासविषयक सूचनाएँ	९२-९६
५	तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि	९७-१३१
६	तत्त्वार्थसूत्र-विवेचन का विषयानुक्रम	१३३-१४८
७	तत्त्वार्थसूत्र विवेचन सहित	१-३५०
८	पारिभाषिक शब्दकोष	३५१-४०४
९	शुद्धिपत्र	४०५-४१०



न भवति धर्मं श्रोतुं, सर्वसौख्यन्ततो हितप्रवणात् ।  
दुःखतोऽनुग्रहपुण्या, वस्तुस्वेकान्ततो भवति ॥

उमास्मालि ७

# लेखक का वक्तव्य



तत्त्वार्थसूत्र के विवेचन का प्रथम मुद्रण गुजराती भाषा में सन् १९३० में गुजरात विद्यापीठ (अहमदाबाद) के द्वारा हुआ था। उसी का हिन्दी सस्करण सन् १९३९ में श्री आत्मानन्द जन्म शताब्दी-स्मारक ग्रन्थमाला (ववई) के प्रथम पुष्प के रूप में हुआ। इस सस्करण में 'परिचय' में कुछ सशोधन किया गया था। और, इसके सपादक श्रीकृष्ण-चन्द्रजी और प० दलसुख भाई मालवणिया के द्वारा क्रमशः शब्द सूची और सूत्र पाठ उपलब्ध पाठान्तरो के साथ जोड़ा गया था। 'परिचय' में खास कर वाचक उमास्वाति की परपरा के विषय में पुनर्विचार करके यह कहा गया था कि वे श्वेताम्बर परपरा में हुए। इसी हिन्दी सस्करण के आधार पर गुजराती तत्त्वार्थ सूत्र की दूसरी आवृत्ति १९४० ई० में श्री पूजाभाई जैन ग्रन्थ माला (अहमदाबाद) से प्रकाशित हुई और विवेचन में दो चार स्थानो में विशेष स्पष्टीकरण बढ़ाकर उसकी तीसरी आवृत्ति उसी ग्रन्थमाला से सन् १९४९ में प्रकाशित हुई है।

प्रस्तुत हिन्दी की दूसरी आवृत्ति उक्त स्पष्टीकरण का समावेश कर के श्री जैन सस्कृति सशोधन मंडल, बनारस की ओर से प्रकाशित हो रही है।

प्रस्तुत सस्करण में 'परिचय' में उपलब्ध सामग्री के आधार पर नया सशोधन किया गया है जो पहले के 'परिचय' के साथ तुलना करने पर मालूम हो सकेगा।

प्रथम गुजराती सस्करण (ई० '३०) के वक्तव्य का आवश्यक भाग हिन्दी में अनुवाद करके नीचे दिया जाता है जिससे मुख्यतया तीन बातें जानी जा सकेंगी। पहली तो यह कि शुरू में विवेचन किस ढंग से लिखने

की इच्छा थी और अन्त में यह किताब बच में लिखा गया। दूराग  
 बात यह कि विवेचन लिखने का प्रारम्भ हिन्दी में किया जाने पर भी यह  
 प्रथम वर्षों और कुछ परिस्थिति में गुजराती में समाप्त किया गया और कि  
 मारा का साथ विवेचन गुजराती में ही प्रथम क्या प्रसिद्ध हुआ। तीसरी  
 बात यह कि कसे और किन अधिकारियों को लक्ष्य में रख कर विवेचन  
 किया गया है यह विषय आचार पर ठगार किया गया है और उसका स्वरूप  
 तथा धैर्य कैसी रही है।

“प्रथम कल्पना—सम्राज्य १२ वर्ष पहले जब मैं अपने सहृदय मित्र  
 श्रीरमलिकान्त मदनलाल मोदी जी ए के माण पूना में था उस समय  
 हम दोनों ने मिल कर साहित्य-निर्माण के बारे में अनेक विचार होड़ाने  
 के बाद तीन साल लिखने की स्पष्ट कल्पना की। स्वताम्बर-दिगम्बर दोनों  
 सम्प्रदायों में प्रति दिन बहती हुई पाठशालाओं छात्राशालाओं और विद्यालया  
 में ब्रह्म-वर्तन के सिद्धांत की आवश्यकता ब्रह्म-वैद्य अधिक प्रतीत होने लगी  
 ब्रह्म-वैद्य चारा और वे दोनों सम्प्रदायों में मान्य ऐसे नई शैली के भाष  
 भाषा में लिख हुए ब्रह्म वर्तन विषयक पंथा की माँग भी होने लगी। यह  
 देख कर हम ने निश्चय किया कि तत्पश्चात् और ‘सन्मतिवर्क इन शाना  
 ग्रन्थों का ही विवेचन करना और उसके परिचय स्वरूप तृतीय पुस्तक  
 ब्रह्म पाणिमायिक सन्दर्भकोय’ यह स्वतन्त्र लिखना। हमारी इस प्रथम  
 कल्पना के अनुरोध हम दोनों ने तत्पश्चात् के विवेचन का काम मात्र ११  
 वर्ष पूर्व आरम्भ से प्रारम्भ किया।

हमारी विद्यालय योजना के अनुरोध हमने काम प्रारम्भ किया और  
 इस सहायकों का समागम होता गया पर वे आकर स्थिर रहे उसके  
 पूर्व ही पक्षियों की तरह जित्त-निज विद्याओं में तितर-बितर हो गये।  
 और पीछे इस आगरा के ब्रह्मसे में मैं अकेला ही रह गया। तत्पश्चात् का  
 आरम्भ किया हुआ कार्य और अन्य कार्य मेरे अकेले के हिये सत्य न के  
 और यह कार्य पाठे जिह्व बच से पूर्ण करना यह निश्चय भी क्षुप बीटा  
 रहने से ऐसा न था। उद्योग और मित्रों का आकर्षण देख कर मैं आरम्भ  
 छोड़ कर अहमदाबाद आया। वही धैर्य सम्पत्ति का कार्य हाथ में लिया

और तत्त्वार्थ के दो चार सूत्रों पर आगरा में जो कुछ लिखा वह जैसा का तैसा पड़ा रहा।

भावनगर में ई० स० १९२१-२२ में मन्मति का काम करते समय बीच-बीच में तत्त्वार्थ के अचूरे रहे हुए काम का स्मरण हो आता और मैं चिन्तित हो जाता। मानसिक सामग्री होने पर भी आवश्यक दृष्ट मित्रों के अभाव में मैंने तत्त्वार्थ के विवेचन की प्रथम निश्चित की हुई विशाल योजना दूर हटा दी और उतना भार कम किया, पर इस कार्य का सकल्प वैसा का वैसा था। इसलिए तवीयत के कारण जब मैं विश्रान्ति लेने के लिए भावनगर के पास के वालुकड गाँव में गया तब पीछे तत्त्वार्थ का कार्य हाथ में लिया और उसकी विशाल योजना को संक्षिप्त कर मध्यममार्ग का अवलम्बन लिया। इस विश्रान्ति के समय भिन्न भिन्न जगहों में रह कर लिखा। इस समय लिखा तो कम गया पर उसकी एक रूपरेखा (पद्धति) मन में निश्चित हो गई और कभी अकेले भी लिख सकने का विश्वास उत्पन्न हुआ।

मैं उस समय गुजरात में ही रहता और लिखता था। प्रथम निश्चित की हुई पद्धति भी संकुचित करनी पड़ी थी, फिर भी पूर्व मस्कारों का एक साथ कभी विनाश नहीं होता, इस मानस-शास्त्र के नियम से मैं भी बद्ध था। इसलिए आगरा में लिखने के लिए सोची गई और काम में लाई गई हिन्दी भाषा का मस्कार मेरे मन में कायम था। इसलिये मैंने उसी भाषा में लिखने की शुरुआत की थी। दो अध्याय हिन्दी भाषा में लिखे गए। इतने में ही बीच में बन्द पड़े हुए सन्मति के काम का चक्र पुनः प्रारम्भ हुआ और इसके वेग से तत्त्वार्थ के कार्य को वहीं छोड़ना पड़ा। स्थूल रूप से काम चलाने की कोई आशा नहीं थी, पर मन तो अधिकाधिक ही कार्य कर रहा था। उसका थोड़ा बहुत मूर्त रूप आगे दो वर्ष बाद अवकाश के दिनों में कलकत्ते में सिद्ध हुआ और चार अध्याय तक पहुँचा। उसके बाद अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक त्रुटि बढ़ते ही गए, इसलिये तत्त्वार्थ को हाथ में लेना कठिन हो गया और ऐसे के ऐसे तीन वर्ष दूसरे कामों में बीत गए। ई० स० १९२७ के

प्रीम्पासकास में खीमड़ी रवाना हुआ। तब फिर तत्पार्थ का काम हाथ में  
 लाना और बोझ माने बहा अगमन १ अध्याय तक पहुँच गया। पर  
 अन्त में मुझे प्रतीत हुआ कि जब सगति का कार्य पूर्ण करने के बाद  
 ही तत्पार्थ को हाथ में लेने में अर्थ है। इसलिये सगतिपूर्वक के कार्य को  
 पूरे वेध से करने लगा। पर इतने समय तक बुजबुज में रहने से और  
 पद मिश्रों के कहने से यह चारणा हुई कि पहले तत्पार्थ का बुजबुजी  
 संस्करण निकालना काम। यह लकीन संस्कार प्रबल था। और पुनः  
 संस्कार ने हिन्दीभाषा में १ अध्याय लिखना लिखाया था। स्वयं हिन्दी से  
 बुजबुजी करना सम्य और इष्ट होने पर भी उसके लिए समय नहीं  
 था। सब बुजबुजी में किन्तु तो भी प्रथम हिन्दी में लिखे हुए का क्या  
 उपयोग? श्रेय अनुवाचक प्राप्त करना भी कोई सरल बात नहीं  
 वह समी अनुवाचक भी पर सम्यकस इतका भी अन्त आ गया।  
 विद्वान् और सहाय मित्र रसिककास लोटाकास परीक्ष ने हिन्दी से  
 बुजबुजी में अनुवाच किमा और संय चार अध्याय में बुजबुजी में ही  
 लिख डाले। इस तरह लगभग सारह वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया हुआ संकल्प  
 अन्त में पूर्ण हुआ।

पद्यति—पहले तत्पार्थ के ऊपर विवेचन लिखने की कल्पना हुई तब  
 उस समय निश्चित ही इसी योजना के पीछे यह दृष्टि थी कि संपूर्ण  
 अन्तरेवज्ञान और अन्त-वाचार का स्वल्प एक ही स्थान पर प्रायोगिक  
 रूप में उसके विकासक्रमानुसार लिखा हुआ प्रत्येक अध्यायी के लिए सुभय  
 हो। अन्त और अन्तरे तत्पज्ञान के अध्यायियों की संकुचित परिभाषाओं  
 की विषय तुलनात्मक वर्णन द्वारा टूट जायगी और भाव एक के साठवीं  
 वर्णनों में या पश्चिमी तत्पज्ञानों के चिन्तनों में छिड़ और स्पष्ट हुए  
 महत्त्व के विषयों द्वारा अन्त अन्तरे सद्गुण हो इस प्रकार तत्पार्थ का विवे-  
 चन लिखना। इस चारणा में तत्पार्थ की दोनों सम्प्रदायों की किसी  
 एक ही शाखा के अनुवाच या सार को स्थान नहीं था। इसमें टीकाओं  
 के दोहन के विषय दूसरे भी महत्त्वपूर्ण अन्तरे के सार को स्थान था।

१ इन चार अध्यायों का हिन्दी अनुवाचकी कृष्णचन्द्रजी ने किया है।

पर जब इस विशाल योजना ने मध्यम मार्ग का रूप पकड़ा तब उसके पीछे की दृष्टि भी कुछ सकुचित हुई। फिर भी मैंने इस मध्यममार्गी विवेचन पद्धति में मुख्य रूप से निम्न बातें ध्यान में रखी हैं

(१) किसी एक ही ग्रन्थ का अनुवाद या मार नहीं लिख कर या किसी एक ही सम्प्रदाय के मन्तव्य का बिना अनुसरण किये ही जो कुछ आज तक जैन तत्त्वज्ञान के अङ्ग स्वरूप पढ़ने में या विचार में आया हो, उसका तटस्थ भाव से उपयोग कर विवेचन लिखना।

(२) महाविद्यालय या कॉलेज के विद्यार्थियों को जिज्ञासा के अनुकूल ही तथा पुरातन प्रणाली से अभ्यास करनेवाले विद्यार्थियों को भी पसंद आवे इस प्रकार साम्प्रदायिक परिभाषा कायम रखते हुए उसे सरल कर पृथक्करण करना।

(३) जहाँ ठीक प्रतीत हो और जितना ठीक हो उतने ही परिमाण में सवाद रूप से और शेष भाग में बिना सवाद के सरलतापूर्वक चर्चा करनी।

(४) विवेचन में सूत्रपाठ एक ही रखना और वह भी भाष्य स्वीकृत और जहाँ जहाँ महत्त्वपूर्ण अर्थभेद हो वहाँ वहाँ भेदवाले सूत्र को लिख कर नीचे टिप्पणी में उसका अर्थ देना।

(५) जहाँ तक अर्थदृष्टि मगत हो वैसे एक या अनेक सूत्रों को साथ लेकर उनका अर्थ लिखना और एक साथ ही विवेचन करना। ऐसा करते हुए विषय लम्बा हो वहाँ उसका विभाग कर शीर्षक द्वारा वक्तव्य का पृथक्करण करना।

(६) बहुत प्रसिद्ध हो वहाँ और अधिक जटिलता न आ जाय इस प्रकार जैन परिभाषा की जैनतरपरिभाषा के साथ तुलना करना।

(७) किसी एक ही विषय पर जहाँ केवल श्वेताम्बर या दिगम्बर या दोनों के मिल कर अनेक मन्तव्य हो वहाँ पर कितना और क्या लेना और कितना छोड़ना इसका निर्णय सूत्रकार के आशय की निकटता और विवेचन के परिमाण को मर्यादा को लक्ष्य में रख कर स्वतन्त्र रूप से

विश्वना और प्रिया एक ही चित्रण के बलीभूत म हीरक के तत्त्वज्ञान या सूत्रकार का ही अनुसरण करना ।

इससे आते ध्यान में रहन पर भी प्रस्तुत विवेचन में माध्य उसकी शक्ति सवार्थसिद्धि और राजवातिक के ही अर्थों का विमय रूप से माना स्वामादिक है । कारण कि ये ही प्रथम मूलधूम की आख्या का स्वर्ण कर स्पष्ट करते हैं । उनमें भी अधिकतर होने माध्य को ही प्राणाम्य दिया है क्योंकि कि वह पुण्या और स्वोपज होने के कारण मूलधूम के आण्य को अधिक स्वर्ण करने वाला है ।

प्रस्तुत विवेचन में पहले की विषय यात्रा के अनुसार तुलना नहीं की गई है । इस लिए इस न्यूनताको छोड़े बहुत अर्थ में दूर करने और तुलनात्मक प्रदानतावाली मात्र-कक की रसप्रद विषय प्रमाणी का अनुसरण करने के लिए 'परिचय' में तुलना सम्बन्धी कार्य किया गया है । ऊपर ऊपर से परिचय में की गई तुलना पाठक को प्रमाण में बहुत ही कम प्रतीत होती, यह ठीक है पर न्यूनता से अभ्यास करने वाले वैदिक संकेतों कि यह प्रमाण में अल्प प्रतीत होने पर भी विचारणीय अधिक है । परिचय से ही जानेवाली तुलना में कम्मे कम्मे विषय और वर्धनों का स्थान नहीं हुआ इसलिए तुलनापयोगी मूल्य महीं को पहले छाँट कर पोंछे में संमिश्र मूर्तों की वैदिक और बौद्ध वर्तनों के साथ तुलना की गई है । उन उन मूर्तों पर अमोरेबार विचार के लिए सम-उन वर्तनों के प्रमाणों के स्वर्णों का निरूपण किया गया है । इससे अभ्यासी के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करने का भी अवकाश रहेगा इसी महाने उनके लिए वर्तनात्मक के व्यवहार का मार्ग भी कुछ जायदा ऐसी ही बताया रखता हूँ ।

गुरुपती विवेचन के करीब २१ वर्ष बाद हिन्दी विवेचन की यह दूसरी आवृत्ति प्रकाशित हो रही है । इतने समय में तत्सार्थ से संबंध रखने वाला साहित्य ठीक-ठीक परिमाण में प्रकट हुआ है । मायत-इति स संस्कृत गुरुपती अर्थेवी और हिन्दी इन चार भाषाओं में तत्सार्थ विषयक साहित्य प्रकट हुआ है । इस में भी न केवल प्राचीन ग्रन्थों का ही

प्रकाशन समाविष्ट है, किन्तु समालोचनात्मक, अनुवादात्मक, सशोधनात्मक और विवेचनात्मक ऐसे अनेकविध साहित्य का समावेश है ।

प्राचीन टीका ग्रंथों में से सिद्धसेनीय और हरिभद्रीय दोनों भाष्य-वृत्तियों को पूर्णतया प्रकाशित करने-कराने का श्रेय वस्तुतः श्रीमान् सागरा-नन्द सूरेश्वर को है । एक उन्होंने समालोचनात्मक निबन्ध भी हिन्दी में लिखकर प्रकाशित कराया है, जिसमें वाचक उमास्वाति के श्वेताम्बरीयत्व या दिगम्बरीयत्व के विषय में मुख्य रूपसे चर्चा है । तत्त्वार्थ के मात्र मूलसूत्रों का गुजराती अनुवाद श्री हीरालाल कापडिया एम ए का, तथा तत्त्वार्थभाष्य के प्रथम अध्याय का गुजराती अनुवाद विवेचन सहित प० प्रभुदास बेचरदास परीख का प्रकाशित हुआ है । तत्त्वार्थ का हिन्दी अनुवाद जो वस्तुतः मेरे गुजराती विवेचन का अक्षरश अनुवाद है वह फलोचो मारवाडवाले श्री मेघराजजी मुष्णत के द्वारा तैयार होकर प्रकाशित हुआ है । स्थानकवासी मुनि आत्मारामजी उपाध्याय (अब आचार्य) के द्वारा 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम समन्वय' नामक दो पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुई हैं । इनमें से एक हिन्दी अर्थयुक्त है और दूसरी हिन्दी अर्थरहित आगमपाठ वाली है ।

श्री रामजी भाई दोशीने तत्त्वार्थ का विवेचन गुजराती में लिखकर सोनगड से प्रकाशित किया है । प्रो जी आर जैन का तत्त्वार्थ के पंचम अध्याय का विवेचन आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से अंग्रेजी में लखनऊ से प्रकाशित हुआ है । प० महेन्द्रकुमारजी द्वारा संपादित श्रुतसागराचार्यकृत तत्त्वार्थवृत्ति, प० लालबहादुर शास्त्री कृत तत्त्वार्थसूत्र का हिन्दी अनुवाद और प० फूलचंदजी का हिन्दी विवेचन बनारस से प्रकाशित हुआ है । तत्त्वार्थसूत्र की भास्करनदिकृत सुखबोधवृत्ति औरिण्टल लायब्रेरी पब्लिकेशन की मस्कृत सिरोज में ८४ वी पुस्तक रूपसे पंडित शान्तिराज शास्त्री द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुई है । यह वृत्ति १४ वी शताब्दी की है । तत्त्वार्थसूत्र की प्रकाशिका नामक व्याख्या जो श्री विजय लावण्यसूरिकृत है और जो श्री विजय नेमिसूरि ग्रन्थमाला के २२ वे रत्न के रूपमें प्रकाशित हुई है वह पंचमाध्याय के उत्पादव्ययादि तीन सूत्रों ( ५ २९-३१ ) की नभाष्य विवेचनात्मक वृत्ति का हिन्दी अनुवाद है ।



पिछले २१ वर्षों में प्रकाशित व निर्मित तत्त्वार्थ सम्बन्धी साहित्य का सम्मेलन यही इतिहास किया है कि २१ वर्षों के पहले जो तत्त्वार्थ के अध्ययन-अध्यापन का प्रकार था वह पिछले वर्षों में किस तरह और कितने परिमाण में बढ़ गया है और दिन प्रतिदिन उनके बढ़नेकी कितनी प्रबल सम्भावना है। पिछले वर्षों के तत्त्वार्थ विषयक तीनों किरकों के परिशीलन में मेरे 'नूतनराठी विवेचन' का कितना हिस्सा है यह दिखाना मेरा काम नहीं। फिर भी ये इतना तो कह सकता हूँ कि तीनों किरकों के योग्य अधिकारियों ने मेरे नूतनराठी विवेचन का इतना अपमाना कि जो मेरी कल्पना में भी न था।

तत्त्वार्थ की प्रथम द्वितीय तृतीय के प्रकाशित होने के बाद तत्त्वार्थ सूत्र उद्योग भाष्य और वाचक उमास्वाति और तत्त्वार्थ की अनेक टीकाएँ इत्यादि विषयों के बारे में अनेक लेखकों के अनेक लेख निकले हैं। परन्तु यहाँ पर मुझे श्रीमान् नाचूरामजी देवी के लेख के बारे में ही कुछ कहना है। प्रयोगी का 'भारतीय विद्या'-विषयी स्मारक अंक में 'वाचक उमास्वाति का सभाध्य तत्त्वार्थ सूत्र और उनका सप्रसाय नामक लेख प्रसिद्ध हुआ है। अन्तर्गत शीर्षक 'उद्गापोह' के बाद यह बतलाया है कि वाचक उमास्वाति यापनीय सूत्र के आचार्य न। उनकी अनेक इच्छाएँ ऐसी हैं जो उनके मंत्रम्व को धारण के लिए आह्वय कर्णी हैं इतिहास उनके मन्त्रम्व की विशेष परीक्षा करने के लिए सटीक मयवती आराधना का बाह्य परिशीलन व भी बससुख मातृवधियान किया। उन परिशीलन के फल स्वरूप जो शीर्षक 'उद्गापोह' तैयार की उन पर उनके साथ मिलकर मैंने भी विचार किया। विचार करते समय मयवती आराधना उसकी टिकाएँ और बहुलरूपभाष्य आदि पन्नों का आवश्यक व्यवहोक्त भी किया। वहाँ तक मंत्रम्व का इन प्रश्न वर मुक्तमन से विचार किया। बाहिर में इस दोनों इस कठिने पर पहुँचे कि वाचक उमास्वाति यापनीय न न १

१ देवता अनेकान्त वर्ष ३ अंक १, ४ ११ १२ व ४ अंक १ ४ १ ७ ८ ११ १२ वर्ष ५ अंक १-११ जैन विद्वान् मास्कर वर्ष ८ और ९। जैनतत्त्वार्थकाय व ६ अंक ४ भारतीय-विद्या-विषयी स्मारक अंक।

वे सचेल परपरा के थे जैसा कि हमने परिचय में दर्शाया है। हमारे अवलोकन और विचार का निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार है—

( १ ) भगवती आराधना और उसके टीकाकार अपराजित दोनों यदि यापनीय है तो उनके ग्रन्थ से यापनीय सध के आचारविषयक निम्न लक्षण फलित होते हैं—

( क ) यापनीय आचार का औत्सर्गिक अंग अचेतत्व अर्थात् नग्नत्व है।

( ख ) यापनीय सध में मुनि की तरह आर्याओ का भी मोक्षलक्षी स्थान है। और अवस्थाविशेष में उनके लिए भी निवसनभाव का उपदेश है।

( ग ) यापनीय आचार में पाणितल भोजन का विधान है और कमण्डलू-पिच्छ के सिवाय और किसी उपकरण का औत्सर्गिक विधान नहीं है।

उक्त लक्षण उमास्वाति के भाष्य और प्रशमरति जैसे ग्रन्थों के वर्णन के साथ विलकुल मेल नहीं खाते क्योंकि उनमें स्पष्ट रूप से मुनि के वस्त्र-पात्र का वर्णन है। और कहीं भी नग्नत्व का औत्सर्गिक विधान नहीं है। एव कमण्डलू-पिच्छ जैसे उपकरण का तो नाम भी नहीं।

( २ ) श्रीप्रेमीजी की दलीलों में से एक यह भी है कि पुण्य प्रकृति आदि विषयक उमास्वाति का मन्तव्य अपराजित की टीका में पाया जाता है। परन्तु गच्छ तथा परपरा की तत्त्वज्ञान-विषयक मान्यताओं का इतिहास कहता है कि कभी कभी एक ही परपरा में परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाली सामान्य और छोटी मान्यताएँ पाई जाती हैं। इतना ही नहीं बल्कि दो परस्पर विरोधी मानी जानेवाली परपराओं में भी कभी कभी ऐसी सामान्य व छोटी छोटी मान्यताओं का एकत्व पाया जाता है। ऐसी दशा में वस्त्रपात्र के समर्थक उमास्वाति का वस्त्रपात्र के विरोधी यापनीय सध की अमुक मान्यताओं के साथ साम्य पाया जाय तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं।

प० फूलचन्द्रजी ने तत्त्वार्थ सूत्र के विवेचन की प्रस्तावना में गृध्र-पिच्छ को सूत्रकार और उमास्वाति को भाष्यकार बतलाने का प्रयत्न

विच्छेद २१ वर्षों में प्रकाशित न निर्मित उत्सव सम्बन्धी साहित्य का उत्सव यहाँ इसलिए किया है कि २१ वर्षों के पहले जो उत्सव के सम्बन्ध-सम्पादन का प्रकाश या वह विच्छेद वर्षों में किस तरह और कितने परिमाण में बढ़ गया है और किस प्रतिदिन उसके बढ़नेकी कितनी प्रवृत्ति सम्भावना है। विच्छेद वर्षों के उत्सव विषयक तीनों छिद्रों के परिशीलन में मेरे 'युवराज्य विवेचन' का कितना हिस्सा है यह विज्ञान मेरा काम नहीं। छिद्र भी मैं इतना ही कह सकता हूँ कि तीनों छिद्रों के योग्य अधिकारियों ने मेरे 'युवराज्य विवेचन' का इतना अपनाया कि जो मेरी कल्पना में भी न था।

उत्सव की प्रथम हिन्दी आवृत्ति का प्रकाशित होने के बाद उत्सव सूत्र उनका भाष्य और वाचक उमास्वाति और उत्सव की बनेक टाकएँ इत्यादि विषयों के बारे में बनेक केन्द्रों के बनेक केन्द्र निकले हैं। परन्तु यहाँ पर मुझे भीमान् नाचूयमजी प्रेसी के केन्द्र के बारे में ही कुछ कहना है। प्रमोदी का 'भारतीय विद्या-सिंधी स्मारक अंक' में 'वाचक उमास्वाति का उमास्वा उत्सव सूत्र और उनका सम्पादन' नामक लेख प्रसिद्ध हुआ है। उन्होंने शर्म कृष्णाह के बाद यह बताया है कि वाचक उमास्वाति भारतीय वाच के वाचक हैं। उनकी बनेक बनेक ऐसी हैं जो उनके मर्मतन्त्र को, धारण के लिए बाधक करती हैं इसलिए उनके मर्मतन्त्र की विशेष परीक्षा करने के लिए सटीक जगदीश बाराहना का जाल परिशीलन एवं भी बहसुक्त माकचिन्तन किया। उस परिशीलन के फल स्वल्प ही मैंने उन्हीं तैयार की उन पर उनके साथ मिलकर मैं भी विचार किया। विचार करते समय जगदीश बाराहना उसकी टिकाएँ और बहुलकल्पमाय्य जाति पत्नों का आवश्यक अवलोकन भी किया। यहाँ तक संभव था उस प्रथम बर मुक्तमन से विचार किया। बाहिर में हम दोनों इन लीने पर पहुँचे कि वाचक उमास्वाति भारतीय न न

१ देना अनसूत वर्ष २ अंक १, ४, ११ १२; वय ४ अंक १ ४ ९ ७ ८ ११ १२ वय ५ अंक १-११ जैन सिद्धान्त म्यस्त्र वर्ष ८ और ९। जैनमत्तप्रकाश वय ६ अंक ४ भारतीय-विद्या-सिंधी स्मारक अंक।

वे सचेल परपरा के थे जैसा कि हमने परिचय में दर्साया है। हमारे अवलोकन और विचार का निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार है—

( १ ) भगवती आराधना और उसके टीकाकार अपराजित दोनों यदि यापनीय है तो उनके ग्रन्थ से यापनीय सघ के आचारविषयक निम्न लक्षण फलित होते हैं—

( क ) यापनीय आचार का औत्सर्गिक अंग अचेलत्व अर्थात् नग्नत्व है।

( ख ) यापनीय सघ में मुनि की तरह आर्याओ का भी मोक्षलक्षी स्थान है। और अवस्थाविशेष में उनके लिए भी निवसनभाव का उपदेश है।

( ग ) यापनीय आचार में पाणितल भोजन का विधान है और कमण्डलु-पिच्छ के सिवाय और किसी उपकरण का औत्सर्गिक विधान नहीं है।

उक्त लक्षण उमास्वाति के भाष्य और प्रशमरति जैसे ग्रन्थों के वर्णन के साथ बिलकुल मेल नहीं खाते क्योंकि उनमें स्पष्ट रूप से मुनि के वस्त्र-पात्र का वर्णन है। और कहीं भी नग्नत्व का औत्सर्गिक विधान नहीं है। एव कमण्डलु-पिच्छ जैसे उपकरण का तो नाम भी नहीं।

( २ ) श्रीप्रेमीजी की दलीलों में से एक यह भी है कि पुण्य प्रकृति आदि विषयक उमास्वाति का मन्तव्य अपराजित की टीका में पाया जाता है। परन्तु गच्छ तथा परपरा की तत्त्वज्ञान-विषयक मान्यताओं का इतिहास कहता है कि कभी कभी एक ही परपरा में परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाली सामान्य और छोटी मान्यताएं पाई जाती हैं। इतना ही नहीं बल्कि दो परस्पर विरोधी मानी जानेवाली परपराओं में भी कभी कभी ऐसी सामान्य व छोटी छोटी मान्यताओं का एकत्व पाया जाता है। ऐसी दशा में वस्त्रपात्र के समर्थक उमास्वाति का वस्त्रपात्र के विरोधी यापनीय सघ की अमुक मान्यताओं के साथ साम्य पाया जाय तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं।

प० फूलचन्द्रजी ने तत्त्वार्थ सूत्र के विवेचन की प्रस्तावना में गृध्र-पिच्छ को सूत्रकार और उमास्वाति को भाष्यकार बतलाने का प्रयत्न

किया है। पर यह प्रयत्न जैसा इतिहास बिरुद्ध है वैसे ही तर्कबाधित भी। उन्होंने जब यह किताब लिखी तो कारिदाओं में ऐसी कोई कारिका नहीं है जो उमास्वाति को सुनकर सूचित करती हो तब जान पड़ता है वे एकमात्र अपना महत्त्व स्थापित करने की ओर इतने झुके थे कि जो कर्म स्पष्ट है वह भी या तो उनके ध्यान में आया नहीं या उन्होंने उसकी उपेक्षा की। अन्य कारिदाओं की कथा छोड़ दें तो भी कारिका नं० २२ और २१ इतनी स्पष्ट है कि जिनके उमास्वाति कर्तृक मूल संग्रह या उमास्वाति कर्तृक मासमार्ग शास्त्र रूप अर्थ में संग्रह को उचित मान अब प्राप्त नहीं रहता।

पं केशवचन्द्रजी का किताब हिन्दी अर्थ सहित तत्त्वार्थसूत्र अंगी प्रकट हुआ है। उसकी प्रस्तावना में उन्होंने तत्त्वार्थ भाष्य की उमास्वाति कर्तृकता तथा भाष्य के समय के बारे में जो विचार प्रकट किए हैं उन्हें ध्यान पूर्वक देखने से कोई तत्त्व ऐतिहासिक उनको प्रामाण्य नहीं मान सकता। पंडितजीने जहाँ कहीं भाष्य की स्वोपज्ञता या राजवार्तिक आदि में भाष्य के अन्वेषका संभव हीन पड़ा वहाँ प्रायः सर्वत्र निराधार कल्पना के बल पर अन्य बलि का मान कर अवस्थित ग्रन्थ का अर्थाधीनत्व बतलाने का प्रयत्न किया है। इस बारे में पं केशवचन्द्रजी आदि अन्य पंडित भी एक ही मार्ग के अनुयायी हैं।

हिन्दी की पहली आकृति क समाप्त हो जाना और उसकी मांग बढ़ती रहने पर भी संस्कृति समाधान मंडल बनारस के मंत्री और मेरे मित्र पं बलभद्र मासवणिमा दूनरी आकृति निकालने का विचार कर रहे थे। इस बीच में महोदय श्री रिपमदातजी रांका का उनसे परिचय हुआ। श्री रांकाजी ने हिन्दी आकृति प्रकाशित करने का और मयार्थग्रन्थ न लेने में मुन्ध कर देने का अपना विचार दर्शाया। और उनका प्रयत्न भी किया एतदर्थ मैं दृष्टा हूँ।

श्री० जमनालाल जैन सपादक 'जैन जगत' ने अथेति प्रूफ देखे है । प्रेस वर्धा में और श्री मालवणिया बनारस में—इमलिए सब दृष्टि से वर्धा में ही प्रूफ सशोधन का काम विशेष अनुकूल हो सकता था जो श्री जमनालालजी ने ययासभव ध्यान पूर्वक सपन्न किया है । एतदर्थ हम उनके आभारी है ।

तत्त्वार्थ हिन्दी के ही नहीं बल्कि मेरी लिखी किसी भी गुजराती या हिन्दी पुस्तक-पुस्तिका या लेख के पुन प्रकाशन में सीधा भाग लेने का मेरा रस बहुत असें से रहा नहीं है । मैंने असें से यही सोच रखा है कि अभी तक जो कुछ सोचा और लिखा गया है वह अगर किसी भी दृष्टि से किसी सस्था या किन्ही व्यक्तियों को उपयोगो जचेगा तो वे उसके लिए जो कुछ करना होगा करेगे । मैं अब अपने लेख आदि में क्यों फसा रहूँ । इस विचार के बाद जो कुछ मेरा जीवन या शक्ति अवशिष्ट है उसको मैं आवश्यक नये चिन्तन आदि की ओर लगाता रहा हूँ । ऐसी स्थिति में हिन्दी तत्त्वार्थ की दूसरी आवृत्ति के प्रकाशन में मुख्यतया रस लेना मेरे लिए तो सम्भव न था । अगर यह भार केवल मुझ पर ही रहता तो नि सदेह दूसरी आवृत्ति निकल ही न पाती ।

परतु इस विषय में मेरे ऊपर आने वाली सारी जबाबदेही अपनी इच्छा और उत्साह से प० श्री मालवणियाने अपने ऊपर ले ली । और उसे अन्त तक भली भाँति निभाया भी । इस नई आवृत्ति के प्रकाशन के लिए जितना और जो कुछ साहित्य पढना पडा, सम्चित परिवर्तन के लिए जो कुछ ऊहापोह करना पडा और दूसरी व्यावहारिक बातों को सुलझाना पडा यह सब श्री मालवणियाने स्वय स्फूर्ति से किया है । हम दोनों के बीच जो सवन्ध है वह आभार मानने को प्रेरित नहीं करता । तो भी मैं इस बात का उल्लेख इसलिए करता हूँ कि जिज्ञासु पाठक वस्तुस्थिति जान सके ।

इस बयें की परभी की छुट्टी में भी मासबनिया अहमदाबाद मुबम  
 गया रही लिए जाय कि मैं अहमदाबाद में ही था। उन्होंने पहिले ही से  
 जो कुछ गया पुराना आवश्यक साहित्य देल कर नाट से रहे व उन पर  
 मैंने उनके साथ मिलकर ही बधासमय इन्स्वता से विचार किया और  
 जो कुछ बटान बङ्गल बीसा कया और जो परिचरन योग्य बना वह इस  
 नई आपूर्ति के लिए किया। अब यह आपूर्ति जिजामुर्बों के मंसूब था रही  
 है। वे इसका यथावधि यथासक्ति उपयोग करें।

ता २४-५-५१

—मुलकाब

# परिचय का विषयानुक्रम

१ तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति	<u>१-३३</u>
(क) वाचक उमास्वाति का समय	१
(ख) उमास्वाति का योग्यता	१५
(ग) उमास्वाति की परम्परा	१८
(घ) उमास्वाति की जाति और जन्मस्थान	३२
२ तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार	<u>३३-४९</u>
(क) उमास्वाति	३३
(ख) गन्धहस्ती	३४
(ग) सिद्धसेन	४०
(घ) हरिभद्र	४२
(ङ) देवगुप्त, यशोभद्र तथा यशोभद्र के शिष्य	४३
(च) मलयगिरि	४४
(छ) चिरतनमुनि	४४
(ज) वाचक यशोविजय	४५
(झ) गणी यशोविजय	४५
(ञ) पूज्यपाद	४७
(ट) भट्ट अकलङ्क	४८
(ठ) विद्यानन्द	४८
(ड) श्रुतसागर	४८
(ढ) विबुधसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव और अभयनन्दिसूरि	४९
३ तत्त्वार्थसूत्र	<u>४९-६८</u>
(क) प्रेरकसामग्री	४९
१ आगमज्ञान का उत्तराधिकार	४९
२. सस्कृतभाषा	४९
३ दर्शनान्तरो का प्रभाव	५०
४ प्रतिभा	५०



(क) रचना का उद्देश्य	१
(ख) रचनाशैली	५१
(घ) विषयवर्षण	५४
१ विषय की परसंख्या	५४
२ विषय का विभाग	५५
३ सानमीमांसा की सारभूत बातें	५७
४ तुलना	५९
५ सैममीमांसा की सारभूत बातें	५७
६ तुलना	५८
७ चारित्रमीमांसा को सारभूत बाने	६२
८ तुलना	६३
४. तत्त्वायनूत्र की व्याख्यान	<u>६८-६९</u>
(क) भाष्य और सर्वापेक्षिद्धि	७
१ सूत्रसंख्या	७
२ अर्थमेव	७१
३ पाठान्तर विषयक भेद	७१
४ यथापेक्षा	७१
(क) टीलीमेव	७२
(ख) अर्थविधान	७४
(ग) साप्रशयिचना	७४
(ख) वा शक्ति	७६
(घ) वा शक्तियाँ	७९
(ङ) गण्डित शक्ति	८२
(च) रत्नसिंह का टिप्पण	८२
५. परिशिष्ट	<u>९४-९९</u>
(क) प्रश्न	८४
(ख) प्रश्नोत्तर का पत्र	८५
(ग) मुद्राण्ड जुहवनिगाथा का पत्र	८७
(घ) मनी विचारणा	८९

## परिचय

### १. तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति

जन्म-वश और विद्या-वश इस तरह वश दो प्रकार का होता है<sup>१</sup> । जन्म-किसी के जन्म के इतिहास पर विचार करना होता है तब उसके साथ रक्त (रुधिर) का सम्बन्ध रखने वाले उसके पिता, पितामह, प्रपितामह, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परम्परा का विचार करना पड़ता है, और जब किसी के विद्या—शास्त्र का इतिहास जानना होता है तब उस शास्त्र-रचयिता के साथ विद्या का सम्बन्ध रखने वाले गुरु, प्रगुरु तथा शिष्य, प्रशिष्य आदि गुरु-शिष्य-भाव-वाली परम्परा का विचार करना आवश्यक होता है ।

(तत्त्वार्थ) भारतीय दार्शनिक विद्या की जैन-शाखा का एक शास्त्र है, अतः इसका इतिहास विद्या-वश की परम्परा में आता है । तत्त्वार्थ में उसके कर्ता ने जिस विद्या का समावेश किया है उसे उन्होंने गुरु परम्परा से प्राप्त किया है और उसे विशेष उपयोगी बनाने के उद्देश्य से अपनी

---

१ ये दोनों वश आर्य-परम्परा और आर्य-साहित्य में हजारों वर्षों से प्रसिद्ध हैं । 'जन्म-वश' योनि-सम्बन्ध की प्रधानता के कारण गृहस्थाश्रम सापेक्ष है और 'विद्या-वश' विद्या-सम्बन्ध की प्रधानता के कारण गुरुपरम्परा-सापेक्ष है । इन दोनों वर्गों का उल्लेख पाणिनीय व्याकरणसूत्र में तो स्पष्ट ही है । यथा—“विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ्” ४ ३ ७७ । इसलिए इन दो वर्गों की स्पष्ट कल्पना पाणिनि से भी-बहुत पुरानी है ।

दुष्ट के अनुसार अगुक्त रूप में व्यवस्थित की है। उन्होंने उस विद्या का तत्त्वार्थ धारण से जो स्वयं व्यवस्थित किया वह बादमें ज्यों का त्यों नहीं रहा। इसके आशयियों एवं टीकाकारों ने अपनी अपनी मन्त्रि के अनुसार अपने अपने समय में प्रचलित विचारधाराओं में से कितना ही लेकर उस विद्या में सुधार कृति पूरित और बिकसत किया है। अतएव प्रस्तुत परिचय में तत्त्वार्थ और इसके कर्ता के अतिरिक्त इसकी संघ-कृता रूप से विभिन्न टीकाओं तथा उन टीकाओं के कर्ताओं का भी परिचय कराना आवश्यक है।

तत्त्वार्थविद्यक शास्त्र के प्रणेता जीनसमात्र के सभी सम्प्रदायों में धारण से मात्र एक समान रूप से माने जाते हैं। विनम्बर उन्हें अपनी ज्ञाना में और श्वेताम्बर अपनी ज्ञाना में मानते आये हैं। विनम्बर धारण में से उमास्वामी और उमास्वाति इन नामों से प्रसिद्ध हैं। जब कि श्वेताम्बर परम्परा में केवल उमास्वाति नाम ही प्रसिद्ध है। इस समय विनम्बर-परम्परा में कोई कोई तत्त्वार्थशास्त्र प्रणेता उमास्वाति ही उमास्वामि के शिष्य रूप से समझते हैं और श्वेताम्बरों में जोड़ी बहुत ही बलवता बिकसती पड़ती है कि प्रज्ञापना सूत्र के कर्ता स्वामाचार्य के तत्त्वार्थशास्त्रीय स्वाति ही तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति हैं। जिनमें अन्तर की माय्यताएँ कोई प्रमाणमूल आधार न रखकर पीछे से जोड़ दी जाय पड़ती हैं क्योंकि ब्रह्मी धारणियों से पहले के किसी भी कृत विनम्बर-संघ पट्टावली या पिछा-संघ आदि में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि जिसमें उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता

कहा हो और उन्हीं उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य भी कहा हो<sup>१</sup> । इस आशय वाले जो उल्लेख दिगम्बर साहित्य में अब तक देखने में आये हैं वे सभी दसवी-ग्यारहवीं शताब्दी के पीछे के हैं और उनका कोई भी प्राचीन विश्वस्त आधार नजर नहीं आता । खास विचारने जैसी बात तो यह है कि पाँचवीं से नववीं शताब्दी तक होने वाले तत्त्वार्थसूत्र के प्रसिद्ध और महान् दिगम्बर व्याख्याकारों ने अपनी अपनी व्याख्या में कहीं भी स्पष्टरूप से तत्त्वार्थसूत्र को उमास्वाति का रचा हुआ नहीं कहा है और न इन उमास्वाति को दिगम्बर, श्वेताम्बर या तटस्थ रूप से उल्लिखित किया है<sup>२</sup> । जब कि श्वेताम्बर साहित्य में वि० आठवीं शताब्दी के ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के वाचक उमास्वाति-रचित होने के विश्वस्त उल्लेख मिलते हैं और इन ग्रन्थकारों की दृष्टि में उमास्वाति

१ श्रवणवेलगोल के जिन जिन शिलालेखों में उमास्वाति को तत्त्वार्थ-रचयिता और कुन्दकुन्द का शिष्य कहा है वे सभी शिलालेख विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद के हैं । देखो, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित 'जैन शिलालेख संग्रह' लेख न० ४०, ४२, ४३, ४७, ५० और १०८ ।

नन्दिसघ का पट्टावली भी बहुत ही अपूर्ण तथा ऐतिहासिक तथ्य-विहीन होने से उसके ऊपर आधार नहीं रक्खा जा सकता, ऐसा प० जुगल-किशोर जी ने अपनी परीक्षा में सिद्ध किया है । देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ १४४ से । इससे इस पट्टावली तथा ऐसी ही दूसरी पट्टावलियों में भी मिलने वाले उल्लेखों को दूसरे विश्वस्त प्रमाणों के आधार के बिना ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता ।

“तत्त्वार्थशास्त्रकर्तार गृध्रपिच्छोपलक्षितम् ।

घन्दे गणीन्द्रसजातमुमास्वामिमृनीश्वरम् ॥”

यह तथा इसी आशय के अन्य गद्य-पद्यमय दिगम्बर अवतरण किसी भी विश्वस्त तथा प्राचीन आधार से रहित हैं, इससे इन्हें भी अन्तिम आधार के तौर पर नहीं रक्खा जा सकता ।

२ विशेष स्पष्टीकरण के लिये देखो इसी परिचय के अन्त में 'परिशिष्ट' ।

दृष्टि के अनुसार अमुक रूप में व्यवस्थित की है। उन्होंने उस विद्या का तत्त्वार्थ शास्त्र में जो स्वरूप व्यवस्थित किया वह बादमें ज्यों का त्यों नहीं रहा। इसके अग्राधिकारियों एवं टीकाकारों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार अतः अपने समय में प्रचलित विचारधाराओं में से कितना ही लेकर उस विद्या में सुधार, बद्धि पूर्ति और विकास किया है। अतएव प्रस्तुत परि-  
क्रम में तत्त्वार्थ और इसके कर्ता के अतिरिक्त इसकी बध-रुता रूप से विस्तीर्ण टीकाओं तथा उन टीकाकारों के कर्तव्यों का भी परिचय करना आवश्यक है।

तत्त्वार्थविद्यया शास्त्र के प्रणेता श्रीसुभाष के सभी सम्प्रदायों में प्रारंभ से अन्त तक समान रूप से माने जाते हैं। विगम्बर उन्हें अपनी शाखा में और श्वेताम्बर अपनी शाखा में मानते आये हैं। विगम्बर परम्परा में वे उमास्वामी और उमास्वाति इन नामों से प्रसिद्ध हैं जब कि श्वेताम्बर परम्परा में केवल उमास्वाति नाम ही प्रसिद्ध है। इस समय विगम्बर-परम्परा में कोई कोई तत्त्वार्थशास्त्र-अथवा उमास्वाति को कुम्भद्वन्द्व के दिव्य रूप से समझते हैं और श्वेताम्बरों में बोड़ी बहुत ऐसी मान्यता दिखालाई पड़ती है कि प्रजापति सून के कर्ता इयामाचार्य के मुख हृदयिष्ठमोक्षीय स्वाति ही तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति हैं<sup>१</sup>। ये दोनों प्रकार की मान्यताएँ कोई प्रमाणमूल आधार न रखकर पीछे से प्रचलित हुई जान पड़ती हैं क्योंकि दशवीं शताब्दी से पहले के किसी भी विश्वस्त विगम्बर-शैव पट्टावली या रिता-नेत्र आदि में ऐसा उल्लेख दिखाई नहीं देना कि जिसमें उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता

१ देखो 'स्वामी सप्तमभट्ट' पृ. १४४ से आगे।

२ आर्यभट्टादिभिरेणु सिद्धी बहुल-अतिरिक्तही धनक-भारती तथा अनामहस्य दिव्य स्वानिः तत्त्वार्थविषयं संशयानु तत्कृता एव सभाष्यन्ते। तच्छिष्य इयामाचार्यं प्रजापताहत् पीवीरान् बटतण्यपविद्यातत्रवे (१०६) शब्दमाह। — अर्थभाषटीक बजावती।

कहा हो और उन्हीं उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य भी कहा हो<sup>१</sup> । इम आशय वाले जो उल्लेख दिगम्बर साहित्य में अब तक देखने में आये हैं वे सभी दसवी-ग्यारहवीं शताब्दी के पीछे के हैं और उनका कोई भी प्राचीन विश्वस्त आधार नजर नहीं आता । खास विचारने जैसी बात तो यह है कि पाँचवीं से नववीं शताब्दी तक होने वाले तत्त्वार्थसूत्र के प्रसिद्ध और महान् दिगम्बर व्याख्याकारों ने अपनी अपनी व्याख्या में कहीं भी स्पष्टरूप से तत्त्वार्थसूत्र को उमास्वाति का रचा हुआ नहीं कहा है और न इन उमास्वाति को दिगम्बर, श्वेताम्बर या तटस्थ रूप से उल्लिखित किया है<sup>२</sup> । जब कि श्वेताम्बर साहित्य में वि० आठवीं शताब्दी के ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के वाचक उमास्वाति-रचित होने के विश्वस्त उल्लेख मिलते हैं और इन ग्रन्थकारों की दृष्टि में उमास्वाति

---

१ श्रवणबेलगोल के जिन जिन शिलालेखों में उमास्वाति को तत्त्वार्थ-रचयिता और कुन्दकुन्द का शिष्य कहा है वे सभी शिलालेख विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद के हैं । देखो, माणिकचन्द ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित 'जैन शिलालेख संग्रह' लेख न० ४०, ४२, ४३, ४७, ५० और १०८ ।

नन्दिसद्य का पट्टावली भी बहुत ही अपूर्ण तथा ऐतिहासिक तथ्य-विहीन होने से उसके ऊपर आधार नहीं रक्खा जा सकता, ऐसा प० जुगल-किशोर जी ने अपनी परीक्षा में सिद्ध किया है । देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ १४४ से । इससे इस पट्टावली तथा ऐसी ही दूसरी पट्टावलियों में भी मिलने वाले उल्लेखों को दूसरे विश्वस्त प्रमाणों के आधार के बिना ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता ।

“तत्त्वार्थशास्त्रकर्तार गुह्यपिच्छोपलक्षितम् ।

वन्दे गणोन्द्रसजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥”

यह तथा इसी आशय के अन्य गद्य-पद्यमय दिगम्बर अवतरण किसी भी विश्वस्त तथा प्राचीन आधार से रहित हैं, इससे इन्हें भी अन्तिम आधार के तौर पर नहीं रक्खा जा सकता ।

२ विशेष स्पष्टीकरण के लिये देखो इसी परिचय के अन्त में 'परिशिष्ट'।

स्वेताम्बर व ऐसा भासूम होता है परन्तु १६ १७ वीं शताब्दी के धर्मसागर की तपाण्ण्ड की 'पट्टावली' को यदि अलग कर दिया जाय तो किसी भी स्वेताम्बर ग्रन्थ या पट्टावली आदि में ऐसा निर्देय तक नहीं पाया जाता कि उत्तारार्जुन प्रणेता वाचक उमास्वाति व्यामार्जुन के पुत्र व ।

वाचक उमास्वातिकी स्वयं की रची हुई अपने कुल तथा नृस-परम्परा को रक्षित बानी लेखमाण संदिग्ध से रहित उत्तारार्जुन की प्रशस्ति के मात्र तक विद्यमान होते हुए भी इतनी शक्ति कहे प्रबलित हुई होयी यह एक आश्चर्यजनक समस्या है । परन्तु जब पूर्वकालीन साम्प्रदायिक व्यामार्जुन और ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव की ओर ध्यान जाता है तब यह समस्या हल हो जाती है । वा उमास्वाति के इतिहास-विषय में उनकी कुछ की रची हुई छोटी-सी प्रशस्ति ही एक सच्चा साधन है । उनके नाम के साथ बोझी हुई इचरी बहुत सी हकीकतें दोनों सम्प्रदायों की परम्परा में बनी जाती हैं, परन्तु जमी परीक्षणोंय होने से इन सबको अक्षरशः ठीक नहीं माना जा सकता । उनकी यह सन्निपत प्रशस्ति और उसका सार इस प्रकार है—

वाचकमुस्वस्य शिवभियं प्रकाशमस्तु प्रक्षिप्येण ।

क्षिप्येण चोचनमिहसमयस्वीकादशाब्दविश्वः ॥१॥

वाचनया च महावाचकसुमयमुष्णपादक्षिप्यस्व ।

क्षिप्येण वाचकप्रार्थ्यमूळनाम्नः प्रथितकीर्ते ॥२॥

न्यमोभिकाप्रसूतेन विहरता पुरचरे कुमुमनाम्नि ।

कौभीचमिना स्वातिसनयेन वात्सीसुतेनाम्भम् ॥३॥

अर्धप्रार्थनं सम्भन्गुरक्रमेणागतं समुपर्वाय ।

पुस्तार्थं च पुरागमाविहृतमतिं शोकमवस्रोक्तम् ॥४॥

१ शैलो प्रस्तुत परिचय पृ १६ टिप्पण २ ।

२ जैसे कि विगम्भी में एत्रपिण्ड आदि तथा स्वेताम्बर में पात्रसे प्रथो क रचयिता आदि ।

इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृढम् ।

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥

यस्तत्त्वाधिगमख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।

सोऽव्यावाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

‘ जिनके दीक्षागुरु ग्यारह अग के धारक ‘घोषनन्दि’ क्षमण थे और ‘अगुरु-गुरु के गुरु-वाचकमुख्य ‘शिवश्री’ थे, वाचना से अर्थात् विद्याग्रहण की दृष्टि से जिसके गुरु ‘मूल’ नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक ‘मुण्डपाद’ थे, जो गोत्र से ‘कौभीपणि’ थे, और जो ‘स्वाति’ पिता और ‘वात्सी’ माता के पुत्र थे; जिनका जन्म ‘न्यग्रोधिका’ में हुआ था, और जो ‘उच्चनागर’<sup>१</sup> शाखा के थे, उन उमास्वाति वाचक ने गुरु परम्परा से

१ ‘उच्चैर्नागर’ शाखाका प्राकृत ‘उच्चानागर’ नाम मिलता है।

यह शाखा किसी ग्राम या शहर के नाम पर से प्रसिद्ध हुई होगी ऐसा तो स्पष्ट दीख पड़ता है। परन्तु यह ग्राम कौनसा नगर होगा यह निश्चित करना कठिन है। हिन्दुस्तान के अनेक भागों में नगर नाम के या जिनके अन्त में नगर नाम हो ऐसे नामों के अनेक शहर तथा ग्राम हैं। ‘वडनगर’ यह गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। वड का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा का अर्थ कदाचित् ऊँचा भी होता है। लेकिन वडनगर नाम भी पूर्व देश के उस अथवा उस जैसे नाम के शहर पर से गुजरात में लिया गया है, ऐसी भी विद्वानों की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखा का वडनगर के साथ ही सम्बन्ध है ऐसा जोर देकर नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय, जिस काल में उच्चनागर शाखा उत्पन्न हुई उस काल में वडनगर था कि नहीं और था तो उसके साथ जैनों का सम्बन्ध कितना था यह भी विचारने की बात है। उच्चनागर शाखा के उद्भव समय का जैनाचार्यों का मुख्य विहार गंगा-यमुना की तरफ होने के प्रमाण मिलते हैं। इससे वडनगर के साथ उच्चनागर शाखा का सम्बन्ध होने की कल्पना मबल नहीं रहती। कनिंघम इस विषय में लिखता है कि “ यह भौगोलिक नाम उत्तर-पश्चिम प्रान्त के



स्वेताम्बर के ऐसा भासुम होता है परन्तु १६ १७ वीं पंक्तियों के बर्नसायर की तपायच्छ की पट्टाबन्धी का यदि अलग कर दिया जाय तो किसी भी स्वेताम्बर प्रथ या पट्टाबन्धी आदि में ऐसा निर्येद तक नहीं पाया जाता कि उत्सार्धसूत्र प्रथेता वाचक उमास्वाति क्यामाचर्य में पुत्र वे ।

वाचक उमास्वातिकी स्वयं की रची हुई, अपने कुल तथा मुकु-परम्परा को दर्शाने वाली केचमात्र संदिह से रहित उत्सार्धसूत्र की प्रथस्ति के आरंभ तक विद्यमान होते हुए भी इतनी प्राति कैसे प्रथस्थित हुई होगी यह एक आश्चर्यजनक समस्या है । परन्तु जब पूर्वकाशीय साम्प्रदायिक व्यासी और ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव की ओर ध्यान जाता है तब यह समस्या हल हो जाती है । वा उमास्वाति के इतिहास-विषय में उनकी कुल व रची हुई छोटी-सी प्रथस्ति ही एक सच्चा साधन है । उनके नाम के सा चौकी हुई बूझरी बहुत ही हकीकतें दोनों सम्प्रदायों की परम्परा में बर बारी है, परन्तु अभी परीक्षणयोग होने से इन सबको बखर-छ-ठीक नहीं माना जा सकता । उनकी यह ललित प्रथस्ति और उपाका वार इस प्रकार है—

वाचकमुस्यस्य सिधमिषा प्रकाशभस्सत् प्रसिध्वेण ।

सिध्वेण चोवनम्सिमणस्वैकादशाङ्गविद् ॥१॥

वाचनया च महावाचकसमणमुण्डपादसिध्वेण ।

सिध्वेण वाचकाचार्यमूल्यासः प्रसिध्वीर्तेः ॥२॥

न्यप्रोषिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।

कौभीचगिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्थम् ॥३॥

अर्हद्वचनं सम्भग्मुदकमेजागतं समुपपाय ।

दुस्वार्थं च दुरागमाविह्वलमतिं कोकमखस्येक्य ॥४॥

१ रेखो प्रस्तुत परिचय पृ १६ डिण्ज २ ।

२ जैसे कि दिगम्बरों में पट्टाबन्धी आदि तथा स्वेताम्बरों में पांचाङ्गी के रचयिता आदि ।

इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृग्धम् ।

तत्त्वार्थाधिगमख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥

यस्तत्त्वाधिगमख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।

सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

‘जिनके दीक्षागुरु ग्यारह अग के धारक ‘घोषनन्दि’ क्षमण थे और भ्रगुरु-गुरु के गुरु-वाचकमुख्य ‘शिवश्री’ थे, वाचना से अर्थात् विद्याग्रहण की दृष्टि से जिसके गुरु ‘मूल’ नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक ‘मुण्डपाद’ थे, जो गोत्र से ‘कौभीषणि’ थे, और जो ‘स्वाति’ पिता और ‘वात्सी’ माता के पुत्र थे; जिनका जन्म ‘न्यप्रोधिका’ में हुआ था और जो ‘उच्चनागर’<sup>१</sup> शाखा के थे, उन उमास्वाति वाचक ने गुरु परम्परा से

१ ‘उच्चैर्नागर’ शाखाका प्राकृत ‘उच्चानागर’ नाम मिलता है। यह शाखा किसी ग्राम या शहर के नाम पर से प्रसिद्ध हुई होगी ऐसा तो स्पष्ट दीख पड़ता है। परन्तु यह ग्राम कौनसा नगर होगा यह निश्चित करना कठिन है। हिन्दुस्तान के अनेक भागों में नगर नाम के या जिनके अन्त में नगर नाम हो ऐसे नामों के अनेक शहर तथा ग्राम हैं। ‘वडनगर’ यह गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। वड का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा का अर्थ कदाचित् ऊँचा भी होता है। लेकिन वडनगर नाम भी पूर्व देश के उस अथवा उस जैसे नाम के शहर पर से गुजरात में लिया गया है, ऐसी भी विद्वानों की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखा का वडनगर के साथ ही सम्बन्ध है ऐसा जोर देकर नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय, जिस काल में उच्चनागर शाखा उत्पन्न हुई उस काल में वडनगर था कि नहीं और था तो उसके साथ जैनों का सम्बन्ध कितना था यह भी विचारने की बात है। उच्चनागर शाखा के उद्भव समय का जैनाचार्यों का मुख्य विहार गंगा-यमुना की तरफ होने के प्रमाण मिलते हैं। इससे वडनगर के साथ उच्चनागर शाखा का सम्बन्ध होने की कल्पना सबल नहीं रहती। कनिष्क इस विषय में लिखता है कि “यह भौगोलिक नाम उत्तर-पश्चिम प्रान्त के

प्राप्त हुए स्पष्ट मार्गत—उपरोक्त को मसी प्रकार धारण कर के तथा तुम्हें शास्त्रों द्वारा हस्तक्षुब्ध बुद्धिपूर्वक लोक को देख कर के प्राणियों की अनुरूपता से प्रेरित होकर यह 'तत्त्वार्थाधिगम' नाम का स्पष्ट धारण विहार करते हुए 'कृमुमपुर' नाम के महानगर में रथा है । जो इस तत्त्वार्थाधिगम को जानना और उसके कथनानुसार आचरण करेगा वह बभ्याबाबमुक्त नाम के परमार्थ मोक्ष को शीघ्र प्राप्त करेगा ।

इस प्रसक्ति में ऐतिहासिक हकीकत को सूचित करने वाली मुख्य बातें हैं १ सोसागुरु तथा बीसाप्रगुरु का नाम और सोसागुरु की योग्यता २ विद्यागुरु तथा विद्याप्रगुरु का नाम ३ गौत्र पिता तथा माता का नाम ४ जन्मस्थान का तथा प्रचरचमास्थान का नाम ५ धर्म तथा पदवी की सूचना और ६ प्रसक्तता तथा प्रसक्त का नाम ।

जिस प्रसक्ति का सार ऊपर दिया गया है और जो इस समय प्रायः के अन्त में उपलब्ध होती है वह प्रसक्ति उमास्वाति की कुर की रची हुई नहीं ऐसा मानने का कोई कारण नहीं । हा हमें वीचोबी जैसे विचारक भी इस प्रसक्ति का उमास्वाति की ही मानते हैं और यह बात उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत किये हुए तत्त्वार्थ के बर्तन अनुवाद की भूमिका से जानी जा सकती है । इससे इसमें जिस हकीकत का उल्लेख है उसे ही तत्त्वार्थ मान कर उस पर से वा उमास्वाति विषयक विद्वान्-स्वेताम्बर-परम्परा में बड़ी बड़ी मान्यताओं का लुप्तता करना यही इस समय राजमार्ग है ।

आधुनिक कुम्भारहर के अन्तर्गत 'उत्तमनगर' नाम के किसे के साथ मिलता हुआ है । १७—देखो आधिकारिकतामिकल सर्वे आण्ड इंडिया रिपोर्ट बॉम्बे १४ पृ १४७ ।

मागरीत्यसि के निम्न में वा वा मान्यकर मगर शहर का उल्लेख मिलता है हुए नगर मग के अनेक प्रायों का उल्लेख करते हैं । इसलिये वह भी विचार की सामग्री में आता है । देखो, कठी मुजराती साहित्यपरि

ऊपर निर्दिष्ट छ वातो में से पहली और दूसरी वात कुन्दकुन्द के साथ दिगम्बरसम्मत उमास्वाति के सम्बन्ध को असत्य ठहराती है। कुन्दकुन्द के उपलब्ध अनेक नामों में से ऐसा एक भी नाम नहीं जो उमास्वाति-द्वारा दर्शाये हुए अपने विद्यागुरु तथा दीक्षागुरु के नामों में आता हो, इससे कुन्दकुन्द का उमास्वाति के साथ विद्या अथवा दीक्षा-विषय में गुरुशिष्य-भावात्मक सम्बन्ध था इस कल्पना को स्थान ही नहीं। इसी प्रकार उक्त प्रशस्ति में उमास्वाति के वाचक-परम्परा में होने का तथा उच्चनागर शाखा में होने का स्पष्ट कथन है, जब कि कुन्दकुन्द के नन्दिसष<sup>१</sup> में होने की दिगम्बर मान्यता है, और उच्चनागर नाम की कोई शाखा दिगम्बर-सम्प्रदायमें हुई हो ऐसा आज भी जानने में नहीं आता। इससे दिगम्बर-परम्परा में कुन्दकुन्द के शिष्यरूप से माने जाने वाले उमास्वाति यदि वास्तव में ऐतिहासिक व्यक्ति हो तो भी उन्होंने यह तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र रचा था यह मान्यता विश्वस्त आधार से रहित होने के कारण पीछे से कल्पित की गई मालूम होती है।

उक्त वातो में से तीसरी वात श्यामाचार्य के साथ उमास्वाति के सम्बन्ध की श्वेताम्बर मान्यता को असत्य ठहराती है, क्योंकि वाचक उमास्वाति अपने को कौभीषणि कह कर अपना गोत्र 'कौभीषण' सूचित करते हैं, जब कि श्यामाचार्य के गुरुरूप से पट्टावली में दाखिल हुए 'स्वाति' को 'हारित' गोत्र<sup>२</sup> का कहा है, इसके सिवा तत्त्वार्थ के प्रणेता उमास्वाति को उक्त प्रशस्ति स्पष्टरूप से 'वाचक' बतलाती है, जब कि श्यामाचार्य या उनके गुरुरूप में निर्दिष्ट 'स्वाति' नाम के साथ वाचक

१ देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १५८ से तथा प्रस्तुत परिचय का परिशिष्ट।

२ देखो प्रस्तुत परिचय पृ० ३ टिप्पणी न० १ तथा प्रस्तुत परिचय का परिशिष्ट।

३ "हारियगुलं साइ च वदिमो हारिय च समाज्ज" ॥२६॥

—नन्दिसूय की स्यविरावली पृ० ४९।

विशेषण पट्टावली में नजर नहीं आता । इस प्रकार उक्त प्रवृत्ति एक तरफ दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराया में बसी आई भाँट कल्प न्यत्रों का गिरसन कस्ती है और दूसरी तरफ बहु वंशकर्ता का संश्लिप्त होते हुए भी सच्चा इतिहास प्रस्तुत करती है ।

### (क) वाचक उमास्वातिका समय

वाचक उमास्वाति के समय-सम्बन्ध में उक्त प्रवृत्ति में कुछ भी निबन्ध नहीं है इसी तरह समय का ठीक निर्धारण कर देने वाला ऐसा दूषण भी कोई साबन बनी तक प्राप्त नहीं हुआ । ऐसी स्थिति में इस सम्बन्ध में कुछ विचार करने के लिये यहाँ तीन बातों का उपयोग किया जाता है १ शाल्वानिर्घोष २ प्राचीन से प्राचीन टीकाकारों का समय और ३ अन्य दार्शनिक शर्तों की तुलना ।

१ प्रवृत्ति में जिस 'उत्तरीनागरशाळा का निर्घोष है वह शाळा नव निरन्त्री यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है तो भी कल्पसूत्र की स्वविद्य-वली में 'उत्तरीनागरी' शाळा का उल्लेख है । यह शाळा आर्य शांति-धर्मिक से निरन्त्री है । आर्य शांतिधर्मिक आर्य सुहृत्ति से नीची पीढ़ी में आते हैं । आर्य सुहृत्ति के शिष्य सुस्वित्त-सुप्रतिबुद्ध और उनके शिष्य ईश्वरिच ईश्वरिच के शिष्य विद्य और विद्य के शिष्य शांतिधर्मिक है । यह शांतिधर्मिक आर्य नव्य के गुरु आर्य सिंहगिरि के मुहमाई से इससे के आर्य नव्य की पहली पीढ़ी में आते हैं । आर्य सुहृत्ति का स्वर्नवास-समय बीरात् २९१ और नव्य का स्वर्नवास-समय बीरात् ५८४ उल्लिखित मिलता है । अर्थात् सुहृत्ति के स्वर्नवास-समय से नव्य के स्वर्नवास-समय तक २९३ वर्ष के नीतर पीच पीढ़ियाँ उपलब्ध

२ बरेहिटो वं अज्जसत्तित्तेभिर्णहिटो माडरसपुठेहिटो एत्थ वं उत्तरीनागरी शाळा भिन्धया ।"—मूल कल्पसूत्रस्वविद्यवली पृ ५५ । आर्य शांतिधर्मिक की पूर्व परम्परा आगने के लिये इससे आर्य के कल्पसूत्र के

होती है। इस तरह सरसरी तौर पर एक एक पीढ़ी का काल माठ वर्ष का मान लेने पर सुहस्ति से चौथी पीढ़ी में होने वाले शातिश्रेणिक का प्रारम्भ काल वीरात् ४७१ का आता है। इस समय के मध्य में या थोड़ा आगे पीछे शातिश्रेणिक से उच्चनागरी शाखा निकली होगी। वाचक उमास्वाति, शातिश्रेणिक की ही उच्चनागर शाखा में हुए हैं ऐसा मानकर और इस शाखा के निकलने का जो समय अनुमान किया गया है उसे स्वीकार करके यदि आगे चला जाय तो भी यह कहना कठिन है कि वा० उमास्वाति इस शाखा के निकलने बाद कब हुए हैं। क्योंकि अपने दीक्षागुरु और विद्यागुरु के जो नाम प्रशस्ति में उन्होंने दिये हैं उनमें से एक भी कल्पसूत्र की स्थविरावलि में या उस प्रकार की किसी दूसरी पट्टावली में नहीं पाया जाता। इससे उमास्वाति के समय-सवध में स्थविरावलि के आधार पर यदि कुछ कहना हो तो अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीरात् ४७१ अर्थात् विक्रम सम्वत् के प्रारम्भ के लगभग किसी समय हुए हैं, उससे पहले नहीं, इससे अधिक परिचय अभी अन्धकार में है।

२ इस अधकार में एक अस्पष्ट प्रकाश डालने वाली एक किरण तत्त्वार्थसूत्र के प्राचीन-टीकाकार के समय-सम्बन्धी है, जो उमास्वाति के समय की अनिश्चित उत्तर सीमा को मर्यादित करती है। स्वोपज्ञ भाष्य को यदि अलग किया जाय तो तत्त्वार्थ सूत्र पर जो सीधी टीकाएँ इस समय उपलब्ध हैं उन सब में पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि' प्राचीन है। पूज्यपाद का समय विद्वानों ने विक्रम की पाँचवी-छठी शताब्दी निर्धारित किया है, इससे सूत्रकार वा० उमास्वाति विक्रम की पाँचवी शताब्दी से पूर्व किसी समय हुए हैं, ऐसा कह सकते हैं।

ऊपर की विचारसरणी के अनुसार वा० उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय विक्रम की पहली शताब्दी और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय तीसरी-चौथी शताब्दी आता है। इन तीन-सौ चार-सौ वर्ष के अन्तराल में से उमास्वाति का निश्चित समय शोधने का काम बाकी रह जाता है।

३ समय-सम्बन्धी इस सम्भावना में और भावी सोच में उपयोगी होने वाली ऐसी कुछ विशेष बातें भी हैं जो उनके उत्त्वार्य सूत्र और भाष्य के साथ दूसरे दर्शनों तथा जैन आगम की तुलना में से फलित होती हैं उन्हें भी यहाँ पर दिया जाता है। यद्यपि ऐसा नहीं है कि ये बातें सीधे तौर पर समय का ठीक निर्णय करने के लिये इस समय सहायक हो सकें फिर भी यदि दूसरे सबल प्रमाण मिल जायें तो इन बातों का कीमती उपयोग होने में तो कुछ भी शंका नहीं है। इस समय तो ये बातें भी हमें उमास्वाति के उपर्युक्त अनुमानित समय की तरफ ही ले जाती हैं।

(क) जैन-आगम 'उत्तराध्ययन' कथा के सूत्रों से पहले का होना चाहिए ऐसी सम्भावना परंपरा दृष्टि से और दूसरी दृष्टि से भी होती है। कथा के सूत्र बहुत करके ईसवी सन् से पूर्व की पहली शताब्दी के माने जाते हैं। जैन आगमों के आधार पर रहे हुए उत्त्वार्यसूत्रों में तीन सूत्र ऐसे हैं कि जिनमें उत्तराध्ययन की छाया के अतिरिक्त कथा के सूत्रों का सन्तुष्ट्य बिलकार्य होता है। इन तीन सूत्रों में पहला ब्रह्म का, दूसरा पुन का और तीसरा काठ का अक्षयविषयक है।

उत्तराध्ययन के २८ में अध्ययन की ९ ठी याथा में ब्रह्म का अक्षय "गुणाणमासस्यो ब्रह्म" — गुणानामाश्रयो ब्रह्मम् । अर्थात् जो गुणों का आश्रय वह ब्रह्म इतना ही है। कथा के अक्षय में पुन के अतिरिक्त क्रिया और समवायिकारणता को बाहिल करके कथ्ठा है कि "क्रियानुपगतम् समवायिकारणमिति ब्रह्मसंक्षुण्णम्" — १ । १ । १५ । अर्थात् जो क्रिया बाला मज बाला तथा समवायिकारण हो वह ब्रह्म है। वा उमास्वाति उत्तराध्ययन-कथित पुनपर को कायम रख कर कथा-सूत्रों में बिलकार्य होने वाले क्रिया' शब्द की जगह जैन-परम्परा-प्रसिद्ध 'पर्याय' शब्द रखकर ब्रह्म का अक्षय बाँधते हैं कि 'गुणपर्यायवद् ब्रह्मम्' १ । २७ । अर्थात्, जो गुण तथा पर्याय बाला हो वह ब्रह्म है।

१ ब्रह्म अक्षय के विषय में विशेष जानने के लिये देखो— प्रमाण-मीमांसा भाष्यद्विषयक पृ. ५४ । न्यायवतार वार्तिक श्रुति प्रस्तावना पृ. २५ । २४ । ११९

उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन की ६ ठी गाथा में गुण का लक्षण 'एगद्व्वस्सिओ गुणा'—एकद्रव्याश्रिता गुणा । अर्थात् जो एक द्रव्य के आश्रित हो वे गुण, इतना ही है । कणाद के गुणलक्षण में विशेष वृद्धि देखी जाती है । वह कहता है कि "द्रव्याश्रय्यगुणवान् सयोग-विभागोऽप्यकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्"—१११६ । अर्थात्, द्रव्य के आश्रित, निर्गुण और सयोग-विभाग में अनपेक्ष जो कारण नहीं होता वह गुण है । उमास्वाति के गुणलक्षण में उत्तराध्ययन के गुणलक्षण के अतिरिक्त कणाद के गुणलक्षण में से एक 'निर्गुण' अश है । वे कहते हैं कि "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा"—५ ४० । अर्थात्, जो द्रव्य के आश्रित और निर्गुण हो वे गुण है ।

उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन की १० वी गाथा में काल का लक्षण "वचणालक्खणो कालो"—वर्तनालक्षण काल । अर्थात्, वर्तना यह काल का स्वरूप, इतना ही है । कणाद के काललक्षण में 'वर्तना' पद तो नहीं है परंतु दूसरे शब्दों के साथ 'अपर' शब्द दिखलाई पड़ता है "अपरिस्मन्नपर युगपच्चिर क्षिप्रमिति काललिङ्गानि"—२ २ ६ । उमास्वाति कृत काललक्षण में 'वर्तना' पद के अतिरिक्त जो दूसरे पद दिखलाई पड़ते हैं उनमें 'परत्व' और 'अपरत्व' ये दो शब्द भी हैं, जैसा कि "वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य"—५ २२ ।

ऊपर दिये हुए द्रव्य, गुण तथा काल के लक्षणवाले तत्त्वार्थ के तीन सूत्रों के लिये उत्तराध्ययन के सिवाय किसी प्राचीन श्वेताम्बर जैन आगम अर्थात् अग का उत्तराध्ययन जितना ही शाब्दिक आधार हो ऐसा अभी तक देखने में नहीं आया, परंतु विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी के माने जानेवाले 'कुन्दकुन्द' के प्राकृत वचनों के साथ तत्त्वार्थ के संस्कृत सूत्रों का कहीं तो पूर्ण सादृश्य है और कहीं बहुत ही कम । श्वेताम्बर सूत्रपाठ में द्रव्य के लक्षणवाले दो ही सूत्र हैं "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सन्"—५ २९ । "गुणपर्यायवद् द्रव्यम्"—५ ३७ । इन दोनों के अतिरिक्त द्रव्य के लक्षणविषय में एक तीसरा सूत्र दिगंबर सूत्रपाठ में है—"सद् द्रव्यलक्षणम्"—१ २९ । ये तीनों दिगंबर सूत्रपाठगत



सूत्र कुम्भकुम्भ के पचास्त्रिकाय की निम्न प्राकृत भाषा में पुनः पुनः से विद्यमान है

वृष्य सप्तकल्पिर्म उपाद्ध्ययधुवरासमुत्त ।  
गुणपद्भ्यासय वा ज त भर्णाति सप्तवण्डु ॥१०॥

इसके अन्वय कुम्भकुम्भ के प्रसिद्ध शब्दों के साथ तत्त्वार्थसूत्र का वा वाच्यिक तथा वस्तुवत् महत्त्व का सादृश्य है वह आकर्षक तो है ही नहीं ।

(त) उपलब्ध योपसूत्र के रचयिता पतञ्जलि मान जाते हैं, व्याकरण महाभाष्य के रचयिता ही योपसूत्रकार हैं या दूसरे कोई पतञ्जलि इस विषय में अभी कोई निश्चय नहीं । यदि महाभाष्यकार और योपसूत्रकार पतञ्जलि एक हों तो योपसूत्र विष्णु के पूर्व पहुँची-दूसरी सताब्दी का है ऐसा कहा जा सकता है । योपसूत्र का व्यासभाष्य कम का है यह भी निश्चित नहीं फिर भी उसे विष्णु की तीसरी सताब्दी से प्राचीन मानना का कोई कारण नहीं है ।

योपसूत्र और उसके भाष्य के साथ तत्त्वार्थ के सूत्रों और उनके भाष्य का वाच्यिक तथा वाच्यिक सादृश्य बहुत है और वह आकर्षक भी है तो भी इन दोनों में से किसी एक के ऊपर दूसरे का असर है यह मही प्रकार कहना उचित नहीं क्योंकि तत्त्वार्थ के सूत्रों और भाष्य की संश्लेषण से प्राचीन जैन ग्रन्थों की विरसत मिली हुई है, वही प्रकार योपसूत्र और उसके भाष्य को पुरातन सांख्य योग तथा बौद्ध आदि परम्पराओं की विरसत मिली है । ऐसा होते हुए भी तत्त्वार्थ के भाष्य में एक स्वतन्त्र ऐसा है जो जैन ग्रन्थों में इस समय तक उपलब्ध नहीं और योपसूत्र के भाष्य में उपलब्ध है ।

पहले निर्मित हुई आयु कम भी हो सकती है अर्थात् बीच में २८ भी सकती है और नहीं भी ऐसी जर्ना जैन ग्रन्थों में है । परन्तु

१ इसके अतिरिक्त के शिष्य देलो मेरा लिखा हुआ हिन्दी बोगदधान प्रस्तावना पृष्ठ ५२ में ।

इस चर्चा में आयु के टूट सकने के पक्ष की उपपत्ति करने के लिये भोगे कपडे तथा सूखी घास का उदाहरण अगग्रन्थो में नहीं, तत्त्वार्थ के भाष्य में इसी चर्चा के प्रसंग पर ये दोनो उदाहरण दिये गये हैं जो कि योगसूत्र के भाष्य में भी है। इन उदाहरणों में खूबी यह है कि दोनो भाष्यों का शाब्दिक मादृश्य भी बहुत ज्यादा है। साथ ही, यहाँ एक विशेषता यह है कि योगसूत्र के भाष्य में जिसका अस्तित्व नहीं ऐसा गणित-विषयक एक तीमरा उदाहरण तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य में पाया जाता है। दोनो भाष्यों का पाठ क्रमशः इस प्रकार है —

“Xशेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजा सोपक्रमा निरूपक्रमाश्चापवर्त्या-  
युषोऽनपवर्त्यायुपश्च भवन्ति । X अपवर्तन शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्म-  
फलोपभोग उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम् । X सहतशुष्कतृणराशिदह-  
नवन् । यथाहि सहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण  
दह्यमानस्व चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णापचितम्य  
सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशुदाहो भवति ।  
तद्वन् । यथा वा सरयानाचार्यं करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्या  
राशि छेदादेवापवर्तयति न च सख्येयस्यार्थं स्याभावो भवति तद्वदुपक्र-  
माभिहतो मरणसमुद्घातदुखार्तं कर्मप्रत्ययमनाभोगपूर्वकं करणविशेष-  
मुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति ।  
किं चान्यत् । यथा वा धौतपटो जलाद्र् एव च वितानित-  
मूर्यरश्मिवाय्वभिहत क्षिप्रं शोषमुपयाति न च सहते तस्मिन् प्रभू-  
तस्नेहागमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोषे तद्वद् यथोक्तनिमित्तापवर्तनं कर्मण  
क्षिप्रं फलोपभोगो भवति । न च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमाफत्यानि ।”--  
तत्त्वार्थ-भाष्य २. ५२ ।

“आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरूपक्रमं च । तत्र यथार्द्रं वस्त्रं  
वितानितं ह्रसीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेव  
सपिण्डितं चिरेण संशुष्येदेव निरूपक्रमम् । यथा वाग्निं शुष्के कक्षे  
मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तं क्षेपीयसा कालेन दहेन् तथा सोप-  
क्रमम् । यथा वा स एवाग्निं नृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्ताश्विरेण.

मूहेत् तथा निरुपक्रमम् । सर्वकर्मविक्रमायुक्तर कर्म विविधं मोपक्रमं  
निरुपक्रमं च । — भाग-भाष्य ३ २२ ।

( ग ) अशापह वा न्यायदर्शन ईस्वी तन् के आरम्भ के लग  
भग वा रथा हुआ माना जाता है । उसका 'वात्स्यायनभाष्य' दूसरी  
तीसरी सतायों के भाष्यकार की प्राथमिक कृतियों में से एक  
कृति है । इस कृति के कुछ पत्र और विषय तत्त्वार्थभाष्य में  
पाये जाते हैं । न्यायदर्शन ( ११३ ) — भाष्य प्रमाणबहुत्वाद् वा  
निर्देश तत्त्वार्थ ३ १ सू १ और १५ के भाष्य में पाया जाता है ।  
तत्त्वार्थ १ १२ के भाष्य में अर्थापत्ति सम्यक् और अभाष्य आदि  
प्रमाणों के नेह का निरसन न्यायदर्शन ( २ १ १ ) आदि के जैसा  
ही है । न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष के लक्षण में "इन्द्रियार्थसम्भि  
कर्मोत्पन्नम्" ( १ १ ४ ) ये पद हैं । तत्त्वार्थ १ १२ के भाष्य में  
अर्थापत्ति आदि जुड़े माने जाने वाले प्रमाणों को मति और मृत मान  
में समारोह करते हुए इन्हीं पदों का प्रयोग किया है । यथा —  
'सर्वाप्येतानि मतिभुतयोरन्तर्मुतानि इन्द्रियार्थसम्भिकपनिमित्तवान् ।

इसी तरह पठंमधि-महाभाष्य और न्यायदर्शन ( १ १ १५ ) आदि  
में पर्याय शब्द की अपह अन्वयान्तर' पद के प्रयोग की जो पद्धति है वह  
तत्त्वार्थ सूत्र ( १ १३ ) में भी पाई जाती है ।

( घ ) बौद्ध-दर्शन की सम्यक्वाद विज्ञानवाद आदि धारणाओं के  
बास मतधर्मों का लक्षणा विधिष्ट पद्यों का विश्व प्रकार सर्वापत्तिदि में  
उल्लेख है उस प्रकार तत्त्वार्थभाष्य में नहीं है तो भी बौद्धदर्शन के बौद्ध से  
सामान्य अन्तर्गत तत्त्वान्तर के अन्तर्धर्मों के रूप में दो-एक स्वतः पर जाते

१ 'प्रत्यक्षानुमानोपमानाख्याः प्रमाणाणि' । न्यायदर्शन १ १ १ ।

अनुबिबन्धित्येके लक्षणावन्तरेण" — तत्त्वार्थभाष्य १ ६ और यथा वा  
प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैः प्रमाणीरेकोऽर्थः प्रतीयते" —  
तत्त्वार्थभाष्य । १ १५ ।

२ देखो, १ १५ २ ३ १ और ५ १ ५० का महाभाष्य ।

हैं। वे मतव्य पाली पिटक के ऊपर से लिये गये हैं या महायान के सस्कृत पिटको से लिये गये हैं अथवा किसी दूसरे ही तद्विषयक ग्रन्थ के ऊपर से लिये गये हैं—यह विचारणीय है। उनमें पहला उल्लेख जैनमत के अनुसार नरकभूमियो की सख्या बतलाते हुए बौद्ध सम्मत सख्या का खडन करने के लिये आ गया है। वह इस प्रकार है—  
 “अपि च तन्त्रान्तरीया असख्येषु लोकधातुष्वसख्येयाः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवासिता” —तत्त्वार्थभाष्य—३ १।

दूसरा उल्लेख, जैनमत के अनुसार पुद्गल का लक्षण बतलाते हुए, बौद्ध-सम्मत पुद्गल शब्द के अर्थ का निराकरण करते हुए आया है। यथा—पुद्गला इति च तन्त्रान्तरीया<sup>१</sup> जीवान् परिभाषन्ते—अ० ५ सू० २३ का उत्थानभाष्य।

### (ख) उमास्वाति की योग्यता

उमास्वाति के पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने सस्कृत भाषा में लिखने की शक्ति को यदि विकसित किया न होता और उस भाषा में लिखने का प्रघात शुरू न किया होता तो उमास्वाति इतनी प्रसन्न सस्कृत शैली में प्राकृत परिभाषा में रूढ साम्प्रदायिक विचारों को इतनी सफलता-पूर्वक गूथ सकते कि नही यह एक सवाल ही है, तो भी उपलब्ध समग्र जैन वाङ्मय का इतिहास तो ऐसा ही कहता है कि जैनाचार्यों में उमास्वाति ही प्रथम सस्कृत लेखक है। उनके ग्रन्थों की प्रसन्न, सक्षिप्त और शुद्ध शैली सस्कृत भाषा के ऊपर उनके प्रभुत्व की साक्षी देती है।

१. यद्यपि जैन आगम (भगवती श ८ उ ३ और श २० उ २) में पुद्गल शब्द जीव अर्थ में भी प्रयुक्त देखा जाता है किन्तु जैन-दर्शन की परिभाषा तो मात्र जड परमाणु और तन्निर्मित स्कंध मे ही प्रसिद्ध है। जब कि बौद्ध-दर्शन की परिभाषा एक मात्र जीव अर्थ में ही प्रसिद्ध है। इसी भेद को लक्ष्य में रखकर वाचक ने यहाँ तन्त्रान्तरीय शब्द का प्रयोग किया है।

जैन भागम में प्रसिद्ध ज्ञान ज्ञेय आचार भूगोल ज्ञानोक्त आदि से सम्बन्ध रखने वाली बातों का जो संक्षेप में संग्रह उन्होंने तत्त्वार्थविगम-सूत्र में किया है वह उनके 'वाचक' बंध में होने की और वाचक-पदको यथार्थताकी साक्षी देता है। उनके तत्त्वार्थ की प्रारम्भिक कारिकाएँ और इसी पद्यकृतियाँ सूचित करती हैं कि वे पद्य की तरह पद्य के भी प्राञ्जल लेखक थे। उनके समाध्य सूत्रों का बारीक अवलोकन जैन-भागम-संघर्षी उनके सर्वप्राप्ती अभ्यास के अतिरिक्त वैशेषिक म्याय योग और बौद्ध आदि दार्शनिक साहित्य संबंधी उनके अभ्यास की प्रतीति कराता है। तत्त्वार्थ भाष्य (१ ५ २ १५) में उद्धृत व्याकरण के सूत्र उनके पाणिनीय व्याकरण-विषयक अभ्यास की साक्षी देते हैं।

यद्यपि स्वैताम्बर सम्प्रदाय में आपको पाँच ही ग्रन्थों के कर्ता होने की प्रसिद्धि है और इस समय आपकी कृतिरूप से कुछ ग्रन्थ प्रसिद्ध भी हैं तो भी इस विषय में आज संतोष-जनक कुछ भी कहने का साधन नहीं है। ऐसी स्थिति में भी 'प्रथमरति'<sup>१</sup> की भाषा और विचारसरणी तथा

१ अम्बुहीनसमासप्रकरण पूजाप्रकरण आचक्रप्रज्ञप्ति क्षेत्रविचार, प्रथमरति। सिद्धतेन अपनी कृति में (पृ ७८ १ २) उनके 'शौचप्रकरण' नामक ग्रंथ का उल्लेख करते हैं, जो इस समय उपलब्ध नहीं।

२ कविकार सिद्धतेन—'प्रथमरति' को भाष्यकार की ही कृतिरूप से सूचित करते हैं। यथा— यथा प्रथमरती ( का० २०८ ) जनेनैवोत्तमम् - वरमाचरप्रवेष्टो वर्णादिपुत्रेषु प्रकलीय । "वाचकेन स्वैतरेव बलसंज्ञया प्रथमरती ( का ८ ) उपालम् — १ ६ तथा १ ६ की व्याप्यकृति।

तथा सिद्धतेन भाष्यकार तथा सूत्रकार को एक तो समझते ही है। यथा— स्वकृतकृतमतिविद्ययाभिप्योक्तम् । — २२. पृ २५३।

'इति श्रीमहर्षेयवचने तत्त्वार्थविगमे - जमाइवातिवाचकोपसूत्रभाष्ये भावानुसारिणां च टीकायां सिद्धतेनमपि विरचितायां अनपारापारिपुत्रप्रवचक' लप्तलोप्याय । - तत्राथमाप्य के साथ ही अभ्यास की टीका की पुष्पिका। ऐसे अन्य उल्लेखों के बिना आगे दोस्तों परंपरा वाले प्रकरण में।

सिद्धसेन आदि के उल्लेख यह सब उसकी उमास्वाति कर्तृकता निश्चित रूपसे बतलाते हैं ।

उमास्वाति अपने को 'वाचक' कहते हैं, इसका अर्थ 'पूर्ववित्' कर के पहले से ही श्वेताम्बराचार्य उमास्वाति को 'पूर्ववित्' रूप से पहचानते आए हैं । दिगम्बर परम्परा में भी उनको 'श्रुतकेवलदेशीय' कहा है ।<sup>२</sup>

इनका तत्त्वार्थग्रन्थ इनके ग्यारह अग विषयक श्रुतज्ञान की तो प्रतीति

प्रशमरतिप्रकरण की १२० वीं कारिका 'भाचायं आह' कह कर निगीथचूर्णि में उद्धृत की गई है । इस चूर्णि के प्रणेता जिनदास महत्तर का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है जो उन्होंने अपनी नन्दिसूत्र की चूर्णि में बतलाया है, इस परसे ऐसा कह सकते हैं कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है । इससे और ऊपर बतलाए हुए कारणों से यह कृति वाचक की हो तो इसमें कोई इनकार नहीं ।

१ पूर्वी के चौदह होने का समवायाग आदि आगमों में वर्णन है । वे दृष्टिवाद नामक वारहवें अङ्ग के पाचवाँ भाग ये ऐसा भी उल्लेख है । पूर्वश्रुत अर्थात् भगवान महावीर द्वारा सबसे पहले दिया हुआ उपदेश ऐसी प्रचलित परम्परागत मान्यता है । पश्चिमी विद्वानों की इस विषय में ऐसी कल्पना है कि भ० पार्श्वनाथ की परम्परा का जो पूर्वकालीन श्रुत भ० महावीर को अथवा उनके शिष्यों को मिला वह पूर्वश्रुत है । यह श्रुत क्रमशः भ० महावीर के उपदिष्ट श्रुत में ही मिल गया और उसी का एक भाग-रूप से गिना गया । जो भ० महावीर की द्वादशागी के धारक थे वे इस पूर्वश्रुत को जानते ही थे । कठ रखने के प्रघात और दूसरे कारणों से क्रमशः पूर्वश्रुत नष्ट हो गया और आज सिर्फ 'पूर्वगतगाथा' रूप में नाम मात्र से शेष रहा उल्लिखित मिलता है । और 'पूर्व' के आबार से बने कुछ ग्रन्थ मिलते हैं ।

२ नगर ताल्लुके के एक दिगम्बर शिलालेख न० ४९ में इन्हें 'श्रुत-केवलदेशीय' लिखा है । यथा—

"तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।

श्रुतकेवलदेशीय इति

कर ही रहा है इससे इनकी इतनी योग्यता के विषय में तो कोई संदेह नहीं है। इन्होंने अपने का विरासत में मिले हुए आहत धुत के सभी पञ्चाशोंका समग्र उत्सर्ग में किया है। एक भी महत्त्व की बाबने वाली बात को इन्होंने बिना कपन किये छोड़ा नहीं। पीछे आचार्य हेमचन्द्र मद्रहकार के रूप में उमास्वाति का स्वाम सर्वोत्कृष्ट मानते हैं<sup>१</sup>। इसी योग्यता के कारण उनके उत्सर्ग की व्याख्या करने के लिये सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्य प्रसिद्ध हुए हैं।

### (ग) उमास्वाति की परम्परा

दिगम्बर आचार्य उमास्वाति को अपनी परम्परा का मान कर उनकी कृतिरूप से मान उत्सर्ग-सूत्र को ही स्वीकार करते हैं। जब कि श्वेताम्बर उन्हें अपनी परम्परा का मानते हैं और उनकी कृतिरूप से उत्सर्ग-सूत्र के प्रतिरिक्त माध्य को भी स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उमास्वाति दिगम्बर परम्परा में हुए हैं या श्वेताम्बर परम्परा में। अबका लोगों से भिन्न किसी ब्रह्मा ही परम्परा में हुए हैं? इत प्रश्न का उत्तर माध्य के कर्तृत्व के निर्णय से मिल जाता है। माध्य स्वयं उमास्वाति की कृति है यह बात नीचे लिखे प्रमाणों से निर्विवाद सिद्ध है।<sup>२</sup>

१ माध्य की उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन टीका तिद्धसेन की है। उसमें स्वापन्नतामूचक उल्लेख ये है—

“प्रतिज्ञातं ज्ञानेन “ज्ञान ब्रह्मण” इति। अवस्तनुरोपे  
नैकवचनं चकार आचार्यः। प्रथम भाग पृ ६९

‘श्वस्तीति च प्रत्यकार एव द्विषा आत्मानं विमम्य सूत्रकार  
भाष्यकाराकारेणैव माह ” पृ० ७२

१ उत्सर्ग में वर्णित विषयों का मूल जानने के लिये देखो उ  
आत्मामयी तपादित उत्सर्गसूत्र-विभाषणसमन्वय।

२ ‘उमास्वाति संबन्धीताः’—तिद्धसेन २ २ ३९।

३ देखो ‘भारतीय विद्या के तिथी स्मारक’ अंक में श्री प्रेमीजी का लेख

“सूत्रकारादविभक्तोपि हि भाष्यकारो” पृ० २०५

“इति श्रीमदहर्षप्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपेक्षसूत्र-  
भाष्ये भाष्यानुसारिण्या च टीकायां . ” द्वितीय भाग पृ० १२०

२ भाष्यगत अंतिम कारिकाओं में से आठवी कारिका को याकिनी  
सूनु हरिभद्राचार्यने शास्त्रवार्तासमुच्चय में उमास्वाति कर्तृक रूप से उद्धृत  
किया है ।

३ भाष्य की प्रारम्भिक अगभूत कारिका के व्याख्यान में आ०  
देवगुप्त भी सूत्र और भाष्य को—एक कर्तृक सूचित करते हैं—देखो  
का० १, २ ।

४ प्रारम्भिक कारिकाओं<sup>१</sup> में और कुछ स्थानों पर भाष्य<sup>२</sup> में भी  
'वक्ष्यामि, वक्ष्याम' आदि प्रथम पुरुष का निर्देश है और इस निर्देश में की  
हुई प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्र में कथन किया गया है ।

५ शुरु से अन्त तक भाष्य को देख जाने पर एक बात मन में  
जचती है कि किसी स्थल पर सूत्र का अर्थ करने में शब्दों की स्वीचातानी  
नहीं हुई, कही भी सूत्र का अर्थ करने में सदेह या विकल्प करने में नहीं  
आया, इसी प्रकार सूत्र की किसी दूसरी व्याख्या को मन में रख कर सूत्र  
का अर्थ नहीं किया गया और न कही सूत्र के पाठभेद का ही अवलम्बन  
लिया गया है ।

यह वस्तु-स्थिति सूत्र और भाष्य के एककर्तृक होने की चिरकालीन  
मान्यता को सत्य ठहराती है । जहाँ मूल और टीका के कर्ता अलग होते हैं

१ “तत्त्वार्थाधिगमाख्य बह्वर्थं सग्रहं लघुग्रन्थम् ।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममहर्षद्वचनैकदेशस्य ॥२२॥

नत्तं च मोक्षमार्गाद् व्रतोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।

तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥३१॥

२ “गुणान् लक्षणतो वक्ष्याम.”—५ ३७ का भाष्य, अगला सूत्र ५. ४० ।

“अनादिरादिमाश्च त परस्ताद्वक्ष्याम —५ २२ का भाष्य, अगला सूत्र ५. ४२ ।



वही तरलमान-विषयक प्रतिष्ठित तथा अनेक सम्प्रदायों में माध्य घर्षों में ऊपर बँधी वस्तु-स्थिति नहीं होती। उदाहरण के तौर पर बैरिक वर्णन में प्रतिष्ठित 'ब्रम्हसूत्र' घर्ष को लीजिये यदि इसका कर्ता सुब ही व्याख्याकार होता तो इसके माध्य में मात्र जो घर्षों की लीजातानी अर्थ के विकल्प और अर्थ का संविह तथा सूत्र का पाठभेद दिखाताई पड़ता है वह कदापि न होता। इसी तरह 'तत्त्वार्थ-सूत्र' के प्रवेता ने ही यदि 'सर्वावस्थिति' 'राजवार्तिक' और 'बलोकवार्तिक' आदि कोई व्याख्या लिखी होती तो उनमें जो अर्थ की लीजातानी घर्ष की लोड-भरोड मध्याहार अर्थ का संविह और पाठभेद दिखाई देते हैं वे कभी न होते। यह वस्तु स्थिति निश्चित रूप से एककर्तृक नुक तथा टीका वाले घर्षों को देखने में समझी जा सकती है। इतनी चर्चा नुक तथा माध्य का कर्ता एक होने की मायता की निश्चित भूमिका पर हमें छोड़ देनी है।

मह और माध्य के कर्ता एक ही हैं यह निश्चय इस प्रश्न के हल करने में बहुत उपयोगी है कि वे किस परम्परा के थे? जमास्वाति दिग्बर परम्परा के नहीं थे ऐसा निश्चय करने के लिये नीचे की दलील काफ़ी है।

१ प्रशस्ति में सूचित की हुई उज्जयिनगर धाबा या मागूर धाबा के विनम्बर सम्प्रदाय में होने का एक भी प्रमाण नहीं पाया जाता।

२ 'काल' किठी के मत से वास्तविक इष्य है ऐसा सूत्र (५ ३८) और उसके माध्य का वर्णन विनम्बर पद्य (५ ३९) के विषय है। केवली में (९ ११) प्यारह परीपह होने की सूत्र और माध्ययत सीधी मान्यता एवं माध्ययत वस्तु पात्राधि का स्पष्ट उल्लेख भी विनम्बर परम्परा के विषय है—९. ९ ७ . २५। शिखों में तिग्गार और तीर्बंशर का माध्ययत वस्तुय विनम्बर परंपरा में उल्लेख है।

३ माध्य में केवलज्ञान के परचागु केवली क दूधरा उपयोग मानने न मानने का जो अन्वय्य भेद (१ ३१) है वह विनम्बर घर्षों में नहीं दिखाई देता।

१ उदाहरण के तौर पर देखो, लजापतिदि—“वरजदेहा इति वा पाठः - २. ५३। अथवा एकारता जिने न सन्तोति वाक्ययच कल्पनीय-

उक्त दलीले यद्यपि ऐसा सावित करती हैं कि वाचक उमास्वाति दिगम्बर परम्परा के नहीं थे, फिर भी यह देखना तो बाकी ही रह जाता है कि तब वे कौन सी परम्परा के थे ? नीचे की दलीले उन्हें श्वेताम्बर परम्परा के होने की तरफ ले जाती है ।

१ प्रशस्ति में उल्लिखित उच्चनागरी शाखा<sup>१</sup> श्वेताम्बर पट्टावली में पाई जाती है ।

२ भ्रमुक विषय-सम्बन्धी मतभेद या विरोध बतलाते हुए भी कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन श्वेताम्बर आचार्य नहीं पाये जाते जिन्होंने दिगम्बर आचार्यों की तरह भाष्य को अमान्य रक्खा हो ।

३ जिसे उमास्वाति की कृति रूप से मानने में शका का अवकाश नहीं जो पूर्वाक्त प्रकार से भाष्य विरोधी है, ऐसे प्रशमरति<sup>२</sup> ग्रन्थ में मुनि के दस्त्र-पात्र का व्यवस्थित निरूपण देखा जाता है, जिसे श्वेताम्बर परम्परा निर्विवादरूप में स्वीकार करती है ।

४ उमास्वाति के वाचकवश का उल्लेख और उसी वश में होने वाले अन्य आचार्यों का वर्णन श्वेताम्बर पट्टावलियों, पञ्चवणा और नन्दी की स्वविरावली में पाया जाता है ।

ये दलीले वा० उमास्वाति को श्वेताम्बर परंपरा का सिद्ध करती हैं, और अब तक के समस्त श्वेताम्बर आचार्य उन्हें अपनी ही परंपरा का पहले से मानते आये हैं । वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा में हुए और दिगम्बर में नहीं, ऐसा खुद मेरा भी मन्तव्य अधिक वाचन चिन्तन के बाद आज पर्यन्त स्थिर हुआ है । इस मन्तव्य को विशेष स्पष्ट समझाने के लिए दिगम्बर-श्वेताम्बर के भेद सम्बन्धी इतिहास के कुछ प्रश्नों पर प्रकाश डालना जरूरी है । पहला प्रश्न यह है कि इस समय जो दिगम्बर श्वेताम्बर के भेद या विरोध का विषय श्रुत तथा आचार देखा जाता है उसकी प्राचीन जड़ कहा तक पाई जाती है और वह प्राचीन जड़ मुख्यतया किस बात में रही ? दूसरा प्रश्न यह है कि उक्त दोनों फिरको को समानरूप

१ देखो, प्रस्तुत परिचय पृ०५ तथा ८ ।

२ देखो, पृ० १३८ में ।

से मान्य भूत या मा नहीं और वा तो कबतक बहु समान मान्यता का विषय रहा और उसमें मतभेद कब से प्रविष्ट हुआ, तथा उस मतभेद के अन्तिम फलस्वरूप एक-दूसरे को परस्पर पूर्णरूपेण अमान्य भूतभेद का निर्माण कर हुआ ? तीसरा पर अन्तिम प्रश्न यह है कि उमास्वादि कुछ किस परम्परा के आचार का पालन करते थे और उन्होंने जिस भूत को आचार बनाकर तत्त्वार्थ की रचना की वह भूत उक्त दोनों छिद्रकों को पूर्णतया समाप्त कर से मान्य वा या किसी एक छिद्रके को ही पूर्णरूपेण मान्य और दूसरे को पूर्णरूपेण अमान्य ?

१ जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री अनी प्राप्त है उससे निर्निवार रूप से इतना साफ पता पड़ता है कि भगवान् महावीर पार्ष्णापत्य की परम्परा में हुए थे और उन्होंने सिद्धिक या अर्धम त्याग-मार्ग में अपने उत्कृष्ट त्यागमार्गमय व्यक्तित्व के द्वारा मनीष जीवन हासा। शुरू में विरोध और अवासीनता रखनेवाले भी अनेक पार्ष्णसन्तानिक साधु यादक भगवान् महावीर के शासन में आ गये । भगवान् महावीर ने अपनी नायकत्वोचित उदार, पर तात्त्विक दृष्टि से अपने शासन में उन दोनों वर्गों का स्वात निश्चित किया जो बिल्कुल नपनबीषी तथा उत्कृष्ट विहारी

१ आचारंगसूत्र सूत्र १७८ ।

२. काण्वतवेद्यपुत्र ( भगवती १ ९ ) केशी (उत्तपम्पयन अघ्ययन २३) उदकपेडाकपुत्र (सूत्रकृत्याह २ ७) गंगेय (भगवती १ ३२) इत्यादि। विद्यय के सिधे देलो उत्पान महावीरोंक" पृ ५८। कुछ पम्प्राप्यी ने तो पंचमहाप्रत और प्रतिष्ठाभण के साथ नपनत्व का भी स्वीकार किया देता उदकेन आत्र एक वर्गों में सुपुष्टि है । उदाहरणार्थ देलो भगवती १ ९ ।

३ आचारंग में सनेल और अथेक दोनों प्रकार के सुमियों का वर्णन है । अथेक मुनि के वर्णन के सिधे प्रथम सुतस्त्रय के छठे अरण्यन के १८३ सूत्र से आगे के सूत्र देखने चाहिये, और सनेल मुनि के सम्बन्धितक आचार के सिधे द्वितीय सुतस्त्रय का ५ वीं अघ्ययन देखना चाहिये । और सनेल मुनि तथा अथेक मुनि से बीसों मोह को देने कीति इसके दोषक वर्णन के सिधे देलो आचारंग १ ८ ।

था, और जो विलकुल नग्न नहीं ऐसा मध्यममार्गी भी था। उक्त दोनों दलों का विलकुल नग्न रहने या न रहने के विषय में तथा थोड़े बहुत अन्य आचारों के विषय में भेद रहा<sup>१</sup>, फिर भी वह भगवान के व्यक्तित्व के कारण विरोध का रूप धारण करने न पाया। उक्त और मध्यम त्याग मार्ग के उस प्राचीन समन्वय में ही वर्तमान दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद की जड़ है।

उस प्राचीन समय में जैन परम्परा में दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे शब्द न थे फिर भी आचारभेद सूचक नग्न, अचेल (उत्त० २३ १३, २९) जिनकल्पिक, पाणिप्रतिग्रह (कल्पसूत्र ९. २८), पाणिपात्र आदि शब्द उक्त त्यागवाले दल के लिए, तथा सचेल प्रतिग्रहधारी, (कल्पसूत्र ९. ३१) स्यविरकल्प (कल्पसूत्र० ९ ६३) आदि शब्द मध्यम-त्यागवाले दल के लिए पाए जाते हैं।

२ इन दो दलों का आचार समन्वही भेद होते हुए भी भगवान् के शासन के मुख्य प्राण रूप श्रुत में कोई भेद न था, दोनों दल वारह अग रूप से माने जाने वाले तत्कालीन श्रुत को समान भाव से मानते थे। आचारविषयक कुछ भेद और श्रुतविषयक पूर्ण अभेद की यह स्थिति तरतमभाव से भगवान् के वाद करीब डेढ़ सौ वर्ष तक रही। यह स्वरण रहे कि इस बीच में भी दोनों दल के अनेक योग्य आचार्यों ने उसी अग श्रुत के आधार पर छोटे बड़े ग्रन्थ रचे थे जिनको सामान्य रूप से दोनों दल के अनुगामी तथा विशेष रूप से उस उस ग्रन्थ के रचयिता के शिष्यगण मानते थे और अपने अपने गुरु-प्रगुरु की छति समझ कर उस पर विशेष भार देते थे। वे ही ग्रन्थ अगवाह्य, अनग या उपाग, रूप से<sup>२</sup> व्यवहृत हुए। दोनों दलों की श्रुत के विषय में इतनी अधिक निष्ठा व वफादारी रही कि जिमसे अग और अगवाह्यका प्रामाण्य समान रूप से मानने पर भी किसी ने अग और अनग श्रुत की

१. देखो उत्तराध्ययन अ० २३।

२ दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, आवश्यक साविभाषित आ<sup>३</sup> ।

नेवक रेखा को भीम न किया जो कि दोनों एक के वर्तमान साहित्य में आज भी स्थिर है ।

एक तरफ से अनेकत्व सचेतत्वादि आचार का पूर्वकालीन मठमेव जो एक बुधरे की सहिष्णुता के तथा समन्वय के कारण बना हुआ था वह धीरे धीरे तोड़ होता गया । जिससे बुधरी तरफ से उठी आचार विषयक मठमेव का समर्पण दोनों एकजाले मुख्यतया अन्-भूत के आचार पर करने लगे और साथ ही साथ अपने अपने हल के द्वारा स्थित विशेष अंगवाह्य भूत का भी उपयोग उसके समर्पण में करने लगे । इस तरह मुख्यतया आचार के मेव में से जो हलमेव स्थिर हुआ उसके कारण सारे शासन में अनेकविध गड़बड़ी पैदा हुई । जिसके फलस्वरूप पटकिपुत्र की वाचना (बी नि १६ अध्याय) हुई । इस वाचना तक और इसके धाने भी ऐसा अभिन्न अंग भूत रहा जिसे दोनों दसवाले समान भाव से मानते थे पर कहते जाते थे कि उस मुख्यभूत का अन्त न्यास होता जाता है । साथ ही वे अपने अपने अभिन्न आचार के पोषक धर्मों का भी निर्माण करते रहे । इसी आचारमेव पोषक भूत के द्वारा अन्त-उभ प्राचीन अभिन्न अंग भूत में मठमेव का अन्त हुआ जो शुरू में अर्थ करने में था पर आगे जाकर पाठमेव की तथा प्रक्षेप आदि की कल्पना में परिणत हुआ । इस तरह आचारमेवजनक विचारमेव ने उस अभिन्न अंगभूतविषयक दोनों हल की समान प्रामाण्यता में भी अन्त पैदा किया । इससे एक हल तो वह मानने मनवाने लगा कि वह अभिन्न मूल अंगभूत अन्त अर्थों में भूत ही हो गया है । जो वाकी है वह भी कृत्रिमता तथा नये प्रक्षेपों से खाली नहीं है । ऐसा कहकर भी वह हल उस मूल अंग भूत को सर्वथा छोड़ नहीं बैठा । पर साथ ही साथ अपने आचार पोषक भूत का विशेष निर्माण करने लगा और उसके द्वारा अपने पक्ष का प्रचार भी करता रहा । बुधरे हल ने देखा कि पहला हल उस मूल अंगभूत में कृत्रिमता बाधित हो जाने का आक्षेप भी करता है पर

वह उसे सर्वथा छोड़ता भी नहीं और न उसकी रक्षा में साथ ही देता है । यह देखकर दूसरे दलने मथुरा में एक सम्मेलन किया । उसमें मूल अगश्रुत के साथ अपने मान्य अग वाह्यश्रुत का पाठनिश्चय, वर्गीकरण और सक्षेप-विस्तार आदि किया गया, जो उस दल में भाग लेनेवाले सभी स्थविरो को प्रायः मान्य रहा । यद्यपि इस अग और अनग श्रुत का यह सस्करण नया था तथा उसमें अग और अनग की भेदक रेखा होने पर भी अग में अनग का प्रवेश<sup>२</sup> तथा हवाला जो कि दोनों के समप्रामाण्य का सूचक है आ गया था तथा उसके वर्गीकरण तथा पाठस्थापन में भी फर्क हुआ था, फिर भी यह नया सस्करण उस मूल अग श्रुत के अति निकट था, क्योंकि इसमें विरोधी दल के आचार की पीपक वे सभी बातें थी जो मूल अगश्रुत में थी । इस माथुर-सस्करण के समय से तो मूल अगश्रुत की समान मान्यता में दोनों दलों का बड़ा ही अन्तर पड़ गया । जिसने दोनों दलों के तीव्र श्रुतभेद की नींव डाली । अचेलत्व का समर्थक दल कहने लगा कि मूल अगश्रुत सर्वथा लुप्त हो गया है । जो श्रुत सचेल दल के पास है, और जो हमारे पास है वह सब मूल अर्थात् गणघरकृत न होकर पिछले अपने अपने आचार्यों के द्वारा रचित व सकलित है । सचेल दलवाले कहते थे वेशक पिछले आचार्यों के द्वारा अनेकविध नया श्रुत रचा भी गया है, और उन्होंने नहीं सकलना भी की है फिर भी मूल अगश्रुत के भावों में कोई परिवर्तन या काट-छाँट नहीं की गई है । वारीकी से देखने तथा ऐतिहासिक कसौटी से कसने पर सचेल दल का वह कथन बहुत कुछ मत्त ही जान पड़ता है, क्योंकि सचेलत्व का पक्षपात और उसका समर्थन करते रहने पर भी उस दल ने अगश्रुत में वे अचेलत्व

१ वी० नि० ८२७ और ८४० के बीच । देखो वीरनिर्वाणसवत् और जैनकालगणना पृ० १०४ ।

२ जैसे भगवती सूत्र में अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रजति, जीवाभिगमसूत्र और राजप्रश्रीय का उल्लेख है । देखो भगवती चतुर्थ खण्ड का परिशिष्ट ।

समर्पक अचलत्व प्रतिपादक किसी नाम को उदा नहीं दिया<sup>१</sup> । जैसे अथेक दल कहता था कि मूल अंयभूत स्रुत हुआ बीछे ही उसके सामन सचल दल यह कहता था कि जिनकल्प अर्थात् पाणिपाण या अथेकत्व का जिनसम्मत अचार भी काल-भेद के कारण स्रुत ही हुआ है । फिर भी हम देखते हैं कि अथेक दल के द्वारा संस्कृत समूहित और नव संकल्पित भूत में अथेकत्व के आचारभूत सब पाठ तथा उपनुक्त व्याख्याएँ मौजूद हैं । अथेक दल के द्वारा अद्वयमित्त अंयभूत के भूत अंयभूत से अतिमिच्छितम होन का उद्यत यह है कि वह उत्सर्व-सामान्य भूमिका प्राप्त है जिसमें अथेक-दल के नव अपवादों का या त्रियोप नामों का विधान पूर्वतया आवश्यक भी मौजूद है । जब कि अथेक दल द्वारा दल के सम्मत नग्नत्वाचारभूत अतिस्थिक नहीं क्योंकि वह अथेकत्व मात्र का विधान करता है । अथेक दल का भूत अथेक तथा अथेक दोनों आचारों को मोक्ष भ्रम मानता है आस्तविक अथेक-आचार की प्रधानता भी बतलाता है । उसका मतभेद उसकी सामयिकता मात्र में है जब कि अथेक दल का भूत अथेकत्व को मोक्ष का भ्रम ही नहीं मानता उसे उसका प्रतिबन्धक तक मानता है<sup>२</sup> । ऐसी दशा में वह स्पष्ट है कि अथेक दल का भूत अथेक दल के भूत की अपेक्षा उस मूल अंयभूत से अतिमिच्छित है ।

मथुरा के बाह बलगी<sup>३</sup> में पुन स्रुत-संस्कार हुआ जिसमें स्वविर या अथेक दल का उदा-गदा मतभेद भी नामधेय हो गया । पर इसके

<sup>१</sup> देखो प्रस्तुत परिचय पृ २२ की टिप्पणी नं १

<sup>२</sup> यत्त-वरजोहि-पुष्पात् आहारय-कल्प-उच्यते कव्ये ।

संज्ञकस्य-केचि-सिद्धताया अन्वुमि बुद्धिधन्वा ॥ विशेषा

२५११ ।

<sup>३</sup> सर्वाभिहित में नग्नत्व को मोक्ष का मुख्य और अभावित कारण मान्य है—पृ २४८ ।

<sup>४</sup> श्री नि० ८२७ और ८४ के बीच । देखो श्री निर्वाचनसू और श्री कालपत्रिका पृ० १२० ।

साथ ही उस दल के सामने अचेल दल का श्रुत विषयक विरोध उग्रतर-  
वन गया। उस दल में से अमुक ने अब रहा सहा औदासीन्य छोड़ कर  
सचेल दल के श्रुत का सर्वथा बहिष्कार करने की ठानी।

३ वाचक उमास्वाति स्थविर या सचेल परम्परा के आचार वाले-  
अवश्य रहे। अन्यथा उनके भाष्य और प्रशमरति ग्रन्थ में सचेल धर्मा-  
नुसारी प्रतिपादन कभी न होता, क्योंकि अचेल दलके किसी भी-  
प्रवर मुनि की सचेल प्ररूपणा कभी सम्भव नहीं। अचेल दल के प्रधान मुनि  
कुन्दकुन्द ने भी एकमात्र अचेलत्व का ही निर्देश किया है तब कुन्दकुन्द  
के अन्वय में होनेवाले किसी अचेल मुनि का सचेलत्व प्रतिपादन सगत  
नहीं। प्रशमरति की उमास्वाति-कर्तृकता भी विश्वास योग्य है। स्थविर  
दल की प्राचीन और विश्वस्त वशावली में उमास्वाति की उच्चाानागर शाखा  
तथा वाचक पद का पाया जाना भी उनके स्थविरपक्षीय होने का सूचक  
है। उमास्वाति विक्रम की तीसरी शताब्दी से पाँचवी शताब्दी तक में  
किसी भी समय में क्यों न हुए हो पर उन्होंने तत्त्वार्थ की रचना के आधार-  
रूप जिस अग-अनग श्रुत का अवलम्बन किया था वह स्थविरपक्ष को  
मान्य था<sup>१</sup>। और अचेल दलवाले उसके विषय में या तो उदासीन थे  
या उसका त्याग ही कर बैठे थे। अगर उमास्वाति माथुरी वाचना के कुछ  
पूर्व हुए होंगे तब तो उनके द्वारा अवलम्बित अग और अनगश्रुत के  
विषय में अचेल पक्ष का प्राय औदासीन्य था। अगर वे वालभी वाचना  
के आसपास हुए हो तब तो उनके अवलम्बित श्रुत के विषय में अचेल  
दल में से अमुक उदासीन ही नहीं बल्कि विरोधी भी बन गये थे।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य होगा कि जब उमास्वाति अवलम्बित श्रुत



१ प्रवचनसार आधि० ३।

२ वृत्तिकार सिद्धसेन द्वारा अवलम्बित स्थविर पक्षीय श्रुत वालभी,  
वाचना वाला रहा। जब कि उमास्वाति द्वारा अवलम्बित स्थविर पक्षीय श्रुत  
वालभी वाचना के पहलेका है जो सम्भवत माथुरी वाचनावाला होना  
चाहिए। अतएव कहीं कहीं सिद्धसेन को भाष्य में आगम विरोध दिखाई  
दिया जान पड़ता है।



अथेस इस में म अमुक को भाष्य न वा तब उस इस के अनुगामियों ने तत्त्वार्थ को इतना अधिक क्यों अपनाया ? इसका जवाब भाष्य और सर्वाधिकारिणी की तुलना में से तथा मुक्तसूत्र में से मिल जाता है। उमास्वाति जिस अथेसपञ्चाशत्संविता श्रुत को चारण करते थे उसमें नमस्त्व का भी प्रतिपादन और आशय रहा हो जो सूत्रगत ( ९ ) भाष्य सख्य स सूचित होता है। उनके भाष्य में अथवाह्य रूप से जिस श्रुत का निर्देश है वह मन् सर्वाधिकारिणी में नहीं आया क्योंकि ब्रह्मासुतम्कम्ब कल्प व्यवहार आदि अथेस पत्र के अनुकूल ही नहीं हैं। वह स्पष्टतया अथेस पत्र का पोषक है पर सर्वाधिकारिणी में दृष्टीकाक्षिक उत्तराध्ययन का नाम आता है जो ज्ञान अथेस पत्र के किसी आचार्य की कृतिकल्प से निश्चित न होना पर भी अथेस पत्र का स्पष्ट विरोधी नहीं।

उमास्वाति के सूत्रसूत्रों की आकषकता तथा भाष्य को छाड़ देना मात्र से उनके अपने पञ्चानुक्त बनाने की योग्यता देखकर ही पूज्यपाद ने उन सूत्रों पर ऐसी व्याख्या लिखी जो केवल अथेस धर्म का ही प्रतिपादन करे और अथेस धर्म का स्पष्टतया निरास करे। इतना ही नहीं बल्कि पूज्यपादम्बामी ने अथेसपञ्चाशत्संविता एकादश अथ तथा अथवाह्य श्रुत या बालमी आचना का वर्तमान रूप ही उसका भी स्पष्टतया अप्रामाण्य सूचित कर दिया है। उन्होंने कहा है बालमी को कवलाहारी मानना तथा मान आदि क प्रहल वा वृत्ताना मया केवली अर्थात्वाद तथा श्रुताथर्त्तवाद है। बन्नुम्बिति वह जान पड़ती है कि पूज्यपाद की सर्वाधिकारिणी जो मुख्यतः से स्पष्ट अथेसधर्म की प्रतिपादिका है उसके वन जाने क बाद अथेसपञ्चाशत्संविता तमस्य धुन का जैना बहिष्कार अमुक अथान पत्र ने किया जैना

१ भागवती ( शतक १५ ) आध्यात्म ( शीघ्राहुयकागदित पृ ३१८

३१ ३४८ ३५९ ३६८ ) अथवाह्य ( पृ १४८ १५ ) आदि में जो मान अथेस पाठ आते हैं उनका लक्ष्यमें रखकर तत्त्वार्थनिश्चयन करा दे कि भाग्य में ऐसी बातों का ज्ञान स्वीकार करना श्रुताथर्त्तवाद है। और भागवती ( शतक १५ ) आदि में बालमी के आशय का चयन है उनका लक्ष्यमें रख कर कहा कि वह लक्ष्य के अथवाह्य है।

दृढ व ऐकान्तिक वहिष्कार सर्वार्थसिद्धि की रचना के पूर्व न हुआ था ।<sup>१</sup> यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धि की रचना के बाद अचेल दल में सचेलपक्षीय श्रुत का प्रवेश नाममात्र का ही रहा जैसा कि उत्तरकालीन दिगम्बर विद्वानों की श्रुतप्रवृत्ति से देखा जाता है<sup>१</sup>, जो नगण्य जैसा है । वस्तुतः पूज्यपाद के आसपास अचेल और सचेल पक्ष में इतनी खीचातानी और पक्षापक्षी बढ गई थी कि उसीके फलस्वरूप सर्वार्थ-सिद्धि के बन जाने तथा उसकी अति प्रतिष्ठा हो जाने पर अचेल पक्ष में से तत्त्वार्थ भाष्य का रहा-सहा भी स्थान हट ही गया । विचार करने से भी इस प्रश्न का अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला कि जैसे जैसे भी सचेलपक्ष ने अगश्रुत को अभी तक किसी न किसी रूप में सम्हाल रखा, तब बुद्धि में, श्रुत-भक्ति में, और अप्रमाद में जो सचेल पक्ष से किसी तरह कम नहीं उस अचेल पक्ष ने अगश्रुत को समूल नष्ट होने क्यों दिया ? जब कि अचेल पक्ष के अग्रगामी कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, ममन्तभद्र आदि का इतना श्रुत विस्तार अचेल पक्ष ने सम्हाल रखा तब कोई सबव न था कि वह आज तक भी अगश्रुत के अमुक मूल भाग को सम्हाल न सकता । अगश्रुत को छोड़ कर अगवाह्य की ओर नजर डाले तब भी प्रश्न ही है कि पूज्यपाद के द्वारा निर्दिष्ट दशवैकालिक, उत्तराध्ययन जैसे छोटे से ग्रन्थ अचेल पक्षीय श्रुत में से लुप्त कैसे हुए ? जब कि उनसे भी बड़े ग्रन्थ उस पक्ष में बराबर रहे । सब बातों पर विचार करने से मैं इसी निश्चित नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मूल अगश्रुत का प्रवाह अनेक अवश्यम्भावी परिवर्तनों की चोटों सहन करता हुआ भी आज तक चला आया है जो अभी श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा सर्वथा माना जाता है और जिसे दिगम्बर फिरका विलकुल नहीं मानता ।

श्रुत के इस सिलमिले में एक प्रश्न की ओर ऐतिहासिक विद्वानों का ध्यान खीचना आवश्यक है । पूज्यपाद तथा अकलङ्क द्वारा दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन का निर्देश किया गया है । इतना

१ अकलङ्क और विद्यानन्द आदि सिद्धसेन के ग्रन्थों से परिचित रहे । देखो राजवार्तिक ८ १ १७ । श्लोकवार्तिक पृ० ३ ।

ही नहीं बल्कि ब्रह्मैकान्तिक के ऊपर तो नगत्म के समर्पक अपराजित आचार्य ने टीका भी रची थी १। इन्होंने भगवती-आराधना पर भी टीका लिखी है। ऐसी वृत्ता में सारी दिगम्बर परम्परा में से ब्रह्मैकान्तिक और उत्तराध्ययन का प्रचार क्यों उठ गया ? और जब हम देखते हैं कि मुक्ताचार, भगवती आराधना जैसे अनेक ग्रन्थ जो कि ब्रह्म आदि उपनिषद् का भी रूपभाव रूप से मुनि के लिए निकस्यन करते हैं और जिनमें आदिकाओं के मार्ग का भी निकस्यन है और जो ब्रह्मैकान्तिक तथा उत्तराध्ययन की अपेक्षा मुनि-आचार का किसी तरह उल्टा प्रतिपादन नहीं करते वे ग्रन्थ सारी दिगम्बर परम्परा में एक से माय्य हैं और जिन पर कई प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानों ने संस्कृत तथा शृपा (हिन्दी) में टीकाएँ भी लिखी हैं। तब तो हमारा उपर्युक्त प्रश्न और भी बलवान् बन जाता है। मुक्ताचार तथा भगवती आराधना जैसे ग्रन्थों को श्रुत में स्थान देने वाली दिगम्बर परम्परा ब्रह्मैकान्तिक और उत्तराध्ययन को क्यों नहीं मानती ? अबका यों कहिये कि ब्रह्मैकान्तिक आदि को छोड़ देने वाली दिगम्बर परम्परा मुक्ताचार आदि को कैसे मान सकती है ? इस अवसति सूचक प्रश्न का जवाब सरल भी है और कठिन भी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करे तो सरल है और केवल पन्थ दृष्टि से सोचें तो कठिन है।

जो इतिहास नहीं जानते वे बहुत ही सोचते हैं कि अनेक मा दिगम्बर परम्परा एक मात्र नगत्म को ही मन्त्र का अंग मानती है या मान सकती है। नगत्म के अतिरिक्त कोई भी उपकरण भारत को दिगम्बरत्व के विचार में कोई स्थान ही नहीं। और जब से दिगम्बर परंपरा में तेरापन्थ की भावना ने जोर पकड़ा और दूसरे दिगम्बर-अवान्तर पन्थ या तो नामसेप हो गये या तेरापन्थ के प्रभाव में दब गए तब से तो पन्थद्विवाहों का उपर्युक्त विचार और भी पुष्ट हो गया कि मुनित्व का अंग तो एकमात्र नगत्म है कोई भी उपनिषद् उल्टा अंग हो नहीं सकती और नगत्म की असंभावना के कारण न श्री ही मुनि वर्ग की अधिकारिणी

बन सकती है। ऐसी पन्थ दृष्टि वाले उपर्युक्त असंगति का सच्चा समाधान पा ही नहीं सकते। उनके लिए यही मार्ग रह जाता है कि या तो वे कह देवे कि वैसे उपधि प्रतिपादक सभी ग्रन्थ श्वेताम्बर हैं या श्वेताम्बर प्रभाववाले किन्हीं विद्वानों के बनाए हुए हैं या उनका तात्पर्य पूर्ण दिगम्बर मुनित्व का प्रतिपादन करना नहीं है। ऐसा कह कर भी वे अनेक उलझनों से मुक्त तो हो ही नहीं सकते। अतएव उनके लिए प्रश्न का सच्चा जवाब कठिन है।

परन्तु जैन परम्परा के इतिहास के अनेक पहलुओं का अध्ययन तथा विचार करनेवाले के लिए वैसी कोई कठिनाई नहीं। जैनपरम्परा का इतिहास कहता है कि अचेल या दिगम्बर कहलानेवाले पक्ष में भी अनेक सघ या गच्छ ऐसे हुए हैं जो मुनिधर्म के अग्ररूप से उपधिका आत्यन्तिक त्याग मानने न मानने के विषय में पूर्ण एकमत नहीं थे। कुछ सघ ऐसे भी थे जो नग्नत्व और पाणिपात्रत्व का पक्ष करते हुए भी व्यवहार में थोड़ी-बहुत उपधिका श्लोकार अवश्य करते थे। वे एक तरह से मृदु या मध्यममार्गी अचेलदल वाले थे। कोई सघ या कुछ सघ ऐसे भी थे जो मात्र नग्नत्व का पक्ष करते थे और व्यवहार में भी उसीका अनुसरण करते थे। वे ही तीव्र या उत्कृष्ट अचेलदल वाले थे। जान पड़ता है कि सघ या दल कोई भी हो पर पाणिपात्रत्व सब का साधारण रूप था। इसीसे वे सब दिगम्बर ही समझे जाते थे। इसी मध्यम और उत्कट भावनावाले जुदे जुदे सघ या गच्छों के विद्वानों या मुनियों द्वारा रचे जानेवाले आचार ग्रन्थों में नग्नत्व और वस्त्र आदि का विरोधी निरूपण आ जाना स्वाभाविक है। इसके सिवाय यापनीय जैसे कुछ ऐसे भी सघ हुए जो न तो विलकुल सचेल पक्ष के समझे गए और न विलकुल अचेल पक्ष में ही स्थान पा सके। ऐसे सघ जब लुप्त हो गए तब उनके आचार्यों की कुछ कृतियाँ तो श्वेतावर पक्ष के द्वारा ही मुख्यतया रक्षित हुईं जो उस पक्ष के विशेष अनुकूल थीं और कुछ कृतियाँ दिगम्बर पक्ष में ही विशेषतया रह गईं और कालक्रम से दिगम्बर ही मानी जाने लगी। इस तरह प्राचीन और मध्यकालीन तथा मध्यम और उत्कट भावनावाले अनेक दिगम्बर सघों के विद्वानों की कृतियों में

समुचितरूप से कही गमन का आत्यन्तिक प्रतिपादन और कही मर्यादित उपश्लेषा प्रतिपादन विचारों से तो यह असमर्थ बात नहीं। इस समय जो दिगम्बर फिरके में गमन का आत्यन्तिक आग्रह रखने वाली तेरपन्थीय मानना प्रमाणतया बेसी जाती है वह पिछले २-३ वर्ष का परिणाम है। केवल इस वर्तमान मानना के आचार से पुराने सब दिगम्बरीय समझे जानेवाले साहित्य का कुत्सासा कमी संभव नहीं। इधरनेकात्मिक आधिग्रन्थ स्वतन्त्र परम्परा में इतनी अधिक प्रतिष्ठा को पाये हुए हैं कि जिनका त्याग आप ही आप दिगम्बर परम्परा में सिद्ध हो गया। समझ है अन्तर मूलाचार आधिग्रन्थों को भी स्वतन्त्र परंपरा पुरे तौर से अपनाओ तो वे दिगम्बर परम्परा में शायद ही अपना ऐसा स्थान बनाए रखते।

### (घ) उमास्वाति की जाति और जन्म-स्थान

प्रचलित में स्पष्टरूप से जातिविषयक कोई कथन नहीं फिर भी माता का गोत्रसूचक 'वासी' नाम इसमें मौजूद है और 'कौपीयणि' भी गोत्रसूचक विशेषण है। गोत्र का यह निर्देश उमास्वाति का बाम्हण जाति होने की सूचना करता है। ऐसा कहना गौत्र परम्परा को ठेठ से पकड़ रखनेवाली बाम्हण जाति के बंधानुक्रम के सम्बन्धी को ध्यान ही छोड़ो मान्य पड़े। बाबक उमास्वाति के जन्म-स्थान रूप से प्रचलित 'म्यथोशिका' ग्राम का निर्देश करती है। यह म्यथोशिका स्थान कहाँ है इसका इतिहास क्या है और इस समय उसकी क्या स्थिति है— यह सब अंधकार में है। इसकी खोज करना यह एक रस का विषय है। तत्सार्थ-सूत्र के रचना स्थान रूप में प्रचलित में 'कुमुदपुर' का निर्देश है। यही कुमुदपुर इस समय बिहार का पटना है। प्रचलित में कहा गया है कि बिहार करते-करते पटना में तत्सार्थ की रचना हुई। इस पर से भीने की कल्पनाएँ स्फुरित होती हैं।

१—उमास्वाति के समय में और उसके कुछ आने-पीछे मगध में बौद्ध मिथुओं का कुछ बिहार होना चाहिए और उस तरह बौद्ध संघ का बड़ तथा आकर्षण भी होना चाहिए।

२—विशिष्ट शास्त्र के लेखक जैन भिक्षुक अपनी अनियत स्थानवास की परम्परा को बराबर कायम रख रहे थे और ऐसा करके उन्होंने अपने कुल को 'जगम विद्यालय' बना लिया था ।

३—विहार-स्थान पाटलीपुत्र (पटना) और मगधदेश से जन्म-स्थान न्यग्रोधिका सामान्य तौर पर बहुत दूर तो नहीं होगा ।

## तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार

तत्त्वार्थ के व्याख्याकार श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायो में हुए हैं, परन्तु इसमें भेद यह है कि श्वेताम्बर परम्परा में सभाष्य तत्त्वार्थ की व्याख्याओं का प्राधान्य है और दिगम्बर परम्परा में मूल सूत्रों की ही व्याख्याएँ हुई हैं । दोनों सम्प्रदायो के इन व्याख्याकारों में कितने ही ऐसे विशिष्ट विद्वान् हैं जिनका स्थान भारतीय दार्शनिकों में भी आ सकता है, इससे ऐसे कुछ विशिष्ट व्याख्याकारों का ही यहाँ संक्षेप में परिचय दिया जाता है ।

### (क) उमास्वाति

तत्त्वार्थ सूत्र पर भाष्य रूप से व्याख्या लिखने वाले स्वयं सूत्रकार उमास्वाति ही हैं, अतः इनके विषय में यहाँ अलग से लिखने की जरूरत नहीं है क्योंकि इनके विषय में पहले लिखा जा चुका है । सिद्धसेनगणि<sup>१</sup> की तरह आचार्य हरिभद्र<sup>२</sup> भी भाष्यकार और सूत्रकार को एक ही समझते हैं । ऐसा उनकी भाष्य टीका का अवलोकन करने से स्पष्ट जान पड़ता है । हरिभद्र प्रशमरति<sup>३</sup> को भाष्यकार की ही रचना समझते हैं । ऐसी दशा में

१ देखो प्रस्तुत परिचय पृ० १६ टि० १ और पृ० २० ।

२ "एतान्निबन्धनत्वात् ससारस्येति स्वाभिप्रायमभिधाय मतान्तरमुपनमसन्नाह—एके त्वित्यादिना"—पृ० १४१ ।

३ "ययोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे" कहकर हरिभद्र भाष्यटीका में प्रशमरति की २१० वीं और २११ वीं कारिका उद्धृत करते हैं ।

समुचितस्य से कहीं गम्यत्व का आत्यन्तिक प्रतिपादन और कहीं मर्यादित उपबिधा प्रतिपादन दिखाई दे तो यह असंमत बात नहीं। इस समय जो विगम्बर फिरके में गम्यत्व का आत्यन्तिक आग्रह करने वाली वैराग्य मयीय भावना प्रचलितया देखी जाती है वह पिछले २-३ वर्ष का परिणाम है। केवल इस वर्तमान भावना के आकार से पुराने सब विगम्बरीय समस्त आनन्दके साहित्य का अनुमाना कभी संभव नहीं। उत्तरेकाठिक आदि ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में इतनी अधिक प्रतिष्ठा को पाये हुए हैं कि जिनका त्याग आप ही आप विगम्बर परम्परा में सिद्ध हो गया। सबसे है अगर मूसाचार आदि ग्रन्थों को भी श्वेताम्बर परंपरा पुरे हीरे से अपनाती तो वे विगम्बर परम्परा में धायक ही अपना ऐसा स्थान गनाए रखते।

### (५) उमास्वाति की जाति और जन्म-स्थान

प्रचलित में स्पष्टरूप से आतिविषयक कोई कथन नहीं फिर भी माता का पाचमुखक वाली नाम इसमें मौजूद है और 'कौमीयनि' भी गोत्रमुखक विशेषण है। गोत्र का यह विशेष उमास्वाति का ब्राम्हण जाति होने की सूचना करता है, ऐसा कहना गोत्र परम्परा को ठेठ में पकड़ रखनेवाली ब्राम्हण जाति के ब्रह्मानुक्रम के अस्थाती को धायक ही सर्वोपमान्य पड़े। बावक उमास्वाति के जन्म-स्थान रूप से प्रचलित 'म्यघोशिका' ग्राम का निबन्ध करती है। यह म्यघोशिका स्थान कहीं है इसका इतिहास क्या है और इन समय उसकी क्या स्थिति है— यह सब अंधकार में है। हमनी धायक करना यह एक राम का विषय है। तत्पार्य-भूत ने रचना स्वल्प रूप में प्रचलित में 'भुनुमपुर' का निबन्ध है। यही भुनुमपुर इस समय बिहार का पटना है। प्रचलित में कहा गया है कि बिहार करने-करने पटना में तत्पार्य की रचना हुई। इन पर में नीचे की कथनाएँ स्पष्टित होती हैं

१—उमास्वाति के समय में और उसके कुछ आगे-पीछे समय में जैन विद्युम्नो का जन्म बिहार होगा आदि और उन तरह जैन मंत्र का

२—विशिष्ट शास्त्र के लेखक जैन भिक्षुक अपनी अनियत स्थानवास की परम्परा को बराबर कायम रख रहे थे और ऐसा करके उन्होंने अपने कुल को 'जगम विद्यालय' बना लिया था ।

३—विहार-स्थान पाटलीपुत्र (पटना) और मगधदेश से जन्म-स्थान न्यग्रोविका सामान्य तौर पर बहुत दूर तो नहीं होगा ।

## तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार

तत्त्वार्थ के व्याख्याकार श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायो में हुए हैं, परन्तु इसमें भेद यह है कि श्वेताम्बर परम्परा में सभाष्य तत्त्वार्थ की व्याख्याओ का प्राधान्य है और दिगम्बर परम्परा में मूल सूत्रों की ही व्याख्याएँ हुई हैं । दोनो सम्प्रदायो के इन व्याख्याकारों में कितने ही ऐसे विशिष्ट विद्वान् हैं जिनका स्थान भारतीय दार्शनिकों में भी आ सकता है, इससे ऐसे कुछ विशिष्ट व्याख्याकारों का ही यहाँ संक्षेप में परिचय दिया जाता है ।

### (क) उमास्वाति

तत्त्वार्थ सूत्र पर भाष्य रूप से व्याख्या लिखने वाले स्वयं सूत्रकार उमास्वाति ही हैं, अतः इनके विषय में यहाँ अलग से लिखने की जरूरत नहीं है क्योंकि इनके विषय में पहले लिखा जा चुका है । सिद्धसेनगणि<sup>१</sup> की तरह आचार्य हरिभद्र<sup>२</sup> भी भाष्यकार और सूत्रकार को एक ही समझते हैं । ऐसा उनकी भाष्य टीका का अवलोकन करने से स्पष्ट जान पड़ता है । हरिभद्र प्रशमरति<sup>३</sup> को भाष्यकार की ही रचना समझते हैं । ऐसी दशा में

१ देखो प्रस्तुत परिचय पृ० १६ टि० १ और पृ० २० ।

२ "एतन्निवन्धनत्वात् ससारस्येति स्वाभिप्रायमभिधाय मतान्तरमुपनमसन्नाह —एके त्वित्यादिना"—पृ० १४१ ।

३ "ययोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे" कहकर हरिभद्र भाष्यटीका में प्रशमरति की २१० वीं और २११ वीं कारिका उद्धृत करते हैं ।



भाष्य को स्वोपज्ञ न मानने की धार्मिक कल्पनाय ज्ञात है। पूर्यपाद लक्षण आदि किसी प्राचीन विद्वान् टीकाकार ने ऐसी बात नहीं उठाई है जो भाष्य की स्वोपज्ञता के विरुद्ध हो।

### (स) गण्डहस्ती<sup>१</sup>

शाक्य समाप्तादि के उत्त्वारं-सूत्र पर व्याख्या वा भाष्य के रचयिता के रूप से दो गण्डहस्ती जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं। उनमें एक विद्वान्-पार्ष्व और दूसरे स्वैताम्बरपार्ष्व माने जाते हैं। गण्डहस्ती विशेषण है। विद्वान् परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान् समन्तमद्र का यह विशेषण समझा जाता है और इससे ऐसा फलित होता है कि आप्तमीमांसा के रचयिता गण्डहस्तिपदवहारी स्वामी समन्तमद्र न वा उमाप्तादि के उत्त्वारं-सूत्र पर व्याख्या किन्ही थी। स्वैताम्बर परम्परा में गण्डहस्ती विशेषण बुद्धवादी के सिद्ध सिद्धसेन विवाकर का होने की मान्यता इस समय प्रचलित है। इस मान्यता के अनुसार यह फलित होता है कि सम्मति के रचयिता और बुद्धवादी के सिद्ध सिद्धसेन विवाकर न वा उमाप्तादि के उत्त्वारं-सूत्र पर व्याख्या रची थी। ये दोनों मान्यतायें और उन पर से फलित उक्त मन्त्र अप्रामाणिक होने से बाह्य नहीं हैं। विद्वान्-पार्ष्व समन्तमद्र की कृति के लिए गण्डहस्ती विशेषण व्यवहृत मिलता है जो लघुसमन्तमद्र कृत अष्टहस्ती के टिप्पण में स्पष्टतया देखा जाता है। लघुसमन्तमद्र १४वीं

१ 'शाक्यत्व नाम से प्रसिद्ध नमोस्तुभं' के प्राचीन स्तोत्र में 'पुरि सवरण-नहरणीयं कइ कर भीतीर्यकरको गण्डहस्ती विशेषण दिया हुआ है। तथा इसी और प्यारही शाक्य-सत्ताम्ही के विद्वान् शिष्यत्वों में एक और शैलिक को गण्डहस्ती का उदयम दिया उक्तम्य होता है। और एक जैन मन्दिर का नाम भी 'ममति गण्डवारण विन्दुत्व है। देखो या हीराध्वज जैन दाय सम्प्रदित जैन शिष्यत्व सबह पृ १२१ तथा १२९ चन्द्रगिरि पर्वत पर के शिष्यत्व।

२ देखो प बुगसकिशोर जी मिलित स्वामी समन्तमद्र—पृ २१४-

१५वीं शताब्दी के आसपास कभी हुए समझे जाते हैं। उनके प्रस्तुत उल्लेख का समर्थन करने वाला एक भी सुनिश्चित प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है। अब तक के वाचन-चिन्तन से मैं इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कहीं भाष्य, कहीं महाभाष्य, कहीं तत्त्वार्थभाष्य कहीं गन्धहस्तिभाष्य जैसे अलग अलग विखरे हुए अनेक उल्लेख दिगम्बर साहित्य में देखे जाते हैं और कहीं स्वामी समन्तभद्र के नाम का तत्त्वार्थ-महाभाष्य के साथ निर्देश भी है। यह सब देख कर पिछले अर्वाचीन लेखकों को यह भ्रान्ति-मूलक विश्वास हुआ कि स्वामी समन्तभद्र ने उमास्वाति के तत्त्वार्थ पर गन्धहस्ती नाम का महाभाष्य रचा था। इसी विश्वास ने उन्हें ऐसा लिखने को प्रेरित किया। वस्तुतः उनके सामने न तो ऐसा कोई प्राचीन आधार था और न कोई ऐसी कृति थी जो तत्त्वार्थ-सूत्र के ऊपर गन्धहस्ती-भाष्य नामक व्याख्या को समन्तभद्र-कर्तृक सिद्ध करते। भाष्य, महाभाष्य, गन्धहस्ती आदि जैसे बड़े बड़े शब्द तो थे ही, अतएव यह विचार आना स्वाभाविक है कि समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य के सिवाय ऐसी कृति कौन रचता? विशेष कर इस हालत में कि जब अकलङ्क आदि पिछले आचार्यों के द्वारा रची गई कोई कृति गन्धहस्ति-भाष्य नाम से निश्चित की न जा सकती हो। उमास्वाति के अतिप्रचलित तत्त्वार्थ पर स्वामी समन्तभद्र जैसे की छोटी-बड़ी कोई कृति हो तो उसके उल्लेख या किसी अवतरण का सर्वार्थसिद्धि, राज-वातिक आदि जैसी अति-शास्त्रीय टीकाओं में सर्वथा न पाया जाना कभी संभव नहीं। यह भी संभव नहीं है कि वैसी कोई कृति सर्वार्थसिद्धि आदि के समय तक लुप्त ही हो गई हो जब कि समन्तभद्र के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मौजूद हैं। जो हो, इस वारे में मुझे अब कोई सन्देह नहीं है कि तत्त्वार्थ के ऊपर समन्तभद्र कृत गन्धहस्ती नामक कोई भाष्य नहीं था।

श्रीयुत प० जुगलकिशोरजी ने अनेकान्त (वर्ष १ पृ० २१६) में लिखा है कि 'धवला' में गन्धहस्ती भाष्य का उल्लेख आता है, पर हमें धवला की अमल नकल की जाँच कहने वाले प० हीरालालजी न्यायतीर्थ के द्वारा विश्वस्त रूप से मालूम हुआ है कि धवला में गन्धहस्ती भाष्य शब्द का कोई उल्लेख नहीं है।

बृहदारो के शिष्य सिद्धसेन विवाकर गणहस्ती है ऐसी स्वेताम्बर  
 बाम्पता सप्तहवीं-अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् जगन्नाथ यशोविजय-  
 जी के एक उल्लेख पर से प्रचलित हुई है। जगन्नाथ यशोविजयजी ने  
 अपने महावीरस्तव में गणहस्ती के कथन रूप से सिद्धसेन विवाकर के  
 सम्पत्ति की एक याथा उद्धृत की है। उस पर से आज कल ऐसा माना  
 जाता है कि सिद्धसेन विवाकर ही गणहस्ती है। परन्तु उ यशोविजयजी  
 का यह उल्लेख ग्राह्य धर्म्य है। इसे सिद्ध करने वाले दो प्रमाण इस समय  
 स्पष्ट हैं। एक तो यह कि उ यशोविजयजी से पूर्व के किसी भी प्राचीन  
 या बर्बाचीन प्रबन्धकार ने सिद्धसेन विवाकर के साथ वा उनका निश्चितता  
 मानी जाने वाली कृतियों के साथ वा उन कृतियों में से उद्धृत अवतरणों  
 के साथ एक भी स्थल पर गणहस्ती विरोध का उल्लेख नहीं किया है।  
 सिद्धसेन विवाकर की कृति के अवतरण के साथ गणहस्ती विरोध का  
 व्यवहार करनेवाले केवल उक्त यशोविजयजी ही हैं। अतः उनका यह कथन  
 किसी भी प्राचीन साधारण से रहित है। इसके अतिरिक्त सिद्धसेन विवाकर  
 के जीवन बृहदारोवाले गितने प्राचीन वा बर्बाचीन प्रबन्ध मिलते हैं उनमें  
 कहीं भी गणहस्ती पर व्यवहृत बुद्धिगोचर नहीं होता जब कि विवाकर  
 पर प्राचीन प्रबन्धों तक में और दूसरे आचार्यों के ग्रन्थों में भी प्रयुक्त

१ 'अनेनैवाऽभिप्रायेणह गणहस्ती सम्पत्ती— न्यक्सणहस्ताया  
 धर्म्येक १६ पृ १९ वि ।

२ मतेष्वकृत कथावलीगत सिद्धसेन प्रबन्ध उक्त्य निश्चित सिद्धसेनप्रबन्ध,  
 ब्रह्मावकथारिषप्त बृहदारोधिप्रबन्धोत्कर्त सिद्धसेन प्रबन्ध प्रबन्धचिताममिपत  
 विक्रम प्रबन्ध और चतुर्विंशतिप्रबन्ध ।

सिद्धसेन के जीवन प्रबन्धों में जैसे विवाकर उपनाम आता है और  
 उतका समर्पन मिथ्या है जैसे गणहस्ती के विषय में कुछ भी नहीं है।  
 यदि गणहस्ती पर का इतना प्राचीन प्रयोग मिलता है तो यह प्रभ होता ही  
 है कि प्राचीन प्रपञ्चमें ने विवाकर पर की तरह गणहस्तीपर सिद्धसेन के  
 नाम के साथ वा उनका किसी निश्चित कृति के साथ प्रयुक्त क्यों नहीं किया ।

मिलता है। दूसरा प्रबल और अकाट्य प्रमाण है कि उ० यशोविजयजी से पहले के अनेक ग्रन्थों में जा गन्धहस्ती के अवतरण मिलते हैं वे ममी

### १ तुलना के लिए देखो—

“निद्रादयो यतः समाधिगताया एव दर्शनलब्धे. उपयोगघाते प्रवर्तन्ते चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टय तूद्गमोच्छे-  
दित्वात् मूलघात निहन्ति दर्शनलब्धम् इति ।” तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० १३५, प ४ । भाग २

“या तु भवस्थकेवलिनो द्विवि-  
धस्य सयोगाऽयोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीयसत्तकक्षयादपायसद्द्रव्य-  
क्षयाच्चोदपाटि सा सादिरपर्यवसाना इति ।” तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ५९, प० २७ ।

“तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी श्रेणि-  
कादीना सदद्रव्यापगमे च भवति अपायसहचारिणी सा सादिसपर्यव-  
साना” — तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ५९ प० २७

“प्राणापानाबुच्छ्वासनिःश्वास-  
क्रियालक्षणौ ।” तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० १६१ प० १३ ।

“आह च गन्धहस्ती—निद्रादय समाधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते दर्शनावरणचतुष्टयन्तूद्गमोच्छेदि-  
त्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्ध-  
मिति” प्रवचनसारोद्धार की सिद्धसेनीय वृत्तिपृ० ३५८, प्र० प० ५ । सित्तरी-  
टीका मलयगिरि कृत गाथा ५ । देवेन्द्र कृत प्रथम कर्मग्रन्थ टीका गाथा १२ ।

“यदाह गन्धहस्ती—भवस्थकेव-  
लिनो द्विविधस्य सयोगायोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीयसत्तकक्षया-  
विर्भूता सम्यग्दृष्टिः सादिरपर्यवसाना इति ।” नवपदवृत्ति पृ० ८८ द्वि०


“यदुक्त गन्धहस्तिना—तत्र याऽपा-  
यसद्द्रव्यवर्तिनी, अपायो-मतिज्ञानाशः सदद्रव्याणि—शुद्धसम्यक्त्वदलिकानि तद्वर्तिनी श्रेणिकादीना च सदद्रव्याप-  
गमे भवत्यपायसहचारिणी सा सादिस-  
पर्यवसाना इति ।” नवपदवृत्ति पृ० ८८ द्वि०

“यदाह गन्धहस्ती—प्राणापानौ उच्छ्वासनिःश्वासौ इति” धर्मसंग्रहर्षी-  
वृत्ति(मलयगिरि)पृ० ४२, प्र० प० २ ।

अवतरण कहीं तो अथवा भी परिवर्तन बिना ही और कहीं तो बहुत ही बड़े परिवर्तन के साथ और कहीं तो भावसाम्य के साथ सिद्धपुर के प्रथम्य और भास्वामी के सिध्य सिद्धसेन की तत्त्वार्थभाष्य पर बलि में मिश्रित है। इस पर से इतना तो निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि गन्धहस्ती प्रचलित परम्परा के अनुसार सिद्धसेन विवाकर नहीं किन्तु उपरम्य तत्त्वार्थभाष्य की बलिके रचयिता भास्वामी के सिध्य सिद्धसेन ही है। नाम के सादृश्य से और प्रकाशवादी तथा कुछसे प्रत्यकार के रूप से प्रसिद्धि प्राप्त सिद्धसेन विवाकर ही गन्धहस्ती हो सकते हैं ऐसी मान्यता में से ज यशोविजयद्वी की विवाकर के लिये गन्धहस्ती विशेषण के प्रयोग करने की छान्ति उत्पन्न हुई हो—ऐसा सम्भव है।

उपर की बलीकों पर मैं हम स्पष्ट देख सकते हैं कि श्वेतान्तर पर म्परा में प्रसिद्ध गन्धहस्ती तत्त्वार्थ-ग्रन्थ के भाष्य की उपलब्ध बिल्लीमें बलि के रचयिता सिद्धसेन ही है। इस पर से हमें निश्चित रूप से ऐसा मानने के कारण मिश्रित है कि तन्मति के टीकाकार अमरी सताम्बी के अमरदेव में अपनी टीका में जो स्थानोंपर गन्धहस्ती पर का प्रयोग कर उनकी रचित तत्त्वार्थ व्याख्या देख लेने की जो सूचना की है वह

<p>अवतरण च मेवः प्रदेष्टानामवय          वाना च वे न ज्ञानाधिद् बसुधर्मिरे          केणोरत्तम्भते ते प्रदेष्टाः वे तु विवाक-          षिताः परिश्रमिठमूर्तयप्रकारयमवतरमि          तेऽवयवाः ।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ          ३८ प २१ ।</p>	<p>अवतरणचप्रदेष्टानामवय          शिपु भेदोऽस्ति—स्वाध्यायनंभरी पृ          ३१ अम १ ।</p>
--	--

१ तन्मति के दूसरे काण्ड की प्रथम गाथा की व्याख्या की ममानि में टीकाकार अमरदेव में तत्त्वार्थ के प्रथम अध्याय के १ न १२ रूप इन्द्रपुत्र लिये हैं और वही उन लीनों की व्याख्या के विषय में गन्धहस्ती की मिश्रित करते हुए कहा है कि— अवतरण च मुच्यते  स्वान्या गन्धहस्ति

अन्य कोई नहीं, प्रत्युत उपलब्ध भाष्यवृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही हैं । इसलिए सम्मति टीका में अभयदेव ने तत्त्वार्थ पर की जिस गन्धहस्ती कृत व्याख्या देख लेने की सूचना की है उस व्याख्या के लिए अब नष्ट या अनुपलब्ध साहित्य की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं है । इसी अनुसन्धान में यह भी मानना आवश्यक प्रतीत होता है कि नवमी-दसवीं शताब्दी के ग्रन्थकार शीलाङ्क<sup>१</sup> ने अपनी आचाराग सूत्र की टीका में जिस गन्धहस्ति कृत<sup>२</sup> विवरण का उल्लेख किया है वह भी तत्त्वार्थ भाष्य की वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन का ही होना चाहिए, क्योंकि, बहुत ही नजदीक के अन्तर में हुए शीलाङ्क और अभयदेव, दोनों भिन्न-भिन्न आचार्यों के लिए गन्धहस्ती पद का प्रयोग करे यह असम्भव है । और, अभयदेव जैसे बहुधृत विद्वान ने, जैन आगमों में प्रथम स्थान धारण करने वाले आचाराङ्क सूत्र की थोड़े ही समय पूर्व हुए शीलाङ्क सूत्र रचित वृत्ति न देखी हो ऐसी कल्पना करना ही कठिन है । और फिर, शीलाङ्क ने स्वयं ही अपनी टीकाओं में जहाँ जहाँ सिद्धसेन दिवाकर कृत सम्मति की गाथाएँ उद्धृत की हैं वहाँ किसी भी स्थल पर गन्धहस्ति-पद का प्रयोग नहीं किया, अतएव शीलाङ्क के अभिमत से गन्धहस्ती दिवाकर नहीं है यह स्पष्ट है ।

प्रभृतिभिर्विहितेति न प्रदर्श्यते"—पृ० ५९५ प० २४ । इसी प्रकार तृतीय काण्ड की ४४ वीं गाथा में आए हुए 'हेतुवाद' पद की व्याख्या करते हुए उन्होंने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारिणाणि मोक्षमार्गः" रख कर इसके लिए भी लिखा है "तथा गन्धहस्ति-प्रभृतिभिर्विक्रान्तमिति नेह प्रदर्श्यते"—पृ० ६५१ प० २०

१ देखो आचार्य जिनविजयजी द्वारा सम्पादित 'जीतकल्प' की प्रस्तावना पृ० १९ । परिशिष्ट, शीलाङ्काचार्य के विषय में अधिक व्योम ।

२ "शस्त्रपरिज्ञा विवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्" । तथा —

"शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनमितीव किल घृत पूज्यं ।

ओगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम् ॥"

ऊपर की विचारसरणी के बल पर हमने बहिले जो निश्चित किया था उसका संपूर्णतया समर्थक चरित्रकृत प्राचीन प्रमाण भी हमें प्रथम हिन्दी भाषा के समय मिला नया है जो हरिमद्रीय बचुरी कृति के पूरक पद्योमह सूरि के शिष्य ने किया है। यह इस प्रकार है—

‘ सूरियसोमहस्य ( हि ) शिष्येण समुद्भूता स्वबोधार्थम् ।  
 तत्पार्थस्व हि टीका लक्ष्मणार्थना कृता मात्यां मुद्भूता ॥  
 ( यर्जुनोद्भूतान्पार्था ) ॥ १ ॥

हरिमद्वाराप्येकारम्भा विवृतात्पठ्य्यायात् ।

पूज्यै पुनस्त्वृतेयं तत्पार्थाईस्य टीकान्त्वा ॥ २ ॥ इति ॥ पृ ५२१

एतदुक्तं भवति—हरिमद्वाराप्येकार्थवन्वाभ्यायानामाद्यानां टीकाकृता मयवता तु मन्वहस्तिना सिद्धसेनैव या कृता तत्पार्थाईका न वैर्वाहस्वार्थैर्भ्यां कृता तस्वा एव बोधम् ( या ज ) कृतापार्थैक एवबोधार्थं सात्मन्तपुत्रो ( ज्यै ) कुपुत्रिका टीका लिखन्ना इत्यर्थं प्रसवे १ पृ ५२१ यह पाठ अन्य कश्चित् प्रति से कुछ किया गया है—देखो आत्मानं प्रकाश ४५१ पृ १९६

### ( ग ) सिद्धसेन

तत्पार्थमाय के ऊपर श्वेताम्बराचार्यों की रची हुई दो पूर्व कृतियें इस समय मिलती हैं। इनमें एक बड़ी और दूसरी उससे छोटी है। कौी कृति के रचने वाले सिद्धसेन ही यहाँ पर प्रस्तुत हैं। वे सिद्धसेन विप्रनरि के शिष्य<sup>१</sup> सिहसुर के शिष्य आत्मानि के शिष्य थे यह बात इनके आप्यकृति के अन्त में ही हुई प्रशस्ति पर से सिद्ध है। पंचहस्ती में विचार प्रसंग में ही हुई मुक्तिमें से यह भी जाना जाता है कि पंचहस्ती प्रस्तुत सिद्धसेन ही हैं। जब तक दूसरा कोई खास प्रमाण न मिले

१ देवी गुण्यती तत्पार्थविशेषण परिचय पृ ३५।

२ यही सिहसुर नयनक के मुप्रसिद्ध टीकाकार हैं देवी आत्मानं प्रकाश ४५१ पृ १९६

तब तक उनकी दो कृतियाँ मानने में शका नहीं रहती—एक तो आचाराग विवरण जो अनुपलब्ध है और दूसरी तत्त्वार्थभाष्य की उपलब्ध बड़ी वृत्ति । इनका 'गघहस्ती' नाम किसने और क्यों रखा, इस विषय में सिर्फ कल्पना ही कर सकते हैं । इन्होंने स्वयं तो अपनी प्रशस्ति में गघहस्तिपद जोड़ा नहीं, जिससे मालूम होता है कि जैसा सामान्य तौर पर बहुती के लिये घटित होता है वैसा इनके लिये भी घटित हुआ है—अर्थात् इनके शिष्य या भक्त अनुगामी ने इनको गघहस्ती के तौर पर प्रसिद्ध किया है । यह बात यशोभद्रसूरि के शिष्य के उपर्युक्त उल्लेख से और भी स्पष्ट हो जाती है । ऐसा करने का कारण यह जान पड़ता है कि प्रस्तुत सिद्धसेन सैद्धान्तिक थे और आगमशास्त्रों का विशाल ज्ञान धारण करने के अतिरिक्त वे आगमविरुद्ध मालूम पड़ने वाली चाहे जैसी तकसिद्ध बातों का भी बहुत ही आवेशपूर्वक खडन करते थे और सिद्धान्तपक्ष का स्थापन करते थे । यह बात उनकी तार्किकों के विरुद्ध की गई कटु चर्चा देखने से अधिक समझ जान पड़ती है । इसके सिवाय, उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य पर जो वृत्ति लिखी है वह अठारह हजार श्लोक प्रमाण होकर उस वक्त की रची हुई तत्त्वार्थभाष्य पर की सभी व्याख्याओं में कदाचित् बड़ी होगी । इस बड़ी वृत्ति और उसमें किये गये आगम के समर्थन को देखकर उनके किसी शिष्य या भक्त अनुगामी ने उनके जीवन में अथवा उनके पीछे उनके लिये 'गघहस्ती' विशेषण प्रयुक्त किया हो, ऐसा जान पड़ता है । उनके समय के सम्बन्ध में निश्चयरूप से कहना अभी शक्य नहीं, फिर भी वे विक्रमी सातवीं और नववीं शताब्दी के मध्य में होने चाहिएँ, यह निःसन्देह है । क्योंकि उन्होंने अपनी भाष्यवृत्ति में 'वसुवधु' आदि अनेक बौद्ध विद्वानों का उल्लेख

१ प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् 'वसुवधु' का वे 'आमिषगृद्ध' कह कर निर्देश करते हैं—“तस्मादेन-पदमेतत् वसुबन्धोरामिषगृद्धस्य गृध्रस्येवाऽप्रेक्ष्यकारिणः” । “जातिरूपन्यस्ता वसुबन्धुर्वधयेन ।”—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ६८, प० १ तथा २९ । नागार्जुन-रचित धर्मसंग्रह पृ० १३ पर जो आनन्तर्य पाँच पाप आते हैं और जिनका वर्णन शीलाक ने सूत्रकृतांग की (पृ० २१५) टीका में दिया है, उनका उल्लेख भी सिद्धसेन करते हैं—भाष्यवृत्ति पृ० ६७ ।



किया है। उनमें एक सातवीं शताब्दी के चर्मकीर्ति भी है अर्थात् सातवीं शताब्दी के पहिले से नहीं हुए इतना तो निश्चित हुआ है। दूसरी तरफ नवमी शताब्दी के विद्वान् श्रीकाण्ड ने गंधहस्ती नाम से उनका उल्लेख किया है इससे से नवमी शताब्दी के पहले किसी समय होने चाहिए। सिद्धसेन मयचक्र के कृतिकार सिंहसुर गणिसमा समय के प्रसिद्ध हैं। सिंहसुर विक्रम की सातवीं शताब्दी के मध्य में अवश्य विद्यमान हैं अतएव सिद्धसेन का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम पाद से लेकर, आठवीं शताब्दी के मध्यभाग तक रहा हो ऐसा माना जाता है। सिद्धसेन ने अपनी कृति में सिद्धिचिन्तित्त्वय नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है जो संभवतः मकरसंक्रांति का होगा। यदि यह बात ठीक है तो कहना चाहिए कि मकरसंक्रांति और सिद्धसेन—दोनों समयकालीन होंगे। यह भी अधिक संभव है कि मकरसंक्रांति का राजशासिक सिद्धसेन ने देखा हो।

### (घ) हरिमद्र

ऊपर सूचित की हुई तन्त्राचार्यमाध्य की छोटी कृति के प्रणेता हरिमद्र ही वहाँ प्रस्तुत हैं। यह छोटी कृति रतनामस्तव की ऋषभदेवजी केठरी-मल्लजी नामक संस्था की आर से प्रकाशित हुई। यह कृति केवल हरिमद्र आचार्य की कृति नहीं है किन्तु इनकी रचना में कम से कम तीन आचार्यों का हाथ है। उनमें से एक हरिमद्र भी है। इसी हरिमद्र का विचार यहाँ

१. विशुद्धरचनकीर्तिनाऽपि विरोध उच्यते प्रमाणविनिश्चयात् ।

तन्त्राचार्यमाध्यकृति पृ. ३७७ प. ४।

द्विती प्रस्तुत कृतिषु पृ. ३ दि. ०।

१. तीन न ग्याग भी इन कृति के रचयिता हो सकते हैं क्योंकि हरिमद्र यशोभद्र और यशोभद्र के द्वारा वे तीन तो निश्चिन ही हैं किन्तु अरुम नवम अन्धकार के जग की पुष्टि के आधार पर अन्य की भी कल्पना हो सकती है — इति श्री तन्त्राचार्यदीक्षाया हरिमद्राचार्यशारदाया कृदरवि कारिकाचाराय श्री तन्त्राचार्यदीक्षायाय नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥

प्रस्तुत है। श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र नाम के कई आचार्य हो गये हैं<sup>१</sup> जिनमें से याकिनीसूनु रूप से प्रसिद्ध सैकड़ों ग्रन्थों के रचयिता आ० हरिभद्र ही इस छोटी वृत्ति के रचयिता माने जाते हैं। परन्तु इस बारे में कोई असदिग्ध प्रमाण अभी हमारे सामने नहीं है।

<sup>२</sup> मुनि श्री जवूविजयजीने हरिभद्रीय वृत्ति और सिद्धसेनीय वृत्ति दोनों की तुलना की है और बतलाया है कि हरिभद्रने सिद्धसेनीय वृत्ति का अवगहन लिया है। अगर यह बात ठीक है तो कहना होगा कि सिद्धसेन की वृत्ति के बाद ही हरिभद्रीय वृत्ति की रचना हुई है।

### (ड) देवगुप्त, यशोभद्र तथा यशोभद्र के शिष्य

उक्त हरिभद्र ने साढ़े पाँच अध्याय की वृत्ति रची। इसके बाद तत्त्वार्थभाष्य के सारे भाग के ऊपर जो वृत्ति है उसकी रचना दो व्यक्तियों के द्वारा हुई तो निश्चित ही जान पड़ती है। जिनमें से एक यशोभद्र नाम के आचार्य है। हमारे उनके शिष्य हैं, जिनके नाम का कोई पता नहीं। यशोभद्र के अज्ञात नामक उस शिष्य ने दशम अध्याय के अन्तिम सूत्रमात्र के भाष्य के ऊपर वृत्ति लिखी है। इसके पहले के हरिभद्र त्यक्त सब भाष्य भाग के ऊपर यशोभद्र की वृत्ति है। यह बात उस यशोभद्रसूरि के शिष्य के वचनों से ही स्पष्ट है<sup>३</sup>।

श्वेताम्बर परम्परा में यशोभद्र नाम के अनेक आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं<sup>४</sup>।

इनमें से प्रस्तुत यशोभद्र कौन है यह अज्ञात है। प्रस्तुत यशोभद्र भाष्य की अग्रणी वृत्ति के रचयिता हरिभद्र के शिष्य थे इसका कोई निर्णा-

१ देखो मुनि कल्याणविजयजी लिखित धर्मसंग्रहणी की प्रास्तावना पृ० २ से।

२ देखो आत्मानन्द प्रकाश वर्ष ४५ अंक १० पृ० १९३।

३ देखो प्रस्तुत परिचय पृ० ४०।

४ देखो जैन साहित्यका सक्षिप्त इतिहास, परिशिष्ट में यशोभद्र ॥

एक प्रमाण नहीं है। इसके विपक्ष यह तो बहुत जा सकता है कि मगर प्रस्तुत यशोभद्र उन हरिभद्र के विषय होते ता यशोभद्र का विषय जो बलि की समाप्ति करनेवाला है और जिनमें हरिभद्र की अपूर्व बलि का अपने पुत्र यशोभद्र के द्वारा निर्वाहण हीमा लिखा है वह अपने पुत्र के नाम के साथ हरिभद्र विषय इत्यादि कोई बिनापथ बिना लगाये घामद ही रहता। अस्तु जो हो इतना तो अभी विचारणीय है ही कि वे यशोभद्र कब हुए और उनको दूसरी इतियाँ हैं या नहीं? यह जो विचारणीय है कि यशोभद्र आदिगी एकमात्र मूल जो बलि रचने क्यों नहीं पाए? और वह उनके विषय को क्यों रचनी पड़ी?

तुलना करने से जान पड़ता है कि यशोभद्र और उनके विषय की माध्यबलि गम्बहृष्टी की बलि के आधार पर ही लिखी गई है।

हरिभद्र के पोडुचक प्रकरण के ऊपर बलि लिखने वाले एक यशोभद्र सूचि हुए हैं वे ही प्रस्तुत यशोभद्र हैं या अन्य यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

### (च) मलयगिरि

मलयगिरि की लिखी तत्त्वार्थशास्त्र पर की व्याख्या नहीं मिलती। ये विक्रम की १२ की १३ की घटाब्दी में होने वाले विभूत स्वैताम्बर विद्वानों में से एक हैं। ये आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन और सर्वश्रेष्ठ टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी बीसों महत्त्वपूर्ण इतियाँ उपलब्ध हैं।

### (छ) चिरंतनमुनि

चिरंतनमुनि एक अज्ञात नाम के स्वैताम्बर साधु हैं। तत्त्वार्थ के ऊपर साधारण टिप्पण लिखा है ये विक्रम की चौदहवीं घटाब्दी के बाद

१ मलयगिरि ने तत्त्वार्थटीका लिखी की ऐसी मान्यता उनकी प्रज्ञा पत्रावृत्ति में उपलब्ध होने वाले निम्न उद्धरण तथा "श्री प्रकार के दूसरे उद्धरणों पर से स्पष्ट हुई है — "तत्त्वार्थशास्त्रकारित्वं तत्त्वार्थटीकादी सविस्तरेण प्रसाधितमिति ततोऽवधारणीयम् ।" — पृ. १५-१६ पृ. २९८।

२ दोस्रो 'वर्णसंग्रहणी' की प्रकाशना पृ. ३६।

किसी समय हुए हैं, क्योंकि इन्होंने अध्याय ५, सूत्र ३१ के टिप्पण में चौदहवीं शताब्दी में होने वाले मल्लिषेण की 'स्याद्वादमजरी' का उल्लेख किया है।

### (ज) वाचक यशोविजय

वाचक यशोविजय की लिखी भाष्य पर की वृत्ति का अपूर्ण प्रथम अध्याय-जितना भाग मिलता है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण जैन समाज में सबसे अन्त में होने वाले सर्वोत्तम प्रामाणिक विद्वान् के तौर पर प्रसिद्ध हैं। इनकी सख्यावद्ध कृतियाँ उपलब्ध हैं। सतरहवीं, अठारहवीं शताब्दी तक होने वाले न्यायशास्त्र के विकास को अपना कर इन्होंने जैन श्रुत को तर्कबद्ध किया है और भिन्न भिन्न विषयों पर अनेक प्रकरण लिखकर जैनतत्त्वज्ञान के सूक्ष्म अभ्यास का मार्ग तैयार किया है।

### (झ) गणी यशोविजय

गणी यशोविजय ऊपर के वाचक यशोविजय से भिन्न है। ये कब हुए, यह मालूम नहीं। इनके विषय में दूसरा भी ऐतिहासिक परिचय इस समय कुछ नहीं है। इनकी कृति के तौर पर भी अभी तक सिर्फ तत्त्वार्थ सूत्र पर का गुजराती ट्वा-टिप्पण प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य कुछ रचना की होगी या नहीं, यह ज्ञात नहीं। टिप्पण की भाषा और शैली को देखते हुए ये सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी में हुए जान पड़ते हैं। इनकी उल्लेख करने योग्य दो विशेषताएँ हैं।

(१) जैसे वाचक यशोविजयजी वगैरह श्वेताम्बर विद्वानों ने 'अष्ट-महस्त्री' जैसे दिगम्बर ग्रन्थों पर टीकाएँ रची हैं, वैसे ही गणी यशो-विजयजी ने भी तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ को लेकर उस पर मात्र सूत्रों का अर्थपूरक टिप्पण लिखा है और टिप्पण लिखते हुए उन्होंने जहाँ जहाँ श्वेताम्बरों और दिगम्बरों का मतभेद या:

मत्तविरोध माता है वही सर्वत्र स्वेताम्बर परम्परा का अनुसरण करके ही अर्थ किया है। इस प्रकार सूत्रपाठ दिग्म्बर होत हुए भी अर्थ स्वेताम्बरीय है।

( २ ) अब तक तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती में टिप्पण लिखन बाकों में प्रस्युत यद्योविजय मणी ही प्रथम गिने जाते हैं, क्योंकि उनके सिवाय तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती में किसी का कुछ लिखा हुआ अभी तक ज्ञानने में नहीं आया।

मणी यद्योविजयजी स्वेताम्बर हैं यह बात तो निश्चित है क्योंकि लिप्यन के ग्रन्थ में एसा उल्लेख है और दूसरा सबक प्रमाण तो उनका आत्मबोध टिप्पण ही है। सूत्र का पाठभेद और सूत्रों की संख्या दिग्म्बरीय स्वीकार करने पर भी उनका अर्थ किसी अन्तर्गत्तों विचर-परम्परा के अनुकूल नहीं किया। हाँ यहाँ एक प्रसंग होता है और वह यह कि स्वेताम्बर होते हुए भी यद्योविजयजी ने दिग्म्बर सूत्रपाठ कैसा किया होगा? क्या वे स्वेताम्बर सूत्रपाठ से परिचित नहीं थे या परिचित होने पर भी उन्हें दिग्म्बर सूत्रपाठ में ही स्वेताम्बर सूत्रपाठ की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया होगा? इसका उत्तर वही उचित जान पड़ता है कि वे स्वेताम्बर सूत्रपाठ से परिचित तो अवश्य होंगे ही और उनकी दृष्टि में उसी पाठ का महत्त्व भी होगा ही क्योंकि वेता न होता वे स्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार टिप्पणी रचने ही नहीं देना होंगे

१ इति स्वेताम्बराचार्यधीउमास्वातियन्त्र(वि)इततरवाचनसूत्रं तस्य आत्मबोधो धीयजोविजययानिइत तनाप्त । —अब तक श्रीकृष्णद्विजयजी के ग्रन्थ नाम में की लिखित टिप्पणी की पुस्तक।

७ हमें स्वीकार करनेमें आसानी भी है जो कि बहुत ही आसान है। उदाहरण के तौर पर अष्टाध्याय ४ का १९ वीं सूत्र उन्होंने दिग्म्बर सूत्रपाठ में ले रखा। दिग्म्बर लोग स्वर्ग मानते हैं इन विषय उनका अर्थ में स्वेताम्बरीयना नहीं रख सकती। इसने इन्होंने इन शब्द पर स्वेताम्बर सूत्र पाठों में ले रखा है।

पर भी उन्होंने दिगम्बर सूत्रपाठ ग्रहण किया इसका कारण यह होना चाहिए कि जिस सूत्रपाठ के आधार पर सभी दिगम्बर विद्वान् हजार वर्ष में दिगम्बर परम्परा के अनुसार ही श्वेताम्बर आगमोसे विरुद्ध अर्थ करते आए हैं, उसी सूत्रपाठ में से श्वेताम्बर परम्परा के ठीक अनुकूल अर्थ निकालना और करना विलकुल शक्य तथा सगत है, ऐसी छाप दिगम्बर पक्ष पर डालना और साथ ही श्वेताम्बर अभ्यासियों को बतलाना कि दिगम्बर सूत्रपाठ या श्वेताम्बर सूत्रपाठ चाहे जो लो इन दोनों में पाठभेद होते हुए भी अर्थ तो एक ही प्रकार का निकलता है और वह श्वेताम्बर परम्परा के अनुकूल ही है। इससे दिगम्बर सूत्रपाठ से भडकने की या उसे विरोधी पक्ष का सूत्रपाठ समझ कर फेक देने की कोई जरूरत नहीं। तुम चाहो तो भाष्यमान्य सूत्रपाठ सीखो या सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ याद करो। तत्त्व दोनों में एक ही है। इस रीति से एक तरफ दिगम्बर विद्वानों को उनके सूत्रपाठ में से सरल रीति से सत्य अर्थ क्या निकल सकता है यह बतलाने के लिये और दूसरी तरफ श्वेताम्बर अभ्यासियों को पक्षभेद के कारण दिगम्बरीय सूत्रपाठ से न भडके ऐसा समझाने के उद्देश्य से ही, इन यशोविजय जी ने श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ छोड़ कर दिगम्बरीय सूत्रपाठ पर टिप्पणी लिखी जान पड़ता है।

### ( ब ) पूज्यपाद

पूज्यपाद का असली नाम देवन्दी है। ये विक्रम की पाँचवी-छठी शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने व्याकरण आदि अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें से कुछ तो उपलब्ध <sup>२</sup> हैं और कुछ अभी तक मिले नहीं। दिगम्बर व्याख्याकारों में पूज्यपाद से पहले सिर्फ शिवकोटि<sup>३</sup> के ही होने की

१ देखो, सर्वार्थसिद्धि २ ५३, ९ ११ और १० ९।

२ देखो, जैनसाहित्य संशोधक प्रथम भाग पृ० ८३।

३ शिवकोटि कृत तत्त्वार्थ व्याख्या उसके अवतरण वगैरह आज उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने तत्त्वार्थ पर कुछ लिखा था ऐसी सूचना कुछ अर्वाचीन

सूचना मिलती है। इन्हीं की विगम्बरत्व समर्पक सर्वाधिकारि नाम की तस्वार्थव्याख्या पीछे सम्पूर्ण विगम्बर विद्वानों को आभारभूत हुई है।

### ( ट ) मष्ट अकलङ्क

मष्ट अकलङ्क, विष्णु की सातवीं-आठवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। 'सर्वाधिकारि' के बाद तस्वार्थ पर इनकी ही व्याख्या मिलती है जो 'राजवातिक' के नाम से प्रसिद्ध है। ये बौद्ध व्याय प्रस्तापक विद्विष्ट गण्यमान्य विद्वानों में से एक हैं। इनकी कितनी ही कृतियाँ उपलब्ध हैं जो हरएक बौद्ध व्याय के अभ्यासी के लिये महत्त्व की हैं।

### ( ठ ) विद्यानन्द

ये विद्यानन्द भी विष्णु की नववीं-दसवीं शताब्दी में हुए हैं। इनकी कितनी ही कृतियाँ उपलब्ध हैं। ये भारतीय दर्शनों के विद्विष्ट अभ्यासी हैं और इन्होंने तस्वार्थ पर इकोकवातिक नाम की पद्यबद्ध विस्तृत व्याख्या लिख कर कुमारिक लीसे प्रसिद्ध भीषासक धर्मकारों की स्पर्धा की है और बौद्ध दर्शन पर किये गये भीषासकों के प्रचल्य आक्रमण का सबकुछ उत्तर दिया है।

### ( ड ) भुतसागर

'भुतसागर' नाम के विगम्बर सूरि ने तस्वार्थ पर टीका लिखी है। ये १६ वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे हैं। वेदों भारतीय ज्ञान पीठ द्वारा प्रकाशित भुतसागरी भुक्ति की प्रस्तावना पृ. ९८।

। विष्णुकोटि के प्रसारित पर से होती है। शिवकोटि समस्तमत्र के विष्णु से देसी मान्यता है। देवी 'श्यामी समस्तमत्र' पृ. ९६।

१ देवी, व्यायबुभुवण्डर की प्रस्तावना।

२ देवी अष्टशक्ति और तस्वार्थइकोकवातिक की प्रस्तावना।

(ठ) विबुधसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव  
और अभयनन्दिसूरि आदि

अनेक दिगम्बर विद्वानो ने तत्त्वार्थ पर साधारण मस्कृत व्याख्याएँ लिखी हैं। उनके विषय में मुझे खास परिचय नहीं मिला। इतने मस्कृत व्याख्याकारो के अतिरिक्त तत्त्वार्थ की भाषा में टीका लिखनेवाले अनेक दिगम्बर विद्वान् हो गए हैं, जिनमें से अनेक ने तो कर्णाटक भाषा में टीकाएँ लिखी हैं और दूसरो ने हिन्दी भाषा में टीकाएँ लिखी हैं।<sup>१</sup>

### ३. तत्त्वार्थसूत्र ।

तत्त्वार्थशास्त्र का वाह्य तथा आभ्यन्तर सविशेष परिचय प्राप्त करने के लिए—मूल ग्रन्थ के आधार पर नीचे लिखी चार बातों पर विचार किया जाता है—(क) प्रेरक सामग्री, (ख) रचना का उद्देश्य, (ग) रचनाशैली और (घ) विषयवर्णन ।

#### (क) प्रेरक सामग्री

जिन सामग्री ने ग्रन्थकार को 'तत्त्वार्थसूत्र' लिखने की प्रेरणा की वह मुख्यरूप से चार भागों में विभाजित की जाती है ।

१ आगमज्ञान का उत्तराधिकार—वैदिक दर्शनों में वेद की तरह जैनदर्शन में आगम ग्रन्थ ही मुख्य प्रमाण माने जाते हैं, दूसरे ग्रन्थों का प्रामाण्य आगम का अनुसरण करने में ही है। इस आगमज्ञान का पूर्व परम्परा से चलता आया उत्तराधिकार वाचक उमास्वाति को भली प्रकार मिला था, इसने सभी आगमिक विषयों का ज्ञान उन्हें स्पष्ट तथा व्यवस्थित था ।

२ सस्कृत भाषा—काशी, मगध, विहार आदि प्रदेशों में रहने तथा विचरने के कारण और कदाचित् ब्राह्मणजानि के कारण वा० उमा-

१ देखो तत्त्वार्थभाष्य के हिन्दी अनुवाद की श्री नाथरामजी की प्रस्तावना ।



स्वाति ने अपने समय की प्रचलित संस्कृत भाषा का गहरा अभ्यास किया था। ज्ञानप्राप्ति के लिए प्राकृत भाषा के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का ठार ठीक बुझने से संस्कृत भाषा में रचे हुए वैदिक दर्शनसाहित्य और बौद्ध दर्शनसाहित्य को आगने का उन्हें अबसर मिला और उस अबसर का यथार्थ उपयोग करके उन्होंने अपने ज्ञानमंदार को लुब समृद्ध किया।

३. दर्शनान्तरों का प्रभाव—संस्कृत भाषा द्वारा वैदिक और बौद्ध साहित्य में प्रवेश करने के कारण उन्होंने तत्कालीन नई नई रचनाएँ देखीं उनमें से वस्तुएँ तथा विचारसरणियाँ ज्ञानी उन सब का उनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा और इसी प्रभाव ने उन्हें जैन साहित्य में पहले से स्थान न पानेवाली संक्षिप्त दार्शनिक सूत्रशीली तथा संस्कृत भाषा में ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी।

४ प्रतिभा—उक्त तीनों हेतुओं के होते हुए भी यदि उनमें प्रतिभा न होती तो तत्कारण का इस स्वरूप में कभी जन्म ही न होता। इससे उक्त तीनों हेतुओं के साथ प्रेरक सामग्री में उनकी प्रतिभा को स्थान बिना बल ही नहीं सकता।

### ( ल ) रचना का उद्देश्य

काई भी भारतीय शास्त्रकार जब अपने विषय का शास्त्र लिखता है तब वह अपने विषयनिष्पन्न के अन्तिम उद्देश्य में मोक्ष को ही रखता है फिर प्रके ही वह विषय जैसे काम व्यापार या वैद्यक जैसा व्याधिपीडितक दिलाई देता हो अथवा तत्त्वज्ञान और योग जैसा व्याप्यात्मिक दिलाई पड़ता है। सभी मुख्य-मुख्य विषयों के शास्त्रों के प्रारम्भ में उस उस विद्या के अन्तिम फलस्वरूप मोक्ष का ही लिखता हुआ और उस उस शास्त्र के उपसंहार में भी अतएव उस विद्या से मोक्षसिद्धि होने का कथन किया गया है।

वैदिकदर्शन का प्रणेता ऋषि अपनी प्रमेय की चर्चा करने में पहले उन विद्या के निरूपण की माघ का माचनरूप बतला कर ही उनमें

प्रवर्तता है । न्यायदर्शन का सूत्रवार 'शैतम' प्रमाणपद्धति के ज्ञान को मोक्ष का द्वार मान कर ही उसके निरूपण में प्रवृत्त होता है' । सांख्यदर्शन का निरूपण करनेवाला भी मोक्ष के उपायभूत ज्ञान की पूर्ति के लिये अपनी त्रिविधोत्पत्ति विद्या का वर्णन करता है<sup>१</sup> । ब्रह्ममीमांसा में ब्रह्म और जगत का निरूपण भी मोक्ष के साधन की पूर्ति के लिये ही है । योगदर्शन में योगक्रिया और दूसरी बहुत सी प्रासंगिक बातों का वर्णन मात्र मोक्ष का उद्देश्य सिद्ध करने के लिये ही है । भक्तिमार्गियों के शास्त्र भी, जिनमें जीव, जगत और ईश्वर आदि विषयों का वर्णन है, भक्ति की पुष्टि द्वारा अन्त में मोक्ष प्राप्त कराने के लिये ही है । बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद का अथवा चार आर्यसत्त्यों में समावेश पानेवाले आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विषय के निरूपण का उद्देश्य भी मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है । जैनदर्शन के शास्त्र भी इसी मार्ग का अवलम्बन कर चले गये हैं । वाचके उमास्वाति ने भी अन्तिम उद्देश्य मोक्ष का ही रख कर उसकी प्राप्ति का उपाय<sup>४</sup> सिद्ध करने के लिये स्वयं वर्णनार्थ निश्चित की हुई सभी वस्तुओं का वर्णन तत्त्वार्थ में किया है ।

### ( ग ) रचना-शैली

पहले से ही जैन आगमों की रचना-शैली बौद्ध पिटकों जैसी लम्बे वर्णनात्मक सूत्रों के रूप में चली आती थी और वह प्राकृत भाषा में थी । दूसरी तरफ ब्राह्मण विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा में शुरु की हुई संक्षिप्त सूत्रों के रचने की शैली धीरे-धीरे बहुत ही प्रतिष्ठित हो गई थी, इस

१ देखो, कणादसूत्र १, १, ४ । २ देखो, न्यायसूत्र १, १, १ ।

३ देखो, ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका का० २ ।

४ वा० उमास्वाति की तत्त्वार्थ रचने की कल्पना 'उत्तराव्ययन' के २८ वें अव्ययन की आभारी है ऐसा जान पड़ता है । इस अव्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है इस अध्ययन में मोक्ष के मार्गों को सूचित कर उनके विषय रूप से जैन तत्त्व ज्ञान का विलकुल मक्षेप से निरूपण किया गया है ।

श्रीजी ने बाबक उमास्वाति को आकर्षित किया और उसी में लिखने की प्रेरणा की। वहाँ तक हम जानते हैं 'वीनसप्रवास' में 'संस्कृत भाषा में छोटे छोटे सूत्रों के रचयिता सब से पहले उमास्वाति ही हैं। उनके पीछे ही ऐसी सूत्रश्रीजी वैन परम्परा में अतीव प्रतिष्ठित हुई और व्याकरण, अक्षरकार, आचार नीति, व्याय आदि अनेक विषयों पर स्वैताम्बर दिन, म्बर दोनों सम्प्रदाय के विद्वानों ने उस शैली में संस्कृत सापाबद्ध ग्रन्थ लिखी।

उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र कथा के वैशेषिक सूत्रों की तरह इस अध्यायों में विभक्त हैं। इनकी संख्या मात्र ३४४ जितनी है जब कि कथा के सूत्रों की संख्या ९३३ जितनी ही है। इन अध्यायों में वैशेषिक आदि सूत्रों के सबूत आहिक-विभाग जथा ह्यसूत्र आदि के समान पाद विभाग नहीं है। वैन साहित्य में 'अध्ययन' के स्थान पर 'अध्याय' का आरम्भ करने वाले भी उमास्वाति ही हैं। उनके द्वारा शुरू न किया गया आहिक और पाद-विभाग भी आने बलकर उनके अनुयायी अक्षरकार आदि द्वारा शुरू कर दिया गया है। बाह्य रचना में कथासूत्र के साथ तत्त्वार्थ सूत्र का विशेष साम्य होते हुए भी उसमें एक आम जानने योग्य अन्तर है जो वैनदर्शन के परम्परागत मानस पर प्रकाश डालता है। कथा अपने मतम्बों को सूत्र में प्रतिपादित करके इनको साबित करने के लिये अक्षरपाद गीतम के सबूत पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष न करते हुए भी उनकी

इसी वस्तु को वा उमास्वाति ने विस्तार कर उल्लेख समग्र आशय के तर्कों को गूँथ दिया है। उन्होंने अपने सूत्र ग्रंथ का आरम्भ भी मोक्षमार्ग प्रतिपादक सूत्र से ही किया है। विगीवर सम्प्रदाय में ही तत्त्वार्थसूत्र मोक्षमार्ग के नाम से अति प्रसिद्ध है। वीज परम्परा में विष्णुविमार्ग अतिमहत्त्व का ग्रन्थ प्रसिद्ध है जो बुद्धधर्म के द्वारा पवित्रीसूत्र के आस-पास पृथ्वी में रचा गया है और जिसमें समग्र पाथी पिठकों का सार है। इसका पूर्ववर्ती विष्णुविमार्ग नामक ग्रन्थ भी वीज परम्परा में वा अतिमहत्त्व अनुवाद चीनी ग्रन्थ में मिलता है। विष्णुविमार्ग और विष्णुविमार्ग दोनों ग्रन्थों का अर्थ मोक्षमार्ग ही है।

पुष्टि में हेतुओं का उपन्यास तो बहुधा करते ही हैं, जब कि वा० उमा-  
स्वाति अपने एक भी सिद्धान्त की सिद्धि के लिये कहीं भी युक्ति, प्रयुक्ति  
या हेतु नहीं देते। वे अपने वक्तव्य को स्थापित सिद्धान्त के रूप में ही,  
कोई भी दलील या हेतु दिये बिना अथवा पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष किये बिना ही  
योगसूत्रकार 'पतजलि' की तरह वर्णन करते चले जाते हैं। उमास्वाति के  
सूत्रों और वैदिक दर्शनो के सूत्रों की तुलना करते हुए एक छाप मन के ऊपर  
पड़ती है कि जैन परम्परा श्रद्धा-प्रधान है, वह अपने सर्वज्ञ के  
वक्तव्य को अक्षरशः स्वीकार कर लेती है और उसमें शका-समाधान  
का अवकाश नहीं देखती, जिसके परिणामस्वरूप सशोधन, परिवर्धन  
और विकास करने योग्य अनेक बुद्धि के विषय तर्कवाद के जमाने में  
भी अर्चचित रह कर मात्र श्रद्धा के आधार पर आज तक टिके हुए हैं<sup>१</sup>।  
जब कि वैदिक दर्शन-परम्परा बुद्धिप्रधान होकर अपने माने हुए सिद्धान्तों  
की परीक्षा करती है, उसमें शका-समाधान वाली चर्चा करती है और  
बहुत बार तो पहले से माने जाने वाले सिद्धान्तों को तर्कवाद के बल  
पर उलट कर नये सिद्धान्तों की स्थापना करती है अथवा उनमें सशोधन-  
परिवर्धन करती है। सारांश यह है कि जैन परम्परा ने विरासत में मिले  
हुए तत्त्वज्ञान और आचार को बनाये रखने में जितना भाग लिया है  
उतना नूतन सर्जन में नहीं लिया।

१ सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि जैसे अनेक धुरधर तार्किकों द्वारा किया  
हुआ तर्कविकास और तार्किक चर्चा भारतीय विचार विकास में खास स्थान  
राखते हैं, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता, तो भी प्रस्तुत कथन  
गौण-प्रधानभाव और दृष्टिभेद की अपेक्षा से ही समझने का है। इसे एकाध  
उदाहरण से समझना ही तो तत्त्वार्थसूत्रों और उपनिषदों आदि को लीजिये।  
तत्त्वार्थ के व्याख्याकार धुरधर तार्किक होते हुए भी और सम्प्रदाय भेद में  
विविक्त होते हुए भी जो चर्चा करते हैं और तर्क बल का प्रयोग करते हैं  
वह सब प्रथम से स्थापित जैनसिद्धान्त को स्पष्ट करने अथवा उसका समर्थन  
करने के लिये ही है। इनमें से किसी व्याख्याकार ने नया विचारसर्जन  
नहीं किया या श्वेताम्बर-दिगम्बर की तार्किक मान्यता में कुछ भी अन्तर

## ( घ ) विषय-वर्णन

विषय की परसंगी—कितने ही दर्शनों में विषय का वर्णन वेद  
मीमांसा-प्रमाण है। वैसे कि वैशेषिक सांख्य और वेदान्तदर्शन में।  
वैशेषिक दर्शन अपनी दृष्टि से जगत् का निरूपण करते हुए उसमें कुछ  
ब्रह्म कितने हैं? कैसे हैं? और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे पदार्थ कितने  
तथा कैसे हैं? इत्यादि वर्णन करके मुख्य रूप से जगत् के प्रमेयों की ही  
मीमांसा करता है। सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष का वर्णन करके प्रथम  
रूप से जगत् के मूलमूल प्रमेय तत्त्वों की ही मीमांसा करता है। इसी  
प्रकार वेदान्तदर्शन भी जगत् के मूलमूल ब्रह्मतत्त्व की ही मीमांसा प्रथम  
रूप से करता है। परन्तु कुछ दर्शनों में चारित्र्य की मीमांसा मुख्य है जैसे  
कि योग और बौद्ध दर्शन में। जीवन की दृष्टि क्या? उसे कैसे साधना?  
उसमें कौन कौन बाधक है? इत्यादि जीवन सम्बन्धी प्रश्नों का एक  
योगदर्शन ने हेय—दुःख हेमहेतु—दुःख का कारण ह्यन—मोक्ष और  
हानोपाय—मोक्ष का कारण इस अनुस्यूह का निरूपण करके और  
बौद्धदर्शन ने चार आर्यसत्त्वों का निरूपण करके किया है। अर्थात् पहले  
दर्शनविभाग का विषय ज्ञेयतत्त्व और दूसरे दर्शनविभाग का चारित्र्य है।

भगवान् महावीर ने अपनी मीमांसा में ज्ञेयतत्त्व और चारित्र्य की  
समान स्थान दिया है। इससे उनकी तत्त्वमीमांसा एक ओर जीवन  
के निरूपण द्वारा जगत्का स्वरूप वर्णन करती है और दूसरी तरफ  
आजब संभर आदि तत्त्वों का वर्णन करके चारित्र्य का स्वरूप दर्शाती  
है। इनकी तत्त्वमीमांसा का अर्थ है ज्ञेय और चारित्र्य का समानरूप से

नहीं अथा। जब कि उपनिषद्, गीता और मध्यमूख के ध्यात्म्यकार चर्कण  
से यहाँ तक स्वतन्त्र चर्चा करते हैं कि उनके बीच तात्त्विक मान्यता में पूर्ण  
पश्चिम अन्तर स्पष्ट हो गया है। इसमें क्या गुण और क्या दोष है,  
यह बतलाना नहीं, बल्कि केवल वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है। गुण और  
दोष माने जाते हैं वे दोनों परस्परार्थों में ही लक्ष्य हैं और नहीं भी  
लक्ष्य हैं।

विचार । इस मीमासा में भगवान् ने नवतत्त्वों को रखकर इन पर की जाने वाली अचल श्रद्धा को जैनत्व की प्राथमिक शर्त के रूप में वर्णन किया है । त्यागी या गृहस्थ कोई भी महावीर के मार्ग का अनुयायी तभी माना जा सकता है जब कि उसने चाहे इन नवतत्त्वों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त न किया हो, तो भी इनके ऊपर वह श्रद्धा रखता ही हो, अर्थात् 'जिनकथित ये तत्त्व ही सत्य हैं' ऐसी रुचि-प्रतीति वाला हो । इस कारण से जैनदर्शन में नवतत्त्व जितना दूसरे किसी का भी महत्त्व नहीं है । ऐसी चस्तुस्थिति के कारण ही वा० उमास्वाति ने अपने प्रस्तुत शास्त्र के विषय-रूप से इन नवतत्त्वों को पसन्द किया और उन्हीं का वर्णन सूत्रों में मात सत्या द्वारा करके उन सूत्रों के विषयानुरूप 'तत्त्वार्थाधिगम' ऐसा नाम दिया । वा० उमास्वाति ने नवतत्त्वों की मीमासा में ज्ञेय प्रधान और चारित्र्य प्रधान दोनों दर्शनों का समन्वय देखा, तो भी उन्होंने उसमें अपने ज्ञमय में विशेष चर्चाप्राप्त प्रमाण मीमासा के निरूपण की उपयोगिता महसूस की, इससे उन्होंने अपने ग्रन्थ को अपने ध्यान में आनेवाली सभी मीमासाओं ने परिपूर्ण करने के लिये नवतत्त्व के अतिरिक्त ज्ञान-मीमासा को विषय रूप में स्वीकार करके तथा न्यायदर्शन की प्रमाणमीमासा की जगह जैन ज्ञानमीमासा कैंसी है उसे बतलाने के लिये अपने ही सूत्रों में योजना की । इससे समुच्चय रूप से ऐसा कहना चाहिये कि वा० उमान्वाति ने अपने सूत्र के विषय रूप में ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र्य इन तीनों मीमासाओं को जैन दृष्टि के अनुसार लिया है ।

**विषय का विभाग**—पद किये हुए विषय को वा० उमान्वाति ने अपनी दशाध्यायी में इस प्रकार में विभाजित किया है—पहले अध्याय में ज्ञान की, दूसरे में पाँचवे तक चार अध्यायों में ज्ञेय की और छठे से दसवे तक पाँच अध्यायों में चारित्र्य की मीमासा की है । उक्त तीनों मीमासाओं को क्रमशः मुख्य सार वाते देकर प्रत्येक की दूसरे दर्शनों के साथ यहाँ संक्षेप में तुलना की जाती है ।

**ज्ञानमीमासा की सारभूत वाते**—पहले अध्याय में ज्ञान में सम्बन्ध होनेवाली मुख्य वाते आठ हैं जो वे इस प्रकार हैं—१ नय और पञ्चान

रूप से ज्ञान का विभाग । २ मति जादि आगम प्रसिद्ध पाँच ज्ञान और उनका प्रत्यक्ष परीक्षण हो प्रमाणी में विभाजन । ३ मतिज्ञान की उत्पत्ति के साधन उनके भेद-प्रभेद और उनकी उत्पत्ति के कमसूचक प्रकार । ४ वेद परम्परा में प्रमाण माने जानेवाले आगम शास्त्र का द्युतमान रूप से बचन । ५ जबकि जादि तीन दिव्य प्रत्यक्ष और उनके भेद-प्रभेद तथा पारम्परिक अन्तर । ६ इन पाँचों ज्ञानों का तात्त्विक बतलाते हुए उनका विषय निर्देश और उनकी एक साथ समझनीयता । ७ कितने ज्ञान प्रमाणात्मक भी हो सकते हैं वह और ज्ञान को यथार्थता और अयथार्थता के कारण । ८ वेद के भेद-प्रभेद ।

सुझना—ज्ञानमीमांसा में जो ज्ञानबर्णन हैं वह प्रबचनसार के आनाधिकार जैसी तर्कपुरस्सर और दार्शनिक छैली की नहीं बल्कि नहीं मूल की ज्ञानबर्णन जैसी आधिकार छैली की हुकर ज्ञान के सम्पूर्ण भेद-प्रभेदों का तथा उनके विषयों का मात्र वर्णन करनेवाली और ज्ञान-अज्ञान के बीच का भेद बतानवाली है । इसमें जो अवग्रह, ईहा जादि तौर्णिक ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम सूचित किया गया है वह ग्यायशास्त्र में जाने वाली निर्विकल्प उचिकल्प ज्ञान की और बौद्ध अभिबन्धत्वसंगती<sup>१</sup> में जाने वाली ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया का स्मरण करवाता है । इसमें जो जबकि जादि तीन दिव्य प्रत्यक्ष ज्ञानों का वर्णन है वह वैदिक<sup>२</sup> और बौद्ध वर्णन के सिद्ध योनी तथा ईस्वर के ज्ञान का स्मरण करवाता है । इसका दिव्य ज्ञान में वर्णित मन परमार्थ का मिलनम योगसहन<sup>३</sup> और बौद्धवर्णन<sup>४</sup> के पट्टितजन की याद दिलाता है । इसमें जो प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से प्रमाणी का विभाजन है वह वैदिक और बौद्धवर्णन में वर्णित हो प्रमाणी का माध्यम और

(१) १ १५-१९ । (२) ज्ञानो मुक्तावली का ५२ से आता । (३) परिच्छेद ४ परिच्छेद ८ से । (४) १ २१-२६ और ३ । (५) प्रवृत्तपादवर्णन पृ १८७ । (६) ३ १५ । (७) अभिबन्धत्वसंगती परिच्छेद २१ और मायाजुन का वर्णनसह पृ ४ । (८) १ १२ । (९) प्रवृत्तपादवर्णन पृ २१३ व १२ और व्यापकित्यु १ २ ।

योगदर्शन में वर्णित<sup>१</sup> तीन प्रमाणों का, न्यायदर्शन<sup>२</sup> में प्ररूपित चार प्रमाणों का और मीमांसादर्शन<sup>३</sup> में प्रतिपादित छ आदि प्रमाणों के विभागों का समन्वय है। इस ज्ञानमीमांसा में जो ज्ञान-अज्ञान<sup>४</sup> का विवेक है वह न्याय-दर्शन<sup>५</sup> की यथार्थ-अयथार्थ बुद्धि का तथा योगदर्शन<sup>६</sup> के प्रमाण और विपर्यय का विवेक—जैसा है। इसमें जो नय<sup>७</sup> का स्पष्ट निरूपण है वैसा दर्शनान्तर में कही भी नहीं। संक्षेप में ऐसा कह सकते हैं कि वैदिक और बौद्धदर्शन में वर्णित प्रमाणमीमांसा के स्थान पर जैनदर्शन क्या मानता है वह सब तफसीलवार प्रस्तुत ज्ञानमीमांसा में वा० उमास्वाति ने दर्साया है।

ज्ञेयमीमांसा की सारभूत बातें—ज्ञेयमीमांसा में जगत के मूलभूत जीव और अजीव इन दो तत्त्वों का वर्णन है, इनमें से मात्र जीवतत्त्व की चर्चा दूसरे से चौथे तक तीन अध्यायों में है। दूसरे अध्याय में जीवतत्त्व के सामान्य स्वरूप के अतिरिक्त ससारी जीव के अनेक भेद-प्रभेदों का और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों का वर्णन है। तीसरे अध्याय में अघोलोक में बसनेवाले नारको और मध्यलोक में बसनेवाले मनुष्यों तथा पशु-पक्षी आदि का वर्णन होने से उनसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों के साथ पाताल और मनुष्य लोक का सम्पूर्ण भूगोल आ जाता है। चौथे अध्याय में देव-सृष्टि का वर्णन होने से उसमें खगोल के अतिरिक्त अनेक प्रकार के दिव्य धामों का और उनकी समृद्धि का वर्णन है। पाँचवें अध्याय में प्रत्येक द्रव्य के गुणवर्म का वर्णन करके उसका सामान्य स्वरूप बतला कर साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा द्रव्य मात्र की विस्तृत चर्चा की है।

ज्ञेयमीमांसा में मुख्य सोलह बातें आती हैं जो इस प्रकार हैं—

दूसरे अध्याय में—१ जीवतत्त्व का स्वरूप । २ ससारी जीव के भेद ।

३ इन्द्रिय के भेद-प्रभेद, उनके नाम, उनके विषय और जीवराशि में इन्द्रियो

(१) ईश्वरकृष्ण कृत साख्यकारिका का० ४ और योगदर्शन १७ । (२)

१ १ ३ । (३) शाबर-भाष्य १ ५ । (४) १, ३३ । (५) तर्कसंग्रह—बुद्धि

निरूपण । (६) योगसूत्र १-६ । (७) १ ३६-३५ ।



का विभाजन । ४ मृत्यु और जन्म के बीच की स्थिति । ५ जन्मों के और उनके स्वानों के भेद तथा उनका जाति की दृष्टि से विभाजन । ६ धीरे से नव उनके तारतम्य उनके स्वामी और एक साथ उनका सम्भव । ७ जातियों का सिंग-विभाजन और न दूध इसके ऐसे आधुनिक को भीपनेबाधों का निर्दोष । तीसरे और चौथे अध्याय में—८ ब्रह्मलोक के विभाजन उसमें बसनेवाले तारक बीच और उनकी तथा तथा जीवनमर्यादा बर्णन । ९ द्वीप समूह पर्वत क्षेत्र आदि द्वारा मध्यलोक का भौगोलिक वर्णन तथा उसमें बसनेवाले मनुष्य पशु पक्षी आदि का जीवन का काल । १ देशों की विविध जातियाँ उनके परिवार, योग स्वान समष्टि जीवनकाळ और ज्योतिर्मंडल द्वारा जगत् का वर्णन । पाँचवे अध्याय में—११ इन्द्र के भेद उनका परम्पर साधर्म्य-वैधर्म्य उनका स्थितिक्षेत्र और प्रत्येक का कार्य । १२ पुरुष का स्वरूप उनके भेद और उनकी उत्पत्ति के कारण । १३ सन् और नित्य का सहेतुक स्वरूप । १४ पीद्वस्तिव जन्म की योग्यता और अव्ययता । १५ इन्द्र-सामान्य का ज्ञान काल को इन्द्र माननेवाला मता मर और उसकी दृष्टि से काक का स्वरूप । १६ युध और परिणाम के समय और परिणाम के भेद ।

सुझना—उक्त बातों में से बहुत-सी बातें व्यासों और प्रकरण पञ्चा में हैं परन्तु वे सभी इस ग्रन्थ की तरह सक्षेप में संक्षिप्त और एक ही स्थान पर न होकर इतर-उपर बिखरी हुई हैं । 'प्रवचनसार' के ज्ञेय विचार में और पञ्चास्तिकाय के इन्द्राधिकार में ऊपर बतलाये हुए पाँचके अध्याय के ही विषय हैं परन्तु उनका निरूपण इस ग्रन्थ से बुरा पड़ता है । पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार में तर्कवद्धि तथा विस्तार है जब कि उनमें पाँचके अध्याय में संक्षिप्त तथा सीधा बर्णन मात्र है ।

ऊपर जो सूत्रों गोलने और बीच अध्याय की सार बातें भी हैं वेता ज्ञान-व्यवस्थित और मातृलोक जन्म किसी भी दशांग या बीज मूल

वाग्निक सूत्र ग्रन्थ में नहीं दिखाई देता । वादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र<sup>१</sup> के तीसरे और चौथे अध्याय में जो वर्णन दिया है वह उक्त दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय की कितनी ही बातों के साथ तुलना किये जाने के योग्य है, क्योंकि इसमें मरण के बाद की स्थिति, उत्क्रांति, जुदी-जुदी जाति के जीव, जुदे-जुदे लोक और उनके स्वरूप का वर्णन है ।

उक्त दूसरे अध्याय में जीव का जो उपयोग लक्षण<sup>२</sup> कहा गया गया है वह आत्मवादी सभी दर्शनों द्वारा स्वीकृत उनके ज्ञान या चैतन्य लक्षण में जुदा नहीं है । वैशेषिक और न्यायदर्शन के इन्द्रियवर्णन की अपेक्षा उक्त दूसरे अध्याय<sup>३</sup> का इन्द्रियवर्णन जुदा दिखाई देते हुए भी उसके इन्द्रिय-सम्बन्धी भेद, उनके नाम और प्रत्येक के विषय न्याय<sup>४</sup> तथा वैशेषिक दर्शन के साथ लगभग शब्दशः समान है । वैशेषिकदर्शन<sup>५</sup> में जो पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय शरीरों का वर्णन है तथा साख्यदर्शन<sup>६</sup> में जो सूक्ष्म लिङ्ग और स्थूल शरीर का वर्णन है वह तत्त्वार्थ<sup>७</sup> के शरीरवर्णन से जुदा दिखाई देते हुए भी वास्तव में एक ही अनुभव के भिन्न पहलुओं (पाइवों) का सूचक है । तत्त्वार्थ<sup>८</sup> में जो बीच से टूट नके और न टूट सके ऐसे आयुष्य का वर्णन है और उसको जो उपपत्ति दरसाई गई है वह योगसूत्र<sup>९</sup> और उसके भाष्य के साथ शब्दशः साम्य रखती है । उक्त तीसरे और चौथे अध्याय में प्रदर्शित भूगोलविद्या का किसी भी दूसरे दर्शन के सूत्रकार ने स्पर्श नहीं किया, ऐसा होते हुए भी योगसूत्र ३ २६ के भाष्य में नरकभूमियों का, उनके आधारभूत घन, सलिल, वात, आकाश आदि तत्त्वों का, उनमें रहनेवाले नागों का, मध्यलोक का, मेरु का, निपद्य, नील आदि पर्वतों का, भरत, इलावृत्त आदि क्षेत्रों का, जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि द्वीप-

१ देखो 'हिन्दुतत्त्वज्ञाननो इतिहास' द्वितीय भाग, पृ० १६२ से आगे । २ ८ । ३ २ १५-२१ । ४ न्यायसूत्र १ १ १२ और १४ । ५ देखो, 'तर्कसंग्रह' पृथ्वी से वायु तक का निरूपण । ६ 'साख्यकारिका' का ४० से ४२ । ७ २ ३७-४९ । ८ २ ५२ । ९ ३ २२ विस्तार के लिये देखो, प्रस्तुत परिचय पृ० १३, १४ ।

समुद्रों का तथा ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी विविध स्वर्गों का उनमें बसनेवाली देवदातियों का उनके आमुर्षों का उनकी स्त्री परिवार आदि मोर्षों का और उनके रहन-सहन का जो विस्तृत वर्णन है वह तत्त्वार्थ के तीसरे, चौथे अध्याय की त्रैलोक्य प्रकृति की अपेक्षा कमती मान्य होता है। इसी प्रकार ऋषिग्रहों में वर्णित द्वीप समुद्र पाताल क्षीत-उष्ण नारक और विविध देवों का वर्णन भी तत्त्वार्थ की त्रैलोक्यप्रकृति की अपेक्षा संक्षिप्त ही है। ऐसा होते हुए भी इन वर्णनों का सम्बन्ध और विचारसरणी की समानता देखकर आर्य दर्शनों की जुड़ी जुड़ी शाखाओं का एक मूल शोचने की प्रेरणा हो जाती है।

पौत्रर्षी अध्याय बस्तु, धैर्य और परिभाषा में दूसरे किसी भी दर्शन की अपेक्षा वैज्ञानिक और सांख्य दर्शन के साथ अधिक साम्य रखता है। इसका पदार्थवाद वैशेषिकदर्शन<sup>१</sup> के पदवचार्थवाद की याद दिलाता है। इसमें प्रबुद्ध साधर्म्य-वैशर्म्य-वाणी वाली वैशेषिक दर्शन<sup>२</sup> का प्रतिबिम्ब हो ऐसा मानित होता है। यद्यपि ब्रह्मास्तिकाय<sup>३</sup> ब्रह्मास्तिकाय इन दो दृष्टियों की कल्पना दूसरे किसी दर्शनकार ने नहीं की और जैनदर्शनका आत्मस्वरूप<sup>४</sup> भी दूसरे सभी दर्शनों की अपेक्षा जुड़े ही प्रकार का है तो भी आत्मवाद और पुरुषमत्तवाद के सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी बातें वैशेषिक सांख्य आदि के साथ अधिक साम्य रखती हैं। जैनदर्शन को तरह म्याय वैशेषिक साम्य आदि

१ ब्रह्मसंह ५ ० ३१ तथा अग्निब्रह्मसंहो परि = वेद ३ व भागे । २ तत्त्वार्थ की भुतनागरकृत शास्त्र की प्रस्तावना (प्र ८६) में पं महेन्द्रकुमार ने शीट वैदिक भिन्न भिन्न ग्रन्थों में लोका का जो विस्तृत वर्णन उद्घुष्ट किया है वह पुरातन भूगोल जगत्स्य के विश्वानुर्षों की रचना योग्य है । ३ १ १ ४ । ४ प्रस्तावना पृ १६ से । ५ १ और ५. १० विशेष विवरण के लिये मूला जैनसाहित्यसंशोधक मध्य मूल्य मद्र पढ़ना तथा भीया । ६ तत्त्वार्थ ७ १ १६ । ७ तत्त्वार्थ ५ २ । ८ अथर्ववेदो नामा ३ २ ० । ० पुरुषब्रह्म विद्म - "

दर्शन भी आत्मबहुत्ववादी ही हैं। जैनदर्शन का पुद्गलवाद ' वैशेषिकः दर्शन के परमाणुवाद ' और साख्य दर्शन के प्रकृतिवाद ' के समन्वय का-मान कराता है, क्योंकि इसमें आरभ और परिणाम उभयवाद का स्वरूप आता है। एक तरफ तत्त्वार्थ में कालद्रव्य को मानने वाले मतान्तर ' का किया हुआ उल्लेख और दूसरी तरफ उसके निश्चित रूप में बतलाये हुए लक्षणों ' पर से ऐसा मानने के लिये जी चाहता है कि जैन तत्त्वज्ञान के व्यवस्थापकों के ऊपर कालद्रव्य के विषय में वैशेषिक ' और साख्य दोनों दर्शनों के मतव्य की स्पष्ट छाप है, क्योंकि वैशेषिक दर्शन काल को स्वतंत्र द्रव्य मानता है, जब कि साख्य दर्शन ऐसा नहीं मानता। तत्त्वार्थ में सूचित किये गये कालद्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व-नास्तित्व-विषयक दोनों पक्ष, जो आगे जाकर दिगम्बर ' और श्वेताम्बर परम्परा की जुड़ी जुड़ी मान्यता रूप से विभाजित हो गये हैं, पहले से ही जैनदर्शन में होंगे या उन्होंने वैशेषिक और साख्यदर्शन के विचार सघर्ष के परिणामस्वरूप किसी समय जैनदर्शन में स्थान प्राप्त किया होगा, यह एक शोध का विषय है। परन्तु एक बात तो दीपक जैसी स्पष्ट है कि मूल तत्त्वार्थ और उसकी व्याख्याओं ' में जो काल के लिंगो का वर्णन है वह वैशेषिक सूत्र के साथ शब्दशः मिलता जुलता है। सत् और नित्य की तत्त्वार्थगत व्याख्या यदि किसी भी दर्शन के साथ सादृश्य रखती हो तो वह साख्य और योग दर्शन ही है, इनमें वर्णित परिणामिनित्य का स्वरूप तत्त्वार्थ के सत् और नित्य के साथ शब्दशः मिलता है। वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं में द्रव्यारम्भ की जो योग्यता ' बतलाई गई है वह तत्त्वार्थमें '० वर्णित पीद्गलिक बध—द्रव्यारम्भ की योग्यता की अपेक्षा जुदे ही प्रकार की है। तत्त्वार्थ

१ तत्त्वार्थ ५, २३-२८। २ देखो, 'तर्कसंग्रह' पृ. १०० आदि श्रुतों का निरूपण। ३ सांख्यकारिका २२ से आगे। ४. ५, ३८, १५, ५, २२। ६ ० २, ६। ७ देखो, कुन्दकुन्द के प्रवचनसार और पचास्तिकाय का कालनिरूपण तथा सर्वार्थसिद्धि ५, ३९। ८ देखो, भाष्यवृत्ति ५, २२ और प्रमत्त परिचय पृ. ११। ९ प्रशस्तपाद, वायुनिरूपण पृ. ४८। १० ५, ३२-३५।

की द्रव्य और पुण्य की व्याख्या वैशेषिक दर्शन की व्याख्या के साथ अधिक <sup>३</sup> सादृश्य रखती है। तत्कार्य और सांख्य योग दर्शन की परिणाम सम्बन्धी परिभाषा समान ही हैं। तत्कार्य का द्रव्य पुण्य और पचास रूप से सत् पदार्थ का विवेक सांख्य के सत् और परिणामभाव को तथा वैशेषिक दर्शन के द्रव्य पुण्य और कर्म को मुख्य सत् मानने की प्रवृत्ति को मान लिया जाता है।

चारित्र्यमीमांसा की सारभूमि जाते—जीवन में कौन कौन की प्रवृत्तियाँ हेम हैं ऐसी त्रेय प्रवृत्तियों का मूल बीज क्या है हेम प्रवृत्तियों को सेवन करनेवालों के जीवन में कैसा परिणाम जाता है हेम प्रवृत्तियों का त्याग क्षय हो तो वह किस २ प्रकार के उपार्थों से हो सकता है और हेम प्रवृत्तियों के त्याग में किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ जीवन में बाधित करना उनका परिणाम जीवन में क्रमशः और अन्त में क्या जाता है—य सब विचार छठ से दसवें अध्याय तक की चारित्र्यमीमांसा में आते हैं। य सब विचार जीवनचर्य की विस्तृत मुद्रा परिभाषा और सांप्रदायिक प्रणाली के दार्शनिक मार्गों टिप्पणी भी दर्शन के साथ साम्य न रखते हों एसा अपाठक मान जाना है तो भी बीज और योग दर्शन का सूझना न अन्वय करने वाले का यह मानन हुए बिना कभी नहीं रहना कि जीव चारित्र्य मीमांसा का विषय चारित्र्य उपाय उत्पन्न हो दर्शनों के साथ अधिक न अधिक और बहुमुक्त छेड़ से साम्य रखता है। यह साम्य निम्न निम्न शास्त्रार्थों में विभाजित अभी जूरी परिभाषा भी न समाहित और उन उन शास्त्रार्थों में न्यूनतम विचार प्राप्त परन्तु अन्त में कार्य जाति के एक ही आचारशास्त्र—आचार विनय उत्तराधिकार का भाग करता है।

चारित्र्य मीमांसा की मुख्य भाग स्पष्ट है। ७ अध्याय में—१ मानव का स्वरूप उसके जेद और किस किस प्रकार के मानवसेवन न कौन कौन कर्म कौनसे हैं उनका वर्णन। सांख्य अध्याय में—७ इन्द्र का

स्वरूप, व्रत लेने वाले अधिकारियों के भेद और व्रत की स्थिरता के मार्ग ।  
 ३ हिंसा आदि दोषों का स्वरूप । ४ व्रत में सम्भवित दोष । ५ दान का  
 स्वरूप और उसके तारतम्य के हेतु । आठवें अध्याय में—६ कर्मबन्ध के मूल-  
 हेतु और कर्मबन्ध के भेद । नववें अध्याय में—सवर और उसके विविध  
 उपाय तथा उसके भेद-प्रभेद । ८ निर्जरा और उसका उपाय । ९ जुदे जुदे  
 अधिकार वाले साधक और उनकी मर्यादा का तारतम्य । दसवें अध्याय  
 में—१० केवलज्ञान के हेतु और मोक्ष का स्वरूप । ११ मुक्ति प्राप्त  
 करने वाले आत्मा की किस रीति से कहाँ गति होती है उसका वर्णन ।

तुलना—तत्त्वार्थ की चारित्र्य मीमांसा प्रवचनसार के चारित्र्य वर्णन से  
 जुदी पड़ती है, क्योंकि उसमें तत्त्वार्थ के सदृश आत्मव, सवर आदि तत्त्वों  
 को चर्चा नहीं, उसमें तो केवल साधु की दगा का और वह भी दिगम्बर  
 साधु के खास अनुकूल पड़े ऐसा वर्णन है । पचास्तिकाय और समयसार में  
 तत्त्वार्थ के सदृश ही आत्मव, सवर, वध आदि तत्त्वों को लेकर चारित्र्य  
 मीमांसा की गई है, तो भी इन दो के बीच अन्तर है और वह यह कि  
 तत्त्वार्थ के वर्णन में निश्चय की अपेक्षा व्यवहार का चित्र अधिक खींचा  
 गया है, इसमें प्रत्येक तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें हैं और त्यागी  
 गृहस्थ तथा साधु के सभी प्रकार के आचार तथा नियम वर्णित हैं जो  
 जैनसंघ का संगठन सूचित करते हैं, जब कि पचास्तिकाय और समयसार  
 में वैसा नहीं, उसमें तो आत्मव, सवर आदि तत्त्वों की निश्चयगामी तथा  
 उपपत्ति-चर्चा है, उनमें तत्त्वार्थ के सदृश जैन गृहस्थ तथा साधु के प्रचलित  
 व्रत का वर्णन नहीं है ।

योगदर्शन के साथ प्रस्तुत चारित्र्य मीमांसा की तुलना को जितना  
 अवकाश है उतना ही यह विषय रसप्रद है, परन्तु यह विस्तार एक मन्त्र  
 लेख का विषय होने से यहाँ उसको स्थान नहीं, तो भी अभ्यासियों का  
 ध्यान खींचने के लिये उनकी स्वतन्त्र तुलनाशक्ति पर विश्वास रख  
 कर नीचे मक्षेप में तुलना करने योग्य सार बातों को एक सूची दी  
 जाती है—

## सत्त्वार्थसूत्र

- १ कायिक वाचिक मानसिक प्रवृत्ति रूप आत्मब (६ १)
- २ मानसिक आत्मब (८ १)
- ३ सकृपाय और अकृपाय यह दो प्रकार का आत्मब (६ ५)
- ४ सुख-दुःख-जनक पुण्य अघुण्य आत्मब (६, ३-४)
- ५ मिथ्याचर्यन आदि पाँच बन्ध के हेतु (८ १)
- ६ पाँचों में मिथ्याचर्यन की प्रधानता
- ७ आत्मा और कम का विच्छेदन सम्भव ही बन्ध (८ २-३)
- ८ बन्ध ही पुण्य अघुण्य हेतु विपाक का कारण है
- ९ अनादि बन्ध मिथ्याचर्यन के अर्धीन है
- १० कर्मों के अनुभागबन्ध का आचार कृपाय है (६ ५)
- ११ आत्मबनिरोध यह संस्कार (१, १)
- १२ बुद्धि समिष्टि आदि और शिविच तप आदि ये संस्कार के उपाय ( २-१)
- १३ अहिंसा आदि महाजन ( १)

## योगदशने

- १ कर्माणय (२ १२)
- २ निरोध के विषय रूप से ईशानेवासी चित्त वृत्तियों (१९)
- ३ विकृष्ट और अविकृष्ट दो प्रकार का कर्माणय (२, १२)
- ४ सुख-दुःख-जनक पुण्य अघुण्य कर्माणय (२ १४)
- ५ अविद्या आदि पाँच बन्ध ज्ञेय (२ ३)
- ६ पाँचों में अविद्या की प्रधानता (२ ४)
- ७ पुरुष और प्रकृति का विलक्षण संयोग ही बन्ध (२ १७)
- ८ पुरुष प्रकृति का संयोग ही ईशानेवासी का हेतु है (२ १७)
- अनादि संयोग अविद्या के अर्धीन है (२ २४)
- १ कर्मों के विपाकजनन का मूल ज्ञेय है (२ १३)
- ११ चित्तवृत्तिनिरोध यह योग (१ २)
- १२ धम नियम आदि और अस्माकं वीराम्य आदि योग के उपाय (१) १९ से और २ २९ से)
- १३ अहिंसा आदि सार्वभौम धम (२ १)

- १४ हिमा आदि वृत्तियों में ऐहिक, पारलौकिक दोषों का दर्शन करके उन वृत्तियों को रोकना (७, ४)
- १५ हिमा आदि दोषों में दुःखपने जो ही भावना करके उन्हें त्यागना (७, ५)
- १६ मैत्री आदि चार भावनाएँ (७, ६)
- १७ पृथक्त्ववितर्कमविचार और एकत्वविनर्कनिविचार आदि चार श्कल ध्यान (९, ४१-४६)
- १८ निर्जरा और मोक्ष (९, ३ और १०, ३)
- १९ ज्ञानसहित चारित्र्य ही निर्जरा और मोक्ष का हेतु (१, १)
- २० जातिस्मरण, अवधिज्ञानादि दिव्य ज्ञान और चारण विद्यादि लब्धियाँ (१, १२ और १०, ७ का भाष्य)
- २१ केवलज्ञान (१०, १)
- १८ प्रतिपक्ष भावना-द्वारा हिमा आदि वितर्कों को रोकना (२, ३३-३४)
- १५ विवेकी की दृष्टि में मपूर्ण कर्मशय दुःखरूप ही है (२, १५)
- १६ मैत्री आदि चार भावनाएँ (१, ३३)
- १७ मवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार रूप चार सप्रज्ञात ममाधियाँ (१, १६ और ४१, ४४)
- १८ आशिकहान-बन्धोपरम और मवंथा हान<sup>३</sup> (२, २५)
- १९ सागयोगसहित विवेकख्याति ही हान का उपाय (२, २६)
- २० समयजनित वैसी ही विमूर्तियाँ \* (२, २९ और ३, १६ से आगे)
- २१ विवेकजन्य तारक ज्ञान (३, ५४)

१ ये चार भावनाएँ बौद्ध परम्परा में 'ब्रह्मविहार' कहलाती हैं और उन पर बहुत जोर दिया गया है। २ ये चार ध्यान के भेद बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध हैं। ३ इसे बौद्धदर्शन में 'निर्वाण' कहते हैं, जो तीसरा आर्यसत्य है। ४. बौद्धदर्शन में इनके स्थान में पाँच अभिजाएँ हैं। देखो, धर्मसंग्रह पृ० ४ और अभिघम्पत्यसंग्रहो परिच्छेद ९ पैरा २४।



२२ शुभ अशुभ शुभाशुभ और  
न शुभ न अशुभ एसी कर्म  
की अनुपूर्वगी ।

२२ गुणस कृष्य गुणसकृष्य और  
अशुभकाकृष्य ऐसी अनुपूर्वगी कर्म  
जाति ( ४ ७ )

इसके सिवाय कितनी ही बातें ऐसी भी हैं कि जिनमें से एक बात के ऊपर एक दर्शन द्वारा तो दूसरी बात के ऊपर दूसरे दर्शन द्वारा जोर दिया गया होने से वह बात उस उस दर्शन के एक मात्र विषय के तौर पर अपना एक विशेषता के रूप में प्रसिद्ध हो गई है । उदाहरण के तौर पर कर्म के सिद्धान्तों का भीक्ष्ये । बौद्ध और मानवर्तन में कर्म के मूल सिद्धान्त तो ही ही । योगदर्शन में तो इन सिद्धान्तों का उल्लेख बार बर्षों भी है तो भी इन सिद्धान्तों के विषय का जैन दर्शन में एक विस्तृत और गहरा ध्यान बन गया है, जैसा कि दूसरे किसी भी दर्शन में नहीं दिखाई देता । इसी में चारित्र्यमीमांसा में कर्म के सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए, जैनसम्मत सम्पूर्ण कर्मशास्त्र बापक उमास्वाति ने ध्यान में समाविष्ट कर दिया है । उसी प्रकार ताल्पिक दृष्टि में चारित्र्य की मीमांसा जैन बौद्ध और मानव तीनों दर्शनों में समान हाते हुए भी कुछ कारणों व्यवहार में अन्तर पड़ा हुआ नजर पड़ता है और यह अन्तर ही उन उ दर्शनों के अनुगामियों की विधिवता रूप हो गया है । कर्म और कर्मात्त में त्याग ही धर्म के मूल में चारित्र्य है, उनको मिला करने के अनेक उपाय में न कोई एक के ऊपर तो दूसरा दूसरे के ऊपर अधिक जोर देता है जैन आचार के समझ में देहव्रत की प्रधानता दिखाई देती है और आचार के समझ में देहव्रत की अगह ध्यान पर जोर दिया गया है और यौनव्रतानुसारी परित्राजना के आचार के संयत्न में प्राणायाम की भाँति के ऊपर अधिक जोर दिया गया है । यदि मूल चारित्र्य की सिद्धि में ही देहव्रत ध्यान तथा प्राणायाम आदि का बराबर उपयोग हावे तो तो इनमें से प्रत्येक का समान ही महत्त्व है परन्तु जब से बाह्य धर्म में

१ ईशा, २ ३ १४ । ५ तरवार्य ६ ११ २६ आर / ८ २६

३ तरवार्य देहव्रत महाकर्म - धर्मशास्त्रिक अ / ३ २ ।

व्यवहार की लीक जैमे बन जाते हैं और उनमे से मुख्य चारित्र्य की मिद्धि की आत्मा उड जाती है तभी इनमे विरोध की दुर्गंध आती है, और एक मप्र-साय के आचार की निरर्थकता बतलाना है। बौद्ध साहित्य मे और बौद्ध अनुगामी वर्ग मे जैनो के देहदमनप्रधान तप<sup>१</sup> की निन्दा दिखाई पडती है, जैन साहित्य और जैन अनुगामी वर्ग मे बौद्धो के सुखशील वर्तन और ध्यान का तथा परिव्राजको के प्राणायाम और शौच का परिहास<sup>२</sup> दिखाई देता है। ऐसा होने से उस उस दर्शन की चारित्र्य-मीमासा के ग्रथो में व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाला वर्णन विशेष भिन्न दिखलाई पडे तो वह स्वाभाविक है। इसी से तत्त्वार्थ की चारित्र्यमीमासा में हम प्राणायाम या शौच के ऊपर एक भी सूत्र नही देखते, तथा ध्यान का उसमें अधिक वर्णन होते हुए भी उसको सिद्ध करने के लिये बौद्ध या योग दर्शन में वर्णन, किये गए हैं वैसे व्यावहारिक उपाय हम नही देखते। इसी तरह तत्त्वार्थ में जो परीषहो और तप का विस्तृत तथा व्यापक वर्णन है वैसे हम योग या बौद्ध की चारित्र्यमीमासा में नही देखते।

इसके सिवाय, चारित्र्यमीमासा के सम्बन्ध में एक बात खास लक्ष्य में रखने जैसी है कि उक्त तीनों दर्शनों में ज्ञान और चारित्र्य-क्रिया दोनों को स्थान होते हुए भी जैन दर्शन में चारित्र्य को ही मोक्ष का साक्षात् कारण रूप से स्वीकार कर के ज्ञान को उसका अग्ररूप से स्वीकार किया गया है, जब कि बौद्ध और योग दर्शन मे ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मान कर ज्ञान के अग्र रूप मे चारित्र्य को स्थान दिया गया है। यह वस्तु उक्त तीनों दर्शनों के साहित्य का और उनके अनुयायी वर्ग के जीवन का वारीकी से अभ्यास करने वाले को मालूम हुए बिना नही रहती, ऐसा होने से तत्त्वार्थ की चारित्र्य मीमासा में चारित्र्यलक्षी क्रियाओ का और उनके भेद-प्रभेदो का अधिक वर्णन होना स्वाभाविक ही है।

१ मज्झिमनिकाय सूत्र १४ ।

२ सूत्रकृताग अ० ३ उ० ४ गा० ६ की टीका तथा अ० ७ गा० १४ से आगे ।

मुम्ना को पूरा करने में पहले चारित्र्य मीमांसा के अन्तिम या मोक्ष के स्वरूप के गर्भ में उन्नत दर्शनों की क्या और कौसी कल्पना है भी जान लेना आवश्यक है। बुद्ध के त्याग में से ही मोक्ष की उत्पत्ति होने से सभी दर्शन बुद्ध की आत्मशुद्धि निष्पत्ति का ही मानने हैं। न्याय वैशेषिक योग और बौद्ध में चारों ऐसा मानते हैं कि बुद्ध के नाश के अतिरिक्त मास में दूसरी कोई आत्मात्मक वस्तु है इससे उनके मत में मोक्ष में यदि सुख हो तो वह कोई स्वतन्त्र नहीं बल्कि उस बुद्ध के अभाव में ही पर्यवसित है जब कि जैन वेदान्त के लक्ष्य ऐसा मानता है कि मोक्ष अवस्था मात्र बुद्धि नहीं बल्कि इसमें विषय निरपेक्ष स्वाभाविक सुख जैसी स्वतन्त्र वस्तु है मात्र सुख ही नहीं बल्कि उसके अतिरिक्त ज्ञान जैसे दूसरे स्वार्थावुषों का आदिर्भाव अनवरत इस अवस्था में स्वीकार करता है, जब दूसरे दर्शनों की प्रक्रिया ऐसा स्वीकार करने में इनकार करती है। के स्वान-संभव में जैन दर्शन का मत सबसे मिराका है। बौद्ध दर्शन का स्वतन्त्र आत्मतत्त्वका स्पष्ट त्याग न होने से मोक्ष के स्वान-संभव उसमें से किसी भी विचार-प्राप्ति की भांति को स्वान नहीं है। सभी वैदिक दर्शन आत्मशुद्धि-वादी होने से उनके मत में मात्र स्वान कोई पुण्य हो ऐसी कल्पना ही नहीं हो सकती परन्तु जैन स्वतन्त्र आत्मतत्त्व-वादी है और ऐसा होना हुए भी आत्मशुद्धि-वादी नहीं इससे उसको मोक्ष का स्वान नहीं है इसका विचार करना है और यह विचार उसने करताया भी है। तत्त्वार्थ के अन्त में वा अनास्वादि कहते हैं कि "मुक्त हुए जीव हर एक प्रकार के घटित से मुक्त अर्थात् हीकर अन्त में लोक के अग्रभाग में स्थिर होते हैं और ही हमेषा के किये रहते हैं।

### ४ तत्त्वार्थ की व्याख्याएँ

सांख्यवैदिक व्याख्याओं के विषय में 'तत्त्वार्थविमल' ग्रन्थ की 'प्रस्तावना' के साथ हो सकती है। जिस प्रकार बहुत से विषयों में पा

विलकुल भिन्न मत रखने वाले अनेक आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर व्याख्याएँ लिखी हैं और उनमें से ही अपने वक्तव्य को उपनिषदों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उसी प्रकार दिगम्बर, श्वेताम्बर इन दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने तत्त्वार्थ पर व्याख्याएँ लिखी हैं और इसमें ही अपने परस्पर विरोधी मन्तव्यों को भी आगम के आधार पर फलित करने का प्रयत्न किया है। इस पर से सामान्य बात इतनी ही सिद्ध होती है कि जैसे ब्रह्मसूत्र की वेदान्त साहित्य में प्रतिष्ठा होने के कारण भिन्न भिन्न मत रखनेवाले प्रतिभाशाली आचार्यों ने उस ब्रह्मसूत्र का आश्रय लेकर उसके द्वारा ही अपने विशिष्ट वक्तव्य को दरसाने की आवश्यकता अनुभव की वैसे ही जैन वाङ्मय में जमी हुई तत्त्वार्थाधिगम की प्रतिष्ठा के कारण उसका आश्रय लेकर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों को अपने अपने मन्तव्यों को प्रकट करने की जरूरत हुई है। इतना म्यूल साम्य होते हुए भी ब्रह्मसूत्र की और तत्त्वार्थ की साम्प्रदायिक व्याख्याओं में एक खास महत्त्व का भेद है कि जगत्, जीव, ईश्वर आदि जैसे तत्त्वज्ञान के मौलिक विषयों में ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार एक दूसरे से बहुत ही भिन्न पड़ते हैं और बहुत बार तो उनके विचारों में पूर्व-पश्चिम जितना अंतर दिखलाई देता है, नव दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अनुसरण करनेवाले तत्त्वार्थ के व्याख्याकारों में वैसा नहीं है। उनके बीच में तत्त्वज्ञान के मौलिक विषयों पर कुछ भी भेद नहीं है और जो थोड़ा बहुत भेद है भी वह विलकुल माधारण जैसी बातों में है और वह भी ऐसा नहीं कि जिसमें समन्वय की आवश्यकता ही न हो अथवा वह पूर्व-पश्चिम-जितना अंतर हो। वस्तुतः जैनतत्त्वज्ञान के मूल निदान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों में खान मतभेद पड़ा ही नहीं, इससे उनकी तत्त्वार्थव्याख्याओं में दिखलाई देनेवाला मतभेद बहुत गम्भीर नहीं गिना जाता।

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के ही ऊपर लिखी हुई प्राचीन, अर्वाचीन, छोटी, बड़ी, मस्कृत तथा लौकिक भाषामय अनेक व्याख्याएँ हैं, परन्तु उनमें से जिनका ऐतिहासिक महत्त्व हो, जिन्होंने जैनतत्त्वज्ञान को व्यवस्थित करने

में तथा विकसित करने में प्रधान भाग लिया हो और जिनका नाम धार्मिक महत्त्व हो एसी चार ही व्याख्याएँ इस समय मौजूद हैं। उनमें से तीन तो विगम्बर सम्प्रदाय की हैं जो भाग साम्प्रदायिक भेद की ही नहीं बल्कि विनाय की तीव्रता होने के बाद प्रसिद्ध विगम्बर विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं और एक नुद मूत्रकार बाबक उमास्वाति की शिष्यता की है। इनमें इन चार व्याख्याओं के विषय में ही प्रथम यहाँ पर कुछ बर्णना करना उचित जान पड़ता है।

### ( क ) भाष्य और सर्वाथसिद्धि

‘भाष्य और सर्वाथसिद्धि’ इन दोनों टीकाओं के विषय में कुछ विचार करने के पहले इन दोनों के मूलपाठों के विषय में विचार करना पड़ता है। यथाथ में एक ही होने हुए भी पीछले साम्प्रदायिक भेद के कारण मूलपाठ का होना ही जिनमें एक स्वैताम्बर और दूसरा शिखर्यार तीर पर प्रसिद्ध है। स्वैताम्बर माने जानबान मूलपाठ का स्वयं भाष्य के साथ ठीक बैठना से, उस भाष्यमाय्य कह मने हैं और शिखर्यार माने जानेवाले मूलपाठ का स्वयं सर्वाथसिद्धि के साथ ठीक बैठना में उसे सर्वाथसिद्धिमाय्य कह मरने हैं। स्वैताम्बर आचार्य भाष्यमाय्य मूलपाठ पर ही अनुगत्य करते हैं और सभी शिखर्यार आचार्य सर्वाथसिद्धि-माय्य मूलपाठ का अर्थ निकालते हैं। मूलपाठ के मर्याद में नीचे की चार नामें बहुत जानकी पड़ती हैं—१ मूत्रमाय्या २ अर्थभर ३ तात्पर्य विगम्बर भेद ४ सर्वाथसिद्धि।

१ मूत्रमाय्या - भाष्यमाय्य मूलपाठ की ल वा ३४४ और सर्वाथसिद्धिमाय्य मूलपाठ की मर्यादा ३ ७ है।

२. अर्थभेद—सूत्रों की मर्यादा और कहीं कहीं शाब्दिक रचना में फेर होने हुए भी मात्र मूलसूत्रों पर से ही अर्थ में महत्त्वपूर्ण फेरफार दिखाई दे ऐसे तीन स्थल हैं, बाकी सब मूलसूत्रों पर से मौलिक सत्या विषयक पहला (४ १९), काठ का स्वतन्त्र अस्तित्व-नास्तित्व विषयक दूसरा (५ ३८) और तीसरा स्थल पुण्य प्रकृतियों में हाम्य आदि चार प्रकृतियों के होने न होने का (८ २६) ।

३ पाठान्तर विषयक भेद—दोनों सूत्रपाठों के पारम्परिक भेद के अतिरिक्त फिर इस प्रत्येक सूत्रपाठ में भी भेद आता है । मवार्थसिद्धि के कर्ता ने जो पाठान्तर निदिष्ट किया है उमको यदि अलग कर दिया जाय तो सामान्य तीर पर यही कहा जा सकता है कि सब दिगम्बर टीकाकार सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ में कुछ भी पाठ भेद सूचित नहीं करते । इसमें ऐसा कहना चाहिये कि पूज्यपाद ने मवार्थसिद्धि रचते समय जो सूत्रपाठ प्राप्त किया तथा सुधारा-बढाया उमी को निर्विवाद रूप में पीछे के सभी दिगम्बर टीकाकारों ने मान्य रखा । जब कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ के विषय में ऐसा नहीं, यह सूत्रपाठ ज्वेताम्बर तीर पर एक होने पर भी उममें कितने ही स्थानों पर भाष्य के वाक्य सूत्र रूप में दाखिल हो जाने का, कितने ही स्थानों पर सूत्र रूप में माने जानेवाले वाक्यों का भाष्यरूप में भी गिने जाने का, कहीं कहीं असल के एक ही सूत्र के दो भागों में बँट जाने का और कहीं असल के दो सूत्र मिल कर वर्तमान में एक ही सूत्र हो जाने का सूचन भाष्य की लभ्य दोनों टीकाओं में सूत्रों की पाठान्तर विषयक चर्चा पर से स्पष्ट होता है ।

४ अथार्थता—उक्त दोनों सूत्रपाठों में असली कौन और परिवर्तित कौन ? यह प्रश्न महज उत्पन्न होता है, इस वक्त तक के किये हुए विचार पर से मुझे निश्चय हुआ है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ ही असली है अथवा वह मवार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ की अपेक्षा असली सूत्रपाठ के बहुत ही निकट है ।

१ देखो २ ५३ ।

२ देखो, २ १० । २ ३७ । ३ ११ । ४ २-३ । ५ २-३ । ६ २-३ । ७ २-३ । ८ २-३ । ९ २-३ । १० २-३ । ११ २-३ । १२ २-३ । १३ २-३ । १४ २-३ । १५ २-३ । १६ २-३ । १७ २-३ । १८ २-३ । १९ २-३ । २० २-३ । २१ २-३ । २२ २-३ । २३ २-३ । २४ २-३ । २५ २-३ । २६ २-३ । २७ २-३ । २८ २-३ । २९ २-३ । ३० २-३ । ३१ २-३ । ३२ २-३ । ३३ २-३ । ३४ २-३ । ३५ २-३ । ३६ २-३ । ३७ २-३ । ३८ २-३ । ३९ २-३ । ४० २-३ । ४१ २-३ । ४२ २-३ । ४३ २-३ । ४४ २-३ । ४५ २-३ । ४६ २-३ । ४७ २-३ । ४८ २-३ । ४९ २-३ । ५० २-३ । ५१ २-३ । ५२ २-३ । ५३ २-३ । ५४ २-३ । ५५ २-३ । ५६ २-३ । ५७ २-३ । ५८ २-३ । ५९ २-३ । ६० २-३ । ६१ २-३ । ६२ २-३ । ६३ २-३ । ६४ २-३ । ६५ २-३ । ६६ २-३ । ६७ २-३ । ६८ २-३ । ६९ २-३ । ७० २-३ । ७१ २-३ । ७२ २-३ । ७३ २-३ । ७४ २-३ । ७५ २-३ । ७६ २-३ । ७७ २-३ । ७८ २-३ । ७९ २-३ । ८० २-३ । ८१ २-३ । ८२ २-३ । ८३ २-३ । ८४ २-३ । ८५ २-३ । ८६ २-३ । ८७ २-३ । ८८ २-३ । ८९ २-३ । ९० २-३ । ९१ २-३ । ९२ २-३ । ९३ २-३ । ९४ २-३ । ९५ २-३ । ९६ २-३ । ९७ २-३ । ९८ २-३ । ९९ २-३ । १०० २-३ ।

सूत्रपाठ-विषय में इतनी चर्चा करने के पक्षान्तरण उनके ठहर सर्व प्रथम रहे हुए भाष्य तथा सर्वाभिप्रेतिका इन दो टीकाओं के विषय में कुछ विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। भाष्यभाष्य सूत्रपाठ का असम्पन्नता अथवा असली पाठ के विद्येय निकट होना तथा पूर्व कथनानुसार भाष्य का वा उमास्वाति कर्तृत्व इन बातों में विद्यम्बर आचार्यों का मोक्ष स्वामादिक है। क्योंकि पूज्यपाद के बाप होनेवाले सभी विद्यम्बर आचार्यों की टीकाओं का मूल आधार सर्वाभिप्रेतिका और उसका भाष्य सूत्रपाठ ही है। इससे यदि वे भाष्य या भाष्यभाष्य सूत्रपाठ का ही उमास्वाति कर्तृत्व रहे ता पूज्यपाद संनत सूत्रपाठ और उसकी व्याख्या का प्रामाण्य पूरा पूरा नहीं रह सकता। विद्यम्बर परम्परा सर्वाभिप्रेतिका और उसके भाष्य सूत्रपाठ को प्रामाण्यसंबन्ध मानती है। ऐसा होने में भाष्य और सर्वाभिप्रेतिका दोनों का प्रामाण्य-विषयक बलाबल बिना आधे प्रस्तुत परिचय अबूझ ही रहता है। भाष्य की स्थापनता के विषय में कोई मन्दह न होने हुए भी बोझी देर वहीना के सिधे यदि ऐसा मान लिया जाय कि यह स्थापन नहीं ता भी इतना निश्चिन्त रूप से कहा जा सकता है कि भाष्य सर्वाभिप्रेतिका की अपेक्षा प्राचीन तथा उत्सार्थ सूत्र की पहली ही टीका है क्योंकि यह सर्वाभिप्रेतिका जैसी साम्प्रदायिक नहीं है। यह सूत्र की सज्जने के लिये यहाँ तीन बातों की परीक्षा करना ही जानी है—(क) टीका भेद (ख) अर्थ विराम और (ग) साम्प्रदायिकता।

(क) टीका भेद—जिसी एक ही सूत्र के भाष्य और उसकी सर्वाभिप्रेतिका नामक एक ही सूत्र की दृष्टि में देखनेवाले अम्पानी के ऐसा मानून यह बिना नहीं रहना कि सर्वाभिप्रेतिका में भाष्य की टीका प्राचीन है तथा यह पर पर सर्वाभिप्रेतिका में भाष्य का प्रतिविम्ब है। यह दोनों टाकाका में विद्यम्बर और बाबा में प्राचीन संसरो की टाका उत्सार्थ सूत्र पर होने का यथेष्ट प्रमाण अब तक न मिले तक तक प्राय और सर्वाभिप्रेतिका की सुनना करनेवाले ऐसा कह बिना नहीं रहने कि भाष्य का नामक एक ही सर्वाभिप्रेतिका की स्थापना की गई है। भाष्य की टीका प्रगाय और गभीर होने हुए भी सर्वाभिप्रेतिका की दृष्टि में सर्वाभिप्रेति-

की-शैली भाष्य की शैली की अपेक्षा विशेष विकसित और विशेष परिशी-  
लित है ऐसा निस्सन्देह जान पड़ता है। संस्कृत भाषा के लेखन और जैन  
साहित्य में दार्शनिक शैली के जिस विकास के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि लिखी  
गई है वह विकास भाष्य में दिखाई नहीं देता, ऐसा होने पर भी इन दोनों  
की भाषा में जो विम्ब-प्रतिविम्ब भाव है वह स्पष्ट सूचित करता है कि  
दोनों में भाष्य ही प्राचीन है।

उदाहरण के तौर पर पहले अध्याय के पहले सूत्र के भाष्य में सम्यक्  
शब्द के विषय में लिखा है कि सम्यक्' निपात है अथवा 'सम्' उपसर्ग  
पूर्वक 'अञ्च' धातु का रूप है, इसी विषय में सर्वार्थसिद्धिकार लिखते हैं  
कि 'सम्यक्' शब्द व्युत्पन्न अर्थात् व्युत्पत्ति-रहित अखंड है अथवा व्युत्पन्न  
है—धातु और प्रत्यय दोनों मिलाकर व्युत्पत्तिपूर्वक सिद्ध हुआ है। 'अञ्च'  
धातु को 'क्विप्' प्रत्यय लगाया जाय तब 'सम्+अञ्चति' इस रीति से  
'सम्यक्' शब्द बनता है। 'सम्यक्' शब्द विषयक निरूपण की उक्त दो  
शैलियों में भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि की स्पष्टता विशेष है। इसी प्रकार  
भाष्य में 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में सिर्फ इतना ही लिखा है कि  
'दर्शन' 'दृशि' धातु का रूप है, जब कि सर्वार्थसिद्धि में 'दर्शन' शब्द की  
व्युत्पत्ति तीन प्रकार से स्पष्ट बतलाई गई है। भाष्य में 'ज्ञान' और  
'चारित्र्य' शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट बतलाई नहीं है, जब कि सर्वार्थसिद्धि में  
इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से स्पष्ट बतलाई है और बाद में  
उनका जैनदृष्टि से ममर्थन किया गया है। इसी तरह से समास में दर्शन  
और ज्ञान शब्दों में पहले कौन आवे और पीछे कौन आवे यह नामासिक  
चर्चा भाष्य में नहीं, जब कि सर्वार्थसिद्धि में वह स्पष्ट है। इसी तरह पहले  
अध्याय के दूसरे सूत्र के भाष्य में 'तत्त्व' शब्द के सिर्फ दो अर्थ सूचित किये  
गये हैं, जब कि सर्वार्थसिद्धि में इन दोनों अर्थों की उत्पत्ति की गई है और  
'दृशि' धातु का श्रद्धा अर्थ कैसे लेना यह बात भी बतलाई गई है, जो  
भाष्य में नहीं है।



(अ) अर्थविकास — अर्थ की दृष्टि से देखें तो भी भाष्य की अनेक सर्वाधिकारिता असाधारण प्रतीत होती है। जो एक बात भाष्य में होती है उसका विस्तृत वर्णन—उसके ऊपर अधिक वर्णन—सर्वान्वयिता में निरूपण किया गया है। व्याकरणशास्त्र और अनेकतर दसतों की श्रुतिना तथा सर्वाधिकारिता में है उसकी भाष्य में नहीं। अनेक परिमाणों का सन्निधान होने हुए भी जो स्पष्ट विद्यमानकरण और वस्तुत्व का जो पुरस्कार सर्वाधिकारिता में है वह भाष्य में कम से कम है। भाष्य की अनेकता सर्वाधिकारिता की भाविकाता बहु धारणा है और भाष्य में नहीं एते विज्ञानकारी हीन भाषिका के मन्तव्य उक्त उक्त बात में और अर्थान्तर का संज्ञक जो बनना है। य सब बात सर्वाधिकारिता की अनेकता भाष्य की प्राचीनता के सिद्ध करती है।

(ग) साम्प्रदायिकता — उक्त दो बातों का अनेकता भाष्यशास्त्र की दृष्टि अधिक महत्त्व की है। काष्णिक निबन्धिकात्माहार अन्तर और श्रीश्रीश्री शैले विषया के लीज अनेकता का रूप धारण करने के बाद और इन बातों पर साम्प्रदायिक आग्रह लेंच जाने के बाद ही सर्वाधिकारिता सिद्धी नहीं है। अब कि भाष्य में साम्प्रदायिक अभिविद्यता का यह मन्तव्य विचार नहीं देना। अनेक बातों में बहु अनेकतर साम्प्रदायिक के साथ से दिगम्बर साम्प्रदायिक का विरोध है उन सभी बातों की सर्वाधिकारिता के प्रतीक न मुक्त या अन्तर कर्म या उनक अर्थ से लीखनाम करके या अन्वय अन्वयान्तर आदि करके बाद अनेक त्रिपि न दिगम्बर साम्प्रदायिक के अनुकर नई उन प्रकार मुक्त में से उक्त कर्मके निरूपण का साम्प्रदायिक प्रवर्ण दिगम्बर है अनेक अन्वय भाष्य में नहीं विचार नहीं देना। अनेक यह स्पष्ट भाष्य उक्त है कि सर्वाधिकारिता साम्प्रदायिक विरोध का वातावरण

उदाहरण के लिए पर मुक्तता करा ? १ १ ११; १ १२ और

॥ अन्वय भाष्य का भाष्य और सर्वाधिकारिता ॥

१ ११; २ ११ ६ ११; ३ १ ११; १ ११; १ ११

अर्थों की सर्वाधिकारिता के साथ उक्त अन्वय भाष्य ।

जाने के बाद पीछे से लिखी गई हैं और भाष्य उस विरोध के बनावण में मुक्त है।

नव यहाँ प्रश्न होना है कि यदि उस प्रकार भाष्य प्राचीन हो तो उसे दिग्म्बर परम्परा ने छोड़ा क्यों? इसका उत्तर यही है कि सर्वाधिकारि के कर्ता को जिन बातों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यताओं का जो बडन करना था उसका वह बडन भाष्य में नहीं था, इतना ही नहीं किन्तु भाष्य अधिकार में बूढ़ दिग्म्बर परम्परा का पोषक हो सके ऐसा भी नहीं था, और बहुत से स्थानों पर तो वह उलटा दिग्म्बर परम्परा में बहुत बिगड़ जाता था। इसमें पूज्यपाद ने भाष्य को एक तरफ रख सूत्रों पर स्वतंत्र टीका लिखी और ऐसा करते हुए सूत्रपाठ में इष्ट सुधार तथा वृद्धि की और उसकी व्याख्या में जहाँ मतभेद वाली बात आई वहाँ स्पष्ट रीति से दिग्म्बर मन्तव्यों का ही स्थापन किया, ऐसा करने में पूज्यपाद को कुम्भकुन्द के ग्रन्थ मृग्य आचारभूत हुए जान पड़ते हैं। ऐसा होने में दिग्म्बर परम्परा ने सर्वाधिकारि को मुख्य प्रमाण रूप में स्वीकार कर लिया और भाष्य स्वाभाविक रीति में ही श्वेताम्बर परम्परा में मान्य रह गया। भाष्य पर किसी भी दिग्म्बर आचार्य ने टीका नहीं लिखी, इसमें वह दिग्म्बर परम्परा में दूर ही रह गया, और अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने भाष्यपर टीकाएँ लिखी हैं और कहीं कहीं पर भाष्य के मन्तव्यों का विरोध किये जाने पर भी समष्टिरूप में उसका प्रामाण्य ही स्वीकार किया है उसी में वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि भाष्य के प्रति दिग्म्बर परंपरा की जो आजकल मनोवृत्ति

१ ९ ७ तथा २४ के भाष्य में बरु का उल्लेख है। तथा १० ७ के भाष्य में 'तीर्थकरीतीर्थ' का उल्लेख है।

२ जहाँ जहाँ अर्थ की खोजना की है अथवा मुलाक आदि जैसे स्थानों पर ठीक बैठना बिकरण नहीं तो सत्रा उन सूत्रों को क्यों न निकाल दाला? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रपाठ की भातिप्रसिद्धि और निकाल दालने पर अप्रामाण्य का आक्षेप आने का डर था ऐसा जान पड़ता है।

देखी जाती है वह पुराने विद्यम्बरार्याओं में नहीं थी। क्योंकि अकर्मक जैसे प्रमुख विद्यम्बरार्य भी यथा समय भाष्य के साथ अपने कथन की सख्त विज्ञान के प्रयत्न करके भाष्य के विविध प्रामाण्य का सूचन करते हैं (राजराजवार्तिक ५, ४, ८) और कभी भी भाष्य का नामोस्केल पूर्वक सगर नहीं करते या अप्रामाण्य नहीं दिखाते।

### (ख) दो वार्तिक

ग्रन्थों का नामकरण भी आकस्मिक नहीं होता आज की भाषा में उसका भी विधिष्ट इतिहास है। पूर्व-कालीन और समकालीन विद्वानों की भावना में से तथा साहित्य के नामकरण-प्रवाह में से प्रेरणा पाकर ही ग्रन्थकार अपनी कृतियों का नामकरण करते हैं। व्याकरण पर पार्श्वरस महामाष्य की प्रतिष्ठा का असर पिछले अनेक ग्रन्थकारों पर हुआ वह बात हम उनकी कृतियों के भाष्य नाम से जान सकते हैं। इसी असर ने वा उभास्वार्तिक को भाष्य नामकरण करने के लिये प्रेरित किया हो ऐसा सम्भव है। बौद्ध साहित्य में एक ग्रन्थ का नाम सर्वार्थसिद्धि होने का स्मरण है जिसका और प्रस्तुत सर्वार्थसिद्धि के नाम का वीर्थापर्य मन्वन्व अत्राद्य है, परन्तु वार्तिकों के विषय में इतना निश्चित है कि एक बार भारतीय वादग्रह में वार्तिक युग आया और भिन्न भिन्न वादग्रहों में भिन्न-भिन्न विषयों के ऊपर वार्तिक नाम के अनेक ग्रन्थ लिखे गये। उन्नी वा अथवा तत्सर्वार्थ के प्रस्तुत वार्तिकों के नामकरण पर है। अकर्मक ने अपनी टीका का नाम तत्सर्वार्थ वार्तिक रखा है जो राजराजवार्तिक नाम से प्रसिद्ध है। विद्यालय इतने तत्सर्वार्थव्याख्या का उभास्वार्तिक नाम कुमारिक के अभास्वार्तिक का अनुकरण है। इनमें एक भी सन्देह नहीं।

तत्सर्वार्थग्रन्थ पर अकर्मक ने वा 'राजराजवार्तिक' लिखा है और विद्यालय ने वा 'अभास्वार्तिक' लिखा है उन दोनों का मूल आधार सर्वार्थसिद्धि ही है। यदि अकर्मक को सर्वार्थसिद्धि नाम मिली हो तो राजराजवार्तिक का नामांतर मन्वन्व तथा विधिष्ट नहीं होगा और यदि राजराजवार्तिक

नामग्रन्थवार्तिक में भी एक राजराजवार्तिक नाम का प्रथम सूत्र था।

को आश्रय न होना तो विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक में जो विशिष्टता दिखलाई देती है वह भी न होती, यह निश्चिन है। राजवार्तिक और प्लोकवार्तिक ये दोनों साक्षात्या-पराम्परा में सर्वार्थमिद्ध के ऋणी होने पर भी इन दोनों में सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा विशेष विकास हुआ है। उद्योतकरके 'न्यायवार्तिक' की तरह 'तत्त्वार्थवार्तिक' गद्य में है, जब कि 'श्लोकवार्तिक' कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' तथा धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' तथा सर्वज्ञात्म मुनि कृत मक्षेपशारीरकवार्तिक की तरह पद्य में है। कुमारिल की अपेक्षा विद्यानन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने स्वयं ही अपने पद्यवार्तिक को टीका भी लिखी है। राजवार्तिक में लगभग समस्त सर्वार्थमिद्धि आ जाती है फिर भी उसमें नवीनता और प्रतिभा इतनी अधिक है कि सर्वार्थमिद्धि को साथ रख कर राजवार्तिक को वाँचते हुए उसमें कुछ भी पौनरुक्त्य दिखाई नहीं देता। लक्षणनिष्णात पूज्यापाद के सर्वार्थसिद्धिगत सभी विशेष वाक्यों को अकलङ्क ने पृथक्करण और वर्गीकरण पूर्वक वार्तिकों में परिवर्तित कर डाला है और वृद्धि करने योग्य दिखाई देने वाली बातों तथा वैसे प्रश्नों के विषय में नवीन वार्तिकों भी रचे हैं। और सब गद्य वार्तिकों पर स्वयं ही स्पष्ट विवरण लिखा है। इससे समष्टिरूप से देखते हुए, 'राजवार्तिक' सर्वार्थसिद्धि का विवरण होने पर भी वस्तुतः एक स्वतन्त्र ही ग्रन्थ है। सर्वार्थसिद्धि में जो दार्शनिक अभ्यास नजर पड़ता है उसकी अपेक्षा राजवार्तिक का दार्शनिक अभ्यास बहुत ही ऊँचा चढ़ जाता है। राजवार्तिक का एक प्रुव मन्त्र यह है कि उसे जिस बात पर जो कुछ कहना होता है उसे वह 'अनेकान्त' का आश्रय लेकर ही कहता है। 'अनेकान्त' राजवार्तिक की प्रत्येक चर्चा की चाबी है। अपने समय पर्यन्त भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों ने 'अनेकान्त' पर जो आक्षेप किये और अनेकान्तवाद की जो त्रुटियाँ बतलाई उन सब का निरसन करने और अनेकान्त का वास्तविक स्वरूप बतलाने के लिये ही अकलङ्क ने प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर सिद्धलक्षण वाली सर्वार्थसिद्धि का आश्रय लेकर अपने राजवार्तिक की भव्य इमारत खड़ी की है। सर्वार्थसिद्धि में जो आगमिक विषयों का अति विस्तार है उसे राजवार्तिककार ने घटा कर कम कर दिया है और दार्शनिक विषयों को ही प्राधान्य दिया है।

पश्चिम हिन्दुस्तान में निवास करत विद्वान् ने देखा कि पुरवालयों  
 और समकामीय अनेक जैनतर विद्याना में जैनदर्शन पर जो हमारे हिन्दू ई  
 उनका उत्तर देना बहुत क्लेश बाकी है और खास कर मीमांसक कुमारिल  
 आदि द्वारा किये गये जैनदर्शन के खंडन का उत्तर मित्रे बिना उगम किसी  
 तरह भी पढ़ नहीं जा सका यही उन्होंने एकाकबालिक की रचना की।  
 इन लेखन हैं कि इन्होंने अपना यह उद्देश्य सिद्ध किया है। तत्पश्चात् एको  
 बालिक ने जितना और जैसा सब मीमांसक दर्शन का खंडन हुआ वेता  
 तत्पश्चात् मूल की दूसरी किमी टीका में मही। तत्पश्चात् एकाकबालिक ने  
 सर्वाभिहित तथा राजबालिक में चर्चित हुए कोई भी मुख्य विषय छूट  
 नहीं उभरा बहुत स स्वानो पर तो सर्वाभिहित और राजबालिक का  
 मय या एकाकबालिक की चर्चा बहुत जाती है। किन्तु ही बातों की चर्चा  
 या एकाकबालिक में बिलकुल मरुई ही है। राजबालिक में दार्शनिक अम्बाल  
 की विमलता है तो एकोकबालिक में इस विमलता के साथ सूक्ष्मता का  
 मय मय हुआ दृष्टिगोचर होगा है। समय जैन वादग्राम में जो जोड़ो बहुत  
 दृष्टिमा महत्त्व रखती है उनमें की कृतियाँ 'राजबालिक' और 'एकोकबालिक'  
 भी हैं। तत्पश्चात् मूल पर उपलब्ध वेनाम्बर माहिष्य में से एक ही सब राज  
 बालिक या एकाकबालिक की तुलना कर सके गया दिखलाई नहीं देता।  
 मान्य में दिखलाई देने वाला नावाण्य दार्शनिक अम्बाल सर्वाभिहित में  
 कुछ महत्त्व कम जाता है और राजबालिक में बहुत विवेक पाडा होकर  
 इन में एकोकबालिक में कुछ कम जाता है। राजबालिक और एकोक  
 बालिक के 'नितास्तत्र अम्बाली का जालम ही परेया कि दक्षिण हिन्दु  
 स्थान में जो दार्शनिक विद्या भी एकोकबालिक मयव जाया और अनेक  
 मूल पाठिन्व विद्वान् द्वारा जमी का पतिविम्ब इन का पंधों में है।  
 प्रामुख्य दार्शनिक जैन दर्शन का प्रायोगिक अध्ययन करने के परोप  
 नाचन है परन्तु इन में म 'राजबालिक' यद्यत्तर और विमल होने ल  
 नरनाथ के मरुई नीचा चर्चा की गरज अनेका ही पूरी करता है। य का  
 दार्शनिक पदि नही होने का देवती एकोकबालिक मय व दिनाम्बर माहिष्य में

ना विनिष्कृता आर्त है और इनकी जा प्रतिष्ठा वंशो है वह निम्नप ने  
 बकूरी ही रहनी । ये दो वार्तिक साम्प्रदायिक हान पर भी अनेक दृष्टिया  
 व भारतीय वाचनिक साहित्य में विनिष्कृत न्यान प्राप्त करे ऐसी वाग्मता  
 लने है । इनका उपलोकन बौद्ध और वैश्विन पन्धरा के अनेक विषयो  
 पर तथा अनेक ग्रन्थो पर ऐतिहासिक प्रमाण प्रकृता है ।

### (ग) दो वृत्तियों

मूत्र मूत्र पर श्वो गड व्याघ्रां का नक्षिप्त पन्चिप प्राप्त करने के  
 बाद अब व्याख्या पर श्वो गड व्याघ्रां का परिचय प्राप्त करने का  
 अक्षर आता है । ऐसी दो व्याख्याएँ उम नमय पूगी पूरी उपलब्ध हैं, जो  
 दोनों ही श्वेतान्तर है । उन दोनों का मुख्य साम्य नक्षेप में इतना ही है  
 कि ये दोनों व्याख्याएँ उमास्वाति के स्वोपज्ञ भाष्य को शब्दशः स्पर्श करती  
 हैं और उनका विवरण करती हैं । भाष्य का विवरण करते समय भाष्य  
 का आशय लेकर सर्वत्र आगमिक वस्तु का ही प्रतिपादन करना और जहाँ  
 भाष्य आगम में विरुद्ध जाता दिखाई देता हो वहाँ भी अन्त को आगमिक  
 परम्परा का ही समर्थन करना, यह इन दोनों वृत्तियों का नमान व्येय है ।  
 इतना साम्य होते हुए भी इन दोनों वृत्तियों में परस्पर भेद भी है । एक  
 वृत्ति जो प्रमाण में बड़ी है वह एक ही आचार्य की कृति है, जब कि दूसरी  
 छोटी वृत्ति तीन आचार्यों की मिश्र कृति है । लगभग अठारह हजार  
 श्लोक प्रमाण बड़ी वृत्ति में अध्यायो के अन्त में तो बहुत करके 'भाष्या-  
 नुसांगिणी' इतना ही उल्लेख मिलता है, जब कि छोटी वृत्ति के हरएक  
 अध्याय के अन्त में दिखाई देने वाले उल्लेख कुछ न कुछ भिन्नता वाले  
 हैं । कही "हरिभद्रविरचितायाम्" ( प्रथमाध्याय की पुष्पिका ) तो कही  
 "हरिभद्रोद्घृतायाम्" ( द्वितीय, चतुर्थ और पचमाध्याय के अन्त में ) है,  
 कही "हरिभद्रारब्धायाम्" ( छठे अध्यायके अन्तमें ) तो कही 'प्रारब्धायाम्'  
 ( सातवे अध्याय के अन्त में ) है । कही 'यशोभद्राचार्यनिर्युद्धायाम्' ( छठे  
 अध्याय के अन्त में ) तो कही 'यशोभद्रसूरिशिष्यनिर्वाहतायाम्' दसवे  
 अध्याय के अन्त में ) है, बीच में कही 'तत्रैवान्यकृतकायाम्' ( आठवे अध्याय

के अन्त में) तथा अस्यामवाग्यर्णुकायाम् (नवमें अध्याय के अन्त में) है। इन सब उल्लेखों की भाषाधीनी तथा समुचित सगति का अर्थ देखकर कहना पड़ता है कि ये सब उल्लेख उग कर्ता के अपने नहीं हैं। हरिमन्न ने अपने पाँच अध्यायों के अन्त में गुरु लिखा हुआ था बिना और उद्धृत एम विधार्थक का अर्थ प्रयुक्त कभी नहीं करते अन्त में एक निरिक्त अर्थ नहीं निकल सकता कि वह भाग हरिमन्न ने स्वयं रचना या किसी एक या अनेक नृत्तियों का संक्षेप विस्तार रूप में किया। इसी तरह यद्योग्य विहित अध्यायों के अन्त में भी एकमात्र नहीं। यद्योग्यविहितायाम् ऐसा उद्धृत होनेपर भी अस्यामवाग्यर्णुकायाम् लिखना या ता व्यर्थ है या किसी अर्थांतर का सूचक है।

यह सब गड़बड़ देखकर अंग्रेज अनुमान हुआ है कि अध्याय के अन्त में उल्लेख किसी एक या अनेक उल्लेखों के द्वारा एक समय में या कुछ समय में निकल करत समय प्रकट हुए हैं। और ऐसे उल्लेखों रचना का आचार यद्योग्य के सिद्ध का वह पद्य-गद्य है जो उतने अर्थ रचना के प्रारम्भ में लिखा है।

उपरोक्त उल्लेखों के पीछे से साबित होने की कल्पना का जो इतने भी होता है कि अध्यायों के अन्त में पाया जानेवाला सुपदुपिकायाम् ऐसा पद अनेक जगह नृत्तियं है। जो कुछ हो अग्नी तो उन उल्लेखों के आचार से नीचे लिखी बातें कथित होती हैं।

१ उत्सवार्थं भाष्यं क ऊपर हरिमन्न ने नृत्तियं रची जो पूर्वकालीन समकालीन छोटी छोटी साहित्य अखण्डित नृत्तियों का उद्धार है जो उतने उग नृत्तियों का अर्थांतर समावेश हो गया है।

२ हरिमन्न की अगूरी नृत्तियं को यद्योग्य ने तथा उनके सिद्ध अस्यामवाग्यर्णुकायाम् की नृत्तियं के आचार में पूरा किया।

३ नृत्तियं का सुपदुपिका नाम (अथ सचमुच वह नाम सत्य है अक्षरों का रचना हुआ हो तो) इसविषय पढ़ा जान पड़ता है कि दुबड़े दुबड़े अक्षर पुरा हुई-किसी एक के द्वारा पूरी बन न सकी। नि

ग्रन्थ में 'दुपडुपिका' पाठान्तर है। दुपडुपिका शब्द इस स्थान के सिवाय अन्यत्र कहीं देखा व मुना नहीं गया। सम्भव है वह अपभ्रष्ट पाठ हो या कोई देशीय शब्द रहा हो। जैसी मैंने प्रथम कल्पना ' को थी कि उसका अर्थ कदाचित् डोंगो हो, किन्ती विद्वान् मिश्र ने यह भी कहा था कि वह मस्तिष्क उडुपिका का भ्रष्ट पाठ है। पर अब सोचने से वह कल्पना और वह सूचना ठीक नहीं जान पडती। यशोभद्र के शिष्य ने अन्त में जो वाक्य लिखा है उससे तो ऐसा कुछ ध्वनिन होता है कि यह छोटी वृत्ति थोड़ी अमुक ने रची थोड़ी दूसरे अमुक ने थोड़ी तीसरे अमुक ने इस कारण दुपडुपिका बन गई, मानो एक कथा-सी बन गई।

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक के साथ सिद्धसेनीय वृत्ति की तुलना करने से इतना तो स्पष्ट जान पडता है कि जो भाषा का प्रसाद, रचना की विगदता और अर्थ का पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में है, वह सिद्धसेनीय वृत्ति में नहीं। इसके दो कारण हैं। एक तो-ग्रन्थकार का प्रकृतिभेद और दूसरा कारण पराश्रित रचना है। सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिककार सूत्रों पर अपना अपना वक्तव्य स्वतन्त्र रूप से ही कहते हैं।

सिद्धसेन को भाष्य का शब्दश अनुसरण करते हुए पराश्रित रूप से चर्चना पडता है। इतना भेद होने पर भी समग्र रीति में सिद्धसेनीय वृत्तिका अवलोकन करते समय मन पर दो बातें तो अकित होती ही-हैं। उनमें पहली यह कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा सिद्धसेनीय वृत्ति की दार्शनिक योग्यता कम नहीं। पद्धति भेद होने पर भी समष्टि रूप से इस वृत्ति में भी उन्नत दो ग्रन्थो-जितनी ही न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग और बौद्धदर्शनो की चर्चा की विरासत है। और दूसरी बात यह है कि सिद्धसेन अपनी वृत्ति में दार्शनिक और ताकिक चर्चा करते हुए भी अन्त में जिनमद्गणि क्षमाश्रमण की तरह आगमिक परम्परा का प्रबल रूप से स्थापन करते हैं और इस म्यापन में उनका आगमिक अभ्यास प्रचुर रूप से दिखता है। सिद्धसेन की वृत्ति को देखते हुए मालूम पडता है कि उनके समय तक तत्त्वार्थ पर अनेक व्याख्याएँ रची गई थीं। किसी-किसी



मूल पर एक ही सूत्र के भाष्य का विवरण करते हुए वे पाँच क मन्त्रों पर विचार करने हैं। हमने एसा अनुमान करने का कारण यह है कि जब सिद्धसेनने बलि रची तब उनके सामने कम से कम तत्सर्व पर रची हुई पाँच टोकारें होनी चाहिए। सिद्धसेन की बलि में तत्सर्वनाम त्रियम्-सम्बन्धी जो विचार और भाषा की पूर्ण विरासत दिखाई देती है उसे देखते हुए एसा समीचीनता मान्य होता है कि इस बलि के पहले तत्सर्व से संबंध रखने वाला काष्ठों नाहित्य रचा हुआ तथा बलि को प्राप्त हुआ होना चाहिये।

### ( ४ ) लखित बलि

भाष्य पर तीसरी बलि उपाध्याय यज्ञोपनिषद् की है। यदि यह पूरा मिल जाता तो सत्रहवीं बठारहवीं पत्राधी तक प्राप्त होनेवाले भारतीयवर्षन साल का विकास का एक समूह पूर्ण कटती एसा बनमान में उपलब्ध इस बलि के एक छोटा सा खण्ड पर से ही कहने का नर हो जाता है। यह खण्ड प्रथम भाष्याय के ऊपर भी पूरा नहीं और इसमें ऊपर की दो बलियों के समान ही शब्दों भाष्य का अनुसरण कर विवरण ब्रिजा गया है। एसा होने पर भी इसमें जो महती तर्कानुपायी बर्णा जो बहुभुतता और जो भावस्तोत्र दिखाई देता है वह यज्ञोपनिषद् की न्याय-विद्यायता का निरचय कपता है। यदि यह बलि इन्होंने सम्पूर्ण रची होती तो वही ही बर्णों में उसका सर्वनाम हो गया हो एसा मानने से भी हिचकता है, अतः हमकी शोध के लिये किये जानेवाले प्रथम का मन्त्रक जाना सम्भव नहीं।

### रत्नसिंह का टिप्पण

अनेकान्त बर्ण ३ किरण १ (ई १ ३९) में वं जुनककिमोरजी ने तत्सर्वनामिषम सूत्र को सन्निष्य एक प्रति का परिचय कपता है। इस पर न जान पड़ता है कि वह टिप्पण केवल मूलसूत्र पर ही है। टिप्पणकार

ज्वे० रत्नसिंह का समय तो ज्ञात नहीं पर उक्त परिचय में जो अवतरण दिये गये हैं उनकी भाषा तथा लेखन शैली से ऐसा मालूम होता है कि वह रत्नसिंह १६ वीं शताब्दी के पूर्व का शायद ही हो। वह टिप्पण अभी तक कहीं छपा नहीं है। लिखित प्रति के आठ पत्र हैं।

ऊपर जो तत्त्वार्थ पर महत्त्वपूर्ण तथा अभ्यास, योग्य थोड़े से ग्रन्थों का परिचय दिया गया है वह सिर्फ अभ्यासियों की जिज्ञासा जागरित करने और इस दिशा में विशेष प्रयत्न करने को सूचना करना भर है। वास्तव में तो प्रत्येक ग्रन्थ का परिचय एक-एक स्वतन्त्र निबन्ध की अपेक्षा रखता है और इन सब का सम्मिलित परिचय तो एक खासी मोटी पुस्तक की अपेक्षा रखता है, जो काम इस स्थल की मर्यादा के बाहर है, इसलिए इतने ही परिचय ने मन्तोप घाग्ण कर विराम लेना उचित समझता हूँ।

सुखलाल

## परिक्षित

मन वं माबूरागजी प्रमी तथा प बुगलकियारजो मल्लार  
 उमाग्वाणि तथा तल्लारने से सम्बन्ध रखने वाली बातों के विषय में  
 प्रश्न पूछे से जो उत्तर उनकी तरफ से प्राप्त किया है उसका मुख्य  
 अर्थों की भाषा में अपने प्रश्नों के साथ ही नीचे दिया जाता है।  
 दोनों महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि रखत हैं और वर्तमान के शिक्षण  
 विद्यालयों में ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोनों की योग्यता उच्च का  
 है। इसमें अन्वयियों के लिये उनके विचार-काम के होने से उन्हें  
 निष्कर्ष के रूप में यहाँ देता हूँ। वं बुगलकियारजो के उत्तर पर न  
 अन्वय मुझे कुछ कहना है उसे उनके पत्र के बाद विचारणा सी  
 के नीचे यही बनना हुआ—

### (क) प्रश्न

१ उमाग्वाणि कुम्हकुम्ह का विषय या बंदाज ह इस भाष का उल्लेख  
 अथम पुस्तक किन्तु अथ पट्टावली या विस्तारण में आप के लेखन में  
 संशय आया है? अथवा यदि कहिये कि इसकी मही के पूर्ववर्ती किन्तु अथ  
 पट्टावली आदि में उमाग्वाणि का कुम्हकुम्ह का विषय हुआ या बंदाज होने  
 अथ नक पाया गया है?

२ आप के विचार में पुस्तकालय का समय क्या है? तल्लारने  
 उमाग्वाणि का विचार में स्वोत्पन्न है या नहीं? यदि स्वोत्पन्न  
 है तो उस पर से महत्त्व की कल्पना क्या है?

३ विद्यार्थकाल में कीर्ति 'उच्चनायक' नामक पाठ्य कमी है  
 और माबूरागजी या माबूरागजी जारो कीर्ति मूलियत प्राचीन काल में  
 हुआ है यदि हुआ है तो उसका वर्णन या उल्लेख कहीं पर है?

४ अने मदेह है कि तल्लारनेयुक्त के रचयिता उमाग्वाणि कुम्हकुम्ह।  
 विषय से क्याकि कीर्ति जो प्राचीन प्रमाण अभी तक मुझे नहीं मिला।

मिले वे सब बारहवीं सदी के बाद के हैं। इसलिये उक्त प्रश्न पूछ रहा है, जो सरसरी तौर से ध्यान में आवे सो लिखना।

५ प्रसिद्ध तत्त्वार्थशास्त्र की रचना कुदकुद के शिष्य उमास्वाति ने की है, इस मान्यता के लिये दसवीं सदी से प्राचीन क्या क्या सबूत या उल्लेख है और वे कौन से हैं? क्या दिगम्बर साहित्य में दसवीं सदी से पुराना कोई ऐसा उल्लेख है जिसमें कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वाति के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र की रचना किये जाने का सूचन या कथन हो।

६ “तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्” यह पद्य कहाँ का है और कितना पुराना है?

७ पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्द आदि प्राचीन टीकाकारों ने कही भी तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता रूप से उमास्वाति का उल्लेख किया है? यदि नहीं किया है तो पीछे ने यह मान्यता क्यों चल पड़ी?

### (ख) प्रेमीजी का पत्र

“आपका ता० ६ का कृपा पत्र मिला। उमास्वाति कुन्दकुन्द के वंशज हैं, इस बात पर मुझे जरा भी विश्वास नहीं है। यह वंश-कल्पना उस समय की गई है जब तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थमिद्धि, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक आदि टीकाएँ बन चुकी थी और दिगम्बर सम्प्रदाय ने इस ग्रन्थ को पूर्णतया अपना लिया था। दसवीं शताब्दी के पहले का कोई भी उल्लेख अभी तक मुझे इस सम्बन्ध में नहीं मिला। मेरा विश्वास है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में जो बड़े बड़े विद्वान् ग्रन्थकर्ता हुए हैं, प्रायः वे किसी मठ या गद्दी के पट्टाधर नहीं थे। परन्तु जिन लोगों ने गुर्वावरी या पट्टावरी बनाई है उनके मन्त्रक में यह बात भरी हुई थी कि जिनने भी आचार्य या ग्रन्थकर्ता होने हैं वे किसी-न-किसी गद्दी के अधिकारी होने हैं। इस लिये उन्होंने पूर्ववर्ती सभी विद्वानों को उसी भ्रमात्मक विचार के अनुसार पत्राचार करने डाली है और उन्हें पट्टाधर बना लिया है। यह तो उन्हें मान्य नहीं था कि उमास्वाति और कुन्दकुन्द जिन जिन समय में हुए हैं वे एक ही हैं बड़े आचार्य थे और प्राचीन थे, इसलिये उनका

सम्बन्ध जोड़ दिया और गुरु-शिष्य या शिष्य-गुरु बना दिया । यह शोष का उन्मूलन कष्ट नहीं उठाया कि कुम्भकुम्भ कर्माटक देश के कुम्भुघाम के निवासी थे और उमास्वाति बिहार में प्रमथ करने वाले । उन्मूलन की कल्पना भी एक तरह से असम्भव है ।

श्रुतावतार आदिपुराण, हरिवंश पुराण जम्बूद्वीपप्रतिति इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों में जो प्राचीन आचार्य परंपरा ही हुई है उसमें उमास्वाती का बिलकुल उल्लेख नहीं है श्रुतावतार में कुम्भकुम्भ का उल्लेख है और उन्हें एक बड़ा टीकाकार बतलाया है परन्तु इनके बारे में भी उमास्वाति का कोई उल्लेख नहीं है । इन्द्रगम्भी का श्रुतावतार यहाँ बहुत पुराना नहीं है फिर भी ऐसा ज्ञान पड़ता है कि वह किसी प्राचीन ग्रन्थ का रूपान्तर है और इस दृष्टि से उनका कथन प्रमाणकारि का है । 'वर्मनमार १६ संवत् का बनाया हुआ है उसमें पद्मगम्भी या कुम्भकुम्भ का उल्लेख है परन्तु उमास्वाति का नहीं । त्रिभुवन के समय राजर्षि और श्लोकार्थिक इन बड़े बड़े परन्तु उन्होंने भी बीसों आचार्यों और प्रमथकारियों की प्रशंसा के प्रसंग में उमास्वाति का उल्लेख नहीं किया क्योंकि वे उन्हें अपनी परम्परा का नहीं समझते थे । एक बात और है । आदि पुराण हरिवंश पुराण आदि के कथाओं में कुम्भकुम्भ का नाम उल्लेख नहीं किया है वह एक विचारणीय बात है ।

मरी समय में कुम्भकुम्भ एक नाम आम्नाय या सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे । इन्होंने वैत-वर्म को वेदान्त के माथ में हाका था । जान पड़ता है कि त्रिभुवन आदि के समय तक उनका मन सर्वमान्य नहीं हुआ और नीमित्तों उनके प्रति उन्हें कोई आदर भाव नहीं था ।

'तत्प्रसाधशास्त्रकारं मृधयिच्छापल्लसितम् आदि श्लोक मानुष नहीं पढ़ा था है और किन्ना गुणगा है । तत्प्रसाधशास्त्र की मूल प्रतियों में यह वादा आता है । वही-वही कुम्भकुम्भ का भी मृधयिच्छा लिखा है । मृधयिच्छा नाम के एक और भी आचार्य का उल्लेख है । अंतर्निर्णीय मान पद १६ और भाग १ अंक ६ के कुम्भकुम्भ नामगम्भी नाम पड़ता था एत श्रीरवेगा ।

पट्टाहुड की भूमिका भी पढ़वा लीजियेगा ।

श्रुतसागर ने आशाघर के महाभिषेक की टीका सवत् १५८२ में समाप्त की है । अतएव ये विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के हैं । तत्त्वार्थ की वृत्ति के और पट्टाहुड की तथा यशस्तिलक टीका के कर्ता भी यही हैं । दूसरे श्रुतसागर के विषय में मुझे मालूम नहीं ।”

### [ग] मुख्तार जुगलकिशोरजी का पत्र

“आपके ग्रन्थों का मैं मरमरी तीर से कुछ उत्तर दिये देता हूँ —

१ अभी तक जो दिगम्बर पट्टावलियाँ ग्रन्थादिकों में दी हुईं गुर्वा बलियों में भिन्न उलटव्व हुई हैं वे प्रायः विक्रम की १२ वीं शताब्दी के बाद की बनी हुईं जान पड़ती हैं, ऐसा बहना ठीक होगा । उनमें सबसे पुरानी कौनसी है और वह कब की बनी हुई है, इस विषय में मैं इस समय कुछ नहीं कह सकता । अद्वितीय पट्टावलियों पर निर्माण के समयादि का कुछ बतलाने नहीं है और ऐसा भी अनुभव होता है कि किसी-किसी में अन्तिम आदि कुछ भाग पीछे से भी शामिल हुआ है ।

कुन्दकुन्द तथा उमान्वानि के सम्बन्धवाले किनने ही मिलाने तथा प्रशस्त्रियाँ हैं परन्तु वे सब इन समय के नामने नहीं हैं । हाँ, श्रवणशैलोल के जैन मिलानेवाले का नाम इन समय के नामने है, जो माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमात्र का २८ वां ग्रन्थ है । इनमें ४०, ८०, ८३, ४७, ५०, १०५ और १०८ नम्बर के ७ मिलानेवाले होने के उल्लेख तथा सम्बन्ध को लिये हुए हैं । पहले पाच जैन में 'सद्वचने' पद के प्रायः १०८ में 'वदो तदोये' पदों के प्रायः उमान्वानि को कुन्दकुन्द के नाम में लिया है । प्रथम वाक्यों का उल्लेख 'स्वामी समन्तभद्र' के पृ० १०८ पर फुटनोट में भी किया गया है । इनमें सर्वत्र पुराना मिलानेवा नं० १७ है, जो प्रायः नं० १०३ का लिया हुआ है ।

प्रथमाद का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी में दूसरी शताब्दी के शिव स्वामी 'महानन्द' के पृ० १०६ में १०० तक मिलाने ।

तत्त्वार्थ के स्वोत्पत्तयोर्य माध्य को मैं अभी तक स्वोपगत नहीं समझता हूँ। उस पर चिन्ता ही संदेह है जिस सबका उत्प्रेक्ष्य करने के लिये मैं इस समय तैयार नहीं हूँ।

३ विद्वन्महोदय परम्परा में मुनियों की कोई सम्प्रदायगत धारणा भी हुई है, इसका मुझे अभी तक कुछ पता नहीं है और न 'वाचकपद' का 'वाचकपद' वाली मुनियों का कोई विशेष ह्रास मासूम है। हाँ विद्वन्महोदय 'वामनाम्पद' पत्र में 'वामनाम्पद' का वर्णन करते हुए कुम्भकुम्भ और उमास्वाति दोनों के लिये 'वाचक' पद का प्रयोग किया गया है और कि उससे निम्न पद से प्रकट है —

“पुण्यदम्बो मृतवसिष्ठिनचंद्रा मुनि पुन ।

कुम्भकुम्भमुनीन्प्रामात्यातिवाचकसंक्षिप्तौ ॥

कुम्भकुम्भ और उमास्वाति के संभव का उल्लेख न २ में किया जा चुका है। मैं अभी तक उमास्वाति को कुम्भकुम्भ का विकृतात्मयी मानता हूँ—सिद्ध नहीं। हो सकता है कि वे कुम्भकुम्भ के प्रसिद्ध रहे हों और इसका उल्लेख मैंने स्वामी समस्तमह में प १५८ १५९ पर भी किया है। उक्त इतिहास में उमास्वाति-समस्त और कुम्भकुम्भ-समस्त नामक के दोनों लेखों को एक बार पढ़ जाना चाहिये।

५ विद्वन्महोदय की धारणा भी पण्डित का कोई उल्लेख मरे बेचने में ऐसा नहीं आया जिसमें उमास्वाति को कुम्भकुम्भ का सिद्ध लिखा हो।

६ “तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपसंक्षिप्तमा” यह पद तत्त्वार्थसूत्र की बहुवचनी प्रतिमा के अन्त में देखा जाता है, परन्तु यह कहाँ का है और चिन्ता पुगना है यह अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

७ पुरुराव और अकलंकदेव के विषय में तो अभी टीका नहीं यह सकता परन्तु विद्वान्मह में तो तत्त्वार्थसूत्र के चर्चा रूप से उमास्वाति का उल्लेख किया है—वामनाम्पद में उनका त्रितीय नाम पुरुरावच्छायायें दिया है और वामन मातंगरीया टीका भाषि में उमास्वाति नाम का भी उल्लेख है।

इस तरह पर यह आपके दोनों पत्रों का उत्तर है, जो इस ममय बन सका है। विशेष विचार फिर किसी समय किया जायगा।”

### (घ) मेरी विचारणा

विक्रम की ९-१० वीं शताब्दी के दिगम्बराचार्य विद्यानन्द न आप्त-परीक्षा (श्लो० ११९) स्वोपज्ञवृत्ति में “तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामि-प्रभृतिभिः” ऐसा कथन किया है और तत्त्वार्थ-श्लोकवास्तिक की स्वोपज्ञ-वृत्ति (पृ० ६-५० ३१) में इन्हीं आचार्यों ने “एतेन गृध्रपिच्छाचार्य-पर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता” ऐसा कथन किया है। ये दोनों कथन तत्त्वार्थशास्त्र के उमास्वाति रचित होने और उमास्वाति तथा गृध्र-पिच्छ आचार्यों दोनों के अभिन्न होने को सूचित करते हैं ऐसी प० जुगल-किशोरजी की मान्यता जान पड़ती है। परन्तु यह मान्यता विचारणीय है, अतः इस विषय में अपनी विचाराणा को संक्षेप में बतला देना योग्य होगा।

पहले कथन में ‘तत्त्वार्थसूत्रकार’ यह उमास्वाति वगैरह आचार्यों का विशेषण है, न कि मात्र उमास्वाति का। अब यदि मुहस्तारजी के कथनानुसार अर्थ कीजिये तो ऐसा फलित होता है कि उमास्वाति वगैरह आचार्य तत्त्वार्थ-सूत्र के कर्ता हैं। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र का अर्थ यदि तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र किया जाय तो यह फलित अर्थ दूषित ठहरता है क्योंकि तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र अकेले उमास्वामी का रचा हुआ माना जाता है, न कि उमास्वामी आदि अनेक आचार्यों का। इससे विशेषणगत तत्त्वार्थसूत्र पद का अर्थ मात्र तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र न करके जिन कथित तत्त्वप्रतिपादक सभी ग्रन्थ इतना करना चाहिये। इस अर्थ के करते हुए फलित यह होता है कि जिन कथित तत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थ के रचनेवाले उमास्वामी वगैरह आचार्य। इस फलित अर्थ के अनुसार सीधे तौरपर इतना ही कह सकते हैं कि विद्यानन्द की दृष्टि में उमास्वामी भी जिन कथित तत्त्व प्रतिपादक किसी भी ग्रन्थ के प्रणता हैं। यह ग्रन्थ भले ही विद्यानन्द की दृष्टि में तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र ही हो परन्तु इसका यह आशय उक्त कथन में से हमारे आधारों के बिना सीधे तौर पर नहीं निकलता। इससे विद्यानन्द के आप्तपरीक्षागत पूर्वोक्त कथन पर



म हम इनका आगम सीधा गीति म इनका ही विद्यालय मण्डे है कि उमास्वामी म जैन तत्व क ऊपर कोई प्रश्न अवश्य रहा है ।

पूर्वोक्त कृत्य कथन तत्त्वार्थविद्ययात्मक का पहला मोक्षमार्गविषयक सूत्र मन्मथीतरण प्रणीत है प्रश्न चम्पु को सिद्ध करनेवाली अनुमान चर्चा में आया है । इस अनुमान तथा में मोक्षमार्ग विषयक सूत्र पक्ष है सर्वज्ञबीजराज प्रतीत्यरथ यह साध्य है और सूत्ररथ यह हेतु है । इस हेतु में व्यभिचाररथ का निरमन करत हुए विद्यालय न एतेन एतद्वि कथन किया है । व्यभिचाररथोप पक्ष में भिन्न स्वक में संशयित होता है । पक्ष तो मोक्षनाय विषयक प्रस्तुत तत्त्वार्थ सूत्र हा है इससे व्यभिचार का विषयमूठ माना जाने वाला गृह्यपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनियों का सूत्र यह विद्यालयकी दृष्टि में उमास्वामि के पक्षमत्त मोक्षमार्ग-विषयक प्रथम सूत्र से भिन्न ही होना चाहिए यह बात न्यायविद्या के अभ्यासी को धार्य ही समझानी पड़-तीसी है । विद्यालय की दृष्टि में पक्षरूप उमास्वामि के सूत्र की अपेक्षा व्यभिचार के विषयक ही कल्पित किया सूत्र पुरा हो है इसीसे उन्होंने इस व्यभिचाररथोप को निवारण करने के साथ हेतु में अनिच्छता रथोप को दूर करत हुए प्रकृत्यमूने एमा कहा है । प्रकृत्य अर्थात् निमकी चर्चा प्रस्तुत है वह उमास्वामी का मोक्षमार्ग विषयक सूत्र । अनिच्छता रथ का निवारण करने हुए सूत्र को प्रकृत्य एमा विषयक किया है और व्यभिचार रथोप को दूर करते हुए वह विशेषण नहीं दिया तथा पक्ष रूप सूत्र के अन्तर व्यभिचार नहीं माना यह भी नहीं कहा । उक्त न्याय कथन में यह कहा है कि गृह्यपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनियों में व्यभिचार नहीं आता । यह सब निर्विचाररूप में यही सुचित करता है कि विद्यालय उमास्वामी ने गृह्यपिच्छ को बुरा ही समझते हैं दोनों का एक नहीं । इसी अभिप्राय की दृष्टि में एक बलीक यह भी है कि विद्यालय यदि गृह्यपिच्छ और उमास्वामी को अभिन्न ही समझते होते तो एक अनह उमास्वामी और दूसरी अनह 'गृह्यपिच्छ आचार्य' एतदा विषयक ही उनके सिद्ध प्रमुक्त न करने बल्कि 'गृह्यपिच्छ' के साथ व 'उमास्वामी' साथ का प्रयोग करते । उक्त दोनों कथनों की धरी विचारणा यदि अवश्य न हो तो उनके अनुसार यह कल्पित जाता है कि

विद्यानन्दकी दृष्टि में उमास्वामी तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र के प्रणेता होंगे परन्तु उनकी दृष्टि में गुध्रपिच्छ और उमाम्बामी ये दोनों निश्चय से जुड़े ही होने चाहिएँ ।

गृध्रपिच्छ, बलाकपिच्छ, मयूरपिच्छ वगैरह विशेषणों की सृष्टि नग्नत्वमूलक वस्त्र पात्र के त्यागवाली दिगम्बर भावना में से हुई है । यदि विद्यानन्द उमास्वामी को निश्चय पूर्वक दिगम्बरीय समझते होते तो वे उनके नाम के साथ पिछले जमाने में लगाये जानेवाले गृध्रपिच्छ आदि विशेषण जरूर लगाते । इसमें ऐसा कहना पड़ता है कि विद्यानन्द ने उमास्वामी का श्वेताम्बर, दिगम्बर या कोई तीसरा सम्प्रदाय सूचित ही नहीं किया ।

—सुखलाल

## अभ्यास विषयक सूचनाएँ

जैन दर्शन का प्रामाणिक अभ्यास कर का इच्छुक जैन जेनेर विद्यार्थी या शिक्षक यह पुछता है कि एसी एक पुस्तक कौनसी है जिसका कि संक्षिप्त तथा विस्तृत अध्ययन किया जा सके और जिसके अध्ययन से जैनदर्शन में समिहित ग्रहों के प्रत्येक विषय का ज्ञान हो। इस प्रश्न का उत्तर देनेवाला 'तत्त्वार्थ' के सिवाय अन्य किसी पुस्तक का निर्देश नहीं कर सकता। तत्त्वार्थ की गहरी बोधिता होने से आजकल जहाँ तहाँ जैन दर्शन के अभ्यास क्रम में इसका सब प्रथम स्थान है। एसा होने पर भी आजकल उसकी अध्ययन परिपालने की जो उपरेखा है वह विशेष क्लेशप्रद प्रतीत नहीं होती। इसलिए उसकी अभ्यास-पद्धति के विषय में यहाँ पर कुछ सूचना अत्रासदिक न होनी।

सामान्य रूप में तत्त्वार्थ के स्वैतान्त्रिक अभ्यासो उसकी दिग्दर्शन टीकाओं की नहीं देखते और दिग्दर्शन उसकी स्वैतान्त्रिक टीकाओं का नहीं देखते इनका कारण संकुचित दृष्टि मात्प्रदायिक अभिविषय ज्ञानकारी का अभाव चाहे जा हा पर अगर यह बाधता सही हो तो इनके कारण अभ्यासो का ज्ञान जितना संकुचित गूना है उसको ज्ञानार्थी विपरीत बनानेजुन गनी है और उसकी तुलना तथा परीक्षण-वर्णित जितनी कुम्भित रहनी है और उसक परिष्कार स्वरूप तत्त्वार्थ के अभ्यासो का प्रामाणिक विपरीत अर्थ निर्मित होना है इसे समझन क लिए बनमान काउ में बतानी हुई मनी जैन-अध्यासा के विद्याविषय में अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान के मार्ग में ज्ञानार्थी के लोभ में और मत्प्राप्त्यर्थ में चौकाईवो का अर्थात् दृष्टि मरण या मत्प्राप्त्यर्थ मोह की बाध हो तो उनमें मूल बन्धु ही निज नहीं होती। जो तुलना के विचार ज्ञान नहीं कर जाते है वे या ना बनने वस की प्रामाणिकता तथा अचलता के विषय में संशय होते है वा तुलने के पक्ष के लक्षण अथ हीने की शक्ति वस गगने है या अज्ञान की दृष्टि कर मत्प्राप्त्यर्थ की स्वीकार करन में द्विषद्विधाने है तथा अन्तरी मत्प्राप्त्यर्थ

बात को भी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त बुद्धिबल और धैर्य नहीं रखते। ज्ञान का अर्थ यही है कि सकुचितता, घबराहट और अवरोधों का अतिक्रमण कर आत्मा को विस्तृत करे और सत्य के लिए गहरा उतरे। इसलिए शिक्षकों के सामने नीचे की पद्धति रखता हूँ। वे इस पद्धति को अन्तिम सूचना मान कर, उसमें भी अनुभव से सुधार करे और वास्तविक रूप से तो अपने पाठ अभ्यास करते हुए विद्यार्थियों को साधन बना कर स्वयं तैयार हो।

(१) मूलसूत्र लेकर उसका सरलता से जो अर्थ हो वह किया जाय।

(२) भाष्य या सर्वार्थसिद्धि इन दोनों में से किसी एक टीका को मुख्य रख उसे प्रथम पढ़ाना और पीछे तुरत ही दूसरी। इस वाचन में नीचे की खान बातों की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया जाय।

(क) कौन कौन से विषय भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि में एक समान हैं? और समानता होने पर भी भाषा तथा प्रतिपादन शैली में कितना अन्तर पड़ता है।

(ख) कौन कौन से विषय एक में हैं और दूसरे में नहीं, अगर हैं तो रूपान्तर से? जो विषय दूसरे में छोड़ दिये गये हों या जिनकी नवीन रूप में चर्चा की गई हो वे कौन से और ऐसा होने का क्या कारण है?

(ग) उपर्युक्त प्रणाली के अनुसार भाष्य और सर्वार्थसिद्धि इन दोनों का पृथक्करण करने के बाद जो विद्यार्थी अधिक योग्य हों, उसे आगे 'परिचय' में दी हुई तुलना के अनुसार अन्य भारतीय दर्शनों के साथ तुलना करने के लिए प्रेरित करना और जो विद्यार्थी साधारण हों उसे भविष्य में ऐसी तुलना कर सके इस दृष्टि से कितनी ही रोचक सूचनाएँ करना।

(घ) ऊपर दी हुई सूचना के अनुसार विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाने के बाद पढ़े हुए उसी सूत्र का राजवातिक स्वयं पढ़ जाने के लिए कहना। वे यह सम्पूर्ण राजवातिक पढ़ कर उसमें पूछने योग्य प्रश्न या समझने के विषय कागज के ऊपर-नोट करके दूसरे दिन शिक्षक के सामने रखें। और इस चर्चा के समय शिक्षक बन सकें वहाँ तक विद्यार्थियों में ही परस्पर चर्चा

करा कर उनके साथ ही (स्वयं कबल तन्मय सहायक रह कर) स्वयं करने का सम्पूर्ण कहना है। भाष्य और सार्वभौमिकि का अर्थसा राजवातिक में क्या कम हुआ है, किन्तु नृत्ति हुई है क्या क्या नहीं है यह जानने की नृत्ति विद्याविधियों में परिभाषित हो।

(३) इस तरह भाष्य और सार्वभौमिकि का अभ्यास राजवातिक के अन्वेषण के बाद पुष्ट होने पर उक्त दोनों ग्रन्थों में नहीं हो उसे और लाभ प्राप्त करने योग्य या जो विषय सार्वभौमिक में वर्णित हों उतने ही विषयों की सूची तैयार कर रखना और अनुकूलता के अनुसार उन्हें विद्याविधियों की पढ़ना या स्वयं पढ़ाने के लिए कहना। इनका हाने के बाद सूत्र की उक्त चार। टीकाओं ने क्रमशः किन्तु और किस किस प्रकार का विचार किया है और ऐसा करने में उन उन टीकाओं ने अन्य दर्शनों में किन्तु लाभ उठाया है या अन्य दर्शनों को उनकी विद्यता देन है? यह सभी विद्या-विद्या की समझना।

(४) किसी परिस्थिति के कारण राजवातिक पढ़ना या पढ़ाना समय न हो तो अन्त में स्वीकृतवातिक के अनुसार राजवातिक में भी जो जो विषय अधिक सुन्दर रूप से वर्णित हों और जिसका महत्त्व अनन्वेषित के अनुसार बहुत अधिक हो वैसे स्वयं की एक सूची तैयार कर कम से कम इनका ही लिखना ही। अर्थात् भाष्य और सार्वभौमिकि में जो अन्य अभ्यास में विषय हों और उनके साथ ही राजवातिक तथा स्वीकृतवातिक के उक्त दोनों ग्रन्थों में नहीं जावे हुए विविध प्रकार के सम्बन्धित हों और नय सभी अवशिष्ट उचितक। उदाहरणार्थ राजवातिक में से मन्त्र श्रुति और अनुशासनवाद की शर्त और स्वीकृतवातिक में से सर्वज्ञ अष्ट अक्षरार्थ आदि की नय की बाद का और पुष्पोपमय की शर्त। इसी तरह तन्मय भाष्य की निम्नलिखित नृत्ति में से विविध चर्चा वाले भागों को छांट कर उन्हें अभ्यास में रखना। उदाहरणार्थ—  
१. ५. २९ ३१ के भाष्य की शक्ति की शर्त।

(५) अभ्यास प्रारम्भ करने के पहले विभिन्न तन्मय का भाष्य और सार्वभौमिकि परिष्कार करने के लिए विद्याविधियों के लिए विद्या-विद्या

प्रवचन करे तथा इस प्रकार विद्यार्थियों में रम वृत्ति पैदा करे। बीच बीच में प्रसंगानुसार दर्शनो के इतिहास और क्रम विकास की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित हो इसके लिए योग्य प्रवचन की सुविधा का खयाल रखे।

(६) भूगोल, खगोल स्वर्ग और पाताल विद्या के तीसरे और चौथे अध्याय का शिक्षण देने के विषय में दो बड़े विरोधी पक्ष हैं। एक पक्ष उसे शिक्षण में रखने को मना करता है जब कि दूसरा उम शिक्षण के बिना सर्वज्ञ दर्शन का अभ्यंगम अधूरा मानता है। ये दोनों एकान्त की अन्तिम सीमाएँ हैं। इसलिए शिक्षक इन दोनों अध्यायों का शिक्षण देता हुआ भी उसके पीछे की दृष्टि में फेरफार करे यही इस समय योग्य है। तीसरे और चौथे अध्याय का सभी वर्णन सर्वज्ञकथित है, इसमें थोड़ा भी फेरफार नहीं हो सकता, आज कल के सभी वैज्ञानिक अन्वेषण और विचार जैनशास्त्रो से विरुद्ध होने के कारण विलकुल मिथ्या होने से त्याज्य है ऐसा कहकर इन अध्यायों के शिक्षण के ऊपर भार देने की अपेक्षा एक समय आर्यदर्शनो में स्वर्ग, नरक, भूगोल और खगोल विषय में कौसी कौसी मान्यताएँ प्रचलित थी और इन मान्यताओं में जैनदर्शन का क्या स्थान है, ऐसी ऐतिहासिक दृष्टि से इन अध्यायों का शिक्षण दिया जाय तो मिथ्या समझ कर फेंक देने योग्य विषयों में से जानने योग्य बहुत बच रहता है। तथा मत्स्य-शोधन के लिए जिज्ञाना का क्षेत्र नैयार होत~~है~~, इसी प्रकार जो सच्चा हो उसे विशेष रूप से वृद्धि की कसौटी पर कसने की प्रेरणा मिलती है।

(७) उच्च कक्षा के विद्यार्थियों तथा गवेषको को लक्ष में रखकर मैं एक दो सूचनाएँ और भी करता हूँ। पहली बात तो यह है कि तत्त्वार्थ सूत्र और भाष्य आदि में आये हुए मुद्दों का उद्गम स्थान किन किन श्वेताम्बर तथा दिगम्बर प्राचीन ग्रन्थों में है यह सब ऐतिहासिक दृष्टि से देखना और फिर तुलना करना। दूसरी बात यह है कि उन मुद्दों के विषय में बौद्ध पिटक तथा महायान के अमुक ग्रन्थ क्या क्या कहते हैं उनमें इन मन्त्रों में कौसा वर्णन है यह देखना। तथा वैदिक सभी दर्शनो

क मूम्सूत्र और भाष्य में से इस सम्बन्ध की सीधी जानकारी करके फिर तुलना करना । मैं ऐसा करके अनुभव से बैठा हूँ कि तत्प्रायः तब आचार के क्षेत्र में भारतीय आत्मा एक है । जो कुछ हो पर ऐसा सम्बन्ध बिना किये तत्प्रायः का पूरा सहृदय ध्यान में आ नहीं सकता ।

(८) यदि प्रस्तुत हिन्दी विवेचन द्वारा ही तत्प्रायः पढ़ाया हो तो शिक्षक पहले एक एक मूल लेकर उसके सभी विषय मूलाद्य समझा देवे और उसमें विद्यार्थियों का प्रवेश हो जाय तब उस उस भाग के प्रस्तुत विवेचन का वाचन स्वयं विद्यार्थियों के पास ही करा लेवे और कुछ कुछ कर उनकी समझ के बारे में विश्वास कर ले ।

(९) प्रस्तुत विवेचन द्वारा एक उद्यम बर्षत मूल जबका संपूर्ण अध्याय पढ़ लेने के बाद परिषद में ही हुई तुलनात्मक दृष्टि के आचार पर शिक्षक अधिकारी विद्यार्थियों के समक्ष स्पष्ट तुलना करे ।

मि उरिह ऊपर सूचित की हुई पद्धति के अनुसार शिक्षण देने में शिक्षक के ऊपर भार बढ़ता है पर उस भार को उत्साह और बुद्धि पूर्वक उठाने बिना शिक्षक का स्वाम उष्ण नहीं बन सकता और विद्यार्थी बर्ष भी विचाररहित ही रह जाता है । इसलिए शिक्षक अधिक से अधिक तैयारी करे और अपनी तैयारी को सफल बनाने के लिए विद्यार्थियों का मानस तैयार करना अनिवार्य है । कुछ मान प्राप्त करने की दृष्टि से तो ऐसा करना अनिवार्य है पर वहीं और वेन से बढ़ते हुए वर्तमान ज्ञान-वेद्य की देखकर सबके भाव समान रूप से बैठने की व्यावहारिक दृष्टि से भी ऐसा करना अनिवार्य है ।

सुखलाल

# तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि

भा० भाष्य में मुद्रित सूत्र	रा-पा. राजवार्तिककार द्वारा निर्दिष्ट पाठान्तर
रा० राजवार्तिक में मुद्रित सूत्र	स-पा० सर्वार्थसिद्धि में निर्दिष्ट पाठान्तर
स० सर्वार्थसिद्धि में मुद्रित सूत्र	सि-पा० सिद्धसेनवृत्ति का प्रत्यन्तर का पाठ
श्लो० श्लोकवार्तिक में मुद्रित सूत्र	सि-भा० सिद्धसेनीयवृत्ति का भाष्य पाठ
सि० सिद्धसेनीय टीका में मुद्रित सूत्र	सि-वृ० सिद्धसेनीयवृत्तिसमत पाठ
हा० हारिभद्रिय टीका में मुद्रित सूत्र	सि-वृ-पा० सिद्धसेनीयवृत्ति निर्दिष्ट पाठान्तर
टि० तत्त्वार्थ टिप्पण (अमुद्रित अनेकान्त ३ १)	

## प्रथमोऽध्यायः

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥ ✓

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ ✓

तन्निर्गमादिधिगमाद्वा ॥ ३ ॥ ✓

जीवाजीवास्त्रैवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥ ✓

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्याः ॥ ५ ॥

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

सत्सख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

मतिश्रुतावधिमनःपर्यायैरेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

१ आध्रव-हा० ।

२ मन.पर्याय-स., रा० श्लो० ।



तत् प्रमाण ॥ १० ॥

माद्य परोक्षम् ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

मतिस्मृति सद्वा चिन्ताऽभिनिषाद्य इत्यनयोन्तरम् ॥ १३ ॥

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

✓ अवग्रहेहावायधारणा ॥ १५ ॥

बहुबहुविधधियानिभितामदिग्बहुवर्णा मंतराणाम् ॥ १६ ॥

अपस्य ॥ १७ ॥

म्यजनस्याचग्रह ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाम्याम् ॥ १९ ॥

भूत मतिपूर्व गनेकद्रादक्षभेदम् ॥ २० ॥

द्वि विधोऽवधि ॥ २१ ॥

भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥ २२ ॥

✓ यथोक्तनिमित्त बहुविकल्प श्लेषाणाम् ॥ २३ ॥

१ तत्र जाते-हा ।

२ हावाद्य-मा हा ति । अङ्कक ने अपाय 'अवाय होनों को संगत करा है ।

३ नितुतामुक्तधु-त य । -नितुतामुक्तधु-अथ । -विश्वनिभूतामुक्तधु स-या । शान्तिभितामुक्तधु-मा नि-वृ । -धित्तमिच्छित्तधु-ति-वृ -य ।

४ त य श्चे मी लूत्रकय नहीं । उत्पानमें त जीर य में है ।

५ तत्र तत्र ति भवप्रत्ययोविश्वेवधारकाणाम्-त य श्चे ।

६ अवग्रहजननिमित्त-त य श्चे । भाष्य में व्याख्या है

'यथोक्तनिमित्त' अवग्रहममग्निमित्त इत्यर्थः

ऋजुविपुलमती मन्तःपर्यायः ॥ २४ ॥

विशुद्धप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥ ✓

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन्तःपर्याययोः ॥ २६ ॥ ✓

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २७ ॥

रूपिष्ववधे ॥ २८ ॥

तदनन्तभागे मन्तःपर्यायस्य ॥ २९ ॥

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥ ✓

मतिश्रुतांऽवधयो विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥

नैगमसग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दा नयाः ॥ ३४ ॥ ✓

औद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥ ३५ ॥ ✓

१ मन्तःपर्याय—स० रा० श्लो० ।

२ मन्तःपर्यायो—स० रा० श्लो० ।

३ निबन्धद्रव्ये—स० रा० श्लो० ।—१ २० के भाष्यमें 'जो सूत्राश्रित उद्धृत है उसमें 'सर्व' नहीं है ।

४ मन्तःपर्यायस्य—स० रा० श्लो० ।

५ श्रुताविभाज्ये विप—हा० ।

६ शब्दसमनिरुद्धवम्भूता नया—स० रा० श्लो० ।

७ यह मूल स० रा० श्लो० में नहीं है ।

## द्वितीयोऽध्याय

✓ औपश्रमिकृष्णाधिकौ माधौ मिश्रश्च जीवस्य स्तत्परवर्गौ-  
दधिकृष्णारिणामिकौ च ॥ १ ॥

द्विनवाष्टादशैकविंशतिप्रिमेदा मयाक्रमम् ॥ २ ॥

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिसन्धयश्चतुस्त्रिपञ्चमेदाः यथा  
क्रम सम्यक्त्वचारित्रसयमाप्तयमाश्च ॥ ५ ॥

गतिक्रयापत्तिङ्गमिध्यादर्शनाऽज्ञानाऽसयताऽपिद्वैतत्वे-  
न्याश्चतुश्चतुस्तयेकैकैकपद्मेदाः ॥ ६ ॥

जीवमध्यामव्यत्वादीनि च ॥ ७ ॥

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

सै द्विविधोऽष्टचतुर्मेद ॥ ९ ॥

ससाग्निगो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

समनस्काऽमनस्का ॥ ११ ॥

१ वर्तमानमथय-न थ य श्री ।

२ मेदाःसम्य-त वा श्री ।

३ तिद्वैतत्वे-न य श्री ।

४ त्वागौ च-न य श्री ।

न श्री दे नि-व-वा ।

५ निर्मा च इत्यादिष्ट गवे मत्र विनयान् चो आन्धेयमा विद्वत्तेन  
र्वा ६ ।

संसारिणस्त्रसंस्थावरा ॥ १२ ॥

पृथिव्यम्बुवनस्पतय स्थावरा ॥ १३ ॥

तेजोवायु द्वीन्द्रियादयश्च त्रसा ॥ १४ ॥

पचेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

द्विविधानि ॥ १६ ॥

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

उपयोगः स्पर्शादिषु ॥ १९ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्राणि ॥ २० ॥

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः ॥ २१ ॥

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २२ ॥

वाय्वन्तानामेकम् ॥ २३ ॥

१ मूल मे इस पुस्तक मे 'त्रसा' छपा है ।

२ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय, स्थावरा स० रा० श्लो० ।

३ द्वीन्द्रियादयस्त्रसा म० रा० श्लोक० ।

४ स० रा० श्लो० में नहीं है । सिद्धसेन कहते हैं—'कोई इसको सूत्र रूपसे नहीं मानते और वे कहते हैं कि यह तो भाष्यवाक्य को सूत्र बना दिया है'—पृ० १६९ ।

५—तदर्थो—म० रा० श्लो० । 'तदर्थो' ऐसा ममस्तपद ठीक नहीं इस शका का समाधान अकलक और विद्यानन्द ने दिया है । दूसरी ओर श्वे० टीकाकारो ने अममस्त पद क्यों रखा है उसका खुलाना किया है ।

६ वनस्पत्यन्तानामेकम् म० रा० श्लो० ।

कुमिपिपीठिकाभ्रमरमनुष्यादीनामकैकवृद्धानि ॥ २४ ॥  
 साधन समनस्का ॥ २५ ॥  
 विग्रहगतौ कर्मयोग ॥ २६ ॥  
 अनुश्रेणि गतिः ॥ २७ ॥  
 अविग्रहा जीवस्य ॥ २८ ॥  
 विग्रहवती च मसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥  
 एकममयोऽविग्रह ॥ ३० ॥  
 एक द्वौ वैज्ञाहारकः ॥ ३१ ॥  
 सम्मूर्छनगर्भोपपातो जन्म ॥ ३२ ॥  
 सचिचक्षीतमवृता नेतरा मिघाशैक्यस्वघोनेय ॥ ३३ ॥  
 जराय्वष्टपोतज्ञानां गर्भः ॥ ३४ ॥  
 नैरकदेपानामुपपातः ॥ ३५ ॥  
 देवानां सम्मूर्छनम् ॥ ३६ ॥

- १ विग्रहधन कहने हैं कि कोई मूष में 'मनुष्य' पर जनार्थ सममते हैं ।
- २ विग्रहमेव कहने हैं कि कोई उनके बाद जनीश्रिवा केवलिन ऐसा मूष रहते हैं ।
- ३ एकतमयाऽविग्रहा—न रा रती ।
- ४ द्वौ वैज्ञा—न रा रती । मूषगत वा धर्य से कोई 'तीन' का भी मण्ड करने से ऐसा इतिग्रह और मिश्रमेव वा कहना है ।
- ५ जराय्वष्टम्—न ।—वाहा ज्ञान-रा रती ।
- ६ जरायुजालपोषजानां गर्भः—न रा रती । रा और रती 'तीन' वाठ के ऊपर आपत्ति करने हैं । मिश्रमेव का यह आपत्ति ठीक मान्य नहीं होगी ।
- ७ देवतारक्षामामुपपातः—न रा रती ।

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि<sup>१</sup> ॥३७

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३८ ॥

प्रदेशतोऽसख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३९ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ४० ॥

अप्रतिघाते ॥ ४१ ॥

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४२ ॥

मर्त्यस्य ॥ ४३ ॥

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्यै चतुर्भ्यः ॥ ४४ ॥

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४५ ॥

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥

वैक्रियमौपपातिकम् ॥ ४७ ॥

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४८ ॥

१ -वैक्रियिका-स० रा० श्लो० ।

२ सिद्धसेन का कहना है कि कोई 'शरीराणि' इन पदको अलग सूत्र समझते हैं ।

३ तेषा-भा० में यह पद सूत्राद्य रूप से छपा है लेकिन भाष्यटीकाकारों के मतमें यह भाष्यवाक्य है ।

४ अप्रतीघाते-स० रा० श्लो० ।

५ -देकस्मिन्ना चतु-स० रा० श्लो० । लेकिन टीकाओं से मालूम होता है कि 'एकस्य' 'सूत्रपाठ अभिप्रेत है ।

६ औपपातिक वैक्रियिकम्-स० रा० श्लो० ।

७ इसके बाद स० रा० श्लो० में 'तैजसमपि' ऐसा सूत्र है । भा० में यह 'तैजसमपि' सूत्र रूप से नहीं छपा । श० में सूत्र के

शुभ विद्मद्मभ्याधाति आहारक चेतुदक्षपुष्यरस्यैव ॥१९॥  
नारकसम्पृच्छिनो नपुसकानि ॥५०॥

न देवो ॥५१॥

श्रीपपातिकचरमेदेहोत्तमपुरुषाऽस्तस्येयमर्वापुपोऽनपम-  
र्त्यापुप ॥५२॥

बाह यह सूत्र रूप से आया है। निचे यह सूत्र क ह प्रति वा पाठान्तर है। टि में यह सूत्र स्वतंत्र रूप से है। किन्तु यह अपने सूत्र के बाद है। उनका यहाँ होना टिप्पणकारन अनुचित माना है।

१ -क चतुर्दशपूर्वपर एव ति । -कं जलसंज्ञकस्वैव- त ए स्तो ।  
निष्कलेन वा कहना है कि कोई अकस्मत्पुनस्वच्छिन्नत ऐसा विशेषण और जोड़ते हैं।

२ इनके बाद क ए स्तो में सेवाशिक्षेवाऽऽरेता सूत्र है। इतना प्यारपाठ न यह सूत्र नहीं लगता जाता। क्योंकि इन मतमय का उनके यहाँ भाष्यभाष्य है।

३ श्रीपपातिकचरमोत्तमपुरुष-न ग स्तो ।

४ -चरमेदेहोत्तमपुरु-न-वा ए-वा । निष्कलेन वा कहना है कि-  
इस सूत्र में सूत्रकार न उत्तमपुरुष पर नई ब्रह्म नहीं लिखा है-गता कोई मानते हैं। पूज्यगार अथवा और विद्यालय करन को इनका का विचारन समझते हैं।

तृतीयोऽध्यायः

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो धना-  
म्बुवाताकाशप्रतिष्ठासप्ताधोऽध. पृथुतरा ॥१॥

तासु नरकाः ॥२॥

नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया ॥३॥

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

सक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्या ॥५॥

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा-  
सत्त्वानां परा स्थिति ॥६॥

जम्बूद्वीपलवणोदयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

द्विद्विर्विष्कम्भा पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो बलयाकृतयः ॥८॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बू-  
द्वीपः ॥९॥

तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरात्रतवर्षा-  
क्षेत्राणि ॥१०॥

- १ इसके विग्रह में सिद्धान्त पाठ और नामर्थ्यगम्य पाठ को चर्चा मर्वीर्य-  
सिद्धि में है ।
- २ पृथुतरा स० रा० श्लो० में नहीं । 'पृथुतरा' पाठ की अनावश्यकता  
अकलङ्क ने दिखलाई है । इस सूत्र के बाद टि० में " घमविशा औला-  
जना रिष्टा माघव्या माघवीति च " ऐसा सूत्र है ।
- ३ तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशत्रिपञ्चोत्तैकनरकशतसहस्राणि पञ्चैव  
यथाक्रमम् स० रा० श्लो० । इस सूत्र में सन्निहित गणना भाष्य में है ।
- ४ तेषु नारका नित्या-सि० । नारका नित्या-म० रा० श्लो० ।
- ५ -लवणोदादय' स० रा० श्लो० ।
- ६ 'तत्र' टि०, म० रा० श्लो० में नहीं ।



तद्विमाञ्चिन पूर्वोपरायता हिमनन्महाहिमवधिपत्न-  
नीलरुक्मिमुखिलरिणो वर्षवरपर्यन्ता ॥११॥

विधातकीकण्ठे ॥१२॥ ।

पुष्करार्धे च ॥१३॥

प्राक् मानुषोत्तरान्मनुष्या ॥१४॥

आर्या म्लेच्छाश्च ॥१५॥

भरतैरावर्तविदेहा कर्मभूमयोऽन्वय देवकुरुचरकुरु-  
नृस्विती परापरे त्रिपलपोपमान्तर्गृह्ये ॥१७॥

तिर्यग्योनीनां च । १८॥

१ 'वर्षवरपर्यन्ता' ति

२ इस सूत्र के बाद लगभग 'त्याहि भाष्य वाक्य की कोई सूत्र  
समझन ही ऐसा लिखलेन का कहना है। स में इस मतस्य का सूत्र  
२८ की है। इतिमत्र और लिखलेन करते हैं कि यहाँ कोई विद्वान्  
बहुत से नये सूत्र अपने आप बना करके विस्तार के लिए रखते हैं।  
यह उनका कथन लगभग सर्वाधिकविशिष्टास्य सूत्रपाठ को धर्य में  
रखकर हो सकता है क्योंकि उनमें इन सूत्र के बाद १२ सूत्र  
में ही जो सब सूत्रपाठ में नहीं है। और उनके बाद के न २४ और  
२५ के सूत्र भी भाष्यभाष्य ११ में सूत्र के भाष्यवाच्य ही हैं। न  
ग के १ से ३२ सूत्र भी अधिक ही हैं। न वा तैत्तिरीयो सूत्र इति  
म तौड कर हो बना दिया गया है। यही अधिक सूत्रों के पाठ के  
भिन्न म रा छो देवना वादिक।

३ आर्या म्लेच्छाश्च—आ आ ।

४ परापरे—रा इति ।

५ तिर्यग्योनिनां च न रा इति ।

## चतुर्थोऽध्याय

देवाश्चतुर्निकायाः ॥ १ ॥

तृतीय पीतलेश्य ॥ २ ॥

दशाष्टपचद्वादशविकल्पा. कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषँद्यात्मरक्षलोकपालानीक-  
प्रकीर्णकाभियोग्यकिलिषिकाश्चैकश ॥ ४ ॥

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्का ॥ ५ ॥

पूर्वयोर्द्विन्द्राः ॥ ६ ॥

पीतान्तलेश्याः ॥ ७ ॥

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ८ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमन प्रवीचारा द्वयोर्द्वयो. ॥ ९ ॥

परेऽप्रवीचारा ॥ १० ॥

१ देवाश्चतुर्निकाया म० ग० श्लो० ।

२ आदितस्त्रिपु पीतान्तलेश्याः म० रा० श्लो० । देखो, हिन्दी विवेचन  
पृ० १३७ टि० १

३ -पारिषदा-म० रा० श्लो० ।

४ -शल्लोक-स० ।

५ वर्त्ता-मि०

६ यह सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं ।

७ 'द्वयोर्द्वयो' म० रा० श्लो० में नहीं है । इन पदों को सूत्र में रखना  
चाहिये ऐसी विधि की शका या समाधान करते हुए अशुद्ध कहने हैं  
कि ऐसा करने से अर्थ विरोध आता है ।

मवनभासिनोऽमुरनागविद्युस्तुपर्णाधिनातस्तनितोदधि  
श्रीपदिष्कुमाराः ॥ ११ ॥

व्यन्तरा किमरकिंपुरुषमहोरगमान्भर्षयधराधसभूत  
पिष्ठाया ॥ १२ ॥

ज्योतिष्का सूर्याभर्न्मसो ग्रहनध्रप्रकीर्णतारैकाश्च ॥ १३ ॥  
मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥

तत्कृत कालविभाग ॥ १५ ॥

बहिरवस्मिन्ना ॥ १६ ॥

वैमानिका ॥ १७ ॥

कन्वोपपन्ना कस्पार्तीताश्च ॥ १८ ॥

उपयुपरि ॥ १९ ॥

सौषमैश्चानसानस्कृमारमाहेन्द्रैर्ब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्र  
सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाप्युतपोनवसु त्रैवेयकेषु  
विषयवैषयन्तद्यन्ताऽपराक्षितेषु मर्वाधिर्मद्वे च ॥२०॥  
स्थितिप्रभा<sup>स्य</sup>पुविलेख्याविशुद्धीन्त्रियावाधिविषयता  
ऽधिका ॥ २१ ॥

१ पञ्चर्ष-हा ल ए वन्वो ।

२ -सूर्याभन्मसो-म ए वन्वो ।

३ - प्रकीर्णकता -म ए वन्वो ।

४ ताराश्च-हा ।

५ -माहेन्द्रब्रह्मह्योतवमास्तवतापिष्ठाशुक्रमहाशुक्रप्रतारस्तृणा-म  
ए वन्वो । इका म-सतार पाठ है । शिगम्बर परम्परा में श्री प्राचीन  
ग्रन्थों में माग्द कल्प हीनेका कथन है-वेन्वो त्रैण जयन वरं ५ अक्ष  
१५ २ २। जनेकाग ५ १ ११५ ३४

६ -सिद्धी च न ए वन्वो ।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीना ॥२२॥

पीतपद्मशुक्लेश्या द्वित्रिशेषु ॥२३॥

प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्प ॥२४॥

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिका ॥२५॥

सारस्वतादित्यब्रह्मचरुणगर्दतोयतुषिताव्याघ्राधर्मरुतो-  
ऽरिष्टाश्च ॥२६॥

त्रिजयादिषु द्विचरमा ॥२७॥

औष्ण्यपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनय ॥२८॥

स्थिति ॥२९॥

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममध्यर्धम् ॥३०॥

शेषाणां पादोने ॥३१॥

असुरेन्द्रयो सागरोपममधिकच ॥३२॥

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥३३॥

\* टि० में इसके बाद—'उच्छ्वासा हारवेदनोपपाता नुमावतश्च साध्या'  
ऐसा सूत्र है ।

१ पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्लेश्या द्विद्विचतुश्चतु शेषेण्विति रा-पा० ।

२-लया लौका-स० रा० श्लो० । मि-पा० ।

३ ध्यावाधारिष्टाश्च-म० रा० श्लो० । देखो हिन्दी विवेचन पृ० १५५  
टि० १ ।

४-पादिक-स० रा० श्लो० ।

५ इस सूत्र में ३२ वे सूत्र तक के लिए—'स्थितिरसुरनागसुपणद्धीपशेषाणा  
सागरोपमत्रिपत्योपमाद्धंहीनमिता'—ऐसा स० रा० श्लो० में एक ही  
सूत्र है । श्वे० दि० दोनो परपराओ में भवनपतिकी उत्कृष्ट स्थिति के  
विषय में मतभेद है ।

६ उम सूत्र में ३५ वे तक के सूत्र के लिये एक ही सूत्र—सौधर्मशास्त्रो

सागरोपमे ॥३४॥

अधिके च ॥३५॥

सप्त सप्तकुमारे ॥३६॥

विश्वेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरभिकानि  
च ॥३७॥

आरणाच्युतादूर्ध्वमर्केकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु  
मर्षार्थैर्विद्वे च ॥३८॥

अपरा पत्न्योपममधिके च ॥३९॥

सागरोपमे ॥४०॥

अधिके च ॥४१॥

परत परत पूर्वापूर्वान्तरा ॥४२॥

नारकणां च द्वितीयादिषु ॥४३॥

दशवर्षमहस्राणि प्रथमायाम् ॥४४॥

मवनेषु च ॥४५॥

व्यन्तराणां च ॥४६॥

सागरोपमे अधिके च— एता न च दत्ता नै ही । इत्यां वरपथ नै  
मिनि के परिनाथ न जी इत्यत्र ही । देना प्रत्युत नृणां को गोचर्य ।

१ साप्तकुमारमाहेश्वरी सप्त—न च दत्तो ।

२ सप्तपञ्चदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरभिकानि तु—न च दत्तो ।

३ त्रयोच—न च दत्तो ।

४ यह जीव इत्ये वारणा नृव न च दत्ता नै वही ।

परा पल्योपसमम् ॥४७॥

ज्योतिष्काणामधिकम् ॥४८॥

ग्रहाणामेकम् ॥४९॥

नक्षत्राणामर्धम् ॥५०॥

तारकाणां चतुर्भागः ॥५१॥

ज्येष्ठ्या तदष्टभागः ॥५२॥

चतुर्भाग शेषाणाम् ॥५३॥



- १ परा पल्योपसमधिकम्-म० रा० श्लो० ।
- २ ज्योतिष्काणां च-स० रा० श्लो० ।
- ३ यह और ५०, ५१ वे सूत्र म० रा० श्लो० में नहीं ।
- ४ तदष्टभागोऽपरा म० रा० श्लो० । ज्योतिष्को की स्थिति विषयक जो सूत्र दिगम्बरीय पाठ में नहीं है उन सूत्रों के विषय की पूर्ति राजवा-  
तिककार ने इसी सूत्र के वार्तिकों में की है ।
- ५ म० रा० श्लो० में नहीं । स० और ग० में एक और अंतिम सूत्र-  
लौकान्तिकानामष्टौ मासरोपमाणिसर्वेषाम्-४२ है । वह श्लो०  
में नहीं ।

## पञ्चमोऽध्यायः

✓अजीवकाया धर्माधर्माकाण्डपुद्गला ॥१॥

द्रव्याणि बीयाश्च ॥२॥

निस्पापस्थितान्यरूपाणि ॥३॥

रूपिण पुद्गला ॥४॥

अकाशादेकद्रव्याणि ॥५॥

निष्क्रियाणि च ॥६॥

असहस्येया प्रवेद्या धर्माधर्मयो ॥७॥

१ स ए र लो में इस एक मूत्र के स्थान में 'द्रव्याणि' बीयाश्च' ऐसे दो मूत्र हैं। सिद्धसेन कहते हैं— 'कोई इस मूत्र को उपनृत्य प्रकार से दो मूत्र बनाकर पड़ते हैं सो ठीक नहीं'।

बकस्त्र के सामने भी किसीने खड़ा उठार है— 'द्रव्याणि बीया' ऐसे च रहित एक मूत्र ही क्यों नहीं बनाते ?" विद्यालम्बका कहना। कि स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये ही दो मूत्र बनाए हैं।

२ सिद्धसेन कहते हैं— कोई इस मूत्र को छोड़ कर नित्यावस्थितानि 'अद्रव्याणि' ऐसे दो मूत्र बनाते हैं। नित्यावस्थितान्यरूपाणि' ऐसे पाठान्तर भी बलि में उन्होंने दिया है। नित्यावस्थितान्यरूपीणि' ऐसा एक और भी पाठका निर्देय उन्होंने किया है। 'कोई नित्यप को अवस्थित का विशेषण समझते हैं ऐसा भी वे ही कहते हैं इस मूत्र की व्याख्या के मतांतरों के लिये सिद्धसेनीय वृत्ति देखना चाहिए।

१ वेको हिन्दी विवेचन पृ १६६ टि १।

४ - धर्माधर्मकाजीवानाम्—स ए र लो ।

जीवस्य ॥ ८ ॥

आकाशस्यानन्ता ॥ ९ ॥

सङ्ख्येयासङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

नाणो ॥ ११ ॥

लोकाकाशेऽवगाह ॥ १२ ॥

धर्माधर्मयो कृत्स्ने ॥ १३ ॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

प्रदेशसहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकार ॥ १७ ॥

आकाशस्यावगाह ॥ १८ ॥

शरीरवाङ्मन प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

१० रा० उक्तो० में यह पृथक् सूत्र नहीं । पृथक् सूत्र क्यों किया गया ? इसका रहस्य मिद्धमेन दिवाने है ।

-विमर्ष-न० रा० श्लो० ।

-उपग्रहो-नि० स० रा० श्लो० । अकलकने द्विवचन का समर्थन किया है । देखो हिन्दी विवेचन पृ० १७८ टि० १ ।

वर्तनापरिणामक्रिया पर-म० । वर्तनापरिणामक्रिया पर-रा० । ये तत्त्वको जी भ्रान्तिजन्य पाठान्तर मान्य होते हैं । क्योंकि दोनों श्रेणियों में इस सूत्र में समस्त पद होने की कोई सूचना नहीं की ।



## पञ्चमोऽध्यायः

✓अधीधकाया धर्माधमाकाशपुद्गला ॥१॥

द्रव्याणि जीवाश्च ॥२॥

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥३॥

रूपिण पुद्गला ॥४॥

श्रीकाशादेकरव्याणि ॥५॥

निष्क्रियाणि च ॥६॥

असकृत्स्येया प्रवेशा धर्माधर्मयो ॥७॥

१ 'स रा श्लो में इस एक सूत्र के स्थान में 'द्रव्याणि जीवाश्च' ऐसे दो सूत्र हैं । सिद्धसेन कहते हैं— 'कोई इस सूत्र को उपर्युक्त प्रकार के दो सूत्र बनाकर पढ़ते हैं सो ठीक नहीं' ।

बकबक के सामने भी किसीने सच्चा उठाई है— 'द्रव्याणि जीवाश्च ऐशा च' उचित एक सूत्र ही क्यों नहीं बनाते ?' विद्यालम्बका कहना है कि स्वप्न प्रतिपत्ति के लिये ही दो सूत्र बनाए हैं ।

२ सिद्धसेन कहते हैं— 'कोई इस सूत्र को तोड़ कर 'नित्यावस्थितानि' 'अकृपाणि' ऐसे दो सूत्र बनाते हैं । 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' ऐसा पाठान्तर भी वृत्ति में उन्होंने किया है । 'नित्यावस्थितान्यरूपीणि' ऐसा एक और भी पाठका विवेक उन्होंने किया है । 'कोई नित्यपद को अवस्थित का विवेचन समझते हैं ऐसा भी वे ही कहते हैं । इस सूत्र की व्याख्या के मतान्तरों के लिये सिद्धसेनीय वृत्ति देखनी चाहिए ।

३ ऐशा द्विती विवेचन प १६६ टि १ ।

४—धर्माधर्मकजीवानाम—स रा श्लो ।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥  
 द्वयधिक्रादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥  
 बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥  
 गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥ ३७ ॥  
 कालश्चेत्येके ॥ ३८ ॥  
 सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥  
 द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा ॥ ४० ॥  
 तद्भाव परिणाम ॥ ४१ ॥  
 अनादिरादिमांश्च ॥ ४२ ॥  
 रूपिष्वादिमान् ॥ ४३ ॥  
 योगोपयोगौ जीवेषु ॥ ४४ ॥

- 
- १ बन्धेधिकी पारिणामिकी स० श्लो० । रा० में सूत्र के अन्त में 'च अधिक है । अकलक ने 'समाधिकौ' पाठ का खण्डन किया है ।
- २ देखो हिन्दी विवेचन पृ २०९ टि० १ । कालश्च स० रा० श्लो० ।
- ३ ये अन्त के तीन सूत्र स० ग० श्लो० में नहीं । भाष्य के मत का खण्डन राजनार्तिककार ने किया है । विस्तार के लिये देखो हिन्दी विवेचन पृ० २१२ । टि० में इसके पहले 'मद्विविध' ऐसा सूत्र है ।

✓ स्पर्शरमग घवर्णवन्त पुद्गला ॥ २३ ॥

गुब्धबन्धसौस्म्यस्यौत्स्यसस्थानमेतमश्छायाठपोद्घो-  
तवन्तम् ॥ २४ ॥

अणव स्फुन्धाम् ॥ २५ ॥

संघातमेढेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

मेदादणु ॥ २७ ॥

मेदसघाताभ्यां चाक्षुषा ॥ २८ ॥

✓ उत्पौटभ्ययधौभ्ययुक्त सत् ॥ २९ ॥

तद्भावाभ्यय नित्यम् ॥ ३० ॥

✓ अर्पितानपितासिद्धे ॥ ३१ ॥

स्निग्धरूक्षत्वाहन्ध ॥ ३२ ॥

नै जघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥

१ भरतवासेभ्य उ-स रा लो ।

२ -चाक्षुष उ रा लो । सिद्धमेत इम सूत्र के अर्थ करने में नि-  
का मतमेव विज्ञाते है ।

३ इत सूत्र से पहिले से और लो में लक्ष्मणस्यैवम् ऐसा सूत्र ।  
मेदिनि रा में ऐसा अलग सूत्र नहीं । उनमें तो यह बात उत्पन्न में  
कही गई है । भाष्य में इतका ध्यान कथन है ।

४ इम सूत्र की व्याख्या में मतमेव है । हरिभद्र सब से निरुत्था ही  
लेते है । हरिभद्र ने जैसी व्याख्या की है वैसे ही व्याख्या का सिद्धमे-  
वतान्तर कथने निवेदन किया है ।

बन्ध की प्रक्रिया में भी नि के मतमेव के लिये देखा हिन्दी-विष-  
पृ २१ ।

- गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥  
 द्वयधिक्रादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥  
 बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥  
 गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥ ३७ ॥  
 कालश्चेत्येके ॥ ३८ ॥  
 सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥  
 द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा ॥ ४० ॥  
 तद्भाव परिणाम ॥ ४१ ॥  
 अनादिरादिमांश्च ॥ ४२ ॥  
 रूपिष्वादिमान् ॥ ४३ ॥  
 योगोपयोगौ जीवेषु ॥ ४४ ॥

- १ बन्धेधिकौ पारिणामिकौ म० श्लो० । रा० मे सूत्र के अन्त में 'च' अधिक है । अकलक ने 'समाधिकौ' पाठ का खण्डन किया है ।  
 २ देखो हिन्दी विवेचन पृ २०९ टि० १ । कालश्च स० रा० श्लो० ।  
 ३ ये अन्त के तीन सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं । भाष्य के मत का खण्डन राजनार्तिककार ने किया है । विस्तार के लिये देखो हिन्दी विवेचन पृ० २१२ । टि० में इसके पहले 'सद्विविध' ऐसा सूत्र है ।

## षष्ठोऽध्याय

कायनाह्मन कम योग ॥ १ ॥

न आस्रव ॥ २ ॥

शुभं पुण्यस्य ॥ ३ ॥

अशुभं पापस्य ॥ ४ ॥

सकृदायाकृपाययो साम्बरायिकेर्यापययो ॥ ५ ॥

अमृतकृपायेन्द्रियक्रियाः पञ्चतुःपञ्चपञ्चविंशति

सङ्ख्या पूर्वस्य मेदा ॥ ६ ॥

तीव्रमन्दहाताहातभार्वेवीर्पाधिकरणयिज्ञेपेभ्यस्त

द्विग्रेष ॥ ७ ॥

अधिकरण जीवाजीवा ॥ ८ ॥

१ देखो हिन्दी विवरण न २१५ टि १ ।

२ यह श्रुतकथ से हा न नहीं । लेकिन शेष पापम् गटा सुभ है । मि म अशुभ पापस्य सुभ रूप छ उपा है लेकिन टीका न मानम ही है कि यह भाष्यभाष्य है । तिष्ठमेग को भी शेष पापम् ही सुभ । न अमिमग मानुम रोता है ।

३ इन्द्रियकृपायाकृपाययोः— हा मि टि । म प सः । भाष्यमा पाठ म अत्रता ही पहला है । तिष्ठमेग सुभ की टोका करते है । इनके लक्षण इन्द्रिय— पाठ प्रथम है । किन्तु मृदके भाष्यके अत्र पाठ प्रथम है । तिष्ठमेग को सुभ और भाष्य की यह अर्थपति मान टूट है बार उग्रहोम नमकी पूर करने की शीघ्रता भी को है ।

४ -भाष्यविकरणवीर्पादितो-न प सः ।

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय-  
विशेषैस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥९॥

निर्वर्तनानिक्षेपसयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदा  
परम् ॥१०॥

तत्प्रदोपनिह्ववमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्श-  
नाभ्रणयोः ॥११॥

दु खशो कृतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्था-  
न्यसद्वेद्यस्य ॥१२॥

भूतव्रत्यनुकम्पा दान सरागसयमादि योगः क्षान्तिः  
शीघ्रमिति सद्वेद्यस्य ॥१३॥

केवलिश्रुतसङ्घर्षमदेवावर्णवादो दर्शनमोहम्य ॥१४॥

कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१५॥

वह्नारम्भपरिग्रहत्व च नारकास्यायुषः ॥१६॥

माया तैर्यग्योनस्य ॥१७॥

अल्परम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानु-  
षस्य ॥१८॥

१ भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसयमादियोग-म० रा० श्लो० ।

२ -तीव्रपरि० म० रा० श्लो० ।

३ -त्व नार-म० रा० श्लो० ।

४ इयके म्यातमें 'अल्परम्भपरिग्रहत्व मानुषम्य' और 'स्वभावमार्द-  
व च' ऐसे दो सूत्र दि० परपरा में हैं । एक ही सूत्र क्यों नहीं बनाया

निर्भ्रालिप्रसत्त्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

संरागसयमसयमासयमाक्रामनिर्जराशालतर्षाधि  
द्वैवस्य ॥२०॥\*

योगषक्रता विसबादन चाशुभस्य नास्त ॥२१॥

विर्भरीत शुभस्य ॥२२॥ २२

दर्शनविगुद्विर्धिनयसपक्षता क्षीरघ्नतेष्वनतिधरो  
ऽमीर्दृग् ध्यानोपयोगसवेगौ शक्तिस्तस्यागतपत्नी स्त्री  
साधुममाधिवैयास्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रबचनस  
क्तिगवश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवर्धनवत्सत्त्व  
मिति तीर्थकृत्स्वस्य ॥ २३ ॥

परास्मानिन्दाप्रक्षसे सतसद्वगुणोच्छादनोच्चावने च नीच  
गोत्रस्य ॥ २४ ॥

तद्विपर्ययो नीचवृत्त्यनुस्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २५ ॥

शिमकरणमन्तरायस्य ॥ २६ ॥

१ इत्यो हिन्दी विवेचन पृ २२७ टि १ ।

इत्या हिन्दी विवेचन पृ २२७ टि २ ।

\*-न क वाद गम्यत्वं च" वेमा नून टि में ई ।

३ तद्वि-स रा इत्यो ।

४ -भीमवजा-न रा इत्यो ।

५ -भी साधुसमाधिर्भ-स रा इत्यो ।

६ नीचंकरणस्य न रा इत्यो ।

७ -नृपोरथा-न । नृपवृत्ता रा इत्यो । न-नृ सप्त  
एकवचन १ ।

सप्तमोऽध्यायः

✓ हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतम् ॥ १ ॥

देशमर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥ ✓

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् ॥ ४ ॥

दुःखमेव वा ॥ ५ ॥

सैत्रप्रिमोदकारुण्यमाध्यस्थैर्यानि सत्त्वगुणाधिकच्छिश्य-  
मानाविनेयेषु ॥ ६ ॥

१ 'पञ्च पञ्चश' मि-वृ-पा०। अकलक के सामने 'पञ्चश' पाठ होने की आशंका की गई है। इस सूत्र के बाद 'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपण समित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्या-  
स्थानान्यनुवीचिभाषण च पञ्च ॥ ५ ॥ शून्यागारविमोचितावास-  
परोपरोधाकरणभंक्ष (क्षय-रा०) शुद्धिसद्धर्मा (सधर्मा-श्लो०) विसवादा  
पञ्च ॥ ६ ॥ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरोक्षणपूर्वरतानुस्मरण-  
बृष्येष्टरसस्वशरीरसस्कारत्यागा पञ्च ॥ ७ ॥ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय-  
विषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥ ऐसे पाँच सूत्र म० रा० श्लो०  
में हैं जिनका भाव इसी सूत्र के भाष्य में है।

२ -मुत्रापाया-म० ग० श्लो० ।

३ सिद्धमेतद् कहने है कि इसी सूत्र के 'व्याधिप्रतीकारत्वात् कङ्कपरि-  
गतस्वाच्छाब्रह्म' तथा 'परिग्रहेष्वप्राप्तप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ  
प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे वाऽवितृप्तिः' इन भाष्य वाक्यों को कोई दो  
सूत्र रूप मानते हैं।

४ -नाध्यस्थानि च स-स० रा० श्लो० ।



नगत्क्रायस्वमाधौ चं सधेगभैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥

प्रमत्तयारात् प्राणभ्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥ -

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥

अदत्तादानं स्तंभम् ॥ १० ॥

मैथुनमप्रक्ष ॥ ११ ॥

मूर्छां परिग्रहः ॥ १६ ॥

निःशरयो व्रती ॥ १३ ॥

अगार्यनगारथ ॥ १४ ॥

अणुव्रतोऽगारी ॥ १५ ॥

त्विग्देष्टानर्थदण्डविरतिसामायिकर्षाद्यधोपवासोपभागप

रिमोर्गपरिमाणाविधिसविभागव्रतसंपक्षर्भ ॥ १६ ॥

मारणान्तिर्कीं सलेखनां बोपिता ॥ १७ ॥

शङ्काकार्क्षाविचिकित्सान्पराष्टिप्रश्नमासस्तबा सम्पगष्टे

रतिधारा ॥ १८ ॥

प्रतशीलेषु पञ्च<sup>सम्प</sup>यथाक्रमम् ॥ १० ॥

१ - बी बाल-न रा वयो ।

७ - विष्टप्रोषधो-न ग व्या ।

१ - वरिमोवातिवि-जा । निजमेव बाल न जा दल गूढ का प्राप्य ही उगये भी वरिमाण वाट मही है । वया नु ९२ प १३ ।

८ - देवा हिंसा विवेचन नु ७९२ टि ३ ।

स-मेकत्रा न रा व्या ।

९ - वतीधारा वा नि ग व्या ।

वन्धवर्धच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२०॥

मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकृदलेखक्रियान्यासापहार-  
साकारमन्त्रभेदा ॥ २१ ॥

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहानाधिक-  
मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २२ ॥

परविवाहकरणेत्वरिपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्री-  
डातीव्रकामाभिनिवेशाः ॥ २३ ॥

क्षेत्रवास्तुद्विरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदामकुप्यप्रमाणाति-  
क्रमाः ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि ॥२५॥

—वधच्छेदाति—स० रा० श्लो० ।

—रहोभ्या—स० रा० श्लो० ।

—रणेत्वरिकापरि—स० रा० श्लो० ।

—डाकामतीव्राभि—स० रा० श्लो० ।

इस मूत्र के म्यान म कोइ—परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृही-  
तागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेश ( शा ) सूत्र मानते हैं,  
ऐसा सिद्धसेनका कहना है। यह सूत्र दिगम्बर पाठ से कुछ मिलता  
है। सपूर्ण नहीं। देखो ऊपर की टिप्पणी।

कुछ लोग इसी सूत्र का पदविच्छेद 'परविवाहकरणम् इत्वरिका-  
गमन परिगृहीतापरिगृहीतागमन अनङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेश'  
इस तरह करते हैं यह बात सिद्धसेन ने कही है। यह आक्षेप भी  
दिगम्बर व्याख्याओं पर है ऐसा मालूम नहीं होता। इस प्रकार  
पदच्छेद करने वाला 'इत्वरिका' पद का जो अर्थ करता है वह भी  
सिद्धसेन को मान्य नहीं।

स्मृत्यन्तराधानानि न० रा० श्लो० ।

शानयेन प्रेष्यमयोगश्च रूपानुपासपुद्गलक्षेपा ॥ २६ ॥

कन्दपकौत्सैष्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणीपमोर्गाधिक  
त्वानि ॥ २७ ॥

योगदुष्प्रणिधानान्नादरस्मृत्यनुपस्थोपनानि ॥ २८ ॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोस्मर्गदाननिधेयंस्वारोपक्रम  
जानादरस्मृत्पुन्युपस्थापनानि ॥ २९ ॥

मधिससुबद्धसमिधामिपवदुष्पकाहाग ॥ ३० ॥

असिचनिधेयपिधानपरव्यदुष्मरसयकालातिक्रमा ३१

जीवितमरणाद्यमाभिशानुगममुखाजुषघनिदानं  
करणानि ॥ ३२ ॥

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिमर्गो ज्ञानम् ॥ ३३ ॥

विधिद्रव्यदाठपात्रविशेषात् तद्विशेषः ॥ ३४ ॥

- १ विष्ठी क मत न आनायन पाठ है तैसा विजयेन करने है ।  
पुद्गलक्षेपा जा हा । हा बुद्धि में ना पुद्गलक्षेपा ही  
पाठ है । सि-सु म बुद्ध्यनप्रसंग यतीक है ।
- २ -कौतुभ्य- जा हा ।
- ४ -अरुणोपमीपपरिशीपानमर्षव्यादि म न एतो ।  
स्वयन्मुपस्थानानि म न एतो ।  
अप्रत्यवेक्षि- हा ।  
दानमस्मरतो- म हा एतो ।
- ८ -अनामनरक्षानानि- म न एता ।  
-अग्रभ्य- म न एता ।  
७टि म एत मूक मर्गी है ।  
-धेवादिधाम- म न एतो ।
- ११ विशानानि म न एता ।

## अष्टमोऽध्यायः

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते ॥ २ ॥

स बन्ध ॥ ३ ॥

प्रकृतिस्थित्यनुभोगप्रदेशास्तद्विधय ॥ ४ ॥

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रा-  
न्तराया ॥ ५ ॥

पञ्चनवव्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथा-  
क्रमम् ॥ ६ ॥

मत्स्यादीनाम् ॥ ७ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाना निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला-  
प्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ॥ ८ ॥

-दत्ते स बन्ध ॥ २ ॥ म० रा० श्लो० ।

-त्यनुभव- स० रा० श्लो० ।

-नीयायुर्नाम- म० ग० श्लो० ।

-भेदो- रा० ।

मतिश्रुतावधिमत पर्ययकेवलानाम् स० ग० श्लो० । किन्तु यह पाठ निद्रमेन को अपार्थक्य मालूम होता है । अरुलङ्क और विद्यानन्द श्वे० परंपरा समत लघुपाठ की अपेक्षा उपर्युक्त पाठ को ही ठीक समझते हैं ।

-स्त्यानद्वि- सि० । सि-भा० का पाठ 'स्त्यानगृद्धि' माहूम होता है क्योंकि सिद्धमेन कहने हैं कि- स्त्यानद्विरिति वा पाठ ।

-स्त्यानगृद्धयश्च म० ग० श्लो० । सिद्धमेन ने वेदनीय पद का सम-  
र्पण किया है ।

मदमद्रुचे ॥ ० ॥

दर्शनधारित्रमोहनीयकपायनोकपायवेदनीयास्मास्त्रि  
द्विपोढस्रनषमेदा सम्यक्त्वमिध्यात्वसद्रुमयानि क्वा-  
यनोकपायावनन्तानुबन्धप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानारण  
सञ्चलनभिकल्पाश्वकश्च श्रोत्रमानमायालोमा हास्य  
स्त्परतिशोकमयजुगुप्सास्त्रीपुनीपुसकवेदा ॥ १० ॥  
नारकवैर्यग्योनमानुषदेवानि ॥ ११ ॥

गतिवातिशरीराङ्गोपाङ्गनिमाणबन्धनसङ्घातसम्भानसह  
न्नस्पश्वरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपो  
दुष्योतोच्छ्वासाविहायोगतय प्रत्येकशरीरत्रमसुमगसुस्व  
रष्टुमसूस्मपयांसस्थिरादेपयर्श्वीभि सेतराणि तीर्षिकृत्व  
च ॥१२॥

१ दर्शनधारित्रमोहनीयकपायनोकपायवेदनीयास्मास्त्रिद्विपोढस्रनषमेदा  
सम्यक्त्वमिध्यात्वसद्रुमयानि क्वायनोकपायावनन्तानुबन्धप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानारण  
सञ्चलनभिकल्पाश्वकश्च श्रोत्रमानमायालोमा हास्यस्त्परतिशोकमयजुगुप्सा-  
स्त्रीपुप्रपतकवेदा अनन्तानुबन्धप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानतत्त्वबन्धनभिकल्पान्तर्-  
का श्रोत्रमानमायालोमा—म रा क्वा ।

२ किसी को यह इतना ज्यादा सुन नहीं आता उसका पूर्वार्ध ने का  
जवाब दिया है वही मित्रसेन उद्धृत करते हैं—

दुष्प्राप्यागो मरीयात्त्रिमोहो ममति बन्धन ।

म तत्र कावचाधिष्ठ सुप्रकारेण दुर्भणम् ।

३ —नुपूर्वाणु—स रा लो । ति—यु में 'आनुपूर्व' पाठ है । अत्र  
क मत्र के मित्रसेन ने 'अनुपूर्वी' पाठ बताया है । वानों के मत्र के नून  
का निम्न निम्न आकार कैसा होगा यह भी उन्होंने दिखाया है ।

—वेपथस्त्री(स की)तिनेतराणि तीर्षिकरत्न, — ए स

उच्चैर्नाचैश्च ॥ १३ ॥

दानादीनाम् ॥ १४ ॥

आदितस्त्रिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटी-  
कोट्यः परा स्थितिः ॥ १५ ॥

मसतिर्मोहनीयस्य ॥ १६ ॥

नामगोत्रयोर्विंशतिः ॥ १७ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्वायुष्कस्य ॥ १८ ॥

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १९ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ २० ॥

शेषाणामन्तमुहूर्तम् ॥ २१ ॥

विपाकोऽनुभाव ॥ २२ ॥

स यथानाम ॥ २३ ॥

ततश्च निर्जरा ॥ २४ ॥

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सृष्टमैकक्षेत्रावगाढ-  
स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २५ ॥

संद्वेद्यमभ्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि  
पुण्यम् ॥ २६ ॥

वानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् स० रा० श्लो० ।

विंशतिनामगोत्रयो स० रा० श्लो० ।

-ण्वायुष स० रा० श्लो० । ४ -मुहूर्ता म० रा० श्लो० ।

-नुभव स० रा० श्लो० । ६ -वगाहस्थि- म० रा० श्लो० ।

देवो हिन्दी विवेचन पृ० २९८ टि० १ । इसके स्थान में स० न०  
श्लो० में दो सूत्र हैं- "संद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।" "अनोऽन्यत्  
पम् ।" यह दूसरा सूत्र भाष्य-वाक्यम् में अन्य टीकाकारों में माना है ।

## नवमोऽध्याय

आस्रवनिरोध सधरं ॥ १ ॥

स गुप्तिसमितिषर्मानुप्रेक्षापरीपहजयचारित्र्ये ॥ २ ॥

तपसा निर्धरा च ॥ ३ ॥

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति ॥ ४ ॥

श्यामायैपणादाननिषेपोत्सर्गा समित्तप ॥ ५ ॥

उत्तमं क्षमामार्दवार्षषष्ठीचसत्यसयमतपस्स्यागाक्रिञ्च  
यद्ब्रह्मचर्याणि धर्म ॥ ६ ॥

अनित्याश्रयणसत्तारैकत्वा यत्वाश्रुचित्वास्त्रवसधरनिर्जरा  
लाकषाधिदुलंभधर्मस्वाध्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा ॥ ७ ॥

मार्गाभ्यवननिर्जरार्थं परिसोढेभ्या परीपहा ॥ ८ ॥

भुत्विपासाशीतोष्णदध्ममक्षकनाग्न्यारविस्त्रीचर्यानिपया  
शय्याक्रोशवधयाक्षनाऽऽरामरोगठणस्पर्धमत्तसरकारपुर  
स्कारप्रज्ञाज्ञानोदृष्टानानि ॥ ९ ॥

१ उत्तमं- न रा श्मी ।

२ -गुप्त्यात्यय- स रा श्मी ।

३ अचरे पठन्ति अनुप्रेक्षा इति अनुप्रेक्षितव्या इत्यर्थः । अचरे अनुप्रेक्षा  
अप्यनैकवचनान्तमपीयते- ति- वृ ।

४ श्यामा शिभो विवेक्य ७० ३१ टि १ ।

५ -प्रमाणानाम्यवत्त्वादि हा । ११-मा मे तां अचरेण पाठ माभू  
होता १ ।

सूक्ष्मसंपरायच्छब्दस्थवीतगागयोञ्चतुर्दश ॥ १० ॥

एकादशं जिने ॥ ११ ॥

त्रौदरसंपरायं सर्वे ॥ १२ ॥

ज्ञानावरणे प्रजाज्ञाने ॥ १३ ॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिपद्याक्रोशयाचनामत्कार-

पुरस्काराः ॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

एकादशो भाज्या युगपदैकोनविंशते. ॥ १७ ॥

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यैपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराय

यथाख्यातानि चारित्रम् ॥ १८ ॥

-साम्पराय-स० रा० श्लो० ।

देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३१५ टि० १ ।

देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३१५ टि० २ ।

-वेकान्नविंशते हा० । -युगपदेकस्मिन्नकान्नविंशते म० । युगपदेक  
स्मिन्नेकोनविंशते रा० श्लो० । लेकिन दोनों वार्तिकों में स० जैमि-  
ही पाठ है ।

-पस्थापनापरि- स० रा० श्लो० ।

सूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चा० स० रा० श्लो० । राजवार्तिक-  
कार को यथाख्यात पाठ इष्ट मालूम होता है क्योंकि उन्होंने यथा-  
ख्यात को विकल्प में रक्खा है । सिद्धसेन को भी यथाख्यात पाठ  
इष्ट है । देखो पृ० २३५ प० १८ ।

केचित् विच्छिन्नपदमेव सूत्रमधीयते-मिद्धसेन वक्ति ।



अनश्नानात्रमीर्दर्यवाप्तिपरिस्रष्ट्यानरसपरिस्पागाविषिक  
 श्रुत्यामनकायहृश्या वाद्य तप ॥ १९ ॥

प्रायश्चित्तविनयत्रयावृष्यस्वाध्यायष्युत्सर्गध्यानान्यु  
 त्तम् ॥ २० ॥

नवधतुर्दशपञ्चद्विभेद यथाक्रम प्राग्ध्यानान् ॥ २१ ॥  
 भ्रातृचनप्रतिक्रमणतदुभयाविवेकव्युत्सर्गतपदछेदपरि  
 हागवस्थापनाने ॥ २२ ॥

प्रानर्शनचोत्तिश्रोपचारा ॥ २३ ॥

भ्रातृचार्योपाध्यायतपस्विशौर्षकमलानगणकृत्तसङ्घ्याधुर्म  
 मनाक्षानाम् ॥ २४ ॥

पाचनाप्रच्छन्नानुप्रेषाम्नायधर्मोपदेष्टा ॥ २५ ॥

शाह्याम्पन्तरापच्यो ॥ २६ ॥

उत्तममहननर्ह्यफाप्रचिन्तानिरोधा ध्यानम् ॥ २७ ॥

परं माक्षहेतू ॥ ३० ॥

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाद्य स्मृतिसम-  
न्वाहारः ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

विपरीत मनोज्ञानाम् ॥ ३३ ॥

निदानं च ॥ ३४ ॥

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसयतानाम् ॥ ३५ ॥

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविर-  
तयो ॥ ३६ ॥

आज्ञाऽपायविपाकसस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसय-  
तस्य ॥ ३७ ॥

-नोजस्य स० रा० श्लो० ।

इम सूत्र को स० रा० श्लो० में 'विपरीत मनोज्ञानाम्' के बाद रखा है  
अर्थात् उनके मत में यह ध्यान का द्वितीय नहीं, तृतीय भेद है ।

मनोजस्य स० रा० श्लो० ।

-चयाय धर्ममप्र-हा० । -चयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥ स० रा०  
श्लो० । दिगम्बर सूत्रपाठ में स्वामी का विधान करने वाला 'अप्र-  
मत्तसयतस्य' अक्ष नहीं है । इतना ही नहीं, बल्कि इम सूत्र के बाद  
का 'उपशान्तक्षीण-' यह सूत्र भी नहीं है । स्वामी का विधान मूर्ध्नि-  
सिद्धि में है । इस विधान को लक्ष में रखकर अकल्क ने श्वे०  
परंपरा समत सूत्रपाठ विषयक स्वामी का जो विधान है उसका ग्वण्डन  
भी किया है । उन्नी का अनुगमन विद्यानन्द ने भी किया है, देखो

उपशान्तधीणकपाययोश्च ॥ ३८ ॥

शुक्ले घाये पूर्वविदेः ॥ ३९ ॥

परे केवलिनः ॥ ४० ॥

पयस्त्वं कृत्वदितर्कगूहमक्रियाप्रतिपासिभ्युपरतक्रिया-  
निर्भूतानि ॥ ४१ ॥

तत्त्र्यैककाययोगायोगानाम् ॥ ४२ ॥

एकाभये सवितर्के पूर्वे ॥ ४३ ॥

अविचार द्वितीयम् ॥ ४४ ॥

वितर्क भुतम् ॥ ४५ ॥

विचारोऽर्ब्यजनयोगसकान्ति ॥ ४६ ॥

सम्यग्दृष्टिभावकविरतानन्तवियोजकजनमोहक्षपकोप  
क्षमकोपशान्तमोहक्षपकधीणमोहविना क्रमज्ञोऽ  
कृत्येयगुणनिर्जरा ॥ ४७ ॥

१. वेको द्विती विवेचन प ३३ टि १। पूर्वविदः यह अर्थ मा-  
हा मे न ठो इस सूत्र के अर्थ रूप से लिया है और न अक्षय सूत्र  
रूप में। सि में अक्षय सूत्र रूप से लिया है लेकिन टीकाकार इसको  
निश्च नहीं मानता। वि टीकाओं में इसी सूत्रके अर्थरूप से लिया है।
२. 'निर्भूतानि' हा मि। मू रा एको। स श्री प्रत्यन्तरका पाठ  
निर्भूतानि भी है।
३. 'तत्' स रा एको से नहीं।
४. -तर्कविचारै पूर्वे स-। -तर्कविचारै पूर्वे स एको।
- संपादन को श्रांति है यह सूत्र सि में अक्षय नहीं करा है। स  
और एको में अक्षयकारण पाठ है।

पुलाकषकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४८ ॥  
संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्प-  
तः साध्याः ॥ ४९ ॥

### दशमोऽध्यायः

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् ॥ २ ॥

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष ॥ ३ ॥

औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्व-  
ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ॥ ५ ॥

पूर्वप्रयोगादमङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च  
तद्गति ॥ ६ ॥

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानाव-  
गाहनान्तरङ्ख्याल्पबहुत्वत साध्या ॥ ७ ॥

-लेश्योपपादस्था -न० रा० श्लो० ।

-भ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ॥ २ ॥ स० २० श्लो० ।

इसके स्थान में स० रा० श्लो० में 'औपशमिकादिभव्यत्वानां च'  
और 'अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य' ऐसे दो सूत्र हैं ।

'तद्गति' पद स० रा० श्लो० में नहीं है और इस सूत्र के वाद 'आ-  
धिद्विकुलालक्षकवद्व्यपगतलेपालाबुधदेरण्धवीजवदग्निशिखावच्च' और  
'धर्मास्तिकायाऽभावात्' ऐसे दो सूत्र और हैं जिनका मतलब भाष्य  
में ही आ जाता है । टि० में इसके वाद "धर्मास्तिकायाभावात्"



# तत्त्वार्थसूत्र-विवेचन

का

विषयानुक्रम

पहला अध्याय

विषय

प्रतिपाद्य विषय

- मोक्ष का स्वरूप
- साधनों का स्वरूप
- साधनों का साहचर्य
- साहचर्य नियम

सम्यग्दर्शन का लक्षण

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से पृथक्करण

सम्यक्त्व के लक्षण

हेतुभेद

उत्पत्तिक्रम

तात्त्विक अर्थों का नाम निर्देश

निक्षेपों का नाम निर्देश

तत्त्वों के जानने के उपाय

नय और प्रमाण का अन्तर

तत्त्वों के विस्तृत ज्ञान के लिए कुछ विचारणाद्वारों का निर्देश

सम्यग्ज्ञान के भेद

विषय	पृष्ठ
प्रमाणबन्धा	१८
प्रमाण विभाग	१८
प्रमाण सभ्य	१८
मतिज्ञान के एकवर्णक क्षण	१९
मतिज्ञान का स्वरूप	२
मतिज्ञान के भेद	२१
अवग्रह आदि उक्त चारों भेदों के अन्त	२१
अवग्रह आदि के भेद	२१
सामान्य रूप से अवग्रह आदि का विषय	२१
इन्द्रियों की ज्ञानजनन पद्धति संबन्धी भिन्नता के कारण	
अवग्रह के अवान्तर भेद	२८
व्याप्त	२
सुतज्ञान का स्वरूप और उसके भेद	३४
अवधिज्ञान का प्रकार और उसके स्वामी	३८
मन-पर्याय के भेद और उनका अन्तर	४२
अवधि और मन-पर्याय का अन्तर	४३
पँचों ज्ञानों के प्राज्ञ विषय	४४
एक आत्मा में एक साथ पाये जानेवाले ज्ञानों का वर्णन	४४
विपर्ययज्ञान का निर्धारण और विषयवत्ता के हेतु	४८
नय के भेद	५१
भयों का नियमन का भाव क्या है ?	५१
नवकाह की बेसना आसना कर्मों और उचित	
विद्येता केसे ?	५२
उत्तमार्थ कथना	५५

विषय	पृष्ठ
प्रियोप भेदों का स्वरूप	५६
नैगमन	५७
सप्रदान	५८
व्यवहारनय	५९
कञ्जसूत्रनय	६१
शब्दनय	६३
समभिरुद्धनय	६३
ध्वभूतनय	६४
शेष वक्तव्य	

दूसरा अध्याय

भाव, उनके भेद और उदाहरण	६७
भावों का स्वरूप	६९
अपेक्षमिक भाव के भेद	७१
श्रायिक भाव के भेद	७१
अभ्योषशमिकभाव के भेद	७१
औदायिकभाव के भेद	७२
पारिणामिकभाव के भेद	७२
जीव का लक्षण	७३
व्ययोग की विधिधता	७५
जीवराशि के विभाग	७७
समाधि जीव के भेद-प्रमेद	७८
उनके भेद-प्रमेद और नामनिर्देश	८०



## विषय

इन्द्रियों के नाम

इन्द्रियों के ज्ञेय अथवा विषय

इन्द्रियों के स्वामी

अन्तराल गति संबन्धी विशेष जानकारी के लिए याग

आदि पौंच बातों का वर्णन

अन्तराल संबन्धी पौंच बातों का वर्णन

योग

गति का नियम

गति का प्रकार

गति का अङ्गमान

अनाहार का अङ्गमान

जन्म और योनि के भेद तथा उनके स्वामी

जन्म भेद

योनि भेद

जन्म के स्वामी

शरीरों के सम्बन्ध में वर्णन

शरीर के प्रकार और उनकी स्वास्त्वा

स्वस्त्व-सम्बन्ध

आरम्भक-उपादान इन्ध का परिमाण

अन्तिम दो शरीरों का सम्बन्ध कालमर्षाद्य

आर स्वामी

स्वभाव

आत्मवर्षाद्य

स्वामी

एक साथ जन्म शरीरों की संख्या

विषय	पृष्ठ
प्रयोजन	१०७
जन्मसिद्धता और कृत्रिमता	१०९
वेद-लिंग विभाग	१११
विभाग	११२
विकार की तर्कमता	११२
यु के प्रकार और उनके स्वामी	११२
अधिकारी	११४

### तीसरा अध्याय

नारकों का वर्णन	११७
भूमियों में नरकावासों की संख्या	१२२
लेश्या	१२२
पणिणाम	१२३
शरीर	१२३
वेदना	१२३
विक्रिया	१२५
नारकों की स्थिति	१२५
गति	१२६
आगति	१२६
द्वीप, समुद्र आदि का समव	१२७
मध्यलोक का वर्णन	१२८
द्वीप और समुद्र	१२९
व्यास	१२९

## विषय

रचना

आकृति

अग्नीष, उसके धर्मों और प्रधान पदार्थों का वर्णन

सावर्णिक और पुष्पकपर्व

मनुष्यजाति का स्थितिचित्र और प्रकार

कर्मकारियों का निर्णय

मनुष्य और विद्वान् की स्थिति

## चौथा अध्याय

देवों का प्रकार

हींसरे निकाय की छेश्या

चार निकायों के मेरु

चतुर्निकायके अन्तर मेरु

इन्द्रों की संख्या का नियम

पृथ्वी निकायों में छेश्या

देवों के अस्त्रों का वर्णन

चतुर्निकाय देवों के पूर्वोक्त देवों का वर्णन

दशविध भक्तपति

अन्तर्गो के मेरु प्रमेरु

पञ्चविध ज्योतिष्क

परज्योतिष्क

अध्विभाग

स्विरभ्यातिष्क

वैमानिक देव



## विषय

वैमानिकों की अधन्य स्थिति  
 नारकों की अधन्य स्थिति  
 मयनपतियों की अधन्य स्थिति  
 ध्वन्तरो की स्थिति  
 ज्योतिषों की स्थिति

## पाँचवाँ अध्याय

अश्वीव के भेद  
 मूढ द्रव्यों का कथन  
 मूढ द्रव्यों का साधन्य और वैधन्य  
 प्रदेशों की संख्या का विचार  
 द्रव्यों के स्थिति क्षेत्र का विचार  
 कार्य द्वारा धर्म अधर्म और व्याकास के लक्षणों का कथन  
 कार्य द्वारा पुद्गल का लक्षण  
 कार्य द्वारा जीव का लक्षण  
 कार्य द्वारा काल का लक्षण  
 पुद्गल के असाधारण पर्याय  
 पुद्गल के मुख्य प्रकार  
 अनुक्रम से स्कन्ध और अणु की उत्पत्ति के कारण  
 अवाप्तुप स्कन्ध के वाप्तुप बनने में हेतु  
 सग्न की व्याख्या  
 विरोध का परिहार और परिणामिमित्यत्व का स्वरूप  
 व्याप्ताम्भर से पूर्वोक्त सग्न के मित्रत्व का बणन



## विषय

वैमानिकों की सधन्य स्थिति  
 नारकों की सधन्य स्थिति  
 सधनपतियों की सधन्य स्थिति  
 व्यन्त्रों की स्थिति  
 व्याधिष्ठी की स्थिति

## पाँचवाँ अध्याय

जीव के मेद  
 मूत्र द्रव्यों का कथन  
 मूत्र द्रव्यों का सामर्थ्य और वैधर्म्य  
 पदार्थों की सत्त्वा का विचार  
 द्रव्यों के स्थिति क्षेत्र का विचार  
 कार्य द्वारा धर्म अधर्म और आकाश के कण्डुओं का कथन  
 कार्य द्वारा पुरुगण्ड का कथन  
 कार्य द्वारा जीव का कथन  
 कार्य द्वारा काष्ठ का कथन  
 पुरुष के असाधारण पक्षीय  
 पुरुष के मुख्य प्रकार  
 अमुष्म स स्तम्भ और अणु की उत्पत्ति के कारण  
 अबाधुप स्तम्भ के बाधुप बनने में सन्  
 सन् की व्याख्या  
 विरोध का परिहार और परिणामिनिवन्ध का स्वरूप  
 व्याख्यामय से पूर्वोक्त सन् के निवृत्त का कथन

विषय	पृष्ठ
चोरी का स्वरूप	२५६
अन्नह्न का स्वरूप	२५६
परिग्रह का स्वरूप	२७७
ग्रथार्थरूप में व्रती बनने की प्राथमिक योग्यता	२५९
व्रती के भेद	२६०
अगारी व्रती का वर्णन	२६१
पाँच अणुव्रत	२६३
तीन गुणव्रत	२६३
चार शिक्षाव्रत	२६४
सम्यग्दर्शन के अतिचार	२६६
व्रत और शील के अतिचारों की संख्या और अनुक्रम से उनका वर्णन	२६७
अहिंसाव्रत के अतिचार	२७१
मन्यव्रत के अतिचार	२७१
अस्तेय व्रत के अतिचार	२७२
ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार	२७३
अपरिग्रह व्रत के अतिचार	२७३
दिग्विरमण व्रत के अतिचार	२७३
देशावसाशिक व्रत के अतिचार	२७४
अनर्थदंड विरमण व्रत के अतिचार	२७४
सामायिक व्रत के अतिचार	२७४
पाँपघ व्रत के अतिचार	२७५
भोगोपभोग व्रत के अतिचार	२७५
अतिथिमविभाग व्रत के अतिचार	२७६



## विषय

नरमेवना व्रत के अतिथार

दान का वर्णन

विधि की विद्यपता

इष्य की विद्येयता

दाता की विद्यपता

प्राप्त की विद्येयता

---

 आठवाँ अध्याय

बन्धहेतुओं का निर्देश

षडहेतुओं की व्याख्या

मिथ्यात्व

अधिरति प्रसार

क्याय योग

बन्ध का स्वरूप

बन्ध के प्रकार

मूलप्रकृति भेदों का नामनिर्देश

उत्तरप्रकृति भेदों की समस्या और नामनिर्देश

शानावरणकर्म की पॉष और उद्यनापरम की  
नव प्रकृतियों

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ

एर्षनमोहनीय की तीन प्रकृतियों

आदिप्रमोहनीय के पचीस प्रकार

शोभह क्याय

११ नोचराय



## विषय

अनिष्ठानुपेक्षा  
 अपरिणानुपेक्षा  
 संसारानुपेक्षा  
 एकरथानुपेक्षा  
 अन्यत्वनुपेक्षा  
 अशुभित्वानुपेक्षा  
 भास्यमानुपेक्षा  
 सत्त्वानुपेक्षा  
 निर्जन्मानुपेक्षा  
 लोकांनुपेक्षा  
 बोधितुर्लभ्यत्वनुपेक्षा  
 धर्मत्वाभ्यासत्वनुपेक्षा

## परीपरी का वर्णन

कथन

संज्ञा

मन्वितापी मेद स विमग

कारणों का निर्देश

एक मास एक जीव में सम्भव्य परीपरों की संज्ञा

## चारित्र के मेद

नास्त्विक चारित्र

उदात्तपापन चारित्र

परिहासविशुद्धि चारित्र

## मप का वर्णन

मप का



विषय	पृष्ठ
अनिश्चानुमेधा	१ ७
अपरमानुमेधा	१ ७
संतानुमेधा	२ ८
एकमानुमेधा	२ ८
अधिकमानुमेधा	२ ८
द्व्यनुमेधा-मानुमेधा	२ ८
आसमानुमेधा	२ ९
संयुक्तानुमेधा	२ ९
निरूपणानुमेधा	२ ९
स्वीकृतानुमेधा	२
बीधितुल्यमानुमेधा	२१
संस्थापकानुमेधा	२१
परीक्षों का वर्णन	२१
अर्थ	२१२
संख्या	२१२
अभिप्रेत मेद से विभाग	२१४
कारणों का निर्देश	२१५
एक माप एक जीव में समान्य परीक्षों की संख्या	२१५
वारिस के मेद	२१५
नामिक वारिस	२१७
उदात्तवारिस वारिस	२१७
परिहासितवर्तिका वारिस	२१७
मृत्यु का अर्थ	२१८
अर्थ	२१९

॥ अहं ॥

आचार्य उमास्वाति प्रणीत-

# ॥ तत्त्वार्थ सूत्र ॥

विवेचन सहित

## पहला अध्याय

(प्राणी अनन्त हैं और सभी सुख चाहते हैं। यद्यपि सुख की कल्पना सब की एक-सी नहीं है, तथापि विकास की न्यूनताधिकता या कमी-बेशी के अनुसार सक्षेप में प्राणियों के और उनके सुख के दो प्रतिपाद्य विषय वर्ग किये जा सकते हैं। पहले वर्ग में अल्प विकासवाले ऐसे प्राणी संमिलित हैं जिनके सुख की कल्पना बाह्य साधनों तक ही है। दूसरे वर्ग में अधिक विकासवाले ऐसे प्राणी आते हैं, जो बाह्य अर्थात् भौतिक साधनों की सम्पत्ति में सुख न मानकर सिर्फ आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति में ही सुख मानते हैं। दोनों वर्ग के माने हुए सुख में अन्तर यही है कि पहला सुख पराधीन है और दूसरा स्वाधीन। पराधीन सुख को काम और स्वाधीन सुख को मोक्ष कहते हैं। काम और मोक्ष—दो ही पुरुषार्थ हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त और कोई वस्तु प्राणिवर्ग के लिए मुख्य साध्य नहीं है। पुरुषार्थों में अर्थ और धर्म की जो गिनती है वह मुख्य साध्यरूप से नहीं किन्तु काम और मोक्ष के साधन रूप से। अर्थ ही काम का और धर्म ही मोक्ष का प्रधान साधन है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य

२५	सस्पृश्यत्वों की कर्तृनिर्माणा का सरतममाव निर्मम्य के भेद	पृष्ठ ३३५ ३३७
	आठ बातों द्वारा निमग्नियों की विशेष विचारणा	३३८
	तवम	३३८
	भुव	३३८
	प्रतिषेधना (विराचना)	३३९
	तीर्थ (घासन)	३३९
	विह्व	३३९
	धेरवा	३४
	उपपात (उत्पत्ति स्थान)	३४
	स्थान (संयम के स्थान-प्रकार)	३४

### दसवाँ अध्याय

कैवल्य की उत्पत्ति के हेतु	३४९
कर्म के वाचनिक रूप के कारण और मोक्ष का स्वरूप	३४७
अन्य कारणों का कथन	३४३
मुक्तभाव का मोक्ष के बाद ही प्राप्त होने वाला कार्य	३४४
सिध्यमान गति के हेतु	३४५
चारह बातों द्वारा सिद्धों की विशेष विचारणा	३४६

१म-१ाट-गति-सिद्ध-तीर्थ-व्यारिण-मक्षेक बुद्धबोधित-

ज्ञान-भवगाहना-भ-त-सकपा-अप्यवदुव- ३४७-३५

निवृत्ति से जो स्वरूप-रमण होता है वही सम्यक्चारित्र है ।

उक्त तीनों साधन जब परिपूर्ण रूप में प्राप्त होते हैं तभी सम्पूर्ण मोक्ष सम्भव है अन्यथा नहीं । जबतक एक भी साधन अपूर्ण रहेगा तब तक परिपूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता । उदाहरणार्थ—सम्यग्दर्शन साधनों का साहचर्य और सम्यग्ज्ञान के परिपूर्ण रूप में प्राप्त हो जाने पर भी सम्यक्चारित्र की अपूर्णता के कारण ही तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण मोक्ष अर्थात् अशरीर-सिद्धि या विदेह-मुक्ति नहीं होती और चौदहवें गुणस्थान में शैलेशी<sup>३</sup>-अवस्था रूप परिपूर्ण चारित्र प्राप्त होते ही तीनों साधनों की परिपूर्णता के बल से पूर्ण मोक्ष हो जाता है ।

उक्त तीनों साधनों में से पहले दो अर्थात् सम्यग्दर्शन-साहचर्य नियम और सम्यग्ज्ञान अवश्य सहचारी होते हैं ।

१ हिंसादि दोषों का त्याग और अहिंसादि महाव्रतों का अनुष्ठान सम्यक्चारित्र कहलाता है । यह इसलिए कि उसके द्वारा रागद्वेष की निवृत्ति की जाती है, एव रागद्वेष की निवृत्ति से दोषों का त्याग और महाव्रतों का पालन स्वतः सिद्ध होता है ।

२ यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में वीतरागभाव रूप चारित्र तो पूर्ण ही है तथापि यहाँ जो अपूर्णता कही गई है वह वीतरागता और अयोगता—इन दोनों को पूर्ण चारित्र मानकर ही । ऐसा पूर्ण चारित्र चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है और तुरन्त ही अशरीर-सिद्धि होती है ।

३ आत्मा को एक ऐसी अवस्था, जिसमें ध्यान की पराकाष्ठा के कारण मेरुसदृश निष्प्रकम्पता व निश्चलता आती है वही शैलेशी अवस्था है । विशेष खुलासे के लिए देखो—हिन्दी 'दूसरा कर्मग्रन्थ' पृष्ठ ३० ।

४ एक ऐसा भी पक्ष है जो दर्शने और ज्ञान के अवश्यभावी साहचर्य को न मानकर वैकल्पिक साहचर्य को मानता है । उसके मतानुसार कभी



प्रतिपाद्य किये मोक्ष है। इसलिए उसीके साधनभूत धर्म को तीन विभाग में विभक्त करके व्याख्यान पहले सूत्र में उनका निर्देश करते हैं—

### ✓सम्यग्दर्शनसम्मानधारिश्राणि मोक्षमार्गः । १ ।

सम्यग्दर्शन सम्मान और सम्यक्धारिण—ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं ।

इस सूत्र में मोक्ष के साधनों का नाम निर्देश मात्र है। यद्यपि उनका स्वरूप और उनके भेद आगे विस्तार से कहे जानेवाले हैं तथापि यहाँ संक्षेप में स्वरूपमात्र लिख दिया गया है।

बन्ध और बाध के कारणों का अन्तर्द्वार होकर परिपूर्ण आत्मिक विकास का नाम मोक्ष है। अर्थात् ज्ञान और वीतरम्यभाव की पराक्रमा ही मोक्ष है।

किस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्त्व अर्थात् सत्य की प्रतीति हो अथवा जिससे देव—छीन्ने योग्य उपादेय—मरण योग्य तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिवृत्ति हो—वह सम्यग्दर्शन है। नैय और साधनों का स्वरूप प्रमाण से होनेवाला जीव आदि तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्मान है। सम्मानपूर्वक कायादिक मात्र अर्थात् रागादौ और शोक की

१ जो ज्ञान शब्द में उपाय जाता है अर्थात् जिसमें उद्देश्य और विधेय रूप से वस्तु माहित होती है वह ज्ञान 'मय' है और जिसमें उद्देश्य विधेय के विभाग के बिना ही अर्थात् अभिभक्त वस्तु का संपूर्ण या अतसंपूर्ण यथार्थ मान हो वह ज्ञान 'प्रमाण' है। विशेष्य लुप्तते के लिए देखो अध्याय १ सूत्र ६; तथा व्याख्यान अर्थः १९-२० का गुणवाची अनुवाद।

२ मानसिक धार्मिक और कर्मिक क्रिया को भीय कहते हैं।

उत्तर—साधक-अवस्था की अपेक्षा से मोक्ष और रत्नत्रय का साध्य-साधनभाव कहा गया है, सिद्ध-अवस्था की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि साधक का साध्य परिपूर्ण दर्शनादि रत्नत्रय रूप मोक्ष होता है और उसकी प्राप्ति रत्नत्रय के क्रमिक विकास से ही होती है। यह शाल्त्र साधक के लिए है, सिद्ध के लिए नहीं। अतः इसमें साधक के लिए उपयोगी साध्य-साधन के भेद का ही कथन है।

प्रश्न—संसार में तो धन-कलत्र-पुत्रादि साधनों से सुख-प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, फिर उसे छोड़कर मोक्ष के परोक्ष सुख का उपदेश क्यों ?

उत्तर—मोक्ष का उपदेश इसलिए है कि उसमें सच्चा सुख मिलता है। संसार में सुख मिलता है सही, पर वह सच्चा सुख नहीं, सुखामास है।

प्रश्न—मोक्ष में सत्य सुख है और संसार में सुखामास है तो कैसे ?

उत्तर—साधारणिक सुख इच्छा की पूर्ति से होता है। इच्छा का यह स्वभाव है कि एक इच्छा पूर्ण होते न होते दूसरी सैकड़ों इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन सब इच्छाओं की तृप्ति होना समभव नहीं, अगर हो भी तो तब तक ऐसी हजारों इच्छाएँ पैदा हो जाती हैं जिनका पूर्ण होना समभव नहीं। अतएव संसार में इच्छापूर्तिजन्य सुख के पलड़े से अपूर्ण इच्छाजन्य दुःख का पलड़ा भारी ही रहता है। इसीसे उसमें सुखामास कहा गया है। मोक्ष की स्थिति ऐसी है कि उसमें इच्छाओं का ही अभाव हो जाता है और स्वभाविक सतोष प्रकट होता है। इससे उसमें सतोषजन्य सुख ही सुख है, यही सत्य सुख है। १।

सम्यग्दर्शन का लक्षण— ✓

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । २ ।

यथार्थरूप से पदार्थों का निश्चय करने की रुचि सम्यग्दर्शन है।

कैसे सूर्य का ताप और प्रकाश एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकते।  
 जैसे ही सम्मरदर्शन और सम्मग्नान एक दूसरे के बिना नहीं रहते पर  
 सम्मरुचारीत्र के साथ उनका साहचर्य अनवरतमायी नहीं है, क्योंकि  
 सम्मरुचारीत्र के बिना भी कुछ काक तक सम्मरदर्शन और सम्मग्नान पाये  
 जाते हैं। फिर श्री धर्मप्रति (विश्वरु) कर्मगुणार सम्मरुचारीत्र का यह  
 नियम है कि जब यह प्राप्त होता है तब उसके पूर्ववर्ती सम्मरदर्शन आदि  
 दो साधन अक्षय होते हैं।

प्रश्न—यदि आत्मिक गुणों का विकास ही मोक्ष है और सम्मरदर्शन  
 आदि उसके साधन भी आत्मा के साथ साथ गुण का विकास ही हैं  
 तो फिर मोक्ष और उसके साधन में क्या अन्तर हुआ ?

उत्तर—कुछ नहीं।

प्रश्न—यदि अन्तर नहीं है तो मोक्ष साध्य और सम्मरदर्शन आदि  
 रत्नत्रय उसका साधन, वह साध्य-साधनमय कैसे ? क्योंकि साध्य-साधन-  
 सम्बन्ध निश्च वस्तुओं में देखा गया है।

दर्शनकाल में ज्ञान नहीं भी होता। इसका अर्थ यह है कि सम्मरदर्शन प्राप्त  
 होने पर भी देव-आरक-तिर्कम्ब को तथा कुछ मनुष्यों को विविध भुक्तज्ञान  
 अर्थात् आत्मा आदि-अज्ञप्रतिष्ठ-विषयक ज्ञान नहीं होता। इस मत के अनुसार  
 दर्शन के समय ज्ञान न पाये जाने का अनात्म विविध भुक्तज्ञान न पाये जाने  
 से है। परन्तु दर्शन और ज्ञान को अक्षय साहचारी माननेवाले पक्ष का  
 आशय यह है कि दर्शन प्राप्ति के पहले को प्रति आदि अज्ञान बीज में होता  
 है वही सम्मरदर्शन की उत्पत्ति का विषयादर्शन की निवृत्ति से सम्बन्ध रूप में  
 परिष्कृत हो जाता है और मणि क हि ज्ञान प्रकलगत है। इस मत के अनुसार  
 जो और जितना विविध मोक्ष सम्मरदर्शन-आदि वाक में विद्यमान हो वही

उत्तर—साधक-अवस्था की अपेक्षा से मोक्ष और रत्नत्रय का साध्य-साधनभाव कहा गया है, सिद्ध-अवस्था की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि साधक का साध्य परिपूर्ण दर्शनादि रत्नत्रय रूप मोक्ष होता है और उसकी प्राप्ति रत्नत्रय के क्रमिक विकास से ही होती है। यह शास्त्र साधक के लिए है, सिद्ध के लिए नहीं। अतः इसमें साधक के लिए उपयोगी साध्य-साधन के भेद का ही कथन है।

प्रश्न—संसार में तो धन-कलत्र-पुत्रादि साधनों से सुख-प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, फिर उसे छोड़कर मोक्ष के परोक्ष सुख का उपदेश क्यों ?

उत्तर—मोक्ष का उपदेश इसलिए है कि उसमें सच्चा सुख मिलता है। संसार में सुख मिलता है सही, पर वह सच्चा सुख नहीं, सुखामास है।

प्रश्न—मोक्ष में सत्य सुख है और संसार में सुखामास है सो कैसे ?

उत्तर—साधारणिक सुख इच्छा की पूर्ति से होता है। इच्छा का यह स्वभाव है कि एक इच्छा पूर्ण होते न होते दूसरी सैकड़ों इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन सब इच्छाओं की तृप्ति होना समभव नहीं, अगर हो भी तो तब तक ऐसी हजारों इच्छाएँ पैदा हो जाती हैं जिनका पूर्ण होना समभव नहीं। अतएव संसार में इच्छापूर्तिजन्य सुख के पलड़े से अपूर्ण इच्छाजन्य दुःख का पलड़ा भारी ही रहता है। इसीसे उसमें सुखामास कहा गया है। मोक्ष की स्थिति ऐसी है कि उसमें इच्छाओं का ही अभाव हो जाता है और स्वभाविक सतोष प्रकट होता है। इससे उसमें सतोषजन्य सुख ही सुख है, यही सत्य सुख है। १।

सम्यग्दर्शन का लक्षण— ✓

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । २ ।

यथार्थरूप से पदार्थों का निश्चय करने की रुचि सम्यग्दर्शन है।

सम्बन्धन की उत्पत्ति के हेतु—

सन्धिसर्गादधिगमाद्वा । १ ।

यह (सम्बन्धन) निरर्ग अर्थात् परिणाम मात्र से अथवा अभिमम अथवा उपदेशादि बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है ।

जगत के पदार्थों को स्वार्थरूप से जानने की यत्नि सांसारिक और व्याप्यात्मिक दोनों प्रकार की महत्त्वाकांक्षा से होती है । धन, प्रतिष्ठा आदि किसी सांसारिक वासना के कारण ही उत्पन्न-विज्ञासा होती है यह सम्बन्धन नहीं है क्योंकि उसका नतीजा मोक्ष न होकर संसार होता है । परन्तु जो तत्त्वनिश्चय की यत्नि सिर्फ आत्मिक तृप्ति के लिए, व्याप्यात्मिक विकल के लिए होती है—वही सम्बन्धन है ।

आप्यात्मिक विकल से उत्पन्न एक प्रकार का आत्मिक परिणाम जो ज्ञेयमात्र को तात्त्विक रूप में जानने की, हेतु को त्यागने की और उपादेय को ग्रहण करने की यत्नि रूप है वही निश्चय सम्पत्त्व है । और उस यत्नि के बल से होनेवाली चर्मतर-निष्ठा का नाम व्यवहार सम्पत्त्व है ।

सम्बन्धन की पहचान करनेवाले प्रथम संवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्य—के पाँच सिद्ध स्थाने आते हैं । १ तत्त्वों के अन्तर्-पक्षपात सम्पत्त्व के सिद्ध से होनेवाले कदाग्रह आदि दोषों का उपशम ही प्रथम है । २ सांसारिक कर्मणों का भय ही संवेग है । ३ विपर्यय में आसक्ति का कम हो जाना निर्वेद है । ४ दुःखी प्राणियों के दुःख दूर करने की इच्छा अनुकम्पा है । ५ आत्मा आदि परोक्ष किन्तु पुष्टि-प्रमाण सिद्ध पदार्थों का स्वीकार ही आस्तिक्य है ।

सम्बन्धन के योग्य आप्यात्मिक उत्पत्ति होते ही सम्बन्धन का आविर्भाव होता है । पर किसी आत्मा को उसके आविर्भाव में बाध

हेतुभेद निमित्त की अपेक्षा रहती है और किसी को नहीं। यह बात प्रसिद्ध है कि एक व्यक्ति शिक्षक आदि की मदद से शिल्प आदि किसी कला को सीख लेता है और दूसरा किसी अन्य की मदद के बिना अपने आप सीख लेता है। आन्तरिक कारण की समानता होने पर भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा और अनपेक्षा को लेकर प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्दर्शन के निसर्ग-सम्यग्दर्शन और अधिगम-सम्यग्दर्शन ऐसे दो भेद किए गये हैं। बाह्य निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं। कोई प्रतिमा आदि धार्मिक वस्तु के अवलोकन मात्र से सम्यग्दर्शन लाभ करता है, कोई गुरु का उपदेश सुनकर, कोई शास्त्र पढ़-सुन कर और कोई सत्संग पाकर।

अनादिकालीन ससार-प्रवाह में तरह तरह के दुःखों का अनुभव करते करते योग्य आत्मा में कभी ऐसी परिणामशुद्धि हो जाती है जो उसके लिए अपूर्व होती है। उस परिणामशुद्धि को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण से रागद्वेष की वह तीव्रता मिट जाती है जो तात्त्विक पक्षपात (सत्य में आग्रह) की बाधक है। ऐसी राग-द्वेष की तीव्रता मिटते ही आत्मा सत्य के लिए जागरूक बन जाता है। यह आध्यात्मिक जागरण ही सम्यक्त्व है। २, ३।

तात्त्विक अर्थों का नाम निर्देश—

जीवाजीवास्त्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् । ४ ।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये तत्त्व हैं ।

१ उत्पत्ति क्रम की स्पष्टता के लिए देखो—हिन्दी 'दूसरा कर्मग्रन्थ' पृ० १ तथा 'चौथा कर्मग्रन्थ' की प्रस्तावना पृ० १३ ।

२ बौद्ध दर्शन में जो दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग चार अर्थ रखे हैं, साख्य तथा योग दर्शन में हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय वस्तुर्बूह है, जिसे न्यायदर्शन में अर्थ-पद कहा है, उनके स्थान में आस्रव ले कर मोक्ष तक के पाँच तत्त्व जैनदर्शन में प्रसिद्ध हैं ।

पहुँचते हैं प्रकृतियों में पुण्य और पाप को मिलाकर नया तत्व बना गया है, परन्तु यहाँ पुण्य और पाप दोनों का समावेश आद्यतन या वाच्यत्व में करके सिर्फ वात ही तत्व कहे गये हैं। अन्तर्भाव की इस प्रकार समझना चाहिए—पुण्य-पाप दोनों द्रव्य-ग्रहण रूप ही ही प्रकार के हैं। शुभ कर्मपुत्रक द्रव्यपुण्य और अशुभ कर्मपुत्रक द्रव्यपाप है। इसीलिए द्रव्यरूप पुण्य तथा पाप कथ्यतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि आत्मसंबन्ध कर्मपुत्रक वा व्याप्ति और कर्मपुत्रक का सम्बन्ध-विशेष ही द्रव्य कथ्यतत्त्व कहलाता है। द्रव्य-पुण्य का कारण शुभ अन्वयसाय जो भावपुण्य है और द्रव्यपाप का कारण अशुभ अन्वयसाय जो भावपाप कहलाता है दोनों भी कथ्यतत्त्व में अन्तर्भूत हैं क्योंकि ब्रह्म का कारणभूत कार्याधिक अन्वयसाय—परिणाम ही भावकथ्य कहलाता है।

प्र - अद्यत्वं ये केन्द्र मोक्ष तक के पूर्व तत्त्व न तो जीव अजीव की तद्वत् स्वतंत्र ही है और न अनादि अनन्त। किन्तु वे मध्यसंभव सिर्फ जीव या अजीव की अवस्थाविशेष रूप हैं। इसलिये उन्हें जीव अजीव के साथ तत्त्वरूप से क्यों गिना ?

उ - वस्तुनिश्चयिणी केशी ही है अर्थात् यहाँ तत्त्व शब्द का मतलब अनादि-अनन्त और स्वतंत्र भाव से नहीं है किन्तु मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी होनेवाले क्षण भाव से है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य मोक्ष होने से मोक्ष के विद्यासुखों के लिए किन वस्तुओं का वात अन्वय व्यापक है वे ही वस्तुएँ यहाँ तत्त्व रूप से कही गई हैं। मोक्ष तो मुख्य साम्य से तद्वत् इसलिये उसकी तथा उसके कारण को बिना अपने मोक्षमार्ग में सुसुप्त की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इसी तरह यदि सुसुप्त मोक्ष के विशेषी तत्त्व का और उस विशेषी तत्त्व के कारण का लक्षण न होने तो भी वह अपने पय में अस्तित्वित प्राप्ति नहीं कर सकता। यह ही सुसुप्त

को सबसे पहले जान लेना पड़ता है कि अगर मैं मोक्ष का अधिकारी हूँ तो मुझ में पाया जानेवाला सामान्य स्वरूप किस किसमें है और किसमें नहीं ? इसी ज्ञान की पूर्ति के लिए सात तत्त्वों का कथन है। जीवतत्त्व के कथन से मोक्ष का अधिकारी कहा गया। अजीवतत्त्व से यह सूचित किया गया कि-जगति में एक ऐसा भी तत्त्व है जो जड़ होने के कारण मोक्षमार्ग के उपदेश का अधिकारी नहीं है। बन्धतत्त्व से मोक्ष का विरोधी भाव और आस्रवतत्त्व से उस विरोधी भाव का कारण बतलाया गया। सवरतत्त्व से मोक्ष का कारण और निर्जरातत्त्व से मोक्ष का क्रम बतलाया गया है। ४।

निक्षेपों का नामनिर्देश-

### नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः । ५ ।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप या विभाग होता है।

सभी व्यवहार या ज्ञान की लेन-देन का मुख्य साधन भाषा है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रयोजन या प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। हर एक शब्द के कम से कम चार अर्थ पाये जाते हैं। वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थसामान्य के चार विभाग हैं। ऐसे विभाग ही निक्षेप या न्यास कहलाते हैं। इनको जान लेने से वक्ता का तात्पर्य समझने में सरलता होती है। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में वे चार अर्थनिक्षेप बतलाये गये हैं, जिससे यह पृथक्करण स्पष्टरूप से हो सके कि मोक्ष-मार्ग रूप से सम्यग्दर्शन आदि अर्थ और तत्त्वरूप से जीवजीवादि अर्थ अमुक प्रकार का लेना चाहिए, दूसरे प्रकार का नहीं। वे चार निक्षेप ये हैं १-जो अर्थ व्युत्पत्ति सिद्ध नहीं है सिर्फ माता, पिता या अन्य लोगों के संकेत बल से जाना जाता है वह अर्थ नामानिक्षेप है, जैसे-एक ऐसा व्यक्ति जिसमें सेवक योग्य कोई गुण नहीं है, पर किसी ने जिसका नाम



सेवाक रत्न दिया है। २-जो वस्तु असखी वस्तु की प्रतिरूपि मूर्ति वा चित्र हो अथवा जिसमें असखी वस्तु का आरोप किया गया हो-वह स्थापना-निक्षेप है, जैसे-किसी सेवाक का चित्र, फोटो वा मूर्ति। ३-जो अथ माननिक्षेप का पूर्वरूप या उत्तररूप हो अर्थात् उत्तरी पूर्व या उत्तर अथवा अन्य रूप हो-वह मध्यनिक्षेप है जैसे-एक ऐसा व्यक्ति जो वर्तमान में सेवाधर्य नहीं करता पर या तो वह सेवा कर चुका है या आगे करने वाला है। अथ अर्थ में शब्द का व्युत्पत्ति या प्रवृत्ति निमित्त बयकर पठित हो वह मध्यनिक्षेप है; जैसे-एक ऐसा व्यक्ति जो सेवाक योग्य धर्य करता है।

सम्प्रादर्शन आदि मोक्षमार्ग के और जीव अर्थात् तत्त्वों के भी पार पार निक्षेप पाये जा सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकार में वे मानरूप ही प्राप्त हैं। ५।

१ संक्षेप से नाम वा तरह के होते हैं-योगिक और स्व। रसोदया सुन्दर इत्यादि योगिक शब्द हैं। गाय घोडा इत्यादि स्व शब्द हैं। रसोद करे वह रसोदया और सुवर्ण का काम करे वह सुन्दर। यहाँ पर रसोद और सुवर्ण का काम करने की किन्ना ही रसोदया और सुन्दर-इन शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त है। अर्थात् वे शब्द ऐसी किन्ना के आधम से ही कने हैं और इसीधर्य वह किन्ना ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त कही जाती है। यदि यही बात संस्कृत शब्दों में लागू करनी हो तो पाणक, कुम्भकार आदि शब्दों में कम्पाण पाक किन्ना और कुट्ट निमाण किन्ना को व्युत्पत्ति निमित्त समझना चाहिये। सावध यह कि योगिक शब्दों में व्युत्पत्ति का निमित्त ही उनकी प्रवृत्ति का निमित्त कम्पा है लेकिन स्व शब्दों के विषय में ऐसा नहीं है। जैसे शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर व्यवहृत नहीं होते लेकिन स्विक के अनुतर उनका अर्थ होता है। अथ (गो) घोडा (अथ) आदि शब्दों की कोई क्वाण व्युत्पत्ति होती नहीं लेकिन यदि कोई किसी प्रकार कर भी ले तो भी अन्त में उत्तम व्यवहार तो स्विक के अनुतर ही ऐसा आता है। व्युत्पत्ति

तत्त्वों के जानने के उपाय-

प्रमाणनयैरधिगमः । ६ ।

प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है ।

नय और प्रमाण दोनों ज्ञान ही हैं, परन्तु उनमें अन्तर यह है कि नय वस्तु के एक अंश का बोध कराता है और प्रमाण अनेक अंशों का । अर्थात् वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, उनमें से जब नय और प्रमाण किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाय, का अन्तर जैसे—नित्यत्व धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्य है' ऐसा निश्चय करना नय है । और जब अनेक धर्म द्वारा वस्तु का अनेक रूप से निश्चय किया जाय जैसे—नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्यानित्य आदि अनेक रूप है' ऐसा निश्चय करना प्रमाण है । अथवा दूसरे शब्दों में यों समझना चाहिए कि नय प्रमाण का एक अंश मात्र है और प्रमाण अनेक नयों का समूह है, क्योंकि नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है और प्रमाण अनेक दृष्टियों से ग्रहण करता है । ६ ।

के अनुसार नहीं । अमुक २ प्रकार की आकृति-जाति ही गाय, घोडा आदि रूढ शब्दों के व्यवहार का निमित्त हैं । अतः उस २ आकृति-जाति को वैसे शब्दों का व्युत्पत्ति निमित्त नहीं लेकिन प्रवृत्ति निमित्त ही कहा जाता है ।

जहाँ यौगिक शब्द (विशेषण रूप) हो वहा व्युत्पत्ति निमित्त वाले अर्थ को भाव निक्षेप और जहाँ रूढ शब्द (जाति नाम) हो वहाँ प्रवृत्ति निमित्त वाले अर्थ को भाव निक्षेप समझना चाहिए ।

सेवक रत्न दिया है। २—जो वस्तु अस्पर्शी वस्तु की प्रतिफलति मूर्ति या चित्र ही अपना अस्पर्शी अस्पर्शी वस्तु का आरोप किया गया हो—वह स्थापना-निक्षेप है; जैसे—किसी सेवक का चित्र घंटो घ घ मूर्ति। ३—जो अथ माननिक्षेप का पूर्वरूप या उत्तररूप हो अर्थात् उसकी पूर्व या उत्तर अवस्था रूप हो—वह इत्यनिक्षेप है; जैसे—एक ऐसा व्यक्ति जो वस्तुमान में सेवाकार्य नहीं करता पर या तो वह सेवा कर चुका है या आगे करने वाला है। जिस अर्थ में शब्द का व्युत्पत्ति या प्रकृति निमित्त ब्यवहार कटित हो वह माननिक्षेप है; जैसे—एक ऐसा व्यक्ति जो सेवक योग्य कार्य करता है।

सम्पन्नदर्शन आदि मोक्षमार्ग के और जीव अक्षीयादि तराई के भी पार पार निक्षेप पाये जा सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में वे अक्षररूप ही प्रकृत हैं। ५।

१ संक्षेप स नाम हो तरह के होने हैं—योगिक और रत्न। रत्नोद्घा मुनार इत्यादि योगिक शब्द हैं। गाय धावा इत्यादि रत्न शब्द हैं। रत्नोद्घा करे वह रत्नोद्घा और मुक्ता का काम करे वह मुनार। यहाँ पर रत्नोद्घा और मुक्ता का काम करने की क्रिया ही रत्नोद्घा और मुनार—इन शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त है। अर्थात् वे शब्द ऐसी क्रिया का आशय से ही कहे हैं और इसीलिए वह क्रिया ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त कही जाती है। यदि यही बात संस्कृत शब्दों में लागू करनी हो तो पाषाण, कुम्भकर आदि शब्दों में कामका पाक क्रिया और यह निर्माण क्रिया को व्युत्पत्ति निमित्त समझना चाहिए। साफ़त यह कि योगिक शब्दों में व्युत्पत्ति का निमित्त ही उनकी प्रकृति का निमित्त बनता है लेकिन रत्न शब्दों का विषय में ऐसा नहीं है। जैसे शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर व्यवहृत नहीं होते लेकिन रत्न के अनुसार उनका अर्थ होता है। गाय (गो) पीछ (अरण) आदि शब्दों की कोई व्यास व्युत्पत्ति होती नहीं लेकिन यदि कोई किसी प्रकार कर भी ले ती नहीं अर्थ में उसका व्यवहार तो रत्न के अनुसार ही वैय्य जाता है व्युत्पत्ति

तत्त्वों के जानने के उपाय-

प्रमाणनयैरधिगमः । ६ ।

प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है ।

नय और प्रमाण दोनों ज्ञान ही हैं, परन्तु उनमें अन्तर यह है कि नय वस्तु के एक अंश का बोध कराता है और प्रमाण अनेक अंशों का । अर्थात् वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, उनमें से जब नय और प्रमाण किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाय, का अन्तर जैसे—नित्यत्व धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्य है' ऐसा निश्चय करना नय है । और जब अनेक धर्म द्वारा वस्तु का अनेक रूप से निश्चय किया जाय जैसे—नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्यानित्य आदि अनेक रूप है' ऐसा निश्चय करना प्रमाण है । अथवा दूसरे शब्दों में यो समझना चाहिए कि नय प्रमाण का एक अंश मात्र है और प्रमाण अनेक नयों का समूह है, क्योंकि नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है और प्रमाण अनेक दृष्टियों से ग्रहण करता है । ६ ।

के अनुसार नहीं । अमुक ० प्रकार की आकृति-जाति ही गाय, घोड़ा आदि रूढ शब्दों के व्यवहार का निमित्त है । अतः उस २ आकृति-जाति को वैसे शब्दों का व्युत्पत्ति निमित्त नहीं लेकिन प्रवृत्ति निमित्त ही कहा जाता है ।

जहाँ यौगिक शब्द (विशेषण रूप) हो वहाँ व्युत्पत्ति निमित्त वाले अर्थ को भाव निक्षेप और जहाँ रूढ शब्द (जाति नाम) हो वहाँ प्रवृत्ति निमित्त वाले अर्थ को भाव निक्षेप समझना चाहिए ।

वस्तुओं के विस्तृत ज्ञान के लिए कुछ विचारणाओं द्वारा का निर्देश—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः । ७ ।

सत्सस्याश्रेत्रस्पर्शनफालाऽन्तरमावाऽल्पबहुत्वैश्च । ८ ।

निर्देश स्वामित्व, साधन अधिकरण स्थिति और विधान से

तथा सत्, सस्या, श्रेत्र स्पर्शन, फल, अन्तर, माव और अल्प बहुत्व से सम्पर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है ।

छोटा या बड़ा कोई भी जितना कुछ परसे परसे किसी विद्यमान आदि नई वस्तु को देखता या उसका नाम सुनता है तब उसकी जिज्ञासा-वृत्ति व्यक्त उठती है और इससे वह उस अदृश्यपूर्व या अनुभूतपूर्व वस्तु के संबंध में अनेक प्रश्न करने लगता है । वह उस वस्तु के स्वभाव स्वरूप उसके भौतिक उसके बनाने के उपाय, उसके रक्षने का स्थान उसके विकासजन की अवधि, उसके प्रकार आदि के संबंध में नानाविध प्रश्न करता है और उन प्रश्नों का उत्तर पाकर अपनी ज्ञानवृद्धि करता है । इसी तरह अन्तर्दृष्टि व्यक्ति भी मोक्षमार्ग को सुनकर या देव उपादेय व्यापारिक तत्त्व सुनकर उसके संबंध में विविध प्रश्नों के द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाता है । यही आद्य प्रस्तुत हो वस्तु में प्रकट किया गया है । उदाहरणार्थ—निर्देश आदि सूत्रों की ओर प्रश्नों को लेकर सम्पर्शन पर संक्षेप में विचार किया जाता है—

१. किसी भी वस्तु में प्रवेश करने का मतलब है उसको जानकारी प्राप्त करना और विचार करना । ऐसा करने का मुख्य साधन उसके विषय में विविध प्रश्न करना ही है । प्रश्नों का जितना कुछ-ता मिले उतना ही उस वस्तु में प्रवेश समझना चाहिए । अतः प्रश्न ही वस्तु में प्रवेश करने के अर्थात् विचारणा द्वारा उसकी वह तक पहुँचने के द्वार हैं । अतः विचारणा (मीमांसा) द्वार का मतलब प्रश्न समझना आदि । ज्ञानों ॥ उनको अनुपात द्वार कहा गया है । अनुपात अर्थात् व्याख्या या विवरण उसके द्वार अर्थात् प्रश्न ।

१. निर्देश-स्वरूप-सम्बन्धि यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप है ।  
 २. स्वामित्व-अधिकारित्व-सम्यग्दर्शन का अधिकारी जीव ही है, अजीव नहीं क्योंकि वह जीव का ही गुण या पर्याय है । ३. साधन—कारण-दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम और क्षय ये तीन सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग कारण हैं । उसके बहिरङ्ग कारण शास्त्रज्ञान, जातिस्मरण, प्रतिमा-दर्शन, सत्सग आदि अनेक हैं । ४. अधिकरण-आधार-सम्यग्दर्शन का आधार जीव ही है, क्योंकि वह उसका परिणाम होने के कारण उसी में रहता है । सम्यग्दर्शन गुण है, इसलिए यद्यपि उसका स्वामी और अधिकरण जुदा जुदा नहीं है तथापि जीव आदि द्रव्य के स्वामी और अधिकरण का विचार करना हो, वहाँ उन दोनों में जुदाई भी पाई जाती है । जैसे व्यवहारदृष्टि से देखने पर एक जीव का स्वामी कोई दूसरा जीव होगा पर अधिकरण उसका कोई स्थान या शरीर ही कहा जायगा । ५. स्थिति-कालमर्यादा-सम्यग्दर्शन की बघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति सादि-अनन्त है । तीनों प्रकार के सम्यक्त्व अमुक समय में उत्पन्न होते हैं इसलिए वे सादि अर्थात् पूर्वावधिवाले हैं । परन्तु उत्पन्न होकर भी औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कायम नहीं रहते इसलिए वे दो तो सान्त अर्थात् उत्तर अवधिवाले भी हैं । पर क्षायिक सम्यक्त्व उपन्न होने के बाद नष्ट नहीं होता इसलिए वह अनन्त है । इसी अपेक्षा से सामान्यतया सम्यग्दर्शन को सादि सान्त और सादि अनन्त समझना चाहिए । ६. विधान-प्रकार-सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन प्रकार हैं ।

७ सत्-सत्ता-यद्यपि सम्यक्त्व गुण सत्त्वरूप से सभी जीवों में मौजूद है, पर उसका आविर्भाव सिर्फ मव्य जीवों में हो सकता है, अभव्यों में नहीं । ८. सरूपा-गिनती-सम्यक्त्व की गिनती उसे पानेवालों की

संख्या पर नियंत्रण है। आज तक अनन्त जीवों ने सम्पत्क-स्वप्न किया है और आगे अनन्त जीव उससे प्राप्त करेंगे, इत हृष्टि से सम्पत्क-संख्या में अनन्त है। ९ क्षेत्र-स्योकाकाश-सम्पत्दर्शन का क्षेत्र संपूर्ण स्योकाकाश नहीं है किन्तु उसका अंतस्मात्तर्षा भाग है। चाहे सम्पत्दर्शनी एक जीव को लेकर या अनन्त जीवों को लेकर विचार किया जाय तो भी सामान्यरूप से सम्पत्दर्शन का क्षेत्र स्योक का अंतस्मात्तर्षा भाग समझना चाहिए क्योंकि सभी सम्पत्दर्शन वाले जीवों का निवास क्षेत्र भी स्योक का अंतस्मात्तर्षा भाग ही है। हाँ इतना अन्तर अवश्य होगा कि एक सम्पत्क जीव के क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त जीवों का क्षेत्र, परिमाण में बड़ा होगा, क्योंकि स्योक का अंतस्मात्तर्षा भाग भी उत्तम भाग से अंतस्मात्त प्रकार का होता है। १ स्पर्शन-निवासस्थान कम आकाश के चारों ओर के प्रदेशों को जूना स्पर्शन है। क्षेत्र में सिर्फ आकाशभूत आकाश ही लिया जाता है। और स्पर्शन में आकाश क्षेत्र के चारों ओर के आकाश प्रदेश को आशेय के रूप में ग्रहण गये हैं वे भी सिने अंत है। यही क्षेत्र और स्पर्शन का भेद है। सम्पत्दर्शन का स्पर्शन भी स्योक का अंतस्मात्तर्षा भाग ही समझना चाहिए। पर यह भाग उसके क्षेत्र की अपेक्षा कुछ बड़ा होगा क्योंकि इसमें क्षेत्रभूत आकाश के पर्यन्तवर्ती प्रदेश भी सम्मिलित हैं। ११ काल-समय-एक जीव की अपेक्षा से सम्पत्दर्शन का काल विचार जाय तो वह सादि सान्त वा सादि अनन्त होगा पर सत्र जीवों की अपेक्षा से वह अगादि-अनन्त समझना चाहिए, क्योंकि भूतकाल का पैसा कोई भी भाग नहीं है अब कि सम्पत्क की कितनी काल न रहा हो। मविष्णु काल के विषय में भी यही बात है अर्थात् अनादि काल से सम्पत्दर्शन के जन्मिमात्र का काम जारी है जो अनन्तकाल तक चलता ही रहेगा। १२ अन्तर-विरहकाल-एक जीव को लेकर सम्पत्

दर्शन के विरहमाल का विचार किया जाय तो वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अपार्धपुद्गलपरावर्त परिमाण समझना चाहिए; क्योंकि एक बार सम्यक्त्व का वमन-नाश हो जाने पर फिर से वह जल्दी से जल्दी अन्तर्मुहूर्त में पाया जा सकता है। और ऐसा न हुआ तो अन्त में अपार्धपुद्गलपरावर्त के त्राट अवश्य ही पाया जाता है। परन्तु नाना जीवों की अपेक्षा से तो सम्यग्दर्शन का विरह माल विलकुल नहीं होता, क्योंकि नाना जीवों में तो किसी न किसी को सम्यग्दर्शन होता ही रहता है। १३. भाव-अवस्था विशेष-सम्यक्त्व औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन अवस्थाओं में पाया जाता है। ये भाव सम्यक्त्व के आवरणभूत दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से जनित हैं। इन भावों से सम्यक्त्व की शुद्धि का तारतम्य जाना जा सकता है। औपशमिक की अपेक्षा क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिक की अपेक्षा क्षायिक भाववाला सम्यक्त्व उत्तरोत्तर

१ आवली से अधिक और मुहूर्त से न्यून काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। आवली से एक समय अधिक काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, मुहूर्त में एक समय कम उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त और बीच का सब मध्यम काल अन्तर्मुहूर्त समझना। यह दिग्म्वर परंपरा है। देखो तिलोपपण्णत्ति ४ २८८। जीव कांड गा० ५७३-५९५। श्वे० परंपरा के अनुसार नव समय का जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। बाकी सब समान है।

२ जीव पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करता है। जब कोई एक जीव जगत में विद्यमान समग्र पुद्गल परमाणुओं को आहारक शरीर के सिवा शेष सब शरीरों के रूप में तथा भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करके उन्हें छोड़ दे-इसमें जितना काल लगता है, उसे पुद्गलपरावर्त कहते हैं। इसमें कुछ ही काल कम हो तो उसे अपार्धपुद्गल परावर्त कहने हैं।

३ यहा जो क्षयोपशमिक को औपशमिक की अपेक्षा शुद्ध कहा है, वह परिणाम की अपेक्षा से नहीं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से समझा जाय।



विद्युत्, विद्युदतर होता है। उक्त तीन भागों के सिवा हो भाष और भी है—भौतिक तथा पारिणामिक। इन भागों में सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् दर्शनमोहनीय की उद्वेगवस्था में सम्बन्ध का आधिर्भाव नहीं हो सकता। इसी तरह सम्बन्ध अनादि काळ से जीवत्व के समान अनारम्भ अवस्था में न पाये जाने के कारण पारिणामिक अर्थात् स्वामाधिक भी नहीं है।

१४ अस्पृश्वस्तु—स्पर्शाधिक्यता—पूर्वोक्त तीन प्रकार के सम्बन्ध में औपघामिक सम्बन्ध सबसे अल्प है क्योंकि ऐसे सम्बन्ध वाले जीव अल्प प्रकार के सम्बन्ध वाले से इमेधा यौवे ही पाये जाते हैं। औपघामिक सम्बन्ध से साधोपघामिक सम्बन्ध अत्यन्त गुण और साधोपघामिक सम्बन्ध से धाविक सम्बन्ध अनन्तगुण है। धाविक सम्बन्ध के अनन्तगुण होने का कारण यह है कि वह सम्बन्ध समस्त कुछ जीवों में होता है और कुछ जीव अनन्त है। ७-८।

सम्बन्धन के निम्न—

मतिभ्रुताऽवचिमतःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् । ९ ।

मति, कुछ अवधि मनापर्याय और केवल—ये पांच ज्ञान हैं।

वैसे सम्बन्धन का कल्पन सूत्र में कृतक्याया है वैसे सम्बन्धन का नहीं कृतक्याया। यह इच्छित्य कि सम्बन्धन का कल्पन जान लेने से सम्बन्धन का कल्पन अपने आप माहजम किया जा सकता है। यह एक प्रकार कि जीव कभी सम्बन्धन रहित तो होता है पर ज्ञान रहित नहीं

परिष्काम की अपेक्षा से तो औपघामिक ही ज्यादा छद्म है। क्योंकि साधोपघामिक सम्बन्ध में तो मिष्काल्य का प्रवेद्योदय हो सकता है, जब कि औपघामिक सम्बन्ध के समान किसी तरह के मिष्काल्य मोहनीय के उदय का संभव नहीं। तथापि औपघामिक की अपेक्षा साधोपघामिक की स्थिति बहुत संकी होती है। इसी अपेक्षा से इसको विद्या ही कह सकते हैं।

होता । किसी न किसी प्रकार का ज्ञान उसमें अवश्य रहता है । वही ज्ञान सम्यक्त्व का आविर्भाव होते ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है । सम्यग्ज्ञान असम्यग्ज्ञान का अन्तर यही है कि पहला सम्यक्त्व सहचरित है और दूसरा सम्यक्त्व रहित अर्थात् मिथ्यात्व सहचरित है ।

प्र०—सम्यक्त्व का ऐसा कौन सा प्रभाव है कि उसके अभाव में तो ज्ञान चाहे कितना ही अधिक और अभ्रान्त क्यों न हो, पर वह असम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान कहलाता है, और थोड़ा अस्पष्ट व भ्रमात्मक ज्ञान भी सम्यक्त्व के प्रकट होते ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है ?

उ०—यह अध्यात्म शास्त्र है । इसलिए सम्यग्ज्ञान, असम्यग्ज्ञान का विवेक आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाता है, न्याय या प्रमाण शास्त्र की तरह विषय की दृष्टि से नहीं किया जाता । न्यायशास्त्र में जिस ज्ञान का विषय यथार्थ हो वही सम्यग्ज्ञान-प्रमाण और जिसका विषय अयथार्थ हो वह असम्यग्ज्ञान-प्रमाणाभास कहलाता है । परन्तु इस आध्यात्मिक शास्त्र में न्यायशास्त्र सम्मत सम्यग्ज्ञान, असम्यग्ज्ञान का वह विभाग मान्य होने पर भी गौण है । यहाँ यही विभाग मुख्य है कि जिस ज्ञान से आध्यात्मिक उल्झान्ति-विकास हो वही सम्यग्ज्ञान, और जिससे ससार वृद्धि या आध्यात्मिक पतन हो वही असम्यग्ज्ञान । ऐसा समभव है कि सामग्री की कमी के कारण सम्यक्त्वी जीव को कभी किसी विषय में सशय भी हो, भ्रम भी हो, एव अस्पष्ट ज्ञान भी हो, पर वह सत्यगवेषक और कदाग्रहरहित होने के कारण अपने से महान्, प्रामाणिक, विशेषदर्शी व्यक्ति के आश्रय से अपनी कमी सुधार लेने को सदैव उत्सुक रहता है, तथा उसे सुधार भी लेता है और अपने ज्ञान का उपयोग मुख्यतया वासनापोषण में न कर आध्यात्मिक विकास में ही करता है । सम्यक्त्वशून्य जीव का स्वभाव इससे उल्टा होता है । सामग्री की पूर्णता की बदौलत उसे निश्चयात्मक अधिक आंग स्पष्ट ज्ञान

होता है तथापि वह कबामयी प्रकृति के कारण धमंडी होकर किसी विशेषदर्श के विचारों को भी तुच्छ समझता है और अन्त में अपने ज्ञान का उपयोग आत्मिक प्रगति में न कर नासारिक महत्वाकांक्षा में ही करता है । ।

प्रमाण पञ्चा—

सत् प्रमाणे । १० ।

आद्ये परोक्षम् । ११ ।

प्रत्यक्षमन्यत् । १२ ।

वह अर्थात् पाँचों प्रकार का ज्ञान हो प्रमाणरूप है ।

प्रथम के ही ज्ञान परोक्ष प्रमाण है ।

द्वेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

प्रमाणविभाग मति भुव आदि जो ज्ञान के पाँच प्रकार कहे गये हैं व प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों में विभक्त हो जाते हैं ।

प्रमाण का सामान्य अर्थ यह ही कहा जा चुका है कि जो ज्ञान वस्तु को अनेकरूप से जानने काध्य ही वह प्रमाण है । उसके विशेष अर्थ

प्रमाण अर्थ यह है : जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही सिर्फ आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है ।

उक्त पाँच में से पहले दो अर्थात् सतिष्ठान और भुवज्ञान परोक्ष प्रमाण कहलाते हैं क्योंकि ये हीर्षी इन्द्रिय तथा मन की मदद से उत्पन्न होते हैं ।

अपधि मनधर्माय और केवल ये हीर्षी प्रमाण हैं क्योंकि ये इन्द्रिय तथा मन की मदद के बिना ही सिर्फ आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होते हैं ।

न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण दूसरे प्रकार से किया गया है। उसमें इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और लिङ्ग (हेतु) तथा शब्दादिजन्य ज्ञान को परोक्ष कहा है, परन्तु वह लक्षण यहाँ स्वीकृत नहीं है। यहाँ तो आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से और आत्मा के अलावा इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान परोक्ष रूप से इष्ट है। इसके अनुसार मति और श्रुत दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखनेवाले होने के कारण परोक्ष समझने चाहिए। और बाकी के अवाधे आदि तीनों ज्ञान इन्द्रिय तथा मन की मदद के बिना ही सिर्फ आत्मिक योग्यता के बल से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष समझने चाहिए। इन्द्रिय तथा मनोजन्य मतिज्ञान को कहीं कहीं प्रत्यक्ष कहा है वह पूर्वोक्त न्यायशास्त्र के लक्षणानुसार लौकिक दृष्टि को लेकर समझना चाहिए। १०-१२

मतिज्ञान के एकार्यक शब्द—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । १३ ।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध—ये शब्द पर्यायभूत—एकार्य-वाचक हैं।

प्र०—किस ज्ञान को मति कहते हैं ?

उ०—उसे जो ज्ञान वर्तमान विषयक हो।

प्र०—क्या स्मृति, संज्ञा और चिन्ता भी वर्तमान विषयक ही है ?

उ०—नहीं, पहले अनुभव की हुई वस्तु के स्मरण का नाम स्मृति है, इसलिए वह अतीत विषयक है। पहले अनुभव की हुई और वर्तमान

१ प्रमाणमीमासा आदि तर्क ग्रन्थों में साव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से इन्द्रिय-मनोजन्य अवग्रह आदि ज्ञान का वर्णन है। विशेष खुलासे के लिए देखो-न्यायावतार, गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में जैन प्रमाणमीमासा भद्रति का विकासक्रम।

में व्युत्पन्न की जानेवाली वस्तु की एकता के अनुसंधान का नाम संज्ञा का प्रत्यभिधान है इसीच्छिन्न वह अतीत और वर्तमान-उत्पत्तिक्रियक है। और चिन्ता, मानी वस्तु की विचारणा का नाम है इसच्छिन्न वह अनागत क्रियक है।

प्र०—इस कथन से तो मति स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ये पदान्द शब्द नहीं हो सकते क्योंकि इनके अर्थ जुदे जुदे हैं।

उ—विषय भेद और कुछ निमित्त भेद होने पर भी मति स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ज्ञान का अन्तर्गत कारण जो मतिज्ञानादरणीय कर्म का शयोपघम है वह सामान्य रूप से एक ही यहाँ विवक्षित है इसी अभिप्राय से यहाँ मति आदि शब्दों को पर्याय कहा है।

प्र—अभिनिवोच शब्द के विषय में तो कुछ नहीं कहा। वह किस प्रकार के ज्ञान का कथक है? यह बतझइए।

उ—अभिनिवोच शब्द सामान्य है। वह मति स्मृति संज्ञा और चिन्ता इन सभी ज्ञानों में प्रयुक्त होता है अर्थात् मति-ज्ञानादरणीय कर्म के शयोपघम से होने वाले सब प्रकार के ज्ञानों के छिन्न अभिनिवोच शब्द सामान्य है और मति आदि शब्द उस शयोपघमजन्य स्वास स्वास ज्ञानों के छिन्न हैं।

प्र—ठीी रीति से तो अभिनिवोच सामान्य हुआ और मति आदि उसके विशेष हुए फिर ये पर्याय शब्द कैसे ?

उ—यहाँ सामान्य और विशेष की भेद-विषया न करने तकको पर्याय शब्द कहा है। ११।

मतिज्ञान का स्वरूप—

सदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् । १४ ।

मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय रूप निमित्त से उत्पन्न होता है।

प्र०—दो मतिज्ञान के इन्द्रिय और अनिन्द्रिय ये दो कारण बतलाए हैं। इनमें इन्द्रिय तो चक्षु आदि प्रसिद्ध हैं पर अनिन्द्रिय से क्या मतलब है ?

उ०—अनिन्द्रिय का मतलब मन से है।

प्र०—जब चक्षु आदि तथा मन ये सभी मतिज्ञान के साधन हैं तब एक ही इन्द्रिय और दूसरे को अनिन्द्रिय कहने का क्या कारण ?

उ०—चक्षु आदि बाह्य साधन हैं और मन आन्तर साधन है। यही भेद इन्द्रिय और अनिन्द्रिय सजाभेद का कारण है। १४।

मतिज्ञान के भेद—

अवग्रहेहावायधारणा । १५। ✓

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार भेद मतिज्ञान के हैं।

प्रत्येक इन्द्रियजन्य और मनोजन्य मतिज्ञान के चार चार भेद पाये जाते हैं। अतएव पाँच इन्द्रियाँ और एक मन इन छहों के अवग्रह आदि चार चार भेद गिनने से चौबीस भेद मतिज्ञान के होते हैं। उनके नाम यों समझने चाहिए—

स्पर्शन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन	”	”	”	”
प्राण	”	”	”	”
चक्षु	”	”	”	”
श्रोत्र	”	”	”	”
मन	”	”	”	”

१ नाम जाति आदि की विशेष कल्पना से रचित सामान्य मन्त्र का ज्ञान अक्षर्य है। जैसे—गायत्रि अक्षर्य में कुछ मू धाने पर यह कुछ है—ऐसा ज्ञान। इस ज्ञान में यह नहीं मान्य होता कि कुछ बीज का स्पर्श है, इत्यर्थ पर अक्षर्य ज्ञान—अक्षर्य है। १ अक्षर्य

के द्वारा मन्त्र किन्ने हुए सामान्य मन्त्र की विशेष कम से निश्चित करने के लिए जो विचारणा होती है—यह ईहा है। जैसे—यह रस्ती का स्पर्श है या सौंप का यह संभव होने पर ऐसी विचारणा होती है कि यह रस्ती का स्पर्श होना चाहिए। क्योंकि यदि सौंप होता तो रस्ती तकत आनाव होने पर यह कुछकार किन्ने-विद्य न रहता। यही विचारणा समझना का ईहा कहलती है। २ ईहा के द्वारा मन्त्र किन्ने हुए विशेष का कुछ अक्षर्य अक्षरान—एकप्रकार से जो निश्चय होता है वह अक्षर्य है। जैसे—कुछ अक्षर तक सौंपने और सौंप करने से यह निश्चय हो जाता कि यह सौंप का स्पर्श नहीं, रस्ती का ही है, अक्षर्य कहलती है। ४ अक्षर्यम निश्चय कुछ अक्षर तक कावम रहता है फिर कियान्तर में मन्त्र चक्र जाने से यह निश्चय हटा तो हो जाता है पर ऐसे संस्कार की जाह्नक अता है कि कितने आगे कभी कोई बीजम विहित किन्ने पर तब निश्चित मन्त्र का धरुण ही अक्षर्य है। इस निश्चय की-सकत जाह्न, तन्त्रम संस्कार और संस्कारजन्य स्मरण—यह सब मतिभ्यापार—धारणा है।

प्र०—उक्त चार वेद का जो कम रहता है वह निरद्वय है या बहुद्वय ?

उ—उद्वय है। एतद्वय कम से यही उचित करता है कि जो कम एत में है उही कम से अक्षर्यहादि की उत्पत्ति भी होती है। १५।

अक्षर्य आदि के विद—

बहुबहुविषयिप्रानिभ्रितासन्दिग्धगुणानां सेतराणाम् । १६ ।

सेतर (प्रतिपक्ष सहित) ऐसे षट्, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा रूप मतिज्ञान होते हैं।

पाँच इन्द्रियों और एक मन इन छह साधनों से होने वाले मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा आदि रूप से जो चौबीस भेद कहे गए हैं वे क्षयोपशम और विषय की विविधता से बारह बारह प्रकार के होते हैं। जैसे—

बहुग्राही	छह अवग्रह	छह ईहा	छह अवाय	छह धारणा
अल्पग्राही	”	”	”	”
बहुविधग्राही	”	”	”	”
एकविधग्राही	”	”	”	”
क्षिप्रग्राही	”	”	”	”
अक्षिप्रग्राही	”	”	”	”
अनिश्रितग्राही	”	”	”	”
निश्रितग्राही	”	”	”	”
असंदिग्धग्राही	”	”	”	”
संदिग्धग्राही	”	”	”	”
ध्रुवग्राही	”	”	”	”
अध्रुवग्राही	”	”	”	”

बहु का मतलब अनेक और अल्प का मतलब एक है। जैसे— दो वा दो से अधिक पुस्तकों को जानने वाले अवग्रह, ईहा आदि चारों क्रमभावी मतिज्ञान बहुग्राही अवग्रह, बहुग्राहिणी ईहा, बहुग्राही अवाय और बहुग्राहिणी धारणा कहलाते हैं। और एक पुस्तक को जाननेवाले अल्पग्राही अवग्रह, अल्पग्राहिणी ईहा, अल्पग्राही अवाय, अल्पग्राहिणी धारणा कहलाने हैं।



बहुविध का मतलब अनन्य प्रकार से और एकविध का मतलब एक प्रकार से है। जैसे—आकार प्रकार, रूप रंग या मोटाई आदि में विविधता रखने वाली पुस्तकों को जानने वाले उक्त भावों ज्ञान रूप से बहुविधकारी अथवा बहुविध्याहिणी रहा, बहुविधकारी अथवा तथा बहुविध्याहिणी धारणा और अकार-प्रकार, रूप-रंग तथा मोटाई आदि में एक ही प्रकार की पुस्तकों को जानने वाले से ज्ञान एकविधकारी अथवा एकविध्याहिणी रहा आदि कह सकते हैं। बहु तथा अस्य का मतलब व्यक्ति की संख्या से है और बहुविध तथा एकविध का मतलब प्रकार, किस्य या जाति की संख्या से है। यही दोनों का अन्तर है।

श्रीमद् अन्ते वाले चारों मतज्ञान मिश्रणही अकार आदि और विध्न से अन्ते वाले अविधकारी अकार आदि कह सकते हैं। यह देखा जाता है कि श्रिय, क्रिय आदि उक्त वाक्य सामग्री कथन होने पर भी तिरकं अयोपद्यम की पदुवा के कारण एक मनुष्य उक्त क्रिय का ज्ञान करती कर लेता है और अयोपद्यम की मन्त्रता के कारण दूसरा मनुष्य देर से कर पाता है।

अनिमित्त का मतलब किंग-अयमित्त अर्थात् हेतु द्वारा अतिव बस्तु से है और निमित्त का मतलब किंग-यमित्त बस्तु से है। जैसे पूव में अनुभूत

१ अनिमित्त और निमित्त शब्द का जो अर्थ ऊपर बताया है वह नन्दीश्वर की टीका में भी है। पर इसके सिवा दूसरा अर्थ भी उक्त टीका में श्रीमच्छास्त्रिजी ने बताया है। जैसे—परबर्मी से निमित्त अथ निमित्ताकार और परबर्मी से अनिमित्त अथ अनिमित्ताकार है। वेदो पृ १८१ आगमोहन समिति द्वारा प्रकाशित।

द्विगम्बर ग्रन्थों में 'अनिमित्त' पाठ है। उत्तुत्तर उनमें अर्थ किता दे कि संपूर्णतया आविर्भूत नहीं ऐसे पुरुषों का ग्रहण 'अनिमित्ताकार' और संपूर्णतया आविर्भूत पुरुषों का ग्रहण 'निमित्ताकार' है। वेदो रसी सूत्र का राजवार्तिक में १५१।

जीत, कोमल और स्निग्ध स्पर्शरूप लिंग से वर्तमान में जूई के फूलों को जाननेवाले उक्त चारों ज्ञान क्रम से निश्चितग्राही (सलिंगग्राही) अवग्रह आदि और उक्त लिंग के बिना ही उन फूलों को जाननेवाले अनिश्चितग्राही (अलिंगग्राही) अवग्रह आदि कहलाते हैं ।

असदिग्ध का मतलब निश्चित से और संदिग्ध का मतलब अनिश्चित से है; जैसे यह चन्दन का ही स्पर्श है, फूल का नहीं । इस प्रकार से स्पर्श को निश्चित रूप से जानने वाले उक्त चारों ज्ञान निश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं । तथा यह चन्दन का स्पर्श होगा या फूल का, क्योंकि दोनों जीनल होते हैं । इस प्रकार से विशेष की अनुपलब्धि के समय होनेवाले सदेहयुक्त चारों ज्ञान अनिश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं ।

ध्रुव का मतलब अवश्यंभावी और अध्रुव का मतलब कदाचिद् भावी से है । यह देखा गया है कि इन्द्रिय और विषय का संबन्ध तथा मनोयोग

१ इसके स्थान में दिगम्बर ग्रन्थों में 'अनुक्त' ऐसा पाठ है । तदनुसार उनमें अर्थ किया है कि एक ही वर्ण निकलने पर पूर्ण अनुच्चारित शब्द को अभिप्रायमात्र से जान लेना कि आप अमुक शब्द बोलने वाले हैं यह अनुच्चारणग्रह । अथवा स्वर का संचारण करने से पहले ही वीणा आदि वादित्र की ठनक मात्र से जान लेना कि आप अमुक स्वर निकालने वाले हैं यह अनुच्चारणग्रह । इसके विपरीत उच्चारणग्रह है । देखो इसी सूत्र का राजवार्तिक न० १५ ।

क्षेताम्बर ग्रन्थों में नन्दीयत्र में अशंसदिग्ध ऐसा एक मात्र पाठ है । उसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार ही उसकी टीका में है, देखो पृ० १८३ । परन्तु तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति में अनुक्त पाठ भी दिया है । उसका अर्थ पूर्वोक्त राजवार्तिक के अनुसार है । किन्तु वृत्तिकार ने लिखा है कि अनुक्त पाठ रखने से इसका अर्थ सिर्फ शब्द विषयक अवग्रह आदि में ही लागू पड़ सकता है, स्पर्श विषयक अवग्रह आदि में नहीं । इस अपूर्णता के कारण अन्य आचार्यों ने असंदिग्ध पाठ रखा है । देखो तत्त्वार्थभाष्य-वृत्ति, पृ० ५८ मनसुख भगुमाई द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद ।

रूप सामग्री समान होने पर भी एक मनुष्य उठ विषय को अकार ही जान लेता है और दूसरा उठे कभी जान पाता है, कभी नहीं। सामग्री होने पर विषय को अकारण जानने वाले उठ चारों ज्ञान बुद्ध्यादी अकारण आदि कथ्यते हैं और सामग्री होने पर भी अयोपचम की मन्त्रता के कारण फिर से कभी प्रकृत करने वाले और कभी न मन्त्र करनेवाले उठ चारों ज्ञान बुद्ध्यादी अकारण आदि कथ्यते हैं :

✓प्र - उठ चार में से कितने में कितने में विविधता और कितने में अयोपचम की पट्टा-मन्त्रता रूप विविधता के आधार पर कितने गये हैं ?

उ० - बहु, अल्प बहुविध और अल्पविध से चार में विषय की विविधता पर अकारणित है। अल्प अल्प अयोपचम की विविधता पर।

प्र - अब उठ कुछ में कितने हुए ?

उ - दो ही अष्टमी।

प्र - कैसे ?

उ - पौष इन्द्रिया और मन इन छह में के साथ अकारण अदि चार चार में गुणने से चौबीस और बहु, अल्प अदि उक्त चार प्रकार के साथ चौबीस गुणने से ही ही अष्टमी। १९।

सामान्यरूप से अकारण आदि का विषय—

✓ अर्थस्य । १७।

अकारण, इस अकारण कारण से चारों पतितान अर्थ—बलु को प्रकृत करते हैं।

अर्थ का अकारण बलु से है। बलु अल्प-सामान्य और पौष-विषय दोनों को करते हैं। इसलिये यम होता है कि नया इन्द्रियकर्ण

और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान द्रव्यरूप वस्तु को विषय कहते हैं या पर्यायरूप वस्तु को ?

उ०—उक्त अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान मुख्यतया पर्याय को ग्रहण करते हैं, संपूर्ण द्रव्य को नहीं। द्रव्य को चे पर्याय द्वारा ही जानते हैं, क्योंकि इन्द्रिय और मन का मुख्य विषय पर्याय ही है। पर्याय, द्रव्य का एक अंश है। इसलिए अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान द्वारा ज्ञान इन्द्रियों या मन अपने अपने विषयभूत पर्याय को जानते हैं, तब वे उस उस पर्याय रूप से द्रव्य को ही अंशतः जान लेते हैं। क्योंकि द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं रहता और द्रव्य भी पर्याय रहित नहीं होता। जैसे नेत्र का विषय रूप और संस्थान—आकार आदि हैं, जो पुद्गल द्रव्य के पर्याय विशेष हैं। नेत्र आम्रफल आदि को ग्रहण करता है, इसका मतलब सिर्फ यही है कि वह उसके रूप तथा आकार विशेष को जानता है। रूप और आकार विशेष आम से जुड़ा नहीं है इसलिए स्थूल दृष्टि से यह कहा जाता है कि नेत्र से आम देखा गया, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उसने संपूर्ण आम को ग्रहण नहीं किया। क्योंकि आम में तो रूप और संस्थान के अलावा स्पर्श, रस, गन्ध आदि अनेक पर्याय हैं जिनको जानने में नेत्र असमर्थ है। इसी तरह स्पर्शन, रस और घ्राण इन्द्रियों ज्ञान गरम गरम जलेबी आदि वस्तु को ग्रहण करती हैं तब वे कम से उस वस्तु के उष्ण स्पर्श, मधुर रस और सुगंधरूप पर्याय को ही जानती हैं। कोई भी एक इन्द्रिय उस वस्तु के संपूर्ण पर्यायों को जान नहीं सकती। कान भी भाषात्मक पुद्गल के ध्वनि-रूप पर्याय को ही ग्रहण करता है, अन्य पर्याय को नहीं। मन भी किसी विषय के अमुक अंश को ही विचार करता है। एक साथ संपूर्ण अंशों का विचार करने में वह असमर्थ है। इससे यह सिद्ध है कि इन्द्रियजन्य और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि चारों-

ज्ञान प्राप्त हो ही मुझवत्तथा किञ्च करते हैं और इन्हीं को, जिन पर्याय आग ही बनते हैं ।

प्र — पूर्ण सूत्र और इत सूत्र में क्या संभव है ?

उ — पर सूत्र सामान्य का वर्णन करता है और पूर्ण सूत्र विशेष का । अर्थात् इत सूत्र में पर्याय या इन्द्रिय वस्तु को स्वप्न आदि ज्ञान का विषय को सामान्य रूप से बतलाया है उसीकी संख्या जाति आदि ज्ञान प्रयत्न करके बहु, अल्प आदि विशेष रूप से पूर सूत्र में बतलाया है । १७ ।

इन्द्रियों की शानजनन प्रवृत्ति संख्या भिन्नता का कारण अवस्था के अन्तर्गत ये—

व्यञ्जनस्याञ्चग्रहः । १८ ।

न चक्षुरनिन्द्रियाम्याम् । १९ ।

व्यञ्जन—उपकरणेन्द्रिय का विषय के साथ संयोग—होने पर अवस्था ही होता है ।

नेत्र और मन से व्यञ्जन होकर व्यग्रह नहीं होता ।

अपने मनुष्य को बचने में उच्छ्वासी का उत्सव अपेक्षित है वेते ही आत्मा की अदृष्ट वेदना शक्ति को पर्यधीनता के कारण ज्ञान उत्पन्न करने में लक्ष्मी की अपेक्षा है । उसे शारीर उत्सव इन्द्रिय और मन का स्मारक । यह इन्द्रिय और मन का स्मरण एकता नहीं है इन्द्रिय उनके साथ ही नहीं बाकी जगत्प्राय के आविर्भाव का काम भी एकता नहीं होता । यह काम ही प्रकार का है, मन्दकम और पटुकम ।

मन्दकम में प्रत्यक्ष विषय के साथ उत्त उत्त विषय की प्रकार उपकरणेन्द्रिय का संयोग—व्यञ्जन होते ही ज्ञान का आविर्भाव होता है ।

शुरू में ज्ञान की मात्रा इतनी अल्प होती है कि उससे 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध भी होने नहीं पाता परन्तु ज्यों ज्यों विषय और इन्द्रिय का संयोग पुष्ट होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान की मात्रा भी बढ़ती जाती है। उक्त संयोग-व्यञ्जन की पुष्टि के साथ कुछ काल में तज्जनित ज्ञानमात्रा भी इतनी पुष्ट हो जाती है कि जिससे 'यह कुछ है' ऐसा विषय का सामान्य बोध-अर्थावग्रह होता है। इस अर्थावग्रह का पूर्ववर्ती ज्ञानव्यापार जो उक्त व्यञ्जन से उपन्न होता है और उस व्यञ्जन की पुष्टि के साथ ही क्रमशः पुष्ट होता जाता है, वह सब व्यञ्जनावग्रह कहलाता है, क्योंकि उसके होने में व्यञ्जन की अपेक्षा है। यह व्यञ्जनावग्रह नामक दीर्घ ज्ञानव्यापार उत्तरोत्तर पुष्ट होने पर भी इतना अल्प होता है कि उससे विषय का सामान्यबोध तक नहीं होता। इसलिए उसको अव्यक्ततम, अव्यक्ततर, अव्यक्त ज्ञान कहते हैं। जब वह ज्ञानव्यापार इतना पुष्ट हो जाय कि उससे 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध हो सके तब वही सामान्य बोधस्वरूप ज्ञानाश अर्थावग्रह कहलाता है। अर्थावग्रह भी व्यञ्जनावग्रह का एक चरम पुष्ट अंश ही है। क्योंकि उसमें भी विषय और इन्द्रिय का संयोग अपेक्षित है। तथापि उसको व्यञ्जनावग्रह से अलग कहने का और अर्थावग्रह नाम रखने का प्रयोजन यह है कि उस ज्ञानाश से होने वाला विषय का बोध ज्ञान के ध्यान में आ सकता है। अर्थावग्रह के बाद उसके द्वारा सामान्य रूप से जाने हुए विषय की विशेष रूप से जिज्ञासा, विशेष का निर्णय, उस निर्णय की धारा, तज्जन्य मस्कार और संस्कारजन्य स्मृति यह सब ज्ञानव्यापार होता है, जो ईहा, अवाय और धारणा रूप से तीन विभागों में पहले बतलाया जा चुका है। यह बात भूलनी न चाहिए कि इस मद्क्रम में जो उपकरणेन्द्रिय और विषय के संयोग की अपेक्षा नहीं गई है वह व्यञ्जनावग्रह के अंतिम अंश अर्थावग्रह तक ही है। इसके बाद ईहा, अवाय आदि ज्ञानव्यापार में वह संयोग अनिवार्यरूप से अपेक्षित।

यहाँ है क्योंकि उस ज्ञानम्भाषार की प्रवृत्ति विद्येय की ओर होने से उस समय मानसिक अवधान की प्रधानता रहती है। इसी कारण अन्वयान्त रूप व्याख्यान करके प्रस्तुत रूप के अर्थ में कहा गया है कि 'व्यञ्जनस्य कथं एष' व्यञ्जन का अर्थव्यह ही होता है अर्थात् अवग्रह-अन्वय ज्ञान तक ही व्यञ्जन की अपेक्षा है ईहा आदि में नहीं।

पदुक्तम में उपकरणोन्निव और विषय के सग की अपेक्षा नहीं है। वृत्त, वृत्तर होने पर भी बोध्य लक्षिस्थान मात्र से इन्द्रिय उस विषय की प्रवृत्त कर लेती है और प्रवृत्त होते ही उस विषय का उस इन्द्रिय द्वारा शुरू में ही अवग्रह रूप साध्यान्व ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके बाद क्रमशः ईहा अवग्रह आदि ज्ञानम्भाषार पूर्वोक्त संदुक्तम की तरह ही प्रवृत्त होता है। साध्यं यह है कि पदुक्तम में इन्द्रिय के साथ प्रायः विषय का संयोग हुए किना ही ज्ञानभार का आविर्भाव होता है। चित्तका प्रथम अंग अर्थात् अवग्रह और परम अंग स्मृतिरूप धारणा है। इसके विपरीत संदुक्तम में इन्द्रिय के साथ प्रायः विषय का संयोग होने पर ही ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है। चित्तका प्रथम अंग अव्यक्तवम अव्यक्तवस्तु व्यञ्जनावग्रह नामक ज्ञान, दूसरा अंग अर्थात् अवग्रह रूप ज्ञान और परम अंग स्मृतिरूप धारणा ज्ञान है।

संदुक्तम की ज्ञानधारा: चित्ते आविर्भाव के लिए इन्द्रिय-विषय संयोग की अपेक्षा है उसकी स्पष्टता समझने के लिए धारण-नक्षेत्रे का उदात्त उपर्यायी है। जैसे आन्वय-भङ्गे ही से तुल्य विषयों हुए अतिव्यक्त

धारण में पानी का एक निबु जल का जल ही तुल्य ही धारण उते  
 धारण लीन टैल है, यहाँ तक कि उत्तम कोई माध्योनिष्ठान नहीं रहना।  
 इसी तरह भागे भी एक एक कर लाने गए अनेक अव्यक्तवुओं की वह धारण लीन टैल है। पर अन्त में वेना लभ्य आया है जब कि वह अव्यक्तवुओं की लीनने में अवग्रह हीपर उन्नी भीग जाता है और उन्नी टैल हुए

जलकण समूह रूप में इकट्ठे होकर दिखाई देने लगते हैं। शराव की आर्द्रता पहले पहल जत्र मालूम होती है इसके पूर्व में भी शराव में जल था पर उसने इस कदर जल को सोख लिया था कि उसमें जल बिलकुल तिरोभूत हो जाने से वह दृष्टि में आने लायक नहीं था, पर उस शराव में वह था अवश्य। जत्र जल की मात्रा बढ़ी और शराव की सोखने की शक्ति कम हुई तब कहीं आर्द्रता दिखाई देने लगी और जो जल प्रथम शराव के घेरे में नहीं समा गया था वही अब उसके ऊपर के तल में इकट्ठा होने लगा और दिखाई दिया। इसी तरह जत्र किसी सुष्ठु व्यक्ति को पुकारा जाता है तब वह शब्द उसके कान में गायत्र सा हो जाता है। दो चार चार पुकारने से उसके कान में जत्र पौद्गलिक शब्दों की मात्रा काफी रूप में भर जाती है तत्र जलकणों से पहले पहल आर्द्र होने वाले शराव की तरह उस सुष्ठु व्यक्ति के कान भी शब्दों से परिपूरित होकर उनको सामान्य रूप से जानने में समर्थ होते हैं कि 'यह क्या है' यही सामान्य ज्ञान है जो शब्द को पहले पहल स्फुटतया जानता है। इसके बाद विशेष ज्ञान का क्रम शुरू होता है। अर्थात् जैसे कुछ काल तक जलबिंदु पड़ते रहने ही से रुक्ष शराव क्रमशः आर्द्र बन जाता है और उसमें जल दिखाई देता है, वैसे ही कुछ काल तक शब्दपुद्गलों का संयोग होते रहने से सुष्ठु व्यक्ति के कान परिपूरित हो कर उन शब्दों को सामान्य रूप में जान पाते हैं और पीछे शब्दों की विशेषताओं को जानते हैं। यद्यपि यह क्रम सुष्ठु की तरह जाग्रत व्यक्ति में भी बराबर लागू पड़ता है पर वह इतना शीघ्रभावी होता है कि साधारण लोगों के ध्यान में मुश्किल से आता है। इसीलिए शराव के साथ सुष्ठु का साम्य दिखलया जाता है।

पटुकुम की ज्ञानधारा के लिए दर्पण का दृष्टान्त ठीक है। जैसे दर्पण के सामने कोई वस्तु आई की तुरन्त ही उसका उसमें प्रतिबिम्ब पड



कता है और वह दिखाई देता है। इसके लिए दर्पण के साथ प्रतिबिम्बित वस्तु के साक्षात् संयोग की जरूरत नहीं है, जैसे कि ज्ञान के साथ वस्तु के साक्षात् संयोग की। तिरफ़ प्रतिबिम्बित ही दर्पण और प्रतिबिम्बित होनेवाली वस्तु का योग्य हेतु में सन्निधान आवश्यक है। ऐसा सन्निधान ही ही प्रतिबिम्बित पदु खता है और वह तुरन्त ही हील पकता है। इसी तरह नेत्र के जामने कोई रंगवाली वस्तु आरंभ कि तुरन्त ही वह सामान्य रूप में दिखाई देता है। इसके लिए नेत्र और उस वस्तु का संयोग अपेक्षित नहीं है, जैसा कि ज्ञान और वस्तु का संयोग अपेक्षित है। तिरफ़ दर्पण की तरह नेत्र का और उस वस्तु का योग्य सन्निधान चाहिए इसीसे पदुक्रम में पहले पदुका धर्मावग्रह माना गया है।

मन्दकर्मिक ज्ञानवाप में व्यञ्जनावग्रह को स्थान है और पदुक्रमिक ज्ञानवाप में नहीं। इतलिए यह प्रश्न होता है कि व्यञ्जनावग्रह किस किस इन्द्रिय से होता है और किस किस से नहीं। इसीका उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। नेत्र और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता क्योंकि ये दोनों संयोग बिना ही क्रमशः किये हुए योग्य सन्निधान मात्र से और अवधान से अपने अपने प्राग् विषय को जान पाते हैं। यह कौन नहीं जानता कि वृक्ष, वृद्धवर्ती वृक्ष पर्वत आदि को नेत्र ग्रहण कर लेता है और मन वृद्धवर्ती वस्तु का भी चिन्तन कर लेता है। इसीसे नेत्र तथा मन व्याप्यकर्म्य माने गए हैं और उनसे होने वाली ज्ञानवाप को पदुक्रमिक कहा है। कर्म, विद्या, प्राण और स्पर्शन ये चार इन्द्रियों-मन्दकर्मिक ज्ञानवाप की कारण हैं। क्योंकि ये चारों प्राप्यकारी वस्तु प्राग् विषयों से संयुक्त होकर ही उनको प्रज्ञा करती हैं। यह सबका अनुभव है कि जब तक वस्तु ज्ञान में न पड़े, उत्तर जीम से न छोड़े, पुण्य का रजकम नाक में न पुसे और जब वृष्टि को न लूप नव तक न लौ घाम् ही गुनाई देगा न उत्तर का ही स्थान व्याप्यता न वृष्टि की गुण्य ही माहृम देगी और न जब ही उदात्त ना गम्य ज्ञान पड़ेगा।

प्र०—मतिज्ञान के कुल भेद कितने हैं ?

उ०—३३६ । ✓

प्र०—कैसे ?

उ०—पाँच इन्द्रियाँ और मन इन सबके अर्थावग्रह आदि चार चार भेद गिनने से चौबीस तथा उनमें चार प्राप्यकारी इन्द्रियों के चार व्यञ्जनावग्रह जोड़ने से अट्ठाईस । इन सबके बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध आदि बारह बारह भेद गिनने से ३३६ हुए । यह भेद की गिनती स्थूल दृष्टि से । वास्तविक रूप में देखा जाय तो प्रकाश आदि की स्फुटता, अस्फुटता, त्रेपयों की विविधता और क्षयोपशम की विचित्रता के आधार पर तरतमाव वाले असंख्य भेद होते हैं ।

प्र०—पहले जो बहु, अल्प आदि बारह भेद कहे हैं वे विषयगत विशेषों में ही लागू पड़ते हैं, और अर्थावग्रह का विषय तो सामान्य मात्र ! । इससे वे अर्थावग्रह में कैसे घट सकते हैं ?

उ०—अर्थावग्रह दो प्रकार का माना गया है : व्यावहारिक और नैश्वयिक । बहु, अल्प आदि जो बारह भेद कहे गये हैं वे प्रायः व्यावहारिक अर्थावग्रह के ही समझने चाहिएँ, नैश्वयिक के नहीं । क्योंकि नैश्वयिक अर्थावग्रह में जाति-गुण-क्रिया शून्य सामान्य मात्र प्रतिभासित होता है । इसलिए उसमें बहु, अल्प आदि विशेषों का ग्रहण समव ही नहीं ।

प्र०—व्यावहारिक और नैश्वयिक में क्या अन्तर है ?

उ०—जो अर्थावग्रह पहले पहल सामान्यमात्र को ग्रहण करता है वह नैश्वयिक और जिस जिस विशेषग्राही अवायज्ञान के बाद अन्यान्य विशेषों की जिज्ञासा और अवाय होते रहते हैं वे सामान्य-विशेषग्राही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह हैं, वही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह नहीं है

मिसके बाद अन्य विद्योगों की बिहाला न हो । अन्य सभी अभावज्ञान को अपने बाद नये नये विद्योगों की बिहाला पैदा करते हैं वे व्यावहारिक अर्थावग्रह हैं ।

प्र - अर्थावग्रह के बहु, अन्य आदि उक्त वारह में ही के सम्यग् में जो यह कहा गया कि वे मेरे व्यावहारिक अर्थावग्रह के देने चाहिये, नैसर्गिक के नहीं । इत पर प्रश्न होता है कि यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो फिर उक्त रीति से मतिज्ञान के १३६ भेद कैसे हो सकेंगे ? क्योंकि अज्ञान प्रकार के मतिज्ञान के बारह बारह भेद गिनने से १३६ भेद होते हैं और अज्ञान प्रकार में तो चार व्यञ्जनावग्रह भी आते हैं, जो नैसर्गिक अर्थावग्रह के भी पूर्ववर्ती होने से असम्भवं अव्यक्तस्म हैं । इसलिये उनके बारह बारह-कुछ अद्वितीय भेद निकाल देने पड़ेंगे ।

उ - अर्थावग्रह में तो व्यावहारिक को लेकर उक्त वारह भेद स्थापना पटाय जा सकते हैं । इसलिये स्पष्ट यहि से ऐसा उक्त दिख गया है । वास्तव में नैसर्गिक अर्थावग्रह और उसके पूर्ववर्ती व्यञ्जनावग्रह के भी बारह बारह भेद समझ देने चाहिये । तो कार्यकारण की समानता के सिद्धांत पर अर्थात् व्यावहारिक अर्थावग्रह का कारण नैसर्गिक अर्थावग्रह है और उतका कारण व्यञ्जनावग्रह है । अब यदि व्यावहारिक अर्थावग्रह में स्थापत्य से बहु, अन्य आदि विद्योगों का प्रतिभाव होता है तो उतके साधारण कारणभूत नैसर्गिक अर्थावग्रह और अस्पष्टित कारण व्यञ्जनावग्रह में भी उक्त विद्योगों का प्रतिभाव मानना पड़ेगा, यद्यपि वह प्रतिभाव अदृश्य होने से नुर्जेव है । अस्पष्ट हो या स्पष्ट यहाँ सिर्फ नाम ही अनेका से उक्त वारह वारह भेद गिनने चाहिये । १८ १९ ।

भूतज्ञान का स्वरूप और उतके भेद-

भूतं मतिपूर्वं जनेकज्ञादसभेदम् । २ ।

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। वह दो प्रकारका, अनेक प्रकार का और बारह प्रकार का है।

मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य है, क्योंकि मतिज्ञान से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसीसे उसको मतिपूर्वक कहा है। जिस विषय का श्रुतज्ञान करना हो उस विषय का मतिज्ञान पहले अवश्य होना चाहिए। इसीसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का पालन और पूरण करनेवाला कहलाता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का कारण है पर वह बहिरङ्ग कारण है, अन्तरङ्ग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। क्योंकि किसी विषय का मतिज्ञान हो जाने पर भी यदि उक्त क्षयोपशम न हो तो उस विषय का श्रुतज्ञान नहीं हो सकता।

प्र०—मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में भी इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित है फिर दोनों में अन्तर क्या है? जब तक दोनों का भेद स्पष्टतया न जाना जाय तब तक 'श्रुतज्ञान मतिपूर्वक है' यह कथन कोई खास अर्थ नहीं रखता। इसी तरह मतिज्ञान का कारण मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और श्रुतज्ञान का कारण श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है। इस कथन से भी दोनों का भेद ध्यान में नहीं आता क्योंकि क्षयोपशम भेद साधारण बुद्धिगम्य नहीं है।

उ०—मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, विद्यमान तथा भावी इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। इस विषयकृत भेद के सिवा दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता और श्रुतज्ञान में होता है। अतएव दोनों का फलित लक्षण यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख सहित है वह श्रुतज्ञान है, और जो शब्दोल्लेख रहित है वह मतिज्ञान है। सारांश यह है

१ शब्दोल्लेख का मतलब व्यवहारकाल में शब्द शक्तिग्रह जन्यत्व से

कि दोनों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा हमें पर भी समान मति की अपेक्षा भुत का विषय अधिक है और स्पष्टता भी अधिक है। क्योंकि भुत में मनोव्यपार की प्रधानता हमें से विचारार्थ अधिक व स्पष्ट होती है और पूर्वापर का अनुसंधान भी रहता है। अथवा दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इन्द्रिय तथा मनोव्यपार एक ही ही इन्द्रिय का प्राथमिक अपरिपक्व अंश मतिज्ञान और उत्तरवर्ती परिपक्व व लक्ष्य अंश भुतज्ञान है। अतः मैं भी कहा जाता है कि जो ज्ञान माया उदारता का सके वह भुतज्ञान और जो ज्ञान माया में उतारने के परिपक्व को प्राप्त न हो वह मतिज्ञान। अथवा भुतज्ञान को नीर करे। मतिज्ञान को सूक्ष्म कहना चाहिए।

प्र - भुत के दो, अनेक और बारह प्रकार कहे तो कैसे ?

उ - अन्नवास और अन्नप्रविष्ट कर्म से भुतज्ञान दो प्रकार का है इनमें से अन्नवास भुत उत्काधिक-कालिक भेद से अनेक प्रकार का है और अन्नप्रविष्ट भुत आचारान्न, सूक्ष्मवात आदि कर्म से बारह प्रकार का है।

प्र - अन्नवास और अन्नप्रविष्ट का अन्तर किस अपेक्षा से है ?

उ - बहुभेद की अपेक्षा से। तीर्थङ्करों द्वारा प्रकाशित ज्ञान के उनके परम मेधावी साक्षात् विषय गणपतों ने प्रश्न करके जो हारणा प्रीकर्म में लक्ष्य किया वह अन्नप्रविष्ट और काकरोपहत सुदि वरु और आयु की कमी को देखकर सर्वसाधारण के हित के लिए उनी हारणात्री में से मिस्र मिस्र विषयों पर गणपतों के पञ्चाङ्गी द्वारा सुदि आचार्यों में जी शास्त्र रचे थे अन्नवास, अर्थात् त्रित शास्त्र के रचयित हैं अर्थात् इन भुतज्ञान की उत्पत्ति के समय संकेत समय और भुतप्रवृत्त अनुकरण अपेक्षित है वैधे ईसा आदि मतिज्ञान की उत्पत्ति में अपेक्षित नहीं है।

गणधर हैं वह अङ्गप्रविष्ट और जिसके रचयिता अन्य आचार्य हैं, वह अङ्गनाह्य ।

प्र०— बारह अङ्ग कौन से हैं ? और अनेकविध अङ्गनाह्य में मुख्यतया कौन कौन प्राचीन ग्रन्थ गिने जाते हैं ?

उ०— आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह अङ्ग हैं । सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छ आवश्यक तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित आदि शास्त्र अङ्गनाह्य में सम्मिलित हैं ।

प्र०— ये भेद तो ज्ञान को व्यवस्थितरूप में सगृहीत करने वाले शास्त्रों के भेद हैं, तो फिर क्या शास्त्र इतने ही हैं ?

उ०— नहीं । शास्त्र अनेक थे, अनेक हैं, अनेक बनते हैं और आगे भी अनेक बनेंगे वे सभी श्रुत-ज्ञानान्तर्गत ही हैं । यहाँ सिर्फ वे ही गिनाए हैं जिनके ऊपर प्रधानतया जैन शासन का दारोमदार है । परन्तु उनके अतिरिक्त और भी अनेक शास्त्र बने हैं और बनते जाते हैं । इन सभी को अङ्गनाह्य में सम्मिलित कर लेना चाहिए । शर्त इतनी ही है कि वे शुद्ध-बुद्धि और समभाव पूर्वक रचे गए हों ।

प्र०— आंजकल जो विविध विज्ञान विषयक तथा काव्य, नाटक आदि लौकिक विषयक अनेक शास्त्र बनते जाते हैं क्या वे भी श्रुत हैं ?

उ०— अवश्य, वे भी श्रुत हैं ।

प्र०— तब तो वे भी श्रुतज्ञान होने से मोक्ष के लिए उपयोगी हो सकेंगे ?

१ प्रत्येक बुद्ध आदि ऋषियों द्वारा जो कथन किया गया हो वह ऋषि-भाषित । जैसे—उत्तराध्ययन का आठवाँ कापिलीय अध्ययन इत्यादि ।

उ - मोक्ष में उपयोगी बनना या न बनना यह किसी धातु के निमित्त स्वभाव नहीं है पर उसका आचार अधिकारी की मोक्षता पर है अगर अधिकारी योग्य और मुमुक्षु है तो लौकिक धातुओं को भी मोक्ष में उपयोगी बन सकता है और अधिकारी पात्र न हो तो वह आम्नात्मिक को जाने वाले धातुओं से भी अपने को नीचे गिराता है। तथापि विषम और प्रवेता की मोक्षता की दृष्टि से छोड़ोत्तर भुत का विशेषत्व अवश्य है।

प्र - भुत यह ज्ञान है, फिर मायात्मक धातुओं को या वे जिन पर लिखे जाते हैं उन कामका आदि को भुत क्यों कहा जाता है ?

उ - उपचार से, अतः में भुत तो ज्ञान ही है। पर देता इन प्रकाशित करने का तात्पर्य माया है और माया भी देते ज्ञान से ही उत्पन्न होती है तथा कामका आदि भी उस माया को विविध करने के लिये रक्षते के तात्पर्य हैं। इसी कारण माया या कामका आदि को उपचार में भुत कहा जाता है। २ ।

अवधिज्ञान के प्रकार और उनके स्तानी-

— द्विविधोऽधिः २१

तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानात्म् । २२ ।

यथोक्तनिमित्तः पञ्चविकल्प श्लेषाणाम् । २३

अवधिज्ञान दो प्रकार का है। उन दो में से भवप्रत्यय नारक और देवों का होता है।

यथोक्तनिमित्त—अयोपसमस्य अवधि छ प्रकार का है। जो दो अर्थात् विषय तथा मनुष्यों को होता है।

अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय देते दो भेद हैं। जो अवधिज्ञान जन्म सेते ही प्रकट होता है वह भवप्रत्यय अर्थात् ब्रिहते आधिर्भाप के लिए ब्रह्म, निराम आदि अनुष्ठान की अवस्था नहीं है, वह जन्मतिष्ठ अवधिज्ञान भवप्रत्यय कहलाता है। और जो अवधिज्ञान जन्मतिष्ठ नहीं

है किन्तु जन्म लेने के बाद व्रत, नियम आदि गुणों के अनुष्ठान के बल से प्रकट किया जाता है वह गुणप्रत्यय या क्षयोपशमजन्य कहलाता है।

प्र०—क्या भवप्रत्यय अवधिज्ञान क्षयोपशम के बिना ही उत्पन्न होता है?

उ०—नहीं, उसके लिए भी क्षयोपशम तो अपेक्षित ही है।

प्र०—तब तो भवप्रत्यय भी क्षयोपशमजन्य ही ठहरा। फिर भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इन दोनों में क्या अन्तर है?

उ०—कोई भी अवधिज्ञान हो, वह योग्य क्षयोपशम के बिना ही नहीं सकता। इसलिए अवधि-ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तो अवधिज्ञान मात्र का साधारण कारण है। इस तरह क्षयोपशम सबका समान कारण होने पर भी किसी अवधिज्ञान को भवप्रत्यय और किसी को क्षयोपशमजन्य-गुणप्रत्यय कहा है, सो क्षयोपशम के आविर्भाव के निमित्तभेद की अपेक्षा से समझना चाहिए। देहधारियों की कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनमें जन्म लेते ही योग्य क्षयोपशम और तद्द्वारा अवधिज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। अर्थात् उन जाति वालों को अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए उस जन्म में कोई तप आदि अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। अतएव ऐसी जातिवाले सभी जीवों को न्यूनाधिक रूप में जन्म-सिद्ध अवधिज्ञान अवश्य होता है और वह जीवन पर्यन्त रहता है। इसके विपरीत कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें जन्म लेने के साथ ही अवधिज्ञान प्राप्त होने का नियम नहीं है। ऐसी जाति वालों को अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए तप आदि गुणों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। अतएव ऐसी जाति वाले सभी जीवों में अवधिज्ञान सभव नहीं होता। सिर्फ उन्हीं में होता है जिन्होंने उस ज्ञान के लायक गुण पैदा किये हों। इसीसे क्षयोपशम रूप अन्तरङ्ग कारण समान होने पर भी उसके लिए किसी जाति में सिर्फ जन्म की और किसी जाति में तप आदि गुणों की अपेक्षा होने से



सुमीति की दृष्टि से अविद्याज्ञान के महाप्रत्यय और गुणप्रत्यय ऐसे दो नाम रखते गए हैं ।

देहायी जीवों के चार वर्ग किये हैं : नारक, देव, तिर्यञ्च और मनुष्य । इनमें से पहले दो वर्गवाले जीवों में महाप्रत्यय अर्थात् जन्म से ही अविद्याज्ञान होता है और पिछले दो वर्गवालों में गुणप्रत्यय अर्थात् गुणों से अविद्याज्ञान होता है ।

प्र - जब सभी अविद्याज्ञान वाले देहायी ही हैं तब ऐसा क्यों है कि किसी को तो प्रकृत किये बिना ही जन्म से वह प्राप्त हो और किसी को उसके लिए खास प्रकृत करना पड़े ?

उ - कार्य की विशिष्टता अनुभवविद् है । यह कौन नहीं जानता कि पक्षीजाति में जन्म लेने ही से आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और इसके विपरीत मनुष्य जाति में जन्म लेने मात्र से कोई आकाश में उड़ नहीं सकता जब तक कि विमान आदि का सहाय न किया जाय । अथवा जैसे—कितनों में काम्यशक्ति जन्मविद् होती है और दूसरे कितनों को वह प्रकृत किये बिना प्राप्त ही नहीं होती ।

तिर्यञ्च और मनुष्य में पाये जाने वाले अविद्याज्ञान के छह भेद बतलाए गये हैं । वे ये हैं : आसुगामिक, अमानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, अविद्यत और असवस्थित ।

१ जैसे कित स्थान में बन्ध आदि किसी वस्तु को रंग लगाया हो उसे स्थान से उठे इस लेने पर भी उसका रंग कायम ही रहता है वैसे ही जो अविद्याज्ञान उसके उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़ कर दूसरी जगह चले जाने पर भी कायम रहता है वह आनुगामिक है ।

२ जैसे किसी का व्योक्तिर ज्ञान ऐसा होता है कि कितने वह प्रथम कहीं कहीं उठकर दूसरे स्थान में ही रहे सकता है, दूसरे स्थान में नहीं,

वैसे ही जो अवधिज्ञान उसके उत्पत्ति स्थान को छोड़ देने पर कायम नहीं रहता वह अनानुगाभिक है ।

३. जैसे दियासलाई या अराणि आदि से पैदा होने वाली आग की चिनगारी बहुत छोटी होने पर भी अधिक अधिक सूखे इधन आदि को पाकर क्रमशः बढ़ती है वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्तिकाल में अल्प विषयक होने पर भी परिणाम शुद्धि बढ़ने के साथ ही क्रमशः अधिक अधिक विषयक होता जाता है वह वर्धमान है ।

४. जैसे परिमित दाक्ष वस्तुओं में लगी हुई आग नया दाक्ष न मिलने से क्रमशः घटती ही जाती है वैसे जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषय होने पर भी परिणाम शुद्धि कम हो जाने से क्रमशः अल्प अल्प विषयक होता जाता है वह हीयमान है ।

५. जैसे किसी प्राणी को एक जन्म में प्राप्त हुआ पुरुष आदि वेद या दूसरे अनेक तरह के शुभ-अशुभ सस्कार उसके साथ दूसरे जन्म में जाते हैं या आजन्म कायम रहते हैं, वैसे ही जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में कायम रहता है या केवल ज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त किंवा आजन्म ठहरता है वह अवस्थित है ।

६. जलतरङ्ग की तरह जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत होता है और कभी तिरोहित हो जाता है वह अनवस्थित है ।

यद्यपि तीर्थङ्कर मात्र को तथा किसी अन्य मनुष्य को भी अवधिज्ञान जन्मसिद्ध प्राप्त होता है, तथापि उसे गुणप्रत्यय ही समझना चाहिए । क्योंकि योग्य गुण न होने पर वह अवधिज्ञान आजन्म कायम नहीं रहता, जैसा कि देव या नरकगति में रहता है । २१, २२, २३ ।

मन पर्याय के भेद और उनका अन्तर-

अनुविपुलमती मनपर्यायः । २४ ।

विद्वन्व्यप्रतिपासाभ्या तद्विषयेः । २५ ।

अनुमति और विपुलमति वे दो मनापर्याय हैं ।

विद्वन्नि से और पुनश्चतम के अभाव से उन दोनों का अन्तर है ।

मनवाचे—संज्ञी—शब्दी किसी भी वस्तु का चिन्तन मन से करते हैं ।

चिन्तन के समय चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार चिन्तनकार्य में प्रवृत्त

मन भिन्न भिन्न आहृतियों को चारण करता रहता है । वे आहृतियाँ ही

मन के पर्याय हैं और उन मानसिक आहृतियों को वाच्यत्त्व जाननेवाला

ज्ञान मनपर्याय ज्ञान है । इस ज्ञान के बल से चिन्तनशील मन की आहृ

तियाँ जानी जाती हैं पर चिन्तनीय वस्तुएँ नहीं जानी जा सकतीं ।

प्र —तो फिर क्या चिन्तनीय वस्तुओं को मनापर्याय ज्ञानी जान नहीं सकता ?

उ —ज्ञान लक्षता है पर पीछे से अनुमान द्वारा ।

॥ —तो कैसे ?

उ —जैसे कोई मानसशास्त्र का अभ्यासी किसी का चेहरा या हाव-

भाव प्रत्यक्ष देखकर उसके आचार पर उस व्यक्ति के मनोगत भावों और

सामर्थ्य का ज्ञान अनुमान से करता है वैसे ही मनापर्याय-ज्ञानी मनापर्याय-

ज्ञान से किसी के मन की आहृतियों को प्रत्यक्ष देखकर बाद में अभ्यासबध

द्वारा अनुमान कर लेता है कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिन्तन

किया क्योंकि इसका मन उस वस्तु के चिन्तन के समय अवसर होनेवाला

अमुक प्रकार की आहृतियों से युक्त है ।

प्र — अनुमति और विपुलमति का क्या अर्थ है ?

उ —जो विषय जो सामान्य रूप से जानता है वह अनुमति मनः

पर्याय और जो विशेष रूप से जानता है वह विपुलमतिमनापर्याय है ।

प्र०—जब ऋजुमति सामान्यग्राही है तब तो वह दर्शन ही हुआ, उसे ज्ञान क्यों कहते हो ?

उ०—वह सामान्यग्राही है—इसका मतलब इतना ही है कि वह विशेषों को जानता है, पर विपुलमति जितने विशेषों को नहीं जानता ।

ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान विशुद्धतर होता है । क्योंकि वह ऋजुमति की अपेक्षा सूक्ष्मतर और अधिक विशेषों को स्फुटतया जान सकता है । इसके सिवा दोनों में यह भी अन्तर है कि ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कदाचित् चला भी जाता है, पर विपुलमति चला नहीं जाता, वह केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त अवश्य बना रहता है । २४, २५, ।

अवधि और मन पर्याय का अन्तर—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन पर्याययो । २६ ।

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय द्वारा अवधि और मनःपर्याय का अन्तर जानना चाहिए ।

यद्यपि अवधि और मन पर्याय ये दोनों पारमार्थिक विकल-अपूर्ण प्रत्यक्ष रूप से समान हैं तथापि दोनों में कई प्रकार से अन्तर है । जैसे विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत, स्वामिकृत और विषयकृत । १ मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत विशद रूप से जानता है इसलिए उससे विशुद्धतर है । २ अवधिज्ञान का क्षेत्र अगुल के असख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है और मनःपर्यायज्ञान का क्षेत्र तो मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त ही है । ३ अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति वाले हो सकते हैं, पर मनःपर्याय के स्वामी सिर्फ सयत मनुष्य हो सकते हैं । ४ अवधि का विषय कतिपय पर्याय सहित रूपी द्रव्य है, पर मनःपर्याय का विषय तो सिर्फ उसका अनन्तवाँ भाग है अर्थात् मात्र मनोद्रव्य है ।

प्र -विषय कम होने पर भी मनापर्याय अर्थात् से विद्युत्तर माना गया, सो कैसे ?

उ -विद्युत्त का आचार विषय की म्यूनाधिकता पर नहीं है किन्तु विषयगत म्यूनाधिक सूक्ष्मताओं को जानने पर है। जैसे ही व्यक्तियों में से एक ऐसा हो जो अनेक शास्त्रों को जानता हो और वृत्त तर्क एक शास्त्र को; तो भी अगर अनेक शास्त्रों की अपेक्षा एक शास्त्र जानने वाला व्यक्ति अपने विषय की सूक्ष्मताओं को अधिक जानता हो तो उसका ज्ञान पहले की अपेक्षा विद्युत्तर कहलाता है। जैसे ही विषय अल्प होने पर भी उसकी सूक्ष्मताओं को अधिक जानने के कारण मनापर्याय अर्थात् से विद्युत्तर कहा जाता है। २६।

पौंशो ह्ये के प्राय विषय—

मतिभ्रुतयोर्निबन्ध सर्वद्रव्येष्वसवपयपिपु । २७ ।

रूपिष्ववधे । २८ ।

तदनन्तमागे मनापर्यायस्य । २९ ।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । ३० ।

मति और भ्रुतज्ञान की प्रकृति—श्रद्धाता सर्व पर्याय रहित अर्थात् परिमित पर्यायों से युक्त एक द्रव्य में होती है।

अवधिज्ञान की प्रकृति सर्व पर्याय रहित तर्क रूपी—मूर्त द्रव्यों में होती है।

मनापर्यायज्ञान की प्रकृति उक्त रूपी द्रव्य के सर्व पर्याय रहित अनन्त माग में होती है।

केवलज्ञान की प्रकृति सभी द्रव्यों में और सभी पर्यायों में होती है।

मति और भ्रुतज्ञान के द्वारा सभी अरूपी सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं।

प्र०-उक्त कथन से जान पड़ता है कि मति और श्रुत के ग्राह्य विषयों में न्यूनाधिकता है ही नहीं, सो क्या ठीक है ?

उ०-द्रव्यरूप ग्राह्य की अपेक्षा से तो दोनों के विषयों में न्यूनाधिकता नहीं है। पर पर्याय रूप ग्राह्य की अपेक्षा से दोनों के विषयों में न्यूनाधिकता अवश्य है। ग्राह्य पर्यायों की कमी-वेशी होने पर भी समानता सिर्फ इतनी है कि वे दोनों जान द्रव्यों के परिमित पर्यायों को ही जान सकते हैं सपूर्ण पर्यायों को नहीं। मतिज्ञान वर्तमानग्राही होने से इन्द्रियों की शक्ति और आत्मा की योग्यता के अनुसार द्रव्यों के कुछ कुछ वर्तमान पर्यायों को ही ग्रहण कर सकता है, पर श्रुतज्ञान त्रिकालग्राही होने से तीनों काल के पर्यायों को योडे बहुत प्रमाण में ग्रहण कर सकता है।

प्र०-मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों से पैदा होता है और वे इन्द्रियाँ सिर्फ मूर्त्त द्रव्य को ही ग्रहण करने का सामर्थ्य रखती हैं। फिर मतिज्ञान के ग्राह्य सब द्रव्य कैसे माने गए ?

उ०-मतिज्ञान इन्द्रियों की तरह मन से भी होता है, और मन स्वानुभूत या शास्त्रश्रुत सभी मूर्त्त, अमूर्त्त द्रव्यों का चिन्तन करता है। इसलिए मनोजन्य मतिज्ञान की अपेक्षा से मतिज्ञान के ग्राह्य सब द्रव्य मानने में कोई विरोध नहीं है।

प्र०-स्वानुभूत या शास्त्रश्रुत विषयों में मन के द्वारा मतिज्ञान भी होगा और श्रुतज्ञान भी, तब दोनों में फर्क क्या रहा ?

उ०-जब मानसिक चिन्तन, शब्दोल्लेख सहित हो तब श्रुतज्ञान और जब उससे रहित हो तब मतिज्ञान।

परम प्रकृष्टप्रति परमावाधि-ज्ञान जो अलोक में भी लोकप्रमाण असख्यात खण्डों को देखने का सामर्थ्य रखता है वह भी सिर्फ मूर्त्त द्रव्यों का

साक्षात्कार कर सकता है, मूर्तों का नहीं। इसी तरह वह मूर्त द्रव्यों के भी समग्र पर्यायों को नहीं जान सकता।

मनःपर्याय-ज्ञान भी मूर्त द्रव्यों का ही साक्षात्कार करता है पर अविज्ञान कितना नहीं। क्योंकि अविज्ञान के द्वारा सब प्रकार के पुरुषद्रव्य ग्रहण किये जा सकते हैं पर मनःपर्याय ज्ञान के द्वारा सिर्फ मनरूप बने हुए पुरुष और भी वे मानुषोत्तर स्तर के अन्तर्गत ही ग्रहण किये जा सकते हैं। इसीसे मनःपर्यायज्ञान का विषय अविज्ञान के विषय का अनन्तर्गत भाग कहा गया है। मनःपर्याय ज्ञान भी कितना ही विशुद्ध क्यों न हो; पर अपने प्रत्यक्ष द्रव्यों के संपूर्ण पर्यायों को जान नहीं सकता। यद्यपि मनः पर्याय ज्ञान के द्वारा साक्षात्कार तो सिर्फ चिन्तनशील मूर्त मन का ही होता है, पर पीछे होनेवाले अनुमान से तो उस मन के द्वारा चिन्तन किये गये मूर्त, अमूर्त सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं।

माति आदि चारों ज्ञान कितने ही शुद्ध क्यों न हों पर वे चेतनाशक्तिके अपूर्ण विकाररूप होने से एक भी वस्तु के समग्र भागों को जानने में असमर्थ हैं। यह निबन्ध है कि जो ज्ञान किसी एक वस्तु के संपूर्ण भागों को जान लके वह सब वस्तुओं के संपूर्ण भागों को भी ग्रहण कर सकता है वही ज्ञान पूर्णज्ञान कहलाता है; इसीको केवलज्ञान करते हैं। यह ज्ञान चेतनाशक्तिके संपूर्ण विकार के समय प्रकट होता है। इसलिये लुके अपूर्णताग्रह्य भेद-प्रमेद नहीं हैं। कोई भी वस्तु या भाग ऐसा नहीं है जो इसके द्वारा ग्रहण न जाया जा सके। इसी कारण केवलज्ञान की प्रकृति नव द्रव्य और सब पर्यायों में मानी गई है। २७-३ ।

एक भाग्य में एक ताप पाये जानेवाले ज्ञानों का पणन-

एकादीनि भाज्यानि युगपदस्मिन्ना चतुर्भ्यः । ३१ ।

एक भाग्य में एक ताप एक ने लेकर चार तक ज्ञान भजना से-  
अनिबन्ध रूप से होते हैं।

किसी आत्मा में एक साथ एक, किमी में दो, किमी में तीन और किसी में चार ज्ञान तक संभव है, पर पाँचों ज्ञान एक साथ किसी में नहीं होते। जब एक होता है तब केवलज्ञान समझना चाहिए, क्योंकि केवलज्ञान परिपूर्ण होने से उसके समय अन्य अपूर्ण कोई ज्ञान संभव ही नहीं। जब दो होते हैं तब मति और श्रुत, क्योंकि पाँच ज्ञान में से नियत सहचारी दो ज्ञान ये ही हैं। शेष तीनों एक दूसरे को छोड़कर भी रह सकते हैं। जब तीन ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत और अवाधि ज्ञान या मति, श्रुत और मनःपर्याय ज्ञान। क्योंकि तीन ज्ञान अपूर्ण अवस्था में ही संभव हैं और उस समय चाहे अवाधिज्ञान हो या मनःपर्यायज्ञान; पर मति और श्रुत—दोनों अवश्य होते हैं। जब चार ज्ञान होते हैं तब मति श्रुत, अवाधि और मन पर्याय, क्योंकि ये ही चारों ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी होने से एक साथ हो सकते हैं। केवलज्ञान का अन्य किसी ज्ञान के साथ साहचर्य इसलिए नहीं है कि वह पूर्ण अवस्थाभावी है और शेष सभी अपूर्ण अवस्थाभावी। पूर्णता तथा अपूर्णता का आपस में विरोध होने से दो अवस्थाएँ एक साथ आत्मा में नहीं होतीं। दो, तीन या चार ज्ञानों को एक साथ संभव कहा गया, सो शक्ति की अपेक्षा से, प्रवृत्ति की अपेक्षा से नहीं।

प्र०— इसका मतलब क्या ?

उ०— जैसे मति और श्रुत—दो ज्ञानवाला या अवाधि सहित तीन ज्ञानवाला कोई आत्मा जिस समय मतिज्ञान के द्वारा किसी विषय को जानने में प्रवृत्त हो उस समय वह अपने में श्रुत की शक्ति या अवाधि की शक्ति होने पर भी उसका उपयोग करके तद्द्वारा उसके विषयों को जान नहीं सकता। इसी तरह वह श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति के समय मति या अवाधि शक्ति को भी काम में ला नहीं सकता। यही बात मन पर्याय की



शक्ति के विषय में समझनी चाहिए। सारांश यह है कि एक आत्म में एक साथ अधिष्ठित दो अधिकार ज्ञान शक्तियों हों तब भी एक तन्म में कोई एक ही शक्ति अपना जानने का काम करती है। अन्य शक्तियों उस तन्म निष्क्रिय रहती हैं।

केवलज्ञान के समय मति आदि चारों ज्ञान गरी होते। यह सिद्धांत सामान्य होने पर भी उलट्टी उपपत्ति हो तरह से की जाती है—कोई आचार्य करते हैं कि केवलज्ञान के समय भी मति आदि चारों ज्ञान शक्तियों होती हैं पर वे पूर्वप्रकाश के समय मद्, नख्य आदि के प्रकाश की तरह केवलज्ञान की प्रकृति से अभिभूत हो जाने के कारण अपना अपना ज्ञान कम कार्य कर नहीं सकती। इतने शक्तियों होने पर भी केवलज्ञान के समय मति आदि ज्ञानपर्याय नहीं होते।

इसके आचार्यों का कथन है कि मति आदि चार ज्ञान शक्तियों आत्मा में स्वाभाविक नहीं है; किन्तु कर्म-संश्लेषण कब होने के औपाधिक अर्थात् कर्म सापेक्ष हैं। इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने पर—बस कि केवलज्ञान प्रकट होता है—उन औपाधिक शक्तियों तन्म ही नहीं हैं। इसकाय केवलज्ञान के समय कैवल्यशक्ति के सिवा क ही अन्य कोई ज्ञानशक्तियों ही हैं और न उनका मति आदि ज्ञानपर्याय रूप कार्य ही। ३१।

विपर्ययज्ञान का निर्धारण और विपर्ययता के हेतु—

मतिभ्रुताऽप्यद्यो विपर्ययश्च । ३२ ।

सदसतीरविद्योपाह यदन्धोपसम्भ्रुन्मत्तयत् । ३३ ।

मति भ्रुत और अशक्ति ये तीन विपर्यय—भ्रुतानस्य ही है।

वास्तविक और अपारलभिक का अन्तर न जानने के यत्प्रत्योपस्तीव्र—विपारलभ्य उपलब्धि के कारण उन्नत की तरह ज्ञान भी भ्रुत ही है।

मति, श्रुत आदि पाँचों चेतनाशक्ति के पर्याय हैं। अपने अपने विषय को प्रकाशित करना उनका कार्य है। इसलिए वे सभी ज्ञान कहलाते हैं। परन्तु उनमें से पहले तीन, ज्ञान और अज्ञान रूप माने गए हैं। जैसे मतिज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुतज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अविधिज्ञान, अविधि-अज्ञान अर्थात् विमलज्ञान।

प्र०—मति, श्रुत और अविधि ये तीन पर्याय अपने अपने विषय का बोध कराने के कारण जत्र ज्ञान कहलाते हैं तत्र उन्हीं को अज्ञान क्यों कहा जाता है? क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध अर्थ के वाचक होने से एक ही अर्थ में प्रकाश और अन्धकार शब्द की तरह लागू नहीं हो सकते।

उ०—उक्त तीनों पर्याय लौकिक संकेत के अनुसार तो ज्ञान ही हैं, परन्तु यहाँ जो उन्हें ज्ञान और अज्ञानरूप कहा जाता है सो शास्त्रीय संकेत के अनुसार। आध्यात्मिक शास्त्र का यह संकेत है कि मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अविधि ये तीनों ज्ञानात्मक पर्याय अज्ञान ही हैं और सम्यग्दृष्टि के उक्त तीनों पर्याय ज्ञान ही मानने चाहिए।

प्र०—यह संभव नहीं कि सिर्फ सम्यग्दृष्टि आत्मा प्रामाणिक व्यवहार चलाते हों और मिथ्यादृष्टि न चलाते हों। यह भी संभव नहीं कि सम्यग्दृष्टि को सशय-भ्रम रूप मिथ्याज्ञान त्रिलकुल न होता हो और मिथ्यादृष्टि को होता ही हो। यह भी मुमकिन नहीं कि इन्द्रिय आदि साधन सम्यग्दृष्टि के तो पूर्ण तथा निर्दोष ही हों और मिथ्यादृष्टि के अपूर्ण तथा दुष्ट ही हों। यह भी कौन कह सकता है कि विज्ञान, साहित्य आदि विषयों पर अपूर्व प्रकाश डालने वाले और उनका यथार्थ निर्णय करनेवाले सभी सम्यग्दृष्टि हैं। इसलिए यह प्रश्न होता है कि अध्यात्मशास्त्र के पूर्वोक्त ज्ञान-अज्ञान सन्नन्धी संकेत का आधार क्या है?

उ०—आध्यात्मिक ज्ञान का आधार आध्यात्मिक दृष्टि है, लौकिक दृष्टि नहीं। जीव दो प्रकार के है : मोक्षाभिमुख और संसारभिमुख। मोक्षाभिमुख आत्मा में समभाव की भाषा और आत्मविवेक होता है। इसलिये वे अपने सभी ज्ञानों का उपयोग समभाव की पुष्टि में ही करते हैं। सांसारिक वासना की पुष्टि में नहीं। यही कारण है कि बाह्य लौकिक दृष्टि से उनका ज्ञान अल्प ही हो पर वह ज्ञान कहा जाता है। इसके विपरीत संसारभिमुख आत्मा का ज्ञान लौकिक दृष्टि से कितना ही विद्याल और स्पष्ट हो पर वह समभाव का पोषक न होकर जितने परिमाण में सांसारिक-वासना का पोषक होता है उतने ही परिमाण में अज्ञान कर्मकता है। जैसे कभी उन्मत्त मनुष्य भी सोने की लोना और चांदी की लोहा मानकर बर्तार्य ज्ञान धर्म कर लेता है पर उन्मत्त के कारण वह सत्य-असत्य का अन्तर जानने में असमर्थ होता है। इससे उलझ सच्चा-झूठा सभी ज्ञान विचाररहस्य या अज्ञान ही कर्मकता है। जैसे ही संसारभिमुख आत्मा कितना ही अधिक ज्ञानवाच्य क्यों न हो पर आत्म के विषय में भ्रंश होने के कारण उलझ सारा लौकिक ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही है।

साधुंश्च, उन्मत्त मनुष्य को अधिक विभूति हो भी व्यव और कभी बस्तु का बर्तार्य बीच भी हो चाय तथापि उलझ उन्मत्त ही बरदा है, जैसे ही मिथ्या-दृष्टि आत्मा जितके रण-रूप की तीक्ष्णता और आत्म्य का अज्ञान होता है वह अपनी विद्याल ज्ञानराशि का भी उपयोग सिर्फ सांसारिक वासना की पुष्टि में करता है। इसीसे उसके ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है। इसके विपरीत उन्मत्तदृष्टि आत्मा जितमें रण-रूप की तीक्ष्णता न हो और आत्मज्ञान हो वह अपने पीछे भी लौकिक ज्ञान का उपयोग आत्मिक पुष्टि में करता है। इसलिये उसके ज्ञान को ज्ञान कहा है वह आध्यात्मिक दृष्टि है। ३२, ३३।

नय के भेद-

नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दा नयाः । ३४ ।

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ । ३५ ।

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पाँच नय हैं ।

आद्य अर्थात् पहले-नैगम के दो और शब्द के तीन भेद हैं ।

नय के भेदों की संख्या के विषय में कोई एक निश्चित परंपरा नहीं है । इनकी तीन परंपराएँ देखने में आती हैं । एक परंपरा तो तीघे तौर पर पहले से ही सात भेदों को मानती है, जैसे कि-नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत । यह परंपरा जैनागमों और दिग्गम्वर ग्रन्थों की है । दूसरी परंपरा सिद्धसेन दिवाकर की है । वे नैगम को छोड़कर बाकी के छ भेदों को मानते हैं । तीसरी परंपरा प्रस्तुत सूत्र और उनके भाष्यगत है । इसके अनुसार नय के मूल पाँच भेद हैं और बाद में प्रथम नैगम नय के (भाष्य के अनुसार) देश-परिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी ऐसे दो तथा पाँचवें शब्द नय के साप्रत, समभिरूढ और एवभूत ऐसे तीन भेद हैं ।

किन्हीं भी एक या अनेक चीजों के बारे में एक या अनेक व्यक्तियों के विचार अनेक तरह के होते हैं । अर्थात् एक ही वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न विचारों की यदि गणना की जाए, तो वे नयों के निरूपण का भाव क्या है ? अपरिमित प्रतीत होंगे । अतः तद्विषयक प्रत्येक विचार का बोध करना अशक्य हो जाता है । इसलिए उनका अतिसक्षिप्त और अतिविस्तृत प्रतिपादन छोड़ करके मध्यम-मार्ग से प्रतिपादन करना-यही नयों का निरूपण है । नयों का निरूपण अर्थात् विचारों का वर्गीकरण । नयवाद का अर्थ है-विचारों की मीमासा ।

नमस्कार में सिर्फ विचारों के कारण, उनके परिचाम या उनके किरणों की ही चर्चा नहीं आती। किन्तु जो विचार परस्पर विरुद्ध दिखा पड़ते हैं, और वास्तव में भिन्न विरोध है नहीं—ऐसे विचारों में अभिव्यक्ति के बीच की गवेषणा करना यही इस बाद का मुख्य उद्देश्य है। अतः नमस्कार की संक्षिप्त व्याख्या इस तरह हो सकती है कि—परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले विचारों के वास्तविक अभिव्यक्ति के बीच की परीक्षा करके उन विचारों का समन्वय करने का उद्देश्य है। जैसे आत्म के बारे में ही परस्पर विरुद्ध मन्त्रम्य मिलते हैं। किसी का कहना है 'आत्म एक है' ऐसा कथन है तो अन्यथा 'अनेक है' ऐसा भी मिलता है। एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि—इन दोनों का वह विरोध वास्तविक है या नहीं? यदि वास्तविक नहीं, तो क्यों? इसका जवाब नमस्कार में ईदु निरूपण है और ऐसा समन्वय किया है कि—ज्यादा कम से देखा जाय तो आरम्भिक अनेक हैं, किन्तु यदि शुद्ध चैतन्य की ओर दृष्टि है तब तो एक ही है। इस तरह का समन्वय करके नमस्कार परस्पर विरोधी वाक्यों का भी व्यवस्था—एकवाक्यता ठिक करता है। इसी तरह आत्म के विषय में परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले—निष्कल-अनित्यत्व कर्तृत्व-अकर्तृत्व आदि सर्वों का भी अभिव्यक्ति नमस्कार से ही ठिक होता है। ऐसे अभिव्यक्ति का बीच विचारक की दृष्टि—सात्पर्य—में ही है। इसी दृष्टि के लिए प्रस्तुत शब्दों में अपेक्षा शब्द है। अतः नमस्कार अपेक्षावाद भी कहा जाता है।

प्रथम क्रिय शब्द ज्ञान निरूपण में भूत की चर्चा का बुझी है।

नमस्कार की योजना  
अध्यासियों, और  
उससे विशेष्य कैसे?

भूत विचारारम्भक ज्ञान है और नम भी एक तरह का विचारारम्भक ज्ञान होने से भूत में ही समा जाता है।  
—यही प्रथम यह प्रथम उपस्थित होता है कि भूत का

निरूपण हो जाने के बाद नयों को उससे भिन्न करके नयवाद की देशना अलग क्यों की जाती है ? जैन तत्त्वज्ञान की एक विशेषता नयवाद के कारण मानी जाती है, लेकिन नयवाद तो श्रुत है, और श्रुत कहते हैं आगम प्रमाण को । जैन-दर्शनों में भी प्रमाण चर्चा और उसमें भी आगम-प्रमाण का निरूपण है ही । अतः सहज ही दूसरा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आगम-प्रमाण की चर्चा इतर दर्शनों में भी मौजूद है, तब आगम-प्रमाण में समाविष्ट ऐसे नयवाद की सिर्फ अलग देशना करने से ही जैन-दर्शन की तत्कृत विशेषता कैसे मानी जाय ? अथवा यों कहना चाहिए कि श्रुत-प्रमाण के अतिरिक्त नयवाद की स्वतंत्र देशना करने में जैन-दर्शन के प्रवर्तकों का क्या उद्देश्य था ?

श्रुत और नय ये दोनों विचारात्मक ज्ञान तो हैं ही । फिर भी दोनों में फर्क यह है कि—किसी भी विषय को सर्वांश में स्पर्श करने वाला अथवा सर्वांश से स्पर्श करने का प्रयत्न करने वाला विचार श्रुत है और उसी विषय के किसी एक अंश को स्पर्श करके बैठ जानेवाला विचार नय है । इसी कारण नय को स्वतंत्र रूप से प्रमाण नहीं कह सकते फिर भी वह अप्रमाण नहीं है । जैसे अंगुली के अग्रभाग को अंगुली नहीं कह सकते, वैसे ही उसको 'अंगुली नहीं है' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह अंगुली का अंश तो है ही । इसी तरह नय भी श्रुत प्रमाण का अंश है । विचार की उत्पत्ति का क्रम और तत्कृत व्यवहार—इन दो दृष्टियों से नय का निरूपण—श्रुत प्रमाण से भिन्न करके किया गया है । किसी भी वस्तु के विभिन्न अंशों के विचार ही अन्त में विशालता या समग्रता में परिणत होते हैं । विचार जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं, उसी क्रम से तत्त्वबोध के उपायरूप से उनका वर्णन होना चाहिए । इस बात के मान लेने से ही स्वाभाविक तौर से नय का निरूपण श्रुत प्रमाण से अलग करना प्राप्त हो जाता है, और किसी एक

विषय का किटना भी समग्रस्य से ज्ञान हो तब भी व्यवहार में तो उक्त ज्ञान का उपयोग एक एक अंश को लेकर ही होता है। और इसीविषय समग्र विचारारम्भक श्रुत से अंश विचारारम्भक नय का निश्चय मिल करण प्राप्त होता है।

यद्यपि जैन-दर्शनों में आगम-ग्रन्थों की चर्चा है तथापि उही ग्रन्थों में सम्प्रविष्ट ऐसे नयवाह की जो जैन-दर्शन ने कभी प्रतिष्ठा की है, उसका कारण निम्नोक्त है और यही कारण इसकी विशेषता के दिने पर्यत है। सामान्यतः मनुष्य की ज्ञानवृत्ति अपूर्ण होती है और अस्मिता-प्रति-निवेद्य अस्माधिक होता है। फलतः जब वह किसी भी विषय में कुछ भी सोचता है तब वह उसको ही अन्तिम व सम्पूर्ण मानने को प्रेरित होता है। और इसी प्रेरणा के वश वह दूसरे के विचारों को सम्झने की धीरज को डेढ़ता है। अतएव वह अपने आधिक ज्ञान में ही संपूर्णता का आरोप कर देता है। इस आरोप के कारण एक ही वस्तु के बारे में तब से अधिक निश्चय-निश्चय विचार करने वाली के बीच सामंजस्य नहीं रहता। फलतः पूर्व और उत्तर ज्ञान का द्वार बन्द हो जाता है।

आत्म आदि किसी भी विषय में अपने ज्ञान पुण्य के आधिक विचार को ही जब कोई एक दर्शन संपूर्ण मान कर बसता है तब वह विरोधी होने पर भी अर्थात् विचार करने वाले दूसरे दर्शनों की अप्रामाण्य श्रुत कह कर उनकी अस्वीकार्यता करता है। इसी तरह दूसरा दर्शन उसकी और फिर दोनों किसी तीसरे की अस्वीकार्यता करते हैं। फलतः समता की वजह विषमता और विचार काटने ही जाती है। इसी से उत्तर और पूर्व ज्ञान का द्वार लौटने और विचार दूर करने के लिए ही नयवाह की प्रतिष्ठा की गई है। और उससे यह सूचित किया गया है कि प्रत्येक विचारक को चाहिए कि अपने विचार की आगमग्रन्थों करने से पूर्व यह देख के कि-

वह विचार प्रमाण-कोटिमें आने योग्य सर्वांशी है या नहीं। ऐसी सूचना करना यही नयवाट के द्वारा जैन-दर्शन की विशेषता है।

किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करने वाला सामान्य लक्षण विचार नय है।

सक्षेप में नय के दो भेद किये गए हैं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

जगत में छोटी या बड़ी सभी वस्तुएँ एक दूसरे से न तो सर्वथा असमान ही होती हैं न सर्वथा समान ही। इनमें समानता और असमानता—दोनों अंश बने रहते हैं। इसी से वस्तुमात्र सामान्य-विशेष—उभयात्मक है, ऐसा कहा जाता है। मनुष्य की बुद्धि कभी तो वस्तुओं के सामान्य अंश की ओर झुकती है और कभी विशेष अंश की ओर। जब वह सामान्य अंश को ग्रहण करती है, तब उसका वह विचार—द्रव्यार्थिक नय, और जब वह विशेष अंश को ग्रहण करती है, तब वही विचार पर्यायार्थिक नय कहलाता है। सभी सामान्य और विशेष दृष्टियाँ भी एक सी नहीं होती, उनमें भी अन्तर रहता है। इसी को बतलाने के लिए इन दो दृष्टियों के फिर सक्षेप में भाग किये गए हैं। द्रव्यार्थिक के तीन और पर्यायार्थिक के चार—इस तरह कुल सात भाग बनते हैं, और ये ही सात नय हैं। द्रव्यदृष्टि में विशेष—पर्याय, और पर्यायदृष्टि में द्रव्य—सामान्य आता ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह दृष्टिविभाग तो सिर्फ गौण-प्रधान भाव की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

प्र०—ऊपर कहे हुए दोनों नयों को सरल उदाहरणों से समझाइए।

उ०—कहीं भी, कभी भी और किसी भी अवस्था में रह कर समुद्र की तरफ दृष्टि डालने पर—जब जल के रंग, स्वाद उसकी गहराई या छिछलापन, उसके विस्तार व सीमा इत्यादि विशेषताओं की ओर ध्यान



न चाक्षर विर्षं ज्ञान ही जल ध्यान में आता है, तब यह एक मात्र ज्ञान का सामान्य विचार कर्तव्यता है, और नहीं ज्ञान विषयक द्रव्यार्थिक नय है।

इसके विपरीत जब रंग स्वाद आदि विशेषताओं की ओर ध्यान आया, तब वह विचार ज्ञान की विशेषताओं का होने से जलविषयक पर्यायार्थिक नय कर्तव्यता है।

जैसे ज्ञान के विषय में कहा गया है, जैसे हा छुट्टी सभी मौखिक वस्तुओं के बारे में भी समझता आ सकता है। विभिन्न स्थानों में किसी दूर तक जाती एक ही तरह की मान्य वस्तुओं के विषय में जिस प्रकार सामान्य और विशेषात्मक विचार संभव है जैसे ॥ भूत वर्तमान और भविष्य इत विकलाक्ष रूप अकारण तब पर जैसे हुए आत्म्यादि किसी एक पदार्थ के बारे में भी सामान्य और विशेषात्मक विचार संभव संभव है। ज्ञान तथा अवस्था-भेद कृत विचारों पर ध्यान न देकर जब केवल एक चेतन्य की ओर ही ध्यान आया है तब वह उसके विषय का द्रव्यार्थिक नय कर्तव्यता है। तथा चेतन्य की देह-आकारि कृत विविध दशाओं पर यदि ध्यान आया, तब वह चेतन्य विषयक पर्यायार्थिक समझता आया है।

विशेष भेदों  
का स्वल्प

१ जो विचार लौकिक नद्वि अथवा लौकिक संसार के अनुसरण में से पैदा होता है, वह नैयमनय है।

भी उमास्वयंति द्वारा सूचित नैयम के दो भेदों की व्याख्या इस प्रकार है —पद-पद जैसे सामान्य बोधक ग्राम से जब एकत्र पद-पद जाती अर्थवस्तु ही विचार में ली जाती है तब वह विचार देह-परिधिनी नैयम कर जाता है और जब उस नाम से विवक्षित होने वाले अर्थ की लगी यदि विचार में ली जाती है तब वह विचार सक्षपरिधिनी नैयम कर्तव्यता है।

२ जो विचार भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं को तथा अनेक व्यक्तियों को विचार भी सामान्य तत्त्व के आकार पर एक रूप में संकल्पित कर जाता है वह नमनय है।

३. जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित वस्तुओं का व्यावहारिक प्रयोजन के अनुसार पृथक्करण करता है वह व्यवहारनय है।

इन तीनों नयों का उद्गम द्रव्यार्थिक की भूमिका में रहा हुआ है; अतः ये तीनों द्रव्यार्थिक प्रकृति वाले कहलाते हैं।

प्र०—शेष नयों की व्याख्या देने से पहले ऊपर के तीन नयों को ही उदाहरणों द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट कीजिए।

उ०—देश-काल एव लोक-स्वभाव सम्बन्धी भेदों की विविधता के कारण लोक-रूढ़ियाँ तथा तज्जन्य सस्कार भी अनेक तरह नैगमनय के होते हैं, अतः उनसे उद्भूत नैगमनय भी अनेक तरह का होता है जिससे उसके उदाहरण विविध प्रकार के मिल जाते हैं, और वैसे ही दूसरे नये उदाहरण भी बनाए जा सकते हैं।

किसी काम के सकल्प से जाने वाले से कोई पूछता है कि—आप कहाँ जा रहे हैं? तब जवाब में वह कहता है कि—‘मैं कुल्हाड़ी या कलम लेने जा रहा हूँ।’

जवाब देने वाला वास्तव में तो कुल्हाड़ी के हाथे के लिए लकड़ी अथवा कलम के लिए किलक लेने ही जा रहा है, तब भी वह ऊपर का ही जवाब देता है, और पूछने वाला भी चट से उसके मतलब को समझ लेता है, यह एक तरह की लोकरूढ़ि है।

जात-पाँत छोड़ कर भिक्षु बने हुए व्यक्ति का परिचय तब कोई पूर्वाश्रम के ब्राह्मण वर्ण द्वारा कराता है, तब भी ‘वह ब्राह्मण श्रमण है’ यह कथन तत्काल स्वीकार कर लिया जाता है। इसी तरह चैत्र शुक्ला नवमी व त्रयोदशी के दिनों के आते ही हजारों वर्ष पहले के रामचन्द्र व महावीर के जन्मदिन के रूप में उन दिनों को लोग मानते हैं। तथा उन्हें जन्मदिन

मान कर बैठे ही ठासवारी मी मनाते हैं। यह मी एक तरह की ओक रुटि ही है।

अब कभी खास खास मनुष्य समुदाय में कहने आते हैं, ठब दूखे खेग उनकी निवास भूमि को ही लड़ने बाधी मान कर बहुधा कबने आते हैं—'हिन्दुस्तान कब रहा है' 'चीन कब रहा है'—इत्यादि; ऐसे कवन का आघात घुत्ने वाले भी समस्त होते हैं।

इस प्रकार ओक-रुटियों से पडे हुए संस्कारों के कारण जो विचार उत्पन्न होते हैं, वे सभी नैगमनय के नाम से पहली बेगी में गिन किये जाते हैं।

अब, ऐतन्न रूप अनेक व्यक्तियों में जो समूह एक सामान्य तत्त्व है; उसी पर इष्टि रखकर हमारे विद्योनों को ध्यान में न कबते सम्प्रदानय हुए—सभी व्यक्तियों को एक रूप मान कर ऐसा विचार करना कि—संपूर्ण अज्ञत समूह है; क्योंकि तत्त्व रक्षि कोई वस्तु है ही नहीं—वही सम्प्रदानय है। इसी तरह कब्यों की विविध किस्मों और भिन्न-भिन्न बलों की ओर लक्ष्य न देखकर एक मात्र बला रूप सामान्य तत्त्व को ही इष्टि में रखकर विचार करना कि—इस अज्ञत विष्टि बन्ध है इसीका नाम सम्प्रदानय है।

सामान्य तत्त्व के अनुसार तत्त्वमन्त्र को लेकर संमन्त्र के अन्तर्गत उदाहरण बन सकती है। जितना विद्यालय सामान्य होगा सम्प्रदानय भी उतना ही विद्यालय समस्तता चादिए। तथा जितना ही छोटा सामान्य होगा सम्प्रदानय भी उतना ही संक्षिप्त होगा। कारण यह है कि जो जो विचार सामान्य तत्त्व के आश्रय से विविध वस्तुओं का एकीकरण करके प्रकृत होते हैं वे सभी सम्प्रदानय की बेगी में रखे जा सकते हैं।

विविध वस्तुओं की एक रूप में संकल्पित करने के बाद भी जब उनका विविध रूप में शोध कराना हो या व्युत्पत्ति में उपलब्ध करने का

प्रसंग आवे, तब उनका विशेष रूप में भेद करके पृथक्करण करना पड़ता है ।

वस्त्र कहने मात्र से भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों का अलग व्यवहारनय अलग बोध नहीं हो सकता । जो सिर्फ खादी चाहता है, वह वस्त्रों का विभाग किये बिना उसे नहीं पा सकता, क्योंकि वस्त्र तो कई प्रकार के हैं । इसी से खादी का कपड़ा, मिल का कपड़ा इत्यादि भेद भी करने पड़ते हैं । इसी प्रकार तत्त्वज्ञान के प्रदेश में सद्रूप वस्तु भी जड़ और चेतन रूप से दो प्रकार की है । चेतन तत्त्व भी ससारी और मुक्त रूप से दो प्रकार का है—इत्यादि रूप से पृथक्करण करना पड़ता है । ऐसे ऐसे पृथक्करणोन्मुख सभी विचार व्यवहारनय की श्रेणी में आते हैं ।

ऊपर के उदाहरणों में देखा जा सकता है कि नैगमनय का आधार लोक-रूढि है, लोक रूढि आरोप पर आश्रित है, ओर आरोप है—सामान्य-तत्त्वाश्रयी । ऐसा होने से नैगमनय सामान्यग्राही है, यह बात भी त्रिलकुल स्पष्ट हो जाती है । सग्रहनय तो स्पष्टरूप से एकीकरण रूप बुद्धि-व्यापार होने से सामान्यग्राही है ही । व्यवहारनय में पृथक्करणोन्मुख बुद्धि-व्यापार होने पर भी उसकी क्रिया का आधार सामान्य होने से उसे भी सामान्यग्राही ही समझना चाहिए । इसी कारण ये तीनों नय द्रव्यार्थिक नय के भेद माने जाते हैं ।

प्र०—इन तीनों नयों का पारस्परिक भेद और उनका संबन्ध क्या है ?

उ०—नैगमनय का विषय सबसे अधिक विशाल है, क्योंकि वह सामान्य और विशेष-दोनों का ही लोक-रूढि के अनुसार कमी तो गौण रूप से और कमी मुख्य रूप से अवलंबन करता है । सिर्फ सामान्यलक्षी होने से सग्रह का विषय नैगम से कम है, और व्यवहार का विषय तो सग्रह से भी कम है, क्योंकि वह सग्रह द्वारा संकलित विषय का ही खास खास विशेषताओं के आधार पर पृथक्करण करने वाला होने से सिर्फ विशेषगामी है ।

इस तरह दोनों का विषय-वस्तु उत्तरोत्तर कम होने से इनका पारस्परिक पौर्वापम सम्बन्ध है। सामान्य, विशेष और उस दोनों के सम्बन्ध की प्रतीति नैगमनय करता है। इसीमें से सम्यह का उद्भव होता है, और सम्यह की प्राप्ति पर ही व्यवहार का निश्चय जाँचा जाता है।

प्र - पूर्वोक्त प्रकार से दोष चार नहीं की व्याख्या कीगिए, उनके उदाहरण दीजिये और बुझी ध्यानकारी कराइये।

उ - १ जो विचार मूल और अधिकृत काल का लयात् न करके केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है वह अज्ञान है।

२ जो विचार शब्दप्रधान होता हुआ किन्तु वास्तविक वस्तुओं की ओर ध्यान कर उत्तुंग ही अर्थ-भेद की कल्पना करता है वह अध्वनय है।

श्री तमास्त्यति शब्द सूत्र में सूचित शब्दनय के तीन भेदों में से प्रथम भेद सांप्रत है। अर्थात् शब्द नय देता सामान्य पद साम्प्रत, समनिकृत और एवमूत्र इन तीनों में ही व्याप्त कर दिया है; परंतु प्रचलित सब परम्पराओं में साम्प्रत नामक पहले भेद में ही 'शब्दनय' यह साम्प्रत पद रूढ़ हो गया है और साम्प्रत नय पद का स्थान शब्द नय पद ने ले लिया है। इसलिये यहाँ पर सांप्रत नय की सामान्य व्याख्या नहीं दे कर भागी विशेष स्पष्टीकरण करते समय शब्द नय पद का ही व्यवहार किया है। और उत्तम को स्पष्टीकरण किया है जैसे ही भाष्यकवित्त सांप्रत नय का स्पष्टीकरण समझता पादिष्ट।

३ जो विचार शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ-भेद की कल्पना करता है वह समनिकृतनय है।

४ जो विचार शब्द से प्रकृत होने वाले अर्थ के घटने पर ही वस्तु को उत्तम रूप में मानता है, अन्वय नहीं वह एवमूत्रनय है।

यद्यपि मनुष्य की कल्पना भूत और मविष्य की सर्वथा उपेक्षा करके नहीं चल सकती, तथापि मनुष्य की बुद्धि कई द्वार तात्कालिक परिणाम की ओर झुक कर सिर्फ वर्तमान में ही प्रवृत्ति करने लगती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य-बुद्धि ऐसा मानने लगती है कि जो उपस्थित है, वही सत्य है, वही कार्याकारी है, और भूत तथा भावी वस्तु वर्तमान में कार्य साधक न होने से शून्यवत् है। वर्तमान समृद्धि ही सुख का साधन होने से समृद्धि कही जा सकती है। लेकिन भूत-समृद्धि का स्मरण या भावी-समृद्धि की कल्पना वर्तमान में सुख को साधने वाली न होने से समृद्धि ही नहीं कही जा सकती। इसी तरह पुत्र मौजूद हो, और माता-पिता की सेवा करे, तब तो वह पुत्र है। किन्तु जो पुत्र अतीत हो या भावी हो, पर मौजूद न हो वह तो पुत्र ही नहीं। इस तरह के सिर्फ वर्तमानकाल से सम्बन्ध रखने वाले विचार ऋजुसूत्रनय की क्रीटि में रक्खे जाते हैं।

जब विचार की गहराई में उतरनेवाली बुद्धि एक द्वार भूत और मविष्यत् काल की जड़ काटने पर उतारू हो जाती है, तब वह दूसरी द्वार उससे भी आगे बढ़ कर किसी दूसरी जड़ को भी काटने पर तैयार होने लगती है। इसी से वह कभी सिर्फ शब्द को ही पकड़ कर प्रवृत्त होती है, और ऐसा विचार करने लगती है कि यदि भूत या भावी से पृथक् होने के कारण सिर्फ वर्तमान काल मान लिया जाय, तब तो एक ही अर्थ में व्यवहृत होने वाले भिन्न भिन्न लिङ्ग, काल, सख्या, कारक, पुरुष और उपसर्गयुक्त शब्दों के अर्थ भी अलग अलग क्यों न माने जायें ? जैसे तीनों कालों में कोई सूत्र रूप एक वस्तु नहीं है, किन्तु वर्तमान स्थित वस्तु ही एक मात्र वस्तु कहलाती है, वैसे ही भिन्न भिन्न लिङ्ग, सख्या और कालादि से युक्त शब्दों द्वारा

करी जाने वाली वस्तुएँ भी भिन्न भिन्न ही मानी जानी चाहिये। ऐसा विचार करके काळ और छिद्रादि के भेद से अर्थ में भी भेद बुझि मानने समझी है।

उदाहरणाय धार्मिक में एक ऐसा वाक्य मिलता है कि—'राज्य' नाम का मगर या इस वाक्य का अर्थ मोटे रूप से ऐसा होता है कि राज्य नाम का नगर भूतकाल में या वर्तमान में नहीं जब कि वास्तव में लेखक के समय में भी राज्य मौजूद है। यदि वर्तमान में मौजूद है तब उसको या क्यों छिद्रा ! इस प्रश्न का जवाब शब्दनम देता है। वह कहता है कि वर्तमान में मौजूद राज्य से भूतकाल का राज्य तो भिन्न ही है, और उही का कर्मन प्रस्तुत होने से 'राज्य' या' ऐसा कहा गया है। यह वाक्य से अर्थभेद का उदाहरण हुआ।

छिद्रभेद से अर्थभेद : जैसे कि कुर्मी कुर्मी। यहाँ पहला शब्द नर जाति का और दूसरा नापी जाति का है। 'न' होनी का कस्मित अर्थभेद भी व्यवहार में प्रसिद्ध है। कितने ही लयधों को नक्षत्र के नाम से पुकारा जाता है, फिर भी इस शब्दनम के अनुसार अमुक लय नक्षत्र है अथवा यह मघा नक्षत्र है ऐसा शब्द व्यवहार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस मघ के अनुसार छिद्रभेद से अर्थभेद माने जाने के कारण 'लय और मघ' एवं 'मघा और मघत्र' इतने दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं कर सकते।

उत्थान (आकार) प्रस्थान (गमन) उपस्थान (उपस्थिति) इन्हीं प्रकार आराम विराम इत्यादि शब्दों में एक ही शब्द होने पर भी उपसर्ग के लग जाने से जो अर्थ-भेद ही जाता है वही शब्दनम की भूमिका की बनता है।

इस तरह विविध शाब्दिक धर्मों के आधार पर जो अर्थ भेद की अनेक मामूलाएँ प्रकटित हैं वे सभी शब्दनम की अन्वी की हैं।

शाब्दिक धर्मभेद के आधार पर अर्थभेद करने वाली बुद्धि ही जत्र और भी आगे बढ़ कर व्युत्पत्ति भेद का आश्रय लेने लगती भिरूढनय है, और ऐसा मानने पर उतारू हो जाती है कि जहाँ पर कि जुदे जुदे शब्दों का एक ही अर्थ मान लिया जाता है, वहाँ पर भी स्तव में उन सभी शब्दों का एक अर्थ नहीं हो सकता, किन्तु जुदा जुदा अर्थ है। उसकी दलील यह है कि यदि लिङ्गभेद और सख्याभेद आदि अर्थभेद मान सकते हैं, तत्र शब्दभेद भी अर्थ का भेदक क्यों नहीं माना जाता ? ऐसा कह कर वह बुद्धि—राजा, नृप, भूपति आदि एकार्थक शब्दों का भी व्युत्पत्ति के अनुसार जुदा जुदा अर्थ करती है, और कहती कि राजचिह्नो से शोभित हो वह—‘राजा’, मनुष्यों का रक्षण करने वाला—‘नृप’, तथा पृथ्वी का पालन-संवर्धन करनेवाला ही ‘भूपति’ है। इस रह से उक्त तीनों नामों से कहे जाने वाले एक ही अर्थ में व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थभेद की मान्यता रखनेवाला विचार समभिरूढनय कहलाता है। पर्याय भेद से की जानेवाली अर्थभेद की सभी कल्पनाएँ इसी नय की श्रेणी में आ जाती हैं।

सविशेष रूप से गहराई में जाने की आदतवाली बुद्धि जत्र अन्त तक में पहुँच जाती है, तत्र वह विचार करती है कि यदि व्युत्पत्ति भेद से अर्थभेद माना जा सकता है, तत्र तो ऐसा भी मानना एवभूतनय चाहिए कि जत्र व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार करना चाहिए, तथा उस शब्द के द्वारा उस अर्थ का प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा नहीं। इस कल्पना के अनुसार किसी समय राजचिह्नो से शोभित होने की योग्यता को धारण करना, किंवा मनुष्य रक्षण के उत्तरदायित्व को प्राप्त कर लेना—इतना मात्र ‘राजा’ या ‘नृप’ कहलाने के लिए पर्याप्त नहीं। किन्तु



बढ़कर 'यथा' तो उसी समय कहना सकता है, जब कि सचमुच सम्बन्ध को नारय करता हुआ उससे शोभायमान हो रहा ही इसी तरह 'नृप' जब कल्पना पादिए, जब वह मनुष्यों का रक्षण कर रहा हो। सार्ध यह है कि किसी व्यक्ति के लिए राम या नृप शब्द का प्रयोग करना समी ठीक होगा, जब कि उसमें शब्द का व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ भी धरित हो रहा हो।

इसी तरह जब कोई सचमुच सेवा कर रहा हो, उसी समय या उसकी बार ही उसे 'सेवक' नाम से पुकारा जा सकता है। जब वास्तव में कोई किया ही रही हो, उसी समय उसके सचमुच रखने वाले विशेषण या विशेष्य नाम का व्यवहार करने वाली साम्यताएँ एवंभूतनव की कल्पना ही है।

पूर्वोक्त चार प्रकार की विचार श्रेणियों में जो अन्तर है, वह तो उदाहरणों से ही स्पष्ट हो सकता है। अतः उसे अब पुनः लिखने की जरूरत नहीं। हाँ इतना ध्यान देना चाहिए कि पूर्व-पूर्व सेवकत्व नम की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नम सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। अतएव उत्तर-उत्तर नम का विषय पूर्व-पूर्व नम के विषय पर ही अवलम्बित रहता है। इन चारों नमों का मूल पारंपारिक नम है। यह बात इसलिये कही गई है कि ऋतुत्त्व सिर्फ वर्तमान को ही स्वीकार करता है मूल और भविष्य को नहीं। अतः वह स्पष्ट है कि इसका विषय सामान्य न रह कर विशेष रूप से ही ध्यान में आता है, अर्थात् वास्तव में ऋतुत्त्व से ही पारंपारिक नम-विशेषणामिनी दृष्टि का आरम्भ माना जाता है। ऋतुत्त्व के बाद के तीन नम तो उत्तरोत्तर और भी अधिक विशेषणामी बनते जाते हैं। इससे उनका पारंपारिक होना तो स्पष्ट ही है।

यदि इतना और समझ देना चाहिए कि इन चार नमों में भी जब कि उत्तर नम का पूर्व की अपेक्षा नाम कहा जाता है तब यह पूर्व नम

उतने अंश में तो उत्तर की अपेक्षा सामान्यगामी है ही। इसी तरह द्रव्यार्थिक नय की भूमिका पर स्थित नैगमादि तीन नय भी—पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्म होने से उतने अंश में तो पूर्व की अपेक्षा विशेषगामी समझने ही चाहिए।

इतने पर भी पहले के तीन नयों को द्रव्यार्थिक और बादके चार नयों को पर्यायार्थिक कहने का तात्पर्य इतना ही है कि प्रथम तीनों में सामान्य तत्त्व और उसका विचार अधिक स्पष्ट है, क्योंकि वे तीनों अधिक स्थूल हैं। बाद के चार नय विशेष सूक्ष्म हैं, उनमें विशेष तत्त्व व उसका विचार भी ज्यादा स्पष्ट है। सामान्य और विशेष की इसी स्पष्टता अथवा अस्पष्टता के कारण तथा उनकी मुख्यता-मौल्यता को ध्यान में रख कर ही सात नयों के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ऐसे दो विभाग किये गए हैं। पर जब वास्तविक विचार करते हैं, तब सामान्य और विशेष—ये दोनों एक ही वस्तु के अविभाज्य दो पहलू होने से एकान्त रूप में एक नय के विषय को दूसरे नय के विषय से सर्वथा अलग नहीं कर सकते।

नयदृष्टि, विचारसरणि, या सापेक्ष अभिप्राय—इन सभी शब्दों का एक ही अर्थ है। पूर्वोक्त वर्णन से इतना पता अवश्य लगेगा कि किसी भी एक विषय को लेकर विचारसरणियाँ अनेक हो सकती हैं। विचारसरणियाँ चाहे जितनी हों, पर उन्हें सक्षिप्त करके अमुक दृष्टि से सात ही भाग किये गए हैं। उनमें भी पहली विचारसरणि की अपेक्षा दूसरी में, और दूसरी की अपेक्षा तीसरी में उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्मत्व आता जाता है। एवम्भूत नाम की अन्तिम विचारसरणि में सबसे अधिक सूक्ष्मत्व देख पड़ता है। इसीलिए उक्त चार विचारसरणियों के अन्य प्रकार से भी दो भाग किये गए हैं—व्यवहारनय और निश्चयनय। व्यवहार अर्थात् स्थूलगामी अथवा उपचार-प्रधान और निश्चय अर्थात् सूक्ष्मगामी अथवा तत्त्वस्पर्शी। वास्तव में एवम्भूत ही निश्चय की पराकाष्ठा है।

एक तीसरे प्रकार के भी सात नयों के दो विभाग किये जाते हैं—  
 शब्दनय और अर्थनय । जिसमें अर्थ का विचार प्रधान रूप से किया  
 जाय वह अर्थनय और जिसमें शब्द का प्राधान्य हो वह शब्दनय । अमुस्त  
 पर्वण्य पहले के सात अर्थनय हैं और बाकी के तीन शब्दनय हैं ।

पूर्वोक्त दृष्टियों के अन्वया और भी बहुत सी दृष्टियाँ हैं । जीवन के  
 दो मूला हैं । एक तो सत्य को पहचानने का और दूसरा सत्य को पचाने  
 का । जो मग्य सिर्फ सत्य का विचार करता है, अर्थात् तत्त्वस्वर्णी होता  
 है, वह ज्ञानदृष्टि—ज्ञाननय है । तथा जो मग्य तत्त्वानुभव को पचाने में ही  
 पूर्णतया समस्तता है, वह क्रियादृष्टि—क्रियानय है ।

ऊपर बर्णित सातों मग्य तत्त्व-विचारक होने से ज्ञाननय में तम्य जाते  
 हैं । तथा उन नयों के द्वारा घोषित सत्यको जीवन में उतारनेकी दृष्टि  
 नहीं क्रियादृष्टि है । क्रिया का अर्थ है—जीवन को सत्यमग्य बनाना ।

## दूसरा अध्याय

पहले अध्याय में सात पदार्थों का नामनिर्देश किया गया है। अगले नव अध्यायों में क्रमशः उनका विशेष विचार करना है। अतएव सबसे पहले इस अध्याय में जीव पदार्थ का तत्त्व-स्वरूप बतलाते हुए उसके भेद-अभेद आदि विषयों का वर्णन चौथे अध्याय तक करते हैं।

पाँच भाव, उनके भेद और उदाहरण

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौ-  
द्धयिकपारिणामिकौ च । १ ।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् । २ ।

सम्यक्त्वचारित्रे । ३ ।

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च । ४ ।

ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः यथाक्रमं  
सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च । ५ ।

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वले-  
श्याश्चतुश्चतुस्त्र्यैकैकैकषड्भेदाः । ६ ।

जीवभव्याभव्यत्वादीनि च । ७ ।

औपशमिक, क्षायिक और मिश्र-क्षायोपशमिक, ये तीन तथा औद्धयिक, पारिणामिक ये दो, कुल पाँच भाव हैं। सो जीव के स्वरूप हैं।

उक्त पाँच भावों के अनुक्रम से दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं।

सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिक हैं।

ज्ञान, दर्शन, ज्ञान, स्मरण, भोग, उपभोग वीर्य तथा सम्पत्त्व और चारित्र्य ये नव शायिक हैं ।

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच ज्ञानादि लक्षिण्यां, सम्पत्त्व, चारित्र्य—तर्कधरति और तन्मासंभवं—देहाधरति ये अठारह शायोपशायिक हैं ।

चार धरिणों, चार कथाव, तीन किङ्क—वेद, एक मिथ्यदर्शन, एक अज्ञान, एक अतंभम, एक अतिहृत्भाव और छह केसार्थ—ये इहीत्य औद्युक्तिक हैं ।

जीवन्त सम्पत्त्व और अमम्यत्त्व ये तीन तथा अन्य भी पारिजातिक मात्र हैं ।

आत्मा के स्वस्व के सम्बन्ध में जैनदर्शन का अन्य दर्शनों के साम्भन्दा मन्तव्य भेद है वही कतव्यप्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है । सांख्य और वेदान्त दर्शन आत्मा को कूटस्थानित्य मानकर उसमें कोई परिचाम नहीं मानते । श्रम कुल बुद्ध्यादि परिचामों को वे प्रकृति या अविद्य के ही मानते हैं । वैशेषिक और नैयायिक ज्ञान भाषि को आत्मा का गुण मानते हैं वही पर ऐसा मानकर भी वे आत्मा को एकस्थानित्य—अपरिचामी मानते हैं । नवीन स्मिमांशक का मत वैशेषिक और नैयायिक जैसा ही है । वीर्य दर्शन के अनुसार आत्मा एकस्थानित्य अर्थात् निरन्तर परिचामों का प्रवाह मात्र है । जैन दर्शन का कथन है कि जेते प्राकृतिक अथ पदार्थों में

१ मित्र-मित्र शत्रु में सुख-दुःख अथवा बीड़े बहुत मित्र विपक्ष ज्ञानादि परिचामों का जो अनुभव होता है धिर्न ज्ञानी परिचामों को माम्भन्दा और उनके बीच स्वस्व किन्हीं भी अलक्ष्य स्थिर तत्त्व को लक्ष्य न करण—इसीको निरन्तर परिचामों का प्रवाह करते हैं ।

न तो कूटस्थनित्यता है और न एकान्तक्षणिकता किन्तु परिणामिनित्यता है, वैसे ही आत्मा भी परिणामी नित्य है। अतएव ज्ञान सुख, दुःख आदि पर्याय आत्मा के ही समझने चाहिए।

आत्मा के सभी पर्याय एक ही अवस्था वाले नहीं पाये जाते, कुछ पर्याय किसी एक अवस्था में, तो दूसरे कुछ पर्याय किसी दूसरी अवस्था में पाये जाते हैं। पर्यायों की वे ही भिन्न भिन्न अवस्थाएँ भाव कहलाती हैं। आत्मा के पर्याय अधिक से अधिक पाँच भाव वाले हो सकते हैं। वे पाँच भाव ये हैं— १ औपशमिक २ क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४ औदयिक और ५ पारिणामिक।

१. औपशमिक भाव वह है जो उपशम से पैदा होता हो। उपशम एक प्रकार की आत्म शुद्धि है, जो सत्तागत कर्म का उदय विलकुल रुक जाने पर वैसे ही होती है जैसे मल नीचे बैठ जाने पर भावों का स्वरूप जल में स्वच्छता होती है।

२. क्षायिक भाव वह है जो क्षय से पैदा होता हो। क्षय आत्मा की वह परम विशुद्धि है, जो कर्म का सम्बन्ध विलकुल छूट जाने पर वैसे ही प्रकट होती है जैसे सर्वथा मल निकाल देने पर जल में स्वच्छता आती है।

३. क्षायोपशमिक भाव वह है जो क्षय और उपशम से पैदा होता हो। क्षायोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का

१. हयोडे की चाहे जितनी चोटें लें, तब भी घन (एरन) जैसे स्थिर रहता है, वैसे ही देश, कालादि सम्बन्धी विविध परिवर्तनों के होने पर भी जिसमें किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता वही कूटस्थनित्यता है।

२. तीनों कालों में मूल वस्तु के कायम रहने पर भी देश, कालादि के विनिमित्त से यदि परिवर्तन होता रहता है—वह परिणामिनित्यता है।

प्रदेशोदय द्वारा स्रव होते रहने पर प्रकट होती है। यह विद्युत् वैसी ही मिश्रित है जैसे चीने से मादक द्रव्य के कुछ क्षीण हो जाने और कुछ रह-जाने पर कोहों की शक्ति।

४ शरीरमयि भाव यह है जो उदय से पैदा होता है। उदय एक प्रकार का अतिमय अदृश्य-माध्यम है, जो कर्म के विपाकतुल्य से जैसे ही होता है जैसे मछ के मिश्र जाने पर जल में माध्यम होता है।

५ पारिभाषिक भाव इत्यत्र यह परिभाषा है, जो तिर्यक इत्यत्र के अस्तित्व से आप ही आप हुआ करता है अर्थात् किसी भी इत्यत्र का स्वाभाविक स्वरूप परिभाषा ही परिभाषिक भाव कहलता है।

ये ही पौंच भाव आत्म के स्वरूप हैं अर्थात् संतारी या मुक्त कोई भी आत्मा हो उसके सभी पर्याय उक्त पौंच भावों में से किसी न किसी भाव वाले अवस्था होंगे। अतीव में उक्त पौंचों भाव वाले पर्याय सम्भव नहीं है, इस किये वे पौंचों अतीव के स्वरूप नहीं हो सकते। उक्त पौंचों भाव सभी जीवों में एक साथ पाये जायें यह भी नियम नहीं है। समस्त मुक्त जीवों में तिर्यक हो भाव होते हैं शारीरिक और पारिभाषिक। संतारी जीवों में कोई तीन भाव बाह्य कोई चार भाव बाह्य कोई पौंच भाव बाह्य होता है पर ही भाव बाह्य कोई नहीं होता अर्थात् मुक्त आत्मा के पर्याय उक्त ही भाव में और संतारी के पर्याय तीन से लेकर पौंच भाव तक पाये जाते हैं। अतएव पौंच भावों को जीव का स्वरूप कहा है जो जीवराशि की अपेक्षा से या किसी जीव विशेष में सम्भव की अपेक्षा से समझना चाहिये।

१ गौरव किये हुए कर्मवृत्तियों का वेदना प्रदेशोदय है और एका विधि वृत्तियों का विपाकवेदन विपाकोदय है।

जो पर्याय औदयिक भाव वाले हों वे वैभाविक और शेष चारों भाव वाले पर्याय स्वाभाविक हैं । १ ।

उक्त पाँच भावों के कुल त्रेपन भेद इस सूत्र में गिनाए हैं, जो अगले सूत्रों में नाम पूर्वक क्रमशः बतलाये गए हैं कि किस भाव वाले कितने कितने पर्याय हैं और वे कौन से हैं । २ ।

दर्शन-मोहनीय कर्म के उपशम से सम्यक्त्व का और चारित्र्य-मोहनीय कर्म के उपशम से चारित्र का अविर्भाव होता औपशमिक भाव है । इसलिए सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही पर्याय के भेद औपशमिक भाव वाले समझने चाहिएँ । ३ ।

केवल ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शन पंचविध अन्तराय के क्षय से दान, लाम, भोग, उपभोग, और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ, दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय से सम्यक्त्व, और चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षय से चारित्र का अविर्भाव क्षायिक भाव के भेद होता है । इसीसे केवल ज्ञानादि नवविध पर्याय क्षायिक कहलाते हैं । ४ ।

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अविज्ञानावरण और मनःपर्याय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति, श्रुत, अविधि और क्षायोपशमिक भाव मन पर्याय ज्ञान का आविर्भाव होता है । मति-के भेद अज्ञानावरण, श्रुत अज्ञानावरण और विभङ्ग ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान का अविर्भाव होता है । चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और अविधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से अचक्षुर्दर्शन और अविधिदर्शन का आविर्भाव होता है । पंचविध अन्तराय के क्षयोपशम से दान, लाम आदि उक्त पाँच लब्धियों का आविर्भाव होता है । अनन्तानुबन्धी चतुष्क तथा दर्शनमोहनीय के



असौपद्यम से सम्बन्ध का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि चार प्रकार के कर्माय के असौपद्यम से चारित्र-सर्वविपत्ति का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि अष्टविध कर्माय के असौपद्यम से संयम-वेद्यविपत्ति का आविर्भाव होता है। इसलिये भविष्यत आदि उक्त अष्टारह प्रकार के ही पर्याय साधोपद्यमिक हैं। ५।

औद्योगिक भाव  
के मेर

यति नाम-कर्म के उदय का एक नरक, तिर्यग्, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ हैं। कथासमोह के उदय से बीष म्यान माया और क्रोध ये चार कर्माय पैदा होते हैं। वेदसोहनीय के उदय से कौ, पुत्र्य और नपुंसक वेद होता है। मिथ्यात्वसोहनीय के उदय से मिथ्यादर्शन-तत्त्व का अभिमान होता है। अठान-जानामात्र, अनावरणीय के उदय का एक है। अतंभरुत्व-विपत्ति का सर्वथा अभाव अनन्तानुबन्धी आदि चार प्रकार के चारित्र-सोहनीय के उदय का परिणाम है। अक्षित्व-सर्पिश्चारण वैदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म के उदय का नतीजा है। कृष्ण मील कापोत ठेका, पद्म और शुक्र ये छह प्रकार की उभयार्थ-क्यामोदक एविव योगपरिणाम-कर्माय के उदय अथवा योगजनक शरीरनाम कर्म के उदय का एक है। अतएव यति आदि उक्त इच्छित पर्याय औद्योगिक करे जाते हैं। ६।

औक्ष-वेत्स्य, मय्यात्व-मुक्ति की योग्यता अमम्यत्व-मुक्ति की अयोग्यता, ये तीन भाव स्वाभाविक हैं अर्थात् न ती के पारिणामिक भाव के मेर कर्म के उदय से, न उपद्यम से न क्षय से या न असौपद्यम से पैदा होते हैं; किन्तु अनादित्व आत्म-इत्य के अक्षित्व से ही सिद्ध हैं, इसीसे वे पारिणामिक हैं।

प्र -क्या पारिणामिक भाव तीन ही हैं।

ज -नहीं और भी हैं।

प्र०—कौन से ?

उ०—अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्त्व, प्रदेशवत्त्व, अस-  
ख्यातप्रदेशत्व, असर्वगतत्व, अरूपत्व आदि अनेक हैं ।

प्र०—फिर तीन ही क्यों गिनाए गए ?

उ०—यहाँ जीव का स्वरूप बतलाना है सो उसके असाधारण भावों  
के द्वारा ही बतलाया जा सकता है । इसलिये औपशमिक आदि के साथ  
पारिणामिक भाव भी वे ही बतलाए हैं जो सिर्फ जीव के असाधारण हैं ।  
अस्तित्व आदि पारिणामिक हैं सही, पर वे जीव की तरह अजीव में भी  
हैं । इसलिए वे जीव के असाधारण भाव नहीं हैं । इसीसे यहाँ उनका  
निर्देश नहीं किया गया, तथापि अन्त में आदि शब्द रखा है सो उन्हीं को  
सूचित करने के लिए; और दिगम्बर सम्प्रदाय में यही अर्थ 'च' शब्द से  
निकाला गया है । ७ ।

जीव का लक्षण

## उपयोगो लक्षणम् । ८ ।

उपयोग यह जीव का लक्षण है ।

जीव जिसको आत्मा और चेतन भी कहते हैं वह अनादिसिद्ध,  
स्वतन्त्र द्रव्य है । तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण उसका ज्ञान  
इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता, पर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि से  
किया जा सकता है । तथापि साधारण जिज्ञासुओं के लिए एक ऐसा  
लक्षण बतला देना चाहिए जिससे कि आत्मा की पहचान की जा सके ।  
इसी अभिप्राय से प्रस्तुत सूत्र में उसका लक्षण बतलाया है । आत्मा  
लक्ष्य-ज्ञेय है और उपयोग लक्षण—जानने का उपाय है । अगत अनेक जड़-  
चेतन पदार्थों का मिश्रण है । उसमें से जड़ और चेतन का विवेक पूर्वक  
निश्चय करना ही तो उपयोग के द्वारा ही हो सकता है; क्योंकि उपयोग

हरतम म्ब से सभी आत्माओं में अवश्य पाया जाता है। यह भी है जिसमें उपयोग न हो।

प्र - उपयोग क्या बरतु है।

उ - बोध का व्यापार ही उपयोग है।

प्र० - आत्मा में बोध की क्रिया होती है और यह में नहीं तो क्यों ?

उ - बोध का धारण चेतनाशक्ति है। यह जिसमें हो, उसी में बोध-क्रिया हो सकती है दूसरे में नहीं। चेतनाशक्ति आत्मा में ही है, यह में नहीं।

प्र - आत्मा एकत्व रूप है इसलिये उसमें अनेक गुण होने चाहिये, फिर उपयोग की ही कल्पना क्यों करा ?

उ - निःसन्देह आत्मा में अनन्त गुण-पर्याय हैं, पर उन सब में उपयोग ही मुख्य है, क्योंकि स्व-परव्यापक रूप होनेसे उपयोग ही अपना तथा इतर पदार्थों का ज्ञान करा सकता है। इसकी सिद्ध आत्मा को कुछ अलि-शक्ति अनन्त है, ननु-नव करता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है वह सब उपयोग से। अतएव उपयोग ही सब पर्यायी में प्रधान है।

प्र - क्या कल्पन स्वकर्म से मिल है ?

उ - नहीं।

प्र - तब तो पहले जो पाँच भागों को जीव का स्वरूप करा दे, वे भी सञ्जय हुए, फिर दूसरा सञ्जय कलकामे का क्या प्रयोजन ?

उ - महापारम्य जर्म भी सब एक से नहीं होते। कुछ ही ऐसे होते हैं जो कर्म में होते हैं नहीं, पर कभी होते हैं कभी नहीं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो समस्त कर्म में नहीं करते और कुछ ऐसे भी होते हैं जो तीनों काल में समस्त कर्म में रहते हैं। समस्त कर्म में तीनों काल में पाप करने वाला उपयोग ही है। इसलिये कल्पनरूप ही उतीर्ण गुणक

कथन किया और तद्द्वारा यह सूचित किया है कि औपशमिक आदि भाव जीव के स्वरूप हैं सही, पर वे न तो सब आत्माओं में पाये जाते हैं और न त्रिकालवर्ती ही हैं। त्रिकालवर्ती और सब आत्माओं में पाया जाने वाला एक जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ही है, जिसका फलित अर्थ उपयोग ही होता है। इसलिए उसी को अलग करके यहाँ लक्षण रूप से कहा है। दूसरे सब भाव कादाचित्क-कभी होनेवाले कभी नहीं होने वाले, कतिपय लक्ष्यवर्ती और कर्म साक्षेप होने से जीव के उपलक्षण हो सकते हैं, लक्षण नहीं। उपलक्षण और लक्षण का अन्तर यह है कि जो प्रत्येक लक्ष्य में सर्वात्मभाव से तीनों काल में पाया जाय-जैसे अग्नि में उष्णत्व-वह लक्षण, और जो किसी लक्ष्य में हो त्रिसी में न हो, कभी हो कभी न हो, और स्वभावसिद्ध न हो वह उपलक्षण, जैसे अग्नि के लिए धूम। जीवत्व को छोड़कर भावों के वाचन भेद आत्मा के उपलक्षण ही हैं। ८।

### उपयोग की विविधता

## म द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः । ९ ।

वह उपयोग दो प्रकार का है तथा आठ प्रकार का और चार प्रकार का है।

जानने की शक्ति-चेतना समान होने पर भी, जानने की क्रिया-बोधव्यापार या उपयोग-सब आत्माओं में समान नहीं देखी जाती। यह उपयोग की विविधता, बाह्य-आभ्यन्तर कारणकलाप की विविधता पर अवलम्बित है। विषय भेद, इन्द्रिय आदि साधन भेद, देश-काल भेद इत्यादि विविधता बाह्य सामग्री की है। आवरण की तीव्रता-मन्दता का तारतम्य आन्तरिक सामग्री की विविधता है। इस सामग्री-वैचित्र्य की मदौलत एक ही आत्मा भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न प्रकार की बोधक्रिया करता है और अनेक आत्मा एक ही समय में भिन्न भिन्न बोध करते हैं।

बह बोध की विविधता अनुभवगम्य है। इसको संक्षेप में वर्गीकरण द्वारा बतलाना ही इस सूत्र का उद्देश्य है।

उपयोगराशि के सामान्यरूप से दो विभाग किये जाते हैं—१. साक्षर, २. असाक्षर। विशेषरूप से साक्षर उपयोग के आठ और असाक्षर उपयोग के चार विभाग किये हैं। इस तरह उपयोग के कुछ बार भेद होते हैं।

साक्षर के आठ भेद ये हैं—मतिज्ञान, सुतज्ञान, अविज्ञान, मनःपराक-ज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, सुत-अज्ञान और विमलज्ञान। असाक्षर उपयोग के चार भेद ये हैं—असुरदर्शन, अविमलदर्शन, अविमलदर्शन और केवलदर्शन।

प्र —साक्षर और असाक्षर का मतलब क्या है ?

उ०—जो बोध प्रज्ञावस्तु को विशेष रूप से जानने वाला हो वह साक्षर उपयोग; और जो बोध प्रज्ञावस्तु को सामान्य रूप से जानने वाला हो वह असाक्षर उपयोग है। साक्षर की ज्ञान या तद्विकल्पक बोध और असाक्षर को दर्शन या निर्विकल्पक बोध भी कहते हैं।

प्र —उक्त बारह भेद में से कितने भेद पूर्ण विकसित चेतनाशक्ति के कारण हैं और कितने अपूर्ण विकसित चेतनाशक्ति के कारण ?

उ०—केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो पूर्ण विकसित चेतना के व्यापार और ये सब अपूर्ण विकसित चेतना के व्यापार हैं।

प्र —विकसित की अपूर्णता के समय तो अपूर्णता की विविधता के कारण उपयोग भेद सम्भव है पर विकसित की पूर्णता के समय उपयोग भेद कैसे ?

उ०—विकसित की पूर्णता के समय केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप से ही उपयोग भेद माना जाता है इसका कारण तर्क द्वारा विषय की द्विक्रमता है अर्थात् प्रत्येक विषय सामान्य और विशेष रूप से उभयवत्प्राय है इसीलिए उक्त दो जानने वाला चेतनाशक्त व्यापार भी ज्ञान और दर्शन रूप से दो प्रकार के होते हैं।

प्र०—साकार के आठ भेद में ज्ञान और अज्ञान का क्या अन्तर है ?

उ०—और कुछ नहीं, सिर्फ सम्यक्त्व के सहभाव, असहभाव का ।

प्र०—तो फिर शेष दो ज्ञानों के प्रतिपक्षी अज्ञान और दर्शन के प्रतिपक्षी अदर्शन क्यों नहीं ?

उ०—मनःपर्याय और केवल ये दो ज्ञान सम्यक्त्व के बिना होते ही नहीं, इस लिए उनके प्रतिपक्ष का संभव नहीं । दर्शनों में केवलदर्शन सम्यक्त्व के सिवा नहीं होता, पर शेष तीन दर्शन सम्यक्त्व के अभाव में भी होते हैं, तथापि उनके प्रतिपक्षी तीन अदर्शन न कहने का कारण यह है कि दर्शन यह सामान्यमात्र का बोध है । इस लिए सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के दर्शन के बीच कोई भेद नहीं बतलाया जा सकता ।

प्र०—उक्त चार भेदों की व्याख्या क्या है ?

उ०—ज्ञान के आठ भेदों का स्वरूप पहले ही बतलाया जा चुका है । दर्शन के चार भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—१. जो सामान्य बोध नेत्रजन्य हो वह चक्षुर्दर्शन, २. नेत्र के सिवा अन्य किसी इन्द्रिय से या मन से होने वाला सामान्य बोध अचक्षुर्दर्शन, ३. अवधिलब्धि से मूर्त पदार्थों का सामान्य बोध अवधिदर्शन, ४. और केवललब्धि से होने वाला समस्त पदार्थों का सामान्य बोध केवलदर्शन कहलाता है । ९ ।

जीवराशि के विभाग

ससारिणी मुक्ताश्च । १० ।

मसारी और मुक्त ऐसे दो विभाग हैं ।

जीव अनन्त हैं । चैतन्य रूप से वे सब समान हैं । यहाँ उनके दो विभाग किये गये हैं सौ पर्याय विशेष के सद्भाव-असद्भाव की अपेक्षा से,

१ देखो अ० १, सू० ९ से ३३ तक

अर्थात् एक संसार रूप पर्याय वाले और दूसरे संसार रूप पर्याय से रहित ।  
 पहले प्रकार के जीव संसारी और दूसरे प्रकार के मुक्त कह सकते हैं ।

प्र - संसार क्या वस्तु है ?

उ - इन्द्रिय और भाव कल्प हैं। संसार है । कर्मफल का विशिष्ट  
 अकारण इन्द्रिय है । राम-भोग आदि अलभार्थों का सम्बन्ध भावकल्प है । १ ।

संसारी जीव के चार प्रयोग

समनस्काऽमनस्कः । ११ ।

संसारिणस्त्वसंस्वावराः । १२ ।

पृथिव्यम्पुवनस्पतय स्वावराः । १३ ।

२. तेजोवायु त्रिन्द्रियादयश्च त्रसाः । १४ ।

अनसक्त और मनरहित ऐसे संसारी जीव हैं ।

तथा वे त्रस और स्वावर हैं ।

पृथिवीकल्प, वायुकल्प और मनस्पाठिकल्प में तीन स्वावर हैं ।

तेजोकाय वायुकाय और त्रिन्द्रिय आदि त्रस हैं ।

संसारी जीव भी अनसक्त हैं । संक्षेप में उनके दो विभाग किये हैं जो  
 मूर्ख हैं तब से । पहला विभाग मन के संलग्न और अलसत्त्व पर निर्भर  
 है, अर्थात् अनसक्त और मनरहित इस तब से विभाय किये हैं किन्तु  
 लक्ष्म संसारी का सम्बन्ध हो जाता है । दूसरा विभाग वसन्त और स्वावरण्य  
 के आधार पर किया है अर्थात् एक त्रस और दूसरे स्वावर । इस विभाग में  
 भी लक्ष्म संसारी जीवों का सम्बन्ध हो जाता है ।

प्र - मन कितने प्रकारों में है ?

उ - बिलसे विचार किया जा सके ऐसी आदिभक्त शक्ति मन २ और  
 इस शक्ति से विचार करने में लक्ष्म हीनेवाले एक प्रकार के सूक्ष्म परमाणु  
 भी मन कह सकते हैं । पहला भावमन और दूसरा इन्द्रियमन कहा जाता है ।

प्र०—त्रसत्व और स्थावरत्व का मतलब क्या है ?

उ०—उद्देश्य पूर्वक एक जगह से दूसरी जगह जाने या हिलने चलने की शक्ति यह त्रसत्व, और ऐसी शक्ति का न होना यह स्थावरत्व ।

प्र०—जो जीव मनरहित कहे गये हैं क्या उनके द्रव्य, भाव किसी प्रकार का मन नहीं होता ?

उ०—होता है, पर सिर्फ भावमन ।

प्र०—तब तो सभी मनवाले हुए, फिर मनवाले और मनरहित यह विभाग कैसे ?

उ०—द्रव्यमन की अपेक्षा से अर्थात् जैसे बहुत बूढ़ा आदमी पाँव और चलने की शक्ति होने पर भी लकड़ी के सहारे के बिना नहीं चल सकता, इसी तरह भावमन होने पर भी द्रव्यमन के बिना स्पष्ट विचार नहीं किया जा सकता । इसी कारण द्रव्यमन की प्रधानता मानकर उसके भाव और अभाव की अपेक्षा से मनवाले और मनरहित ऐसा विभाग किया है ।

प्र०—क्या दूसरा विभाग करने का यह तो मतलब नहीं है कि सभी त्रस समनस्क और स्थावर सभी अमनस्क हैं ।

उ०—नहीं, त्रस में भी कुछ ही समनस्क होते हैं, सब नहीं । और स्थावर तो सभी अमनस्क ही होते हैं । ११, १२ ।

स्थावरके पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय ये तीन भेद हैं और त्रस के तेज काय, वायुकाय ये दो भेद तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ऐसे भी चार भेद हैं ।

प्र०—त्रस और स्थावरका मतलब क्या है ?

उ०—जिसके त्रस नाम-कर्म का उदय हो वह त्रस, और स्थावर नाम-कर्म का उदय हो वह स्थावर ।

प्र०—त्रस नाम-कर्म के उदय की और स्थावर नाम-कर्म के उदय की पहचान क्या है ?



ठ — बुद्ध को त्यागने और बुद्ध को पाने की प्रवृत्ति का स्पष्ट रूप में दिखार देना और त दिखार देना वही अज्ञान-वश नाम-कर्म के उदय की और त्यागर अज्ञान-कर्म के उदय की पहचान है ।

प्र०—क्या इंद्रिय आदि की तरह तैजसायिक और वायुसायिक चीज भी उक्त प्रवृत्ति करते हुए स्पष्ट दिखार देते हैं, जिससे उनकी वश अज्ञान जाय ?

उ — नहीं ।

प्र — तो फिर पृथिवी सायिक आदि की तरह उनको त्यागर क्यों न कहा गया ?

उ — उक्त लक्षण के अनुसार वे अज्ञान में त्यागर ही हैं । वहाँ इंद्रिय आदि के साथ सिर्फ गति का सम्बन्ध देखकर उनकी वश कहा है अतएव वश ही प्रकृत के हैं—अविद्यवश और गतिवश । वश नाम-कर्म के उदय वाले अविद्यवश हैं वे ही मुख्य वश हैं जैसे इंद्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के बीच । त्यागर नाम-कर्म का उदय होनेपर भी वश की वी गति होने के कारण जो वश कहलाते हैं वे गतिवश । ये उपचार मात्र से वश हैं; जैसे तैजसायिक और वायुसायिक । १३ १४ ।

इन्द्रियों की संख्या, उनका भेद-प्रभेद और नाम निम्न

पञ्चेन्द्रियाणि । १५ ।

त्रिविधानि । १६ ।

निवृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् । १७ ।

सर्वपुपयोगी भावन्द्रियम् । १८ ।

उपयोग स्पृहादिषु । १९ ।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुषोऽपत्तिः । २० ।

इन्द्रियाँ पाँच हैं ।

वे प्रत्येक दो दो प्रकार की हैं ।

द्रव्येन्द्रिय निर्वाह और उपकरण रूप है ।

भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप है ।

उपयोग स्पर्श आदि विषयों में होता है ।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियों के नाम हैं ।

यहाँ इन्द्रियों की संख्या बतलाने का उद्देश्य यह है कि उसके आधार पर यह मालूम किया जा सकता है कि ससारी जीवों के कितने विभाग हो सकते हैं । इन्द्रियाँ पाँच हैं । सभी ससारियों के पाँचों इन्द्रियाँ नहीं होतीं । किन्हीं के एक, किन्हीं के दो, इसी तरह एक-एक बढ़ाते-बढ़ाते किन्हीं के पाँच तक होती हैं । जिनके एक इन्द्रिय हो वे एकेन्द्रिय, जिनके दो हों वे द्वीन्द्रिय, इसी तरह त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय—एसे पाँच भेद ससारी जीवों के होते हैं ।

प्र०—इन्द्रिय का मतलब क्या है ?

उ०—जिससे ज्ञान लाभ हो सके वह इन्द्रिय है ।

प्र०—क्या पाँच से अधिक इन्द्रियाँ नहीं हैं ?

उ०—नहीं, ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं । यद्यपि साख्य आदि शास्त्रों में वाक्, पाणि, पाद, पायु—गुदा, और उपस्थ—लिङ्ग अर्थात् जननेन्द्रिय को भी इन्द्रिय कहा गया है, परन्तु वे कर्मेन्द्रियाँ हैं । यहाँ सिर्फ ज्ञानेन्द्रियोंको बतलाना है, जो पाँच से अधिक नहीं हैं ।

प्र०—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का मतलब क्या है ?

उ०—जिससे मुख्यतया जीवन यात्रोपयोगी ज्ञान हो सके वह ज्ञानेन्द्रिय और जीवन यात्रोपयोगी आहार, विहार, निहार आदि क्रिया जिससे हो वह कर्मेन्द्रिय । १५ ।

पौष्टों इन्द्रियों के द्रव्य और भाव रूप से दो-दो भेद हैं। पुत्रछम्मम वह इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय है और आरिभिक परिणामरूप इन्द्रिय भावेन्द्रिय है। १६।

द्रव्येन्द्रिय निर्गुणति और उपकरण रूप से दो प्रकार की है। घटीर के ऊपर दीसने वाली इन्द्रियों की आकृतियों को पुत्रछम्मकों की विधि रचना रूप हैं, उनको निर्गुणति-इन्द्रिय और निर्गुणति-इन्द्रिय की घटीर और मीठवी पौष्टिक शक्ति, जिसके बिना निर्गुणति-इन्द्रिय जान वैद्य करने में असमर्थ है उसको उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। १७।

भावेन्द्रिय भी स्वभाव और उपयोग रूप से दो प्रकार की है। मतिज्ञानाकरणीय कर्म आदि का संबोधन को एक प्रकार का व्यतिरिक्त परिणाम है—वह स्वधीन्द्रिय है। और स्वभाव निर्गुणति तथा उपकरण इन तीनों के मिलने से ही स्मादि विषयों का सामान्य और विद्येय बोध होता है वह उपयोगेन्द्रिय है। उपयोगेन्द्रिय मतिज्ञान तथा चक्षु, अन्तर्दृष्टनरूप है। १८।

मतिज्ञान रूप उपयोग जिसे भावेन्द्रिय कहा है वह असूची (अमूल्य) पदार्थों को जान सकता है पर उनके लक्ष्य गुण पर्ययों को नहीं जान सकता किन्तु स्वयं रस गन्ध, रूप और शब्द पर्ययों को ही जान सकता है।

प्र —स्विक इन्द्रिय के द्रव्य-भाव रूप से दो दो और द्रव्य के तथा भाव के भी अनुक्रम से निर्गुणति-उपकरण रूप तथा स्वभाव उपयोग रूप से दो भेद बतलाए; अब यह कहिये कि इनका प्रातिक्रम कैसा है ?

उ —स्वधीन्द्रिय होने पर ही निर्गुणति संभव है। निर्गुणति के बिना उपकरण नहीं क्योंकि स्वभाव प्राप्त होने पर निर्गुणति, उपकरण और उपयोग हो सकते हैं। इसी तरह निर्गुणति प्राप्त होने पर उपकरण और उपयोग तथा उपकरण प्राप्त होने पर उपयोग संभव है। साधक यह कि पूर्व-वृत्त इन्द्रिय प्राप्त होने पर उपर उतर इन्द्रिय का प्राप्त होना संभव

है। पर ऐसा नियम नहीं है कि उत्तर-उत्तर इन्द्रिय की प्राप्ति होने पर ही पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त हो। १९।

१ स्पर्शनेन्द्रिय—त्वचा, २ रसनेन्द्रिय—जिह्वा, ३ घ्राणेन्द्रिय—नासिका, ४, चक्षुरिन्द्रिय—आँख, ५ श्रोत्रेन्द्रिय—कान। इन पाँचों के लब्धि, निर्धृत्ति, उपकरण और उपयोग रूप चार चार इन्द्रियों के नाम प्रकार है अर्थात् इन चार चार प्रकारों की समष्टि ही स्पर्शन आदि एक एक पूर्ण इन्द्रिय है। इस समष्टि में जितनी न्यूनता है उतनी ही इन्द्रिय की अपूर्णता।

प्र०—उपयोग तो ज्ञान विशेष है जो इन्द्रिय का फल है, उसको इन्द्रिय कैसे कहा गया ?

उ०—यद्यपि उपयोग वास्तव में लब्धि, निर्धृत्ति और उपकरण इन तीन की समष्टि का कार्य है, तथापि यहाँ उपचार से अर्थात् कार्य में कारण का आरोप करके उसे भी इन्द्रिय कहा गया है। २०।

इन्द्रियों के ज्ञेय अर्थात् विषय—

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः । २१ ।

श्रुतमनिन्द्रियस्य । २२ ।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण—रूप और शब्द ये पाँच क्रम से उनके अर्थात् पूर्वोक्त पाँच इन्द्रियों के अर्थ-ज्ञेय हैं।

अनिन्द्रिय—मन का विषय श्रुत है। १९।

जगत् के सब पदार्थ एक से नहीं हैं। कुछ मूर्त हैं और कुछ अमूर्त। जिनमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि हों वे मूर्त हैं। मूर्त

१ इनके विशेष विचार के लिए देखो हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ पृ० ३६ 'इन्द्रिय' शब्द विषयक परिशिष्ट।

पदार्थ ही इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं अमृत नहीं। पाँचों इन्द्रियों के कियत को कुछा कुछा बतलाए गए हैं वे आपस में सर्वथा भिन्न और मूलतः अ-ब्रह्मरूप नहीं; किन्तु एक ही ब्रह्म के भिन्न भिन्न अंश—पर्याय हैं अर्थात् पाँचों इन्द्रियों एक ही ब्रह्म की पारस्परिक भिन्न भिन्न अवस्था विशेषों को जानने में प्रवृत्त होती हैं। अतएव इस सूत्र में पाँच इन्द्रियों के जो पाँच कियत बतलाए हैं उन्हें स्वतंत्र अलग अलग वस्तु न समझकर एक ही मूर्त—पौष्टिक ब्रह्म के अंश समझना चाहिए। जैसे एक सङ्घ को पाँचों इन्द्रियों भिन्न भिन्न रूप से जानती हैं। अंगुली छूकर उसके घाँट, उख आदि स्पर्श को बतला सकती है। बीम बजाकर उसके लड़े मोटे आदि रस को बतलाती है। माक हँप कर उसकी कुछा या बरबू को बतलाता है। जोक देकर उसके आक, सपेद आदि रंग को बतलाती है। खान उस को सङ्घ की जाने आदि से उपज होनेवाले शब्दों को बतलाता है। यह नहीं कि उस एक ही सङ्घ में स्पर्श, रस गन्ध आदि उस पाँचों कियतों का स्थान अलग अलग पड़ता है। किन्तु वे सभी उसके सब भागों में एक साथ पड़ते हैं क्योंकि वे सभी एक ही ब्रह्म की अभिव्यक्त्य पर्याय हैं। उनका विमिश्रण सिर्फ बुद्धि द्वारा किया जा सकता है जो इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियों की शक्ति कुछा कुछा है। वे किसी ही पदु क्यों न हों; पर अपने प्रत्यक्ष कियत के अभावसे अन्य कियत को जानने में समर्थ नहीं होतीं। इसी कारण पाँचों इन्द्रियों के पाँच कियत अलक्षणीय—पुनक् पुनक् हैं।

प्र —स्पर्श आदि पाँचों अकारण सहपरिणत हैं तब ऐसा क्यों है कि किसी किसी वस्तु में उन पाँचों की उपस्थिति न होकर सिर्फ एक या दो ही होती है; जैसे सूर्य आदि की प्रभा का रूप तो साक्ष्य होता है पर स्पर्श रस गन्ध आदि नहीं। इसी तरह पुष्पादि से अमिथित वायु का स्पर्श साक्ष्य पड़ने पर भी रस गन्ध आदि साक्ष्य नहीं पड़ते।

उ०—प्रत्येक भौतिक द्रव्य में स्पर्श आदि उक्त सभी पर्याय होती हैं पर जो पर्याय उत्कट हो वही इन्द्रियप्राण्य होती है। किसी में स्पर्श आदि पाँचों पर्याय उत्कटतया अभिव्यक्त होते हैं और किसी में एक दो आदि। शेष पर्याय अनुत्कट अवस्था में होने के कारण इन्द्रियों से जाने नहीं जाते, पर होते हैं अवश्य। इन्द्रिय की पटुता—ग्रहणशक्ति—भी सब जाति के प्राणियों की एक ही नहीं होती। एक जातीय प्राणियों में भी इन्द्रिय की पटुता विविध प्रकार की देखी जाती है। इसलिए स्पर्श आदि की उत्कटता, अनुत्कटता का विचार इन्द्रिय की पटुता तरतम भाव पर भी निर्भर है। २१ ।

उक्त पाँचों इन्द्रियों के अलावा एक और भी इन्द्रिय है जिसे मन कहते हैं। मन ज्ञान का साधन है, पर स्पर्शन आदि की तरह बाह्य साधन न होकर आन्तरिक साधन है, इसीसे उसे अन्तःकरण भी कहते हैं। मन का विषय बाह्य इन्द्रियों की तरह परिमित नहीं है। बाह्य इन्द्रियाँ सिर्फ मूर्त्त पदार्थ को ग्रहण करती हैं और वह भी अश रूप से, जब कि मन मूर्त्त, अमूर्त्त सभी पदार्थों को ग्रहण करता है, सो भी अनेक रूप से। मन का कार्य विचार करने का है, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए गए और नहीं ग्रहण किए गए सभी विषयों में विकास—योग्यता के अनुसार विचार कर सकता है। यह विचार ही श्रुत है। इसी से कहा गया है कि अनिन्द्रिय का विषय श्रुत है अर्थात् मूर्त्त-अमूर्त्त सभी तत्त्वों का स्वरूप मन का प्रवृत्ति क्षेत्र है।

प्र०—जिसे श्रुत कहते हो वह यदि मन का कार्य है और वह एक प्रकार का स्पष्ट तथा विशेषप्राणी ज्ञान है, तो फिर मन से मतिज्ञान क्यों नहीं होता ?

उ —होता है; पर मन के द्वारा पहले पहले जो सामान्य रूप से वस्तु का ग्रहण होता है तथा जिसमें शब्दार्थ सम्बन्ध, पौर्वापर्य—आगे पीछे का अनुक्रमण और विकल्प रूप विशेषण म हो वही मतिज्ञान है। इसके बाद होनेवाली उच्च विशेषतायुक्त विचारणा अज्ञान है, अर्थात् मनोव्यवृत्त ज्ञान स्वाप्न की पाठ में प्रथमिक अवस्था अथ मतिज्ञान है और पीछे का अधिक अथ अज्ञान है। कारण यह है कि स्वप्न आदि पाप इन्द्रियों से सिद्ध मतिज्ञान होता है, पर मन से मति, भूत दोनों। इनमें भी मति की अवस्था भूत ही प्रधान है। इन्हीं से परम मन का विचार हुआ करता है।

घ —मन को अनिन्द्रिय क्यों कहा गया है ?

उ —क्योंकि वह भी ज्ञान का साधन होने से इन्द्रिय ही है परन्तु इन आदि इन्द्रियों से ग्रहण होने के लिए उनसे नेत्र आदि इन्द्रियों का साहाय्य लेना पड़ता है। इसी पराधीनता के कारण उसे अनिन्द्रिय या अान्द्रिय—इन्द्रियविषय अव्यय इन्द्रिय कहा जाता है।

ङ० —क्या मन भी नेत्र आदि की तरह घट्टी के किसी स्थान पर रहने से ही ग्रहण है का लक्षण ?

उ —यह घट्टी के अन्दर लंबाई वर्तमान है किसी स्थान स्थान से नहीं; बल्कि घट्टी के सिवा निरा स्थानों में वर्तमान इन्द्रियों के द्वारा। यदि इसे लक्ष्य लक्ष्य स्थानों में मन की मति है। या उसे देखनी जाने किना का रीति लक्ष्य; इसी से वह कहा जाता है कि वह कहा गया है।

१९१ १९१

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि । २४ ।

सज्जिनः समनस्काः । २५ ।

वायुकाय तक के जीवों के एक इन्द्रिय है ।

कृमि, पिपीलिका—चींटी, भ्रमर—भौरा और मनुष्य वगैरह के क्रम से एक एक इन्द्रिय अधिक होती है ।

संज्ञा मनवाले होते हैं। 12-

तेरहवें और चौदहवें सूत्र में ससारी जीवों के स्थावर और प्रस रूप से दो विभाग बतलाए हैं । उनके नव निकाय—जातियाँ हैं, जैसे—पृथिवीकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय, तेज काय, वायुकाय ये पाँच तथा द्वीन्द्रिय आदि चार । इनमें से वायुकाय तक के पाँच निकायों के सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है ।

कृमि, जलौका आदि के दो इन्द्रियाँ होती हैं, एक स्पर्शन और दूसरी रसन । चींटी, कुयु, खटमल आदि के उक्त दो और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं । भौरा, मकखी, बिच्छू, मच्छर आदि के उक्त तीन तथा आँख ये चार इन्द्रियाँ होती हैं । मनुष्य, पशु, पक्षी तथा देव-नारक के उक्त चार और कान ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं ।

प्र०—यह संख्या द्रव्येन्द्रिय की है या भावेन्द्रिय की अथवा उभयेन्द्रिय की ?

उ०—उक्त संख्या सिर्फ द्रव्येन्द्रिय की समझनी चाहिए, भावेन्द्रियाँ तो सभी के पाँचों होती हैं ।

प्र०—तो फिर क्या कृमि आदि भावेन्द्रिय के बल से देख या सुन लेते हैं ?

उ०—नहीं, सिर्फ भावेन्द्रिय काम करने में समर्थ नहीं, उस द्रव्येन्द्रिय का सहारा चाहिए । अतएव सब भावेन्द्रियों के होने पर भी—



इसमें या वीथी आदि नेत्र तथा कण कण इत्येतिवत् न होने से देखने, सुनने में अक्षमता है; फिर भी य अपनी अपनी इत्येतिवत् की वृत्ता के बल से जीवन्-मृता का निवाह कर ही लेते हैं ।

पृथिवीकाय से लेकर अक्षुण्णित्व पर्यन्त के आठ निजायों के तीसरे स्तर ही नहीं वंशेतिवत् में भी लक्ष के नहीं होता । वंशेतिवत् के चार वर्ग हैं : देव अथवा मनुष्य और तिर्यक । इनमें से पहले दो वर्गों में तो सभी के मन होता है और विच्छेद दो वर्गों में उत्पत्ति के होता है जो गर्भोत्पन्न ही; अर्थात् मनुष्य और तिर्यक-गर्भोत्पन्न तथा जन्मोत्पन्न इस तरह दो ही प्रकार के होते हैं, जिनमें जन्मोत्पन्न मनुष्य और तिर्यक के मन नहीं होता । तादात्म्य यह कि वंशेतिवत् में लक्ष देव, लक्ष मनुष्य और गर्भोत्पन्न मनुष्य तथा गर्भोत्पन्न तिर्यक के ही मन होता है ।

३ —अमुक के मन है और अमुक के नहीं इच्छा क्या प्रदान ?

उ —इसका प्रदान संज्ञा का होता या न होता है ।

४ —जहां वृत्ति की वृत्त है और वृत्ति स्मृताधिक रूप से चिन्ता न चिन्ता प्रकार की सभी में देवी आदि है; क्योंकि इति वीथी अक्षि अक्षुण्णे में ही अक्षर लक्ष अक्षि की वृत्तों देनी आती है फिर इन वृत्तों के मन वृत्तों में प्रदान आता ।

५ —वही संज्ञा का अक्षर लक्ष अक्षि में भी विच्छिन्न वृत्ति में है । वह विच्छिन्न वृत्ति गुण-रोग की विचारण्य है जिनमें ही ही वृत्ति ही अक्षि का प्रदान ही लक्ष । इन विच्छिन्न वृत्तों की लक्ष में अक्षर लक्ष वृत्तों है । वह संज्ञा लक्ष का प्रदान है जो देव

१ इति मनुष्य के प्रदान देनी ही ही वृत्तों वृत्तों १/१

... ..

नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च में ही स्पष्ट रूप से देखी जाती है। इसलिए वे ही मनवाले माने जाते हैं।

प्र०—क्या कृमि, चींटी आदि जीव अपने अपने इष्ट को पाने तथा अनिष्ट को त्यागने का प्रयत्न नहीं करते ?

उ०—करते हैं।

प्र०—तब फिर उनमें सप्रधारण संज्ञा और मन क्यों नहीं माने जाते ?

उ०—कृमि आदि में भी अत्यन्त सूक्ष्म मन मौजूद है, इसीसे वे हित में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति कर लेते हैं। पर उनका वह कार्य सिर्फ देह-यात्रोपयोगी है, इससे, अधिक नहीं। यहाँ इतना पुष्ट मन विवक्षित है जिससे निमित्त मिलने पर देह-यात्रा के अलावा और भी अधिक विचार किया जा सके, अर्थात् जिससे पूर्व जन्म का स्मरण तक हो सके—इतनी विचार की योग्यता ही सप्रधारण संज्ञा कहलाती है। इस संज्ञावाले उक्त देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च ही हैं। अतएव उन्हीं को यहाँ समनस्क कहा है। २३-२५।

अन्तराल गति सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए योग आदि  
पाँच बातों का वर्णन—

विग्रहगतौ कर्मयोगः । २६।

अनुश्रेणि गतिः । २७।

अविग्रहा जीवस्य । २८।

१ देखो ज्ञानविन्दु प्रकरण (यशोविजय जैन ग्रन्थमाला) पृ० १४४।  
२ इस विषयकी विशेष स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए देखो हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ में 'अनाहारक' शब्द का परिशिष्ट प० १४३।

विग्रहवती च ससारिण प्राक् चतुर्भ्यः । २९ ।

एकसमयोऽविग्रहः । ३० ।

एकं ह्यं वाऽनाहारकः । ३१ ।

विग्रहगति में कर्मबोग-कर्मणयोग ही होता है ।

गति भेगि-सरखरेजा के झुलार होती है ।

जीव-मुप्यमान आत्मा की गति विग्रहरहित ही होती है ।

मंतारी आत्मा की गति अविग्रह और सविग्रह होती है ।

विग्रह चार से पहले अर्थात् सींग तक हो सकते हैं ।

विग्रह का अभाव एक समय परिमित है अर्थात् विग्रहाभाववासी

गति एक समय परिमित है ।

एक पा हा समय तक जीव अनाहारक रहता है ।

पुनरुत्थान आनमे बाते प्रत्येक दर्शन के सामने अन्तरिम गति संकल्पनी निवृत्तिस्थित पाँच प्रजन उपस्थित होते हैं :

१ अन्तःकरण के लिए वह मोक्ष के लिए अब जीव गति करता है तब अर्थात् अन्तरिम गति के समय स्थूल शरीर न होने व जीव किस तरह प्रकाम करता है ?

२ गतिशील पदार्थ गतिविद्या करते हैं, वह किस नियम से ?

३ गतिविद्या के विद्यने प्रकार हैं और जीव-जीव जीव किस-किस गतिविद्या के अधिकारी हैं ?

४ अन्तरिम गति का जपगुण वा उन्मुक्त वाक्यमान विद्यना है और यह वाक्यमान किस नियम पर अवलम्बित है ?

५ अन्तरिम गति के समय जीव आहार करता है या नहीं अगर नहीं तो जपगुण वा उन्मुक्त विद्यने वाक्य तक और अनाहारक स्थिति का

इन पाँच प्रश्नों पर आत्मा को व्यापक मानने वाले दर्शनों को भी विचार करना चाहिए; क्योंकि उन्हें भी पुनर्जन्म की उपपत्ति के लिए सूक्ष्म शरीर का गमन और अन्तराल गति माननी ही पड़ती है, परन्तु देहव्यापी आत्मवादी होने से जैन दर्शन को तो उक्त प्रश्नों पर अवश्य विचार करना चाहिए। यही विचार यहाँ क्रमशः किया गया है, जो इस प्रकार है—

अन्तराल गति दो प्रकार की है. ऋजु और वक्र। ऋजुमति में स्थानान्तर को जाते हुए जीव को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व शरीरजन्य वेग मिलता है, जिससे वह दूसरे प्रयत्न के बिना ही धनुष से छूटे हुए बाण योग की तरह सीधे ही नये स्थान को पहुँच जाता है। दूसरी गति वक्र—ध्रुमाव वाली होती है, इसलिए इस गति से जाते हुए जीव को नये प्रयत्न की अपेक्षा होती है, क्योंकि पूर्व शरीरजन्य प्रयत्न वहाँ तक ही काम करता है जहाँ से जीव को घूमना पड़े। घूमने का स्थान आते ही पूर्व देहजनित प्रयत्न मन्द पड़ जाता है, इसलिए वहाँ से सूक्ष्म शरीर जो जीव के साथ उस समय भी है उसी से प्रयत्न होता है। वही सूक्ष्म शरीरजन्य प्रयत्न कर्मणयोग कहलाता है। इसी आशय से सूत्र में कहा गया है कि विग्रह गति में कर्मणयोग ही होता है। सारांश यह है कि वक्रगति से जाने वाला जीव सिर्फ पूर्व शरीरजन्य प्रयत्न से नये स्थान को नहीं पहुँच सकता, इसके लिए नया प्रयत्न कर्मण-सूक्ष्म शरीर से ही साध्य है, क्योंकि उस समय दूसरा कोई स्थूल शरीर नहीं है। स्थूल शरीर न होने से उस समय मनोयोग और वचनयोग भी नहीं होते। २६।

गतिशील पदार्थ दो ही प्रकार के हैं जीव और पुद्गल। इन दोनों में गतिक्रिया की शक्ति है, इसलिए वे निमित्त वश गतिक्रिया में परिणत

होकर गति करने समर्थ हैं। बाह्य उपस्थिति से वे मछले ही बह्यगति करें, पर स्वाभाविक गति तो उनकी सीधी ही होती है। सीधी गति का नियम गति का मतलब यह है कि पहले जिस आकाश क्षेत्र में जीव या परमाणु स्थित हो वहाँ से गति करते हुए वे उसी आकाश क्षेत्र की तरफ रक्ता में जाते हैं जो नीचे या ठिठके पड़े जाते हैं। इसी स्वाभाविक गति को लेकर सून में कहा गया है कि गति अनुभेदि होती है। भेदि का मतलब पूर्वस्थान प्रमाण आकाश की भन्व्यूनादिक तरल रेखा से है। इस स्वाभाविक गति के बर्णन से उचित हो जाता है कि जब कोई प्रतिघातकारक कारण हो तब जीव या पुत्रक भेदि-तरल रेखा को छोड़कर बह-रखा से मी गमन करते हैं। कारण यह है कि गतिशील पदार्थों की गतिक्रिया प्रतिघातक निमित्त के अभाव में पूर्वस्थान प्रमाण तरल रेखा से ही होती है और प्रतिघातक निमित्त होने पर बह-रखा से होती है। १७।

पहले कहा गया है कि अस्तु और वह इस तरह गति दो प्रकार की होती है। अस्तु गति वह है जिसमें पूर्व स्थान से नये स्थान तक जाने में

तरल रेखा का भंग न हो अर्थात् एक मी पुमाव न करना गति का प्रकार पड़े। बह्यगति वह है जिसमें पूर्व स्थान से नये स्थान तक जाने में तरलरेखा का भंग हो अर्थात् कम से कम एक पुमाव अवश्य हो। यह मी कहा गया है कि जीव, पुत्रक दोनों तक दोनों गतियों के अधिकारी हैं। वहाँ मुख्य प्रश्न जीव का है। पूर्व शरीर छोड़ कर स्थानान्तर को जाने वाले जीव दो प्रकार के हैं: एक तो वे जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर को तथा के लिए छोड़कर स्थानान्तर को जाते हैं वे जीव मुख्यमान-मोक्ष जाने वाले कहलाते हैं। दूसरे वे जो सूक्ष्म शरीर को छोड़कर नये स्थूल शरीर को प्राप्त करते हैं। वे अन्तःस्थ गति के समय सूक्ष्म शरीर से अवरण बेहित होते हैं ऐसे जीव संतारी कहलाते हैं। मुख्यमान

जीव मोक्ष के नियत स्थान पर ऋजुगति से ही जाते हैं, वक्रगति से नहीं; क्योंकि वे पूर्व स्थान की सरलरेखा वाले मोक्ष स्थान में ही प्रतिष्ठित होते हैं, थोड़ा भी इधर उधर नहीं। परन्तु ससारी जीव के उत्पत्ति स्थान का कोई नियम नहीं। कभी तो उनको जहाँ उत्पन्न होना हो वह नया स्थान पूर्व स्थान की विलकुल सरलरेखा में हाँता है और कभी वक्ररेखा में; क्योंकि पुनर्जन्म के नवीन स्थान का आधार पूर्वकृत कर्म पर है, और कर्म विविध प्रकार का होता है, इसलिए ससारी जीव ऋजु और वक्र दोनों गतियों के अधिकारी हैं। सारासा यह कि मुक्तिस्थान में जाने वाले आत्मा की एक मात्र सरल गति होती है, और पुनर्जन्म के लिए स्थानान्तर में जानेवाले जीवों की सरल तथा वक्र दोनों गतियाँ होती हैं। ऋजुगति का दूसरा नाम इपुगति भी है, क्योंकि वह धनुष के वेग से प्रेरित बाण की गति की तरह पूर्व शरीरजनित वेग के कारण सीधी होती है। वक्रगति के पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका और गोमूत्रिका ऐसे तीन नाम हैं, जिसमें एक बार सरलरेखा या भङ्ग हो वह पाणिमुक्ता, जिसमें दो बार हो वह लाङ्गलिका और जिसमें तीन बार हो वह गोमूत्रिका। कोई भी ऐसी वक्रगति जीव की नहीं होती, जिसमें तीन से अधिक घुमाव करने पड़ें, क्योंकि जीव का नया उत्पत्ति स्थान कितना ही विश्रेणिपातित-वक्ररेखा स्थित क्यों न हो, पर वह तीन घुमाव में तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। पुद्गल की वक्रगति में घुमाव की संख्या का कोई भी नियम नहीं है, उसका आधार प्रेरक निमित्त पर है। २८, २९।

अन्तराल गति का कालमान जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट-चार समय का है। जब ऋजुगति हो तब एक ही समय और जब वक्रगति हो तब दो, तीन या चार समय समझने चाहिए। समय की संख्या की

१ ये पाणिमुक्ता आदि सज्ञाएँ दिगम्बर व्याख्या ग्रन्थों में प्रासिद्ध हैं।

वृद्धि का आधार पुमाव की चरुवा की वृद्धि पर अवलम्बित है। जिस  
 वक्रगति में एक पुमाव हो उसका काळमान दो समय  
 गति का कालमान का जिसमें दो पुमाव हों उसका काळमान तीन  
 समय का, और जिसमें तीन पुमाव हों उसका काळमान चार समय का है।  
 सादा यह कि एक विप्रद की गति से उत्पत्ति स्थान में जब जाना हो  
 तब पूर्व स्थान से पुमाव के स्थान तक पहुँचने में एक समय और पुमाव के  
 स्थान से उत्पत्ति स्थान तक पहुँचने में दूसरा समय लग जाता है। इसी  
 नियम के अनुसार दो विप्रद की गति में तीन समय और तीन विप्रद की  
 गति में चार समय लग जाते हैं। यहाँ यह भी ध्यान देना चाहिये कि  
 अन्तर्गति से अन्तर्गतर करने वाले जीव के पूर्व शरीर स्वगत समय ही नये  
 आयु और गति कर्म का उदय हो जाता है; और वक्रगति वाले जीव के  
 प्रथम कक स्थान से नवीन आयु, गति और आयुपूर्वी नाम कर्म का यथा  
 संभव उदय हो जाता है, क्योंकि प्रथम वक्रस्थान तक ही पूर्वमवीन आयु  
 आदि का उदय रहता है। ३ ।

मुष्यस्तन जीव के लिए तो अन्तर्गच्छ गति में आहार का प्रश्न ही  
 नहीं है; क्योंकि वह स्वयं, स्वयं सब शरीरों से मुक्त है। पर सजायी जीव के  
 लिए आहार का प्रश्न है, क्योंकि उसके अन्तर्गच्छ गति  
 में भी स्वयं शरीर अवश्य होता है। आहार का  
 मतलब है स्वयं शरीर योग्य पदार्थों को ग्रहण करना।  
 ऐसा आहार सजायी जीवों में अन्तर्गच्छ गति के समय में पाया भी जाता है  
 और नहीं भी पाया जाता। जो अनुगति से या दो समय की एक विप्रद  
 वापी गति से जाने वाले हों वे अन्तर्गच्छ नहीं होते; क्योंकि अनुगति वाले  
 जिस समय में पूर्व शरीर छोड़ते हैं उन्हीं समय में गया स्थान प्राप्त करते  
 हैं समयान्तर नहीं होता। इसलिये उनकी अनुगति का समय याने हुए

पूर्वभवीय शरीर के द्वारा ग्रहण किये गए आहार का या नवीन जन्मस्थान में ग्रहण किये आहार का समय है। यही हाल एक विग्रह वाली गति का है, क्योंकि इसके दो समयों में से पहला समय पूर्व शरीर के द्वारा ग्रहण किये हुए आहार का है और दूसरा समय नये उत्पत्ति स्थान में पहुँचने का है, जिसमें नवीन शरीर धारण करने के लिए आहार क्रिया जाता है। परन्तु तीन समय की दो विग्रह वाली और चार समय की तीन विग्रह वाली गति में अनाहारक स्थिति पाई जाती है, यह इसलिए कि इन दोनों गतियों के क्रम से तीन और चार समयों में से पहला समय त्यक्त शरीर के द्वारा लिए हुए आहार का और अन्तिम समय उत्पत्तिस्थान में लिए हुए आहार का है। पर इन प्रथम तथा अन्तिम दो समयों को छोड़कर बीच का काल आहारशून्य होता है। अतएव द्विविग्रह गति में एक समय और त्रिविग्रह गति में दो समय तक जीव अनाहारक माने गए हैं। यही भाव प्रस्तुत सूत्र में प्रकट किया गया है। सारांश यह है कि ऋजुगति और एकविग्रह गति में आहारक दशा ही रहती है और द्विविग्रह तथा त्रिविग्रह गति में प्रथम और चरम इन दो समयों को छोड़कर अनुक्रम से मध्यवर्ती एक तथा दो समय पर्यन्त अनाहारक दशा रहती है। कहीं कहीं तीन समय भी अनाहारक दशा के माने गये हैं, सो पाँच समय की चार विग्रह वाली गति के समव की अपेक्षा से।

प्र०—अन्तराल गति में शरीर पोषक आहाररूप से स्थूल पुद्गलों के ग्रहण का अभाव तो मालूम हुआ, पर यह कहिये कि उस समय कर्मपुद्गल ग्रहण किये जाते हैं या नहीं ?

उ०—किये जाते हैं।

प्र०—सो कैसे ?

उ०—अन्तराल गति में भी ससारी जीवों के कर्मण शरीर अवश्य होता है। अतएव यह शरीरजन्य आत्मप्रदेश-कम्पन, जिसको कर्मण योग



करते हैं, यह भी अवश्य होता है। जब योग है तब कर्मपुत्रक का प्रथम भी अनिवार्य है। क्योंकि योग ही कर्मवर्गीया के आकर्षण का कारण है। जैसे उस की वृद्धि के समय कृपा गया संतत बाध लक्षणों को ग्रहण करता व उन्हें सोचता हुआ पला जाता है। जैसे ही अन्तर्गत गति के समय क्षमण योग से प्रकृत जीव भी कर्मवर्गीयाओं को ग्रहण करता और उन्हें अपने साथ मिश्रता हुआ स्वानन्तर को जाता है। ३१।

जन्म और योनि के भेद तथा उनके स्वामी—

सम्पूर्त्तनगमोपपाता जन्म । ३२ ।

सच्चित्तधीतसङ्घता सेतरा मिभायैकलस्तपोनयः । ३३ ।

बराय्यम्भपोतज्ञाना गर्मः । ३४ ।

नारकदेवानामुपपातः । ३५ ।

क्षेपाणां सम्पूर्त्तनम् । ३६ ।

सम्पूर्ण गर्म और उपपात के भेद से तीन प्रकार का जन्म है।

सच्चित्त धीत और संघत से तीन, तथा इन तीनों की प्रतिपसमूत अभिस्त, ठम्म और विद्वत; तथा मिस्र अथात् सच्चित्तधित धीयोम्भ और संघतविद्वत—कुल नच उतकी अर्थात् जन्म की योनियों हैं।

अपुत्र अष्टक और पेटक प्राणियों का गर्म जन्म होता है।

नारक और देवों का उपपात जन्म होता है।

शेष सब प्राणियों का सम्पूर्ण जन्म होता है।

पूव मय समाप्त इति पर सेतारि जीव मया यव चरन करते हैं इतने बिंदु उन्हें जन्म देना पड़ता है; पर जन्म सबका एक ही नहीं होता यहा बाध यहाँ फलसाई गई है। पूर्व मय का स्थूल जन्म भेद शरीर छोड़ने के बाद अन्तर्गत गति से तिरि क्षमण शरीर

के साथ आकर नवीन भव के योग्य स्थूल शरीर के लिए पहले पहल योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना जन्म कहलाता है। इसके सम्मूर्छन, गर्भ और उपपात ऐसे तीन भेद हैं। माता-पिता के संबन्ध के बिना ही उत्पत्ति स्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों को पहले पहल शरीर रूप में परिणत करना सम्मूर्छन जन्म है; उत्पत्ति स्थान में स्थित शुक्र और शोणित के पुद्गलों को पहले पहल शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भ जन्म है। उत्पत्ति स्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले पहल शरीर रूप में परिणत करना उपपात जन्म है। ३२।

जन्म के लिए कोई स्थान चाहिए। जिस स्थान में पहले पहल स्थूल शरीर के लिए ग्रहण किए गए पुद्गल कार्मण शरीर के साथ गरम लोहे में पानी की तरह मिल जाते हैं, वही स्थान योनि है। योनि भेद योनि के नव प्रकार हैं सचित्त, शीत, संवृत; अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और सवृतविवृत।

१. सचित्त—जो योनि जीव प्रदेशों से अधिष्ठित हो, २. अचित्त—जो अधिष्ठित न हो, ३. मिश्र—और जो कुछ भाग में अधिष्ठित हो तथा कुछ भाग में न हो, ४. शीत—जिस उत्पत्ति स्थान में शीत स्पर्श हो, ५. उष्ण—जिसमें उष्ण स्पर्श हो, ६. मिश्र—और जिसके कुछ भाग में शीत तथा कुछ भाग में उष्ण स्पर्श हो, ७. संवृत—जो उत्पत्ति स्थान ढका या दबा हो, ८. विवृत—जो ढका न हो, खुला हो, ९. मिश्र—और जो कुछ ढका तथा कुछ खुला हो।

किस-किस योनि में कौन-कौन से जीव उत्पन्न होते हैं, इसका ब्यौरा इस प्रकार है—

जीव  
नारक और देव  
गर्भज मनुष्य और तिर्यक

योनि  
अचित्त  
मिश्र-सचित्ताचित्त

शेष सत्र अर्थात् पौष्ण स्वावर, तीन  
विकसेन्द्रिय और अगर्मज पक्षेन्द्रिय  
तिर्यञ्च तथा मनुष्य

} त्रिविध- क्षयित, अक्षयित,  
तथा मित्र

गर्मज मनुष्य और तिर्यञ्च तथा देव  
तेजाश्चन्द्रिक- अमिच्छय

मित्र- क्षीतोष्ण  
उष्ण

शेष सत्र अर्थात् चार स्वावर, तीन-  
विकसेन्द्रिय अगर्मज पक्षेन्द्रिय तिर्यञ्च  
और मनुष्य तथा नारक

} त्रिविध- क्षीत उष्ण मित्र-  
क्षीतोष्ण

नारक, देव और पक्षेन्द्रिय

संवृत

गर्मज पक्षेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य

मित्र- संवृतविवृत

शेष सत्र अर्थात् तीन विकसेन्द्रिय  
अगर्मज पक्षेन्द्रिय मनुष्य और  
तिर्यञ्च

} विवृत

॥ — योनि और जन्म में क्या भेद है ?

उ — योनि आधार है और जन्म आवेप है अर्थात् स्थूल शरीर  
के लिए योग्य पुरुषों का प्राथमिक प्रवृत्त जन्म है और वह प्रवृत्त भिन्न  
बनकर दो तरह की है ।

॥ — योनियों को बीराणी ब्याप्त करी जाती हैं, तो फिर क्यों  
नव ही क्यों कही गई ?

१ रिगम्बर दीक्षा प्रणयों में क्षीत और उष्ण योनियों के स्वामी देव  
और नारक माने गए हैं । तदनुसार यहाँ क्षीत, उष्ण आदि त्रिविध योनियों  
के स्वामीयों में नारक को न गिनकर गर्मज मनुष्य और तिर्यञ्च को गिनना  
चाहिए ।

उ०—चौरासी लाख का कथन विस्तार की अपेक्षा से है। पृथिवीकाय आदि जिस जिस निकाय के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के तरतम भाव वाले जितने जितने उत्पत्ति स्थान हैं उस उस निकाय की उतनी उतनी योनियाँ चौरासी लाख में गिनी गई हैं। यहाँ उन्हीं चौरासी लाख के सच्चित्त आदि रूप से सक्षेप में विभाग करके नव भेद बतलाए गए हैं। ३३।

ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के जन्म में से कौन जन्म के स्वामी कौन जन्म किन किन जीवों का होता है; इसका विभाग नीचे लिखे अनुसार है।

जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भजन्म होता है। देव और नारकों का उपपात जन्म होता है। शेष सब अर्थात् पाँच स्यावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यच तथा मनुष्य का सम्मूर्छन जन्म होता है। जरायुज वे हैं जो जरायु से पैदा हों, जैसे मनुष्य, गाय, भैंस, बकरा आदि जाति के जीव। जरायु एक प्रकार का जाल जैसा आवरण है, जो रक्त और मास से भरा होता है, और जिसमें पैदा होनेवाला बच्चा लिपटा रहता है। जो अण्डे से पैदा होने वाले अण्डज हैं, जैसे—साँप, मोर, चिड़िया, कबूतर आदि जाति के जीव। जो किसी प्रकार के आवरण से बेधित न होकर ही पैदा होते हैं वे पोतज हैं, जैसे हाथी, शशक, नेवला, चूहा आदि जाति के जीव। ये न तो जरायु से ही लिपटे हुए पैदा होते हैं और न अण्डे से, किन्तु खुले अङ्ग पैदा होते हैं। देवों और नारकों में जन्म के लिए खास नियत स्थान होता है जो उपपात कहलाता है। देवशय्या के ऊपर वाला दिव्यवस्त्र से आच्छन्न भाग देवों का उपपात क्षेत्र है, और वज्रमय भीत का गवाक्ष—कुंभी ही नारकों का उपपात क्षेत्र है, क्योंकि इस उपपात क्षेत्र में स्थित वैक्रियपुद्गलों को वे शरीर के लिए ग्रहण करते हैं। ३४-३६।

घटीयों के संख्य में वर्णन—

वीदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकामेयानि घटीराशि ३७।

परं परं सूक्ष्मम् । १८ ।

प्रेदेष्टोऽसंख्येयगुण प्राक् तैजसात् । १९ ।

अनन्तगुणे परे । ४० ।

अप्रतिघाते । ४१ ।

अनादिसम्बन्धे च । ४२ ।

सर्वस्य । ४३ ।

तदादीनि माज्यानि युगपदकस्या चतुर्म्यः । ४४ ।

निरुपभोगमन्त्यम् । ४५ ।

गर्मसम्भूतैर्नजमाद्यम् । ४६ ।

वैक्रियर्मापपातिकम् । ४७ ।

संख्यप्रत्यय च । ४८ ।

सुप्तं विशुद्धमव्यापाति आहारक चतुर्दशपूर्वघरस्यैव । ४९ ।

वीदारिक वैक्रिय आहारक तैजस और कामेय के पाँच प्रकार के घटीर हैं ।

१ यहाँ प्रदेष्ट घण्ट का अर्थ माय की शक्ति में 'अनन्तागुण रक्षण' किया है; फलतः तर्कवैक्रिय आदि में 'परमाणु' अर्थ लिया है ।

२ इस सूत्र के बाद 'सैत्रतमयि' ऐसा सूत्र द्विगुण परंपर में है, त्रैगुण परंपर में नहीं है। तर्कवैक्रिय आदि में उक्तका अर्थ इस प्रकार है—सैत्रत घटीर भी संख्यप्रत्यय है, अर्थात् जैसे वैक्रिय घटीर संख्य से उत्पन्न किन्तु आ तद्वत् है, वैसे ही संख्य से सैत्रत घटीर भी बन्याद्य आ तद्वत् है, इस अर्थ से यह कल्पित नहीं होता कि सैत्रत घटीर संख्यप्रत्यय ही है ।

उक्त पाँच प्रकारों में जो शरीर पर पर अर्थात् आगे आगे का है, वह पूर्व पूर्व से सूक्ष्म है।

तैजस के पूर्ववर्ती तीन शरीरों में पूर्ष पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर शरीर प्रदेशों—स्कन्धों से असख्यात गुण होता है।

और परवर्ती दो अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर प्रदेशों से अनन्त गुण होते हैं।

तैजस और कार्मण दोनों शरीर प्रतिघात रहित हैं।

आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध वाले हैं।

और सब संसारी जीवों के होने हैं।

एक साथ एक जीव के शरीर—तैजस, कार्मण से लेकर चार तक—विकल्प से होते हैं।

अन्तिम अर्थात् कार्मण शरीर ही उपभोग—सुखदुःखादि के अनुभव से रहित है।

पहला अर्थात् औदारिक शरीर सम्मूर्च्छनजन्म और गर्भजन्म से ही पैदा होता है।

वैक्रियशरीर उपपात जन्म से पैदा होता है।

तथा वह लब्धि से भी पैदा होता है।

आहारक शरीर शुभ—प्रशस्त पुद्गल द्रव्य जन्य, विशुद्ध—निष्पाप कार्यकारी, और व्याघात—बाधा रहित होता है, तथा वह चौदह पूर्व वाले मुनि के ही पाया जाता है।

जन्म ही शरीर का आरम्भ है, इसलिए जन्म के बाद शरीर का चर्चन किया गया है, जिसमें उससे संबन्ध रखनेवाले अनेक प्रश्नों पर नीचे लिखे अनुसार क्रमशः विचार किया है।

देहधारी जीव अनन्त हैं, उनके शरीर भी अलग-अलग होने से वे व्यक्तिशः अनन्त हैं। पर कार्य, कारण आदि के सादृश्य की दृष्टिसे संक्षेप

शरीर के प्रकार शरीर में विभक्त करके उनके पाँच प्रकार बतलाए गए हैं—  
उनकी व्याख्या जैसे—भौतिक वैज्ञान, आहारक, तैक्स और कर्मण ।

जीव के क्रिया करने के साधन को शरीर कहते हैं । १ जो शरीर  
कमजोर या सके व मितत्र केरम, मेहन हो सके वह भौतिक है । २ जो  
शरीर कमी श्रेय कमी बहा कमी फलम, कमी श्रेय, कमी एक कमी  
अनेक इत्यादि अनेक रूपोंके कारण कर सके वह वैज्ञान है । ३ जो शरीर  
किं चतुर्दशपूरी सुनिके द्वारा ही रचा था सके वह आहारक है । ४ जो  
शरीर तेजोमय होने से साय हुए आहार आदि के परिपाक का हेतु और  
रिति का निमित्त ही वह तैक्स है । और ५ कर्मसमूह ही कर्मण शरीर  
है । ३७ ।

उक्त पाँच शरीर में सबसे अधिक सूक्ष्म भौतिक शरीर है, वैज्ञान  
उत्तम है आहारक वैज्ञान से भी सूक्ष्म है,  
सूक्ष्म-सूक्ष्म भाव इसी तरह आहारक से तैक्स और तैक्स से कर्मण  
सूक्ष्म, सूक्ष्मतर है ।

प्र — यहाँ सूक्ष्म और सूक्ष्म का मतलब क्या है ?

उ — सूक्ष्म और सूक्ष्म का मतलब रचना की विचित्रता और  
सफ़ाई है, परिमाण से नहीं । भौतिक से वैज्ञान सूक्ष्म है पर  
आहारक से सूक्ष्म है । इसी तरह आहारक आदि शरीर भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा  
सूक्ष्म और उतार उतार की अपेक्षा सूक्ष्म हैं; अर्थात् यह सूक्ष्म-सूक्ष्म भाव  
अपेक्षा करता है । इसका मतलब यह है कि जिस शरीर की रचना जिस  
बृहते शरीर की रचना से विचित्र हो वह उतने सूक्ष्म और बृहत्तर उतने  
सूक्ष्म । रचना की विचित्रता और सफ़ाई यौद्धिक परिपक्वता पर निर्भर  
है । पुरुषों में अनेक प्रकार के परिचयन की शक्ति है इससे वे  
परिमाण में सीढ़ी होने पर भी जब विचित्र रूप में परिवर्तित होते हैं तब सूक्ष्म  
बदलते हैं और परिमाण में बहुत होने पर भी जैसे जैसे सफ़ाई होते जाते हैं

वैसे-वैसे वे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर कहलाते हैं। उदाहरणार्थ— भिंडीकी फली और हाथी का दाँत ये दोनों बराबर परिमाणवाले लेकर देखें जायँ, तो भिंडी की रचना शिथिल होगी और दाँत की रचना उससे निविड; इसीसे परिणाम बराबर होने पर भी भिंडी की अपेक्षा दाँत का पौद्गलिक द्रव्य अधिक है। ३८।

स्थूल, सूक्ष्म भाव की उक्त व्याख्या के अनुसार उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भक द्रव्य पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा परिमाण में अधिक होता है, यह बात मालूम हो जाती है, पर वह परिमाण जितना-जितना पाया जाता है, उसीको दो सूत्रों में बतलाया गया है।

परमाणुओं से बने हुए जिन स्कन्धों से शरीर का निर्माण होता है वे ही स्कन्ध शरीर के आरम्भक द्रव्य हैं। जब तक परमाणु अलग-अलग हों तब तक उनसे शरीर नहीं बनता। परमाणुपुंज जो स्कन्ध कहलाते हैं उन्हीं से शरीर बनता है। वे स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओं के बने हुए होने चाहिएँ। औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्धों से वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध असंख्यात गुण होते हैं, अर्थात् औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्ध अनन्त परमाणुओं के होते हैं और वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओं के; पर वैक्रिय शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या, औदारिक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या से असंख्यात गुण अधिक होती है। यही अधिकता वैक्रिय और आहारक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या में समझनी चाहिए।

आहारक स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या से तैजस के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या अनन्तगुण होती है, इसी तरह तैजस से कार्मण के स्कन्धगत परमाणु भी अनन्तगुण अधिक हैं। इस प्रकार देखने से यह स्पष्ट है कि पूर्व पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तर-उत्तर



शरीर का अग्रगण्य रूप अधिक अधिक होता है। फिर भी परिवर्तन की विविधता के कारण ही उत्तर-उत्तर शरीर निबिड, निबिडतर, निबिडतम बनता जाता है, और सुभ्रम सूक्ष्मतर, सुभ्रमतम कहलाता है।

प्र — शरीर के स्वरूप में अनन्त परमाणुवाले और वैदिक आदि के स्वरूप में अनन्त परमाणु वाले हैं, तो फिर उन स्वरूपों में स्पृशाधिकता क्या हुई ?

उ० — अनन्त सूक्ष्म अनन्त प्रकार की है। इसी प्रकार अनन्त रूप से उत्पन्न होने पर भी शरीर के स्वरूप से वैदिक आदि के स्वरूप का अतिसूक्ष्म गुण अधिक होना असम्भव नहीं है। (१९, ४०)

अन्तिम दो शरीरों का स्वभाव उक्त पाँच शरीरों में से पहले तीन का अन्तर्भाव और स्वामी की अपेक्षा पिछले दो में कुछ विद्योपस्था है; दो यहाँ तीन बातों के द्वारा समझा तीन सूत्रों से बतलाई गई है।

१/ तेजस और अग्नि के दो शरीर लगे लगे हैं कहीं भी प्रतिपाद नहीं पाते अर्थात् ब्रह्म जैसी कठिन वस्तु में उन्हें प्रवेश करने से रोक नहीं सकती; क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं। यद्यपि एक मूर्त वस्तु का दूसरी मूर्त वस्तु से प्रतिपाद देखा जाता है तथापि यह प्रतिपाद का नियम सूक्ष्म वस्तुओं में लागू पड़ता है, सूक्ष्म में नहीं। सूक्ष्म वस्तु बिना अग्रगण्य के सर्वत्र प्रवेश कर पाती है जैसे खोदपिण्ड में अग्नि।

प्र — तब तो सूक्ष्म होने से वैदिक और आहारक को भी अग्रप्रतिपादी ही करना चाहिए ?

उ० — अर्थात्, वे भी बिना प्रतिपाद के प्रवेश कर सकते हैं। पर यहाँ अग्रप्रतिपाद का मतलब अग्रगण्य पर्यन्त अभ्याहत गति से है। वैदिक और आहारक अभ्याहत गति वाले हैं पर तेजस, अग्नि की तरह लगे लगे हैं नहीं, किन्तु खोदके के जहाँ माग में अर्थात् बलनाही में ही।

तैजस और कर्मण का सन्ध आत्मा के साथ प्रवाह रूप से जैसा अनादि है वैसा पहले तीन शरीरों का नहीं है; क्योंकि वे तीनों शरीर अमुक काल के बाद कायम नहीं रह सकते। इसलिए औदा-कालमर्यादा रिक आदि तीनों शरीर कदाचित्—अस्थायी सन्ध वाले कहे जाते हैं और तैजस, कर्मण अनादि सन्ध वाले।

प्र०—जब कि वे जीव के साथ अनादि संबद्ध हैं, तब तो उनका अभाव कभी न होना चाहिए, क्योंकि अनादिभाव का नाश नहीं होता ?

उ०—उक्त दोनों शरीर व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं, पर प्रवाह की अपेक्षा से अनादि हैं। अतएव उनका भी अपचय, उपचय हुआ करता है। जो भावात्मक पदार्थ व्यक्तिरूप से अनादि होता है वही नष्ट नहीं होता, जैसे परमाणु।

तैजस और कर्मण शरीर को सभी ससारी धारण करते हैं, पर औदारिक, वैक्रिय और आहारक को नहीं। अतएव तैजस, स्वामी कर्मण के स्वामी सभी ससारी हैं, और औदारिक आदि के स्वामी कुछ ही होते हैं।

प्र०—तैजस और कर्मण के बीच कुछ अन्तर बतलाइए ?

उ०—कर्मण यह सारे शरीरों की जड़ है, क्योंकि वह कर्म स्वरूप है और कर्म ही सब कार्यों का निमित्त कारण है। वैसे तैजस सब का कारण नहीं, वह सब के साथ अनादिसंबद्ध रहकर भुक्त आहार के पाचन आदि में सहायक होता है। ४१-४३।

तैजस और कर्मण ये दो शरीर सभी ससारी जीवों के ससारकाल पर्यंत अवश्य होते हैं, पर औदारिक आदि बदलते रहते हैं, इससे वे कभी एक साथ लभ्य होते हैं और कभी नहीं। अतएव यह प्रश्न होता है कि शरीरों की संख्या प्रत्येक जीव के कम से कम और अधिक से अधिक कितने

१ इस बात का प्रतिपादन गीता में भी है—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः, अध्याय २, श्लो० १६।

शरीर हो लफ्फे हैं ? इसका उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है । एक साथ एक संघटी जीव के कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीर एक हो लफ्फे हैं पॉच कमी नहीं होते । जब दो होते हैं तब तैजस और कर्मण क्योंकि ये दोनों वाक्त्-संसार भाषी हैं । ऐसी स्थिति अमृतराज यति में ही पाई जाती है क्योंकि उस समय अग्न्य कोई भी शरीर नहीं होता । जब तीन होते हैं तब तैजस, कर्मण और औदारिक या तैजस, कर्मण और वैक्य । पहल्य प्रकार मनुष्य तिर्यक में और दूसरा प्रकार देव मारक में अमृतराज से केकर मरण पर्यन्त पाया जाता है । जब चार होते हैं तब तैजस कर्मण, औदारिक और वैक्य अथवा तैजस कर्मण, औदारिक और आहारक । पहल्य विकल्प वैक्य अग्नि के प्रयोग के समय कुछ ही मनुष्य तथा तिर्यकी में पाया जाता है । दूसरा विकल्प आहारक अग्नि के प्रयोग के समय पशुबंधुपूर्वी मुनि में ही होता है । पॉच शरीर एक साथ किसी के भी नहीं होते क्योंकि वैक्य अग्नि और आहारक अग्नि का प्रयोग एक साथ संभव नहीं है ।

प्र — उक्त शीति से दो तीन या चार शरीर जब हों तब उनके साथ एक ही समय में एक जीव का संभव कैसे पट सकेगा ?

उ — जैसे एक ही प्रदीप का प्रकाश एक साथ अनेक वस्तुओं पर पट सकता है, वैसे एक ही जीव के प्रवेश अनेक शरीरों के साथ अतिशुद्ध रूप से संभव हो लफ्फे हैं ।

प्र — क्या किसी के भी कोई एक ही शरीर नहीं होता ?

उ — नहीं । सामान्य सिद्धांत ऐसा है कि तैजस कर्मण वे दो शरीर कभी अक्षय नहीं होते । अतएव कोई एक शरीर कभी संभव नहीं पर किसी आचार्य का ऐसा मत है कि तैजस शरीर कर्मण की तरह पावन-उत्तर भाषी नहीं है वह आहारक की तरह अविद्यम्य ही है ।

१ यह मत भाष्य में विरिद्ध है, देखो ज ९, ए ४४ ।

इस मत के अनुसार अन्तराल गति में सिर्फ कर्मण शरीर होता है । अतएक उस समय एक शरीर का पाया जाना सम्व है ।

प्र०—जो यह कहा गया कि वैक्रिय और आहारक इन दो लब्धियों का युगपत्—एक साथ प्रयोग नहीं होता इसका क्या कारण ?

उ०—वैक्रियलब्धि के प्रयोग के समय और लब्धि से शरीर बना लेने पर नियम से प्रमत्त दशा होती है । परन्तु आहारक के विषय में ऐसा नहीं है, क्योंकि आहारक लब्धि का प्रयोग तो प्रमत्त दशा में होता है । पर उससे शरीर बना लेने के बाद शुद्ध अध्यवसाय संभव होने के कारण अप्रमत्तभाव पाया जाता है, जिससे उक्त दो लब्धियों का प्रयोग एक साथ विरुद्ध है । साराश यह है कि युगपत् पाँच शरीरों का न होना कहा गया है, सो आविर्भाव की अपेक्षा से । शक्ति रूपसे तो पाँच भी हो सकते हैं, क्योंकि आहारक लब्धि वाले मुनि के वैक्रिय लब्धि होना भी सम्व है । ४४ ।

प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई प्रयोजन होता है । इसलिए शरीर भी सप्रयोजन होने ही चाहिए, पर उनका मुख्य प्रयोजन क्या है और वह सब शरीरों के लिए समान है या कुछ विशेषता भी है ?

प्रयोजन यह प्रश्न होता है । इसीका उत्तर यहाँ दिया गया है । शरीर का मुख्य प्रयोजन उपभोग है जो पहले चार शरीरों से सिद्ध होता है । सिर्फ अन्तिम—कर्मण शरीर से सिद्ध नहीं होता, इसीसे उसको निरुपभोग कहा है ।

प्र०—उपभोग का मतलब क्या है ?

उ०—कर्ण आदि इन्द्रियों से शुभ-अशुभ शब्द आदि विषय ग्रहण करके सुख-दुःख का अनुभव करना, हाथ, पाँव आदि अवयवों से दान, हिंसा आदि शुभ-अशुभ कर्म का वध करना, ब्रह्मकर्म के शुभ-अशुभ विपाक

१ यह विचार अ० २, सूत्र ४४ की भाष्यवृत्ति में है ।

क) अनुमत्त करता, पवित्र अनुष्ठान द्वारा कर्म की निर्जया—अथ करण यह सब उपभोग करवाता है ।

प्र —भौतिक वैश्विय और आहारक शरीर सेन्द्रिय तथा सावयव हैं इतकिये उक्त प्रकार का उपभोग उनसे सम्भव हो सकता है । पर तैजस शरीर जो न तो सेन्द्रिय है और न सावयव है उससे उक्त उपभोग का होना कैसे सम्भव है ।

उ —अपि तैजस शरीर सेन्द्रिय और सावयव—हस्तपादादि कुछ नहीं है, तथापि उक्त उपभोग पाचन आदि ऐसे कार्य में हो सकता है; जिससे सुख-दुःख का अनुमत्त आदि उक्त उपभोग सिद्ध हो सकता है उसका अन्य कार्य शाय और अनुमत्त रूप भी है । अर्थात् भोजन-पाचन आदि कार्य में तैजस शरीर का उपभोग तो सब कार्य करते हैं पर जो विशिष्ट तपस्वी तपस्याकरण लाल अग्नि प्राप्त कर लेते हैं वे कुपित होकर उस शरीर द्वारा अपने कोपमाकन को ब्रह्मा तक तकते हैं और प्रसन्न होकर उस शरीर से अपने अनुमत्त पात्र को शान्ति भी पहुँचा सकते हैं । इत तरह तैजस शरीर का शाय अनुमत्त आदि में उपभोग हो सकने से सुख दुःख का अनुमत्त, पुमाद्युक्त कर्म का कर्म आदि उक्त उपभोग उक्त सम्भवा गया है ।

प्र —ऐसी शरीरों से देखा व्यय तो कामग शरीर जो कि तैजस के समान ही सेन्द्रिय और सावयव नहीं है उसका भी उपभोग यह तकैगा; क्योंकि वही अन्य सब शरीरों की जड़ है । इतकिये अन्य शरीरों का उपभोग अतस में कामग का ही उपभोग माना जाना चाहिये फिर उसे निरुपभोग क्यों कहा ।

उ —टीक है उक्त शक्ति से कामग भी उपभोग अवश्य है । यहाँ उसे निरुपभोग कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जब तक अन्य

शरीर सहायक न हों तब तक अकेले कर्मण शरीर से उक्त प्रकार का उपभोग साध्य नहीं हो सकता; अर्थात् उक्त विशिष्ट उपभोग को सिद्ध करने में साक्षात् साधन औदारिक आदि चार शरीर हैं। इसीसे वे सोपभोग कहे गए हैं; और परम्परया साधन होने से कर्मण को निरुपभोग कहा है। ४५।

अन्त में एक यह भी प्रश्न होता है कि कितने शरीर जन्मसिद्ध हैं और कितने कृत्रिम? तथा जन्मसिद्ध में कौनसा शरीर किस जन्म से जन्मसिद्धता और पैदा होता है और कृत्रिम का कारण क्या है? इसीका कृत्रिमता उत्तर चार सूत्रों में दिया गया है।

तैजस और कर्मण ये दो न तो जन्मसिद्ध हैं और न कृत्रिम। अर्थात् वे जन्म के बाद भी होनेवाले हैं फिर भी वे अनादि सबद्ध हैं। औदारिक जन्मसिद्ध ही है, जो गर्भ तथा सम्मूर्छन इन दो जन्मों से पैदा होता है तथा जिसके स्वामी मनुष्य और तिर्यच ही हैं। वैक्रिय शरीर जन्मसिद्ध और कृत्रिम दो प्रकार का है। जो जन्मसिद्ध है वह उपपात जन्म के द्वारा पैदा होता है और देवों तथा नारकों के ही होता है। कृत्रिम वैक्रिय का कारण लब्धि है। लब्धि एक प्रकार की तपोजन्य शक्ति है, जो कुछ ही गर्भज मनुष्यों और तिर्यचों में संभव है। इसलिए वैसी लब्धि से होने वाले वैक्रिय शरीर के अधिकारी गर्भज मनुष्य और तिर्यच ही हो सकते हैं। कृत्रिम वैक्रिय की कारणभूत एक दूसरे प्रकार की भी लब्धि मानी गई है, जो तपोजन्य न होकर जन्म से ही मिलती है। ऐसी लब्धि कुछ बादर वायुकायिक जीवों में ही मानी गई है। इससे वे भी लब्धिजन्य—कृत्रिम वैक्रियशरीर के अधिकारी हैं। आहारकशरीर कृत्रिम ही है। इसका कारण विशिष्ट लब्धि ही है, जो-

मनुष्य के विवा भग्य भाति में नहीं होती और मनुष्य में भी विशिष्ट मुनि के ही होती है ।

प्र — कौन से विशिष्ट मुनि ।

उ — चतुर्दशपूर्वपाटी ।

प्र० — मैं उस कवि का प्रयोग क्या और किस लिए करते हैं ?

उ — किसी सूक्ष्म विषय में संदेह होने पर संदेह निवारण के लिए ही अर्थात् जब कभी किसी चतुर्दशपूर्वों का गहन विषय में संदेह हो और सर्वज्ञ का उपस्थान न हो तब से "औद्योगिक" शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना अवश्य समझ कर अपनी विशिष्ट कवि का प्रयोग करते हैं और हस्तप्रमाण जोड़ा-सा शरीर बनाते हैं जो सूक्ष्म पुरुष-रूप होने से सुन्दर होता है प्रकाश उद्वेग से बनाये जाने के कारण निरव्य होता है और अक्षय्य सूक्ष्म होनेके कारण अक्षय्यपाटी अर्थात् किसी भी पोकने वायु या किसी से चकने वाक्य नहीं होता । ऐसे शरीर से वे क्षेत्रान्तर में सबसे के पास पहुँच कर उनसे संदेह निवारण कर फिर अपने स्वामी भावित भा जाते हैं । यह कार्य तर्क अंतर्मुहूर्त में ही जाता है ।

प्र — और कोई शरीर कविज्ञान नहीं है ?

उ — नहीं ।

प्र — श्राप और अनुपद के द्वारा तैजस का भी उपभोग वतभवता तथा उससे ही वह तन्मिज्ञान स्वयं साम्य होता है फिर और कोई शरीर तन्मिज्ञान नहीं है, तो क्यों ?

उ — यहाँ तन्मिज्ञान का मनुष्य उपभोग न दे प्रयोग में नहीं । तैजस ही उपभोग तन्मिज्ञान में नहीं होती जैसे वैश्व और आहारक का होती है पर उसका प्रयोग कभी तन्मिज्ञान में किया जाता है । इसी भावण में तैजस को यहाँ तन्मिज्ञान—इतिम गरी कहा । ४६-८ ।

वेद-लिंग विभाग—

नारकसम्पूर्णिनो नपुंसकानि । ५० ।

न देवा । ५१ ।

नारक और सम्पूर्ण नपुंसक ही होते हैं ।

देव नपुंसक नहीं होते ।

शरीरों का वर्णन हो चुकने के बाद लिंग का प्रश्न होता है । इसी का स्पष्टीकरण यहाँ किया गया है । लिंग, चिह्न को कहते हैं । वह तीन प्रकार का पाया जाता है । यह बात पहले औदयिक भावों की सख्या बतलाते समय कही जा चुकी है । तीन लिंग ये हैं—पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग । लिंग का दूसरा नाम वेद भी है । ये तीनों वेद द्रव्य और भाव रूप से दो दो प्रकार के हैं । द्रव्यवेद का मतलब ऊपर के चिह्न से है और भाववेद का मतलब अभिलाषा विशेष से है । १. जिस चिह्न से पुरुष की पहचान होती है वह द्रव्य पुरुषवेद है और स्त्री के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव पुरुषवेद है । २ स्त्री की पहचान का साधन द्रव्य स्त्रीवेद और पुरुष के संसर्ग सुख की अभिलाषा का भाव स्त्रीवेद है । ३. जिसमें कुछ स्त्री के चिह्न और कुछ पुरुष के चिह्न हों वह द्रव्य नपुंसकवेद और स्त्री पुरुष दोनों के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव नपुंसकवेद है । द्रव्यवेद पौद्गलिक आकृति रूप है जो नाम कर्म के उदय का फल है । भाववेद एक प्रकार का मनोविकार है, जो मोहनीय कर्म के उदय का फल है । द्रव्यवेद और भाववेद के बीच साध्य-साधन या पोष्य-पोषक का संबन्ध है ।

१ देखो अ० २, सू० ६०

२ द्रव्य और भाव वेद का पारस्परिक संबन्ध तथा तत्संबन्धी अन्य आवश्यक बातें जानने के लिए देखो, हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ पृ० ५३ की टिप्पणी ।



नारक और तन्मूर्च्छित जीवों के नर्पुलक वेद होता है। देवों के नर्पुलक वेद नहीं होता, श्रेय ही होते हैं। बाकी के सब अर्थात् विभ्रम मर्षा मनुष्यों तथा तिर्यकों के तीनों वेद हो सकते हैं।

पुरुषवेद का विचार सब से कम स्वाधी होता है। उल्टे जीवों का विचार अधिक स्वाधी और नर्पुलक वेद का विचार विभ्रम की तरह स्वाधी जीवों के विचार से भी अधिक स्वाधी होता है। यह सब उपमान के द्वारा इस तरह समझाई गई है—

पुरुषवेद का विचार रास की अग्नि के समान है, जो क्षीम शान्त हो जाता है और प्रकट भी क्षीम होता है। जीवों का विचार अंगारे के समान है जो अच्छी शान्त नहीं होता और प्रकट भी अच्छी नहीं होता। नर्पुलक वेद का विचार संतप्त ईंध के समान है जो खुद ईंध में शान्त होता है।

जी में अस्मत्क मय सुख है जिसे अस्मत्क तत्त्व की अपेक्षा रखी है। पुरुष में अस्मत्क मय सुख है जिसे अस्मत्क तत्त्व की अपेक्षा रखी है। पर नर्पुलक में योगी मायों का मिश्रण होने से दोनों तत्त्वों की अपेक्षा रखी है। ५. ५१।

आसुप के प्रकार और उनके स्वाधी—

औपपाठिक चरमवेदोत्तमपुरुषाऽसुखेयवर्षायुषोऽनपमर्त्या-  
युषः । ५२ ।

औपपाठिक (नारक और वेद) चरम शरीर, उत्तम पुरुष और अर्धस्वातन्त्र्यजीवी से अमपमर्त्तनीय आसु वासे ही होते हैं।

कुछ आदि विज्ञान में हमारे हृदय-कण्डे मौखिकों की एक साथ मस्ति-  
देकाकर और बड़े तथा अर्ध वेद वासी को भी भ्रमणक आकृति से बचते

देखकर यह संदेह होता है कि क्या अकाल मृत्यु भी है ? जिस से अनेक व्यक्ति एक साथ मर जाते हैं और कोई नहीं भी मरता, इसका उत्तर हाँ और ना में यहाँ दिया गया है ।

आयु दो प्रकार की है—अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय । जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही शीघ्र भोगी जा सके वह अपवर्तनीय और जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके वह अनपवर्तनीय, अर्थात् जिसका भोगकाल बन्धकालीन स्थितिमर्यादा से कम हो वह अपवर्तनीय और जिसका भोगकाल उक्त मर्यादा के बराबर ही हो वह अनपवर्तनीय आयु कही जाती है ।

अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु का बन्ध स्वामाविक नहीं है, किन्तु परिणाम के तारतम्य पर अवलम्बित है । भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में निर्माण की जाती है । उस समय अगर परिणाम मन्द हों तो आयुका बन्ध शिथिल हो जाता है जिससे निमित्त मिलने पर बन्धकालीन कालमर्यादा घट जाती है । इसके विपरीत अगर परिणाम तीव्र हों तो आयु का बन्ध गाढ़ होता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बन्धकालीन कालमर्यादा नहीं घटती और न आयु एक साथ ही भोगी जा सकती है । जैसे, अत्यन्त दृढ़ होकर खड़े हुए पुरुषों की पक्ति अभेद्य और शिथिल होकर खड़े हुए पुरुषों की पक्ति भेद्य होती है, अथवा जैसे सघन बोए हुए बीजों के पौधे पशुओं के लिए दुष्प्रवेश्य और विरल विरल बोए हुए बीजों के पौधे उनके लिए सुप्रवेश्य होते हैं, वैसे ही तीव्र परिणाम से माढ़ रूपसे बढ़ आयु शस्त्र-विष आदि का प्रयोग होने पर भी अपनी नियत कालमर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती और मन्द परिणाम से शिथिल रूप से बढ़ आयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही अतर्मुहूर्त्त मात्र में भोग ली जाती है । आयु के इस

हीन भोग को ही अपवर्तना या अक्रान्त मृत्यु कहते हैं और नियत स्थितिक भोग को अनपवर्तना या अक्रान्तमृत्यु कहते हैं। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम-उपक्रम सहित ही होती है। तीव्र दाह तीव्र विष, तीव्र अग्नि आदि विभिन्न निमित्तों से अक्रान्त मृत्यु होती है उन निमित्तों का प्राप्त होना उपक्रम है। ऐसा उपक्रम अपवर्तनीय आयु के अन्तर्गत होता है। क्योंकि वह आयु नियम से अक्रान्तमृत्यु का समाप्त होने के पहले ही भोगने योग्य होती है। परन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरूपक्रम दो प्रकार की होती है अर्थात् उक्त आयु को अक्रान्तमृत्यु जाने वाले उक्त निमित्तों का संनिधान होता भी है और नहीं भी होता। उक्त निमित्तों का संनिधान होने पर ही अनपवर्तनीय आयु नियत अक्रान्तमृत्यु के पहले पूर्ण नहीं होती। चाहे कि अनपवर्तनीय आयु वाले प्राणियों को उक्त आदि कोई न कोई निमित्त मिल ही जाता है। मित्तों से अक्रान्त में ही मर जाते हैं और अनपवर्तनीय आयु वाले को ऐसा भी प्रबल निमित्त क्यों न मिले पर वे अक्रान्त में नहीं मरते।

उपपात जन्मवाले नारक और देव ही होते हैं। चरमदेह तथा उत्तमपुरुष मनुष्य ही होते हैं। बिना जन्मान्तर किये उसी शरीर से न्यून पाने वाले चरमदेह कहलाते हैं। तीर्थंकर आत्मज्ञानियों का सुखेव अतिव्यापि आदि उत्तमपुरुष कहलाते हैं। अंतस्वभाव बर्षणीय कुल मनुष्य और कुल विषय ही होते हैं। हममें से औपपातिक और अंतस्वभाव बर्षणीय निरूपक्रम अनपवर्तनीय आयु वाले ही होते हैं। चरमदेह और उत्तमपुरुष सोपक्रम अनपवर्तनीय तथा निरूपक्रम अनपवर्तनीय—होने,

१ अंतस्वभाव बर्षणीय मनुष्य यदि अकर्मभूमियों जन्म अन्तर्गतों और कर्मभूमियों में उत्पन्न युगाधिक ही हैं। परन्तु अंतस्वभाव बर्षणीय विषय से उक्त दोनों के अन्तर्गत ही हीन क बाहर के हीन-मनुष्यों में भी पाये जाते हैं।

तरह की आयु वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी मनुष्य, तिर्यंच अपवर्त्तनीय आयु वाले पाये जाते हैं।

प्र०—नियत कालमर्यादा के पहले आयु का भोग हो जाने से कृतनाश, अकृतागम और निष्फलता ये दोष लगेंगे, जो शास्त्र में इष्ट नहीं हैं, उनका निवारण कैसे होगा ?

उ०—शीघ्र भोग होने में उक्त दोष नहीं हैं, क्योंकि जो कर्म च्चिरकाल तक भोगा जा सकता है, वही एक साथ भोग लिया जाता है, उसका कोई भी भाग बिना विपाकानुभव किये नहीं छूटता। इसलिए न तो कृतकर्म का नाश है और न बद्धकर्म की निष्फलता ही है। इसी तरह कर्मानुसार आने वाली मृत्यु ही आती है, अतएव अकृतकर्म का आगम भी नहीं है। जैसे घास की सघन राशि में एक तरफ से छोटा अग्निकण छोड़ दिया जाय, तो वह अग्निकण एक एक तिनके को क्रमशः जलाते जलाते उस सारी राशि को विलम्ब से जला सकता है। वे ही अग्निकण घास की शिथिल और विरल राशि में चारों ओर से छोड़ दिये जायँ, तो एक साथ उसे जला डालते हैं।

इसी बात को विशेष स्फुट करने के लिए शास्त्र में और भी दो दृष्टान्त दिये गए हैं। पहला गणितक्रिया का और दूसरा बन्ध सुखाने का। जैसे किसी विशिष्ट सख्या का लघुतम छेद निकालना हो, तो इसके लिए गणितप्रक्रिया में अनेक उपाय हैं। निपुण गणितज्ञ अभीष्ट फल निकालने के लिए एक ऐसी रांति का उपयोग करता है, जिससे बहुत ही शीघ्र अभीष्ट परिणाम निकल आता है और दूसरा, साधारण जानकार मनुष्य भागाकार आदि विलम्ब-साध्य क्रिया से देरी से अभीष्ट परिणाम ला पाता है। परिणाम तुल्य होने पर भी दक्ष गणितज्ञ उसे शीघ्र निकाल लेता है और साधारण गणितज्ञ देरी से निकाल पाता है। इसी तरह से

समान रूप में मीमे हुए ही कपड़े में से एक की लपेट कर और दूसरे को फैसाकर मुखाया भाग तो पहल्य देरी से सुलीगा और दूसरा बन्दी । पानी का परिणाम और शोषणक्रिया समान होने पर भी कपड़े के लचीले और विस्तार के कारण उनके लोचने में देरी और बन्दी का अन्तर पड़ता है । समान परिमाण कुछ अपवर्तनीय और अपवर्तनीय आयु के मोमने में भी तिर्ह देरी और बन्दी का ही अन्तर पड़ता है । इसलिये किके का नाम आदि उक्त दोष नहीं आते । ५९ ।

---

## तीसरा अध्याय

दूसरे अध्याय में गति की अपेक्षा से ससारी जीव के नारक, मनुष्य, तिर्यंच और देव ऐसे जो चार प्रकार कहे गए हैं; उनका स्थान, आयु, अवगाहना आदि के वर्णन द्वारा विशेष स्वरूप तीसरे और चौथे अध्याय में दिखाना है। तीसरे अध्याय में नारक, तिर्यंच और मनुष्य या वर्णन है और चौथे में देव का।

नारकों का वर्णन—

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घना-  
म्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः । १ ।

तासु नरकाः । २ ।

नित्याशुभतरलेख्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया । ३ ।

परस्परोदीरितदुःखाः । ४ ।

सक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक चतुर्थ्याः । ५ ।

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा  
सत्त्वांना परा स्थितिः । ६ ।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा और महातम प्रभा ये सात भूमियाँ हैं। ये भूमियाँ घनाम्बु, वात और आकाश पर स्थित हैं, एक दूसरे के नीचे हैं और नीचे की ओर अधिक अधिक विस्तीर्ण हैं।

उन भूमियों में नरक हैं।

वे नरक नित्य—निरन्तर अशुभतर लेख्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले हैं।

तथा परस्पर उत्पन्न किए गए बुद्धि वाले होते हैं ।

और चौथी भूमि से पहले अर्थात् तीन भूमियों तक तद्विषय अर्थों के द्वारा उत्पन्न किये गए बुद्धि वाले भी होते हैं ।

उन नरकों में बर्तमान प्राणियों की उत्कृष्ट स्थिति कम से एक, तीन, सात दस, सत्रह बारह और तेसीस सागरोपम प्रमाण है ।

लोक के अर्थात् मध्य और ऊर्ध्व इत प्रचुर तीन भाग हैं । अर्धो-भाग में प्रकृत के समस्त के नीचे मध्य ही योजना की गहराई के अर्थ विस्तृत है; जो आकाश में भी किये हुए अर्थ—सद्यो के समस्त है अर्थात् नीचे नीचे विस्तीर्ण है । समस्त के नीचे तथा ऊपर के नव ही नव ही योजना अर्थात् कुछ अंतर ही योजना का मध्य अर्थ है; जो आकाश में आकाश के समस्त अर्थ—ऊर्ध्व-नीचार्थ आकाश है मध्य अर्थ के अर्थ का समस्त अर्थ अर्थ अर्थ है जो आकाश में प्रकाश—मृदाविशेष के समस्त है ।

नरकों के निवासियों की भूमियों 'नरकभूमि' कहलती हैं जो अर्धो-भाग में हैं । ऐसी भूमियों वात है जो समस्त में न होकर एक दूसरे के नीचे हैं । उनकी अर्थ—ऊर्ध्व, विष्णु—नीचार्थ आपन में समस्त नहीं है; किन्तु नीचे की भूमि की ऊर्ध्व-नीचार्थ अधिक अधिक है; अर्थात् पहली भूमि से दूसरी की ऊर्ध्व-नीचार्थ अधिक है दूसरी से तिसरी की इसी तरह कहीं से चतुर्थी तक की ऊर्ध्व-नीचार्थ अधिक होती गई है ।

ये वातों भूमियों एक दूसरे के नीचे हैं पर विष्णुल सभी हुई गई है एक दूसरे के बीच में बहुत बड़ा अंतर है । इस अंतर में प्रतीति, अर्थवात अर्थवात और आकाश अर्थवात भी नीचे नीचे हैं अर्थात्

पहली नरकभूमि के नीचे घनोदधि है, इसके नीचे घनवात, घनवात के नीचे तनुवात और तनुवात के नीचे आकाश है। आकाश के बाद दूसरी नरक भूमि है। इस भूमि और तीसरी भूमिके बीच भी घनोदधि आदि का वही क्रम है। इसी तरह सातवीं भूमि तक सब भूमियों के नीचे उसी क्रम से घनोदधि आदि वर्तमान हैं। ऊपर की अपेक्षा नीचे का पृथ्वी-पिंड-भूमि की मोटाई अर्थात् ऊपर से लेकर नीचे के तल तक का भाग कम कम है, जैसे प्रथम भूमिकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन, दूसरी की एक लाख चत्तीस हजार, तीसरी की एक लाख अट्ठाईस हजार,

१. भगवती सूत्र में लोक स्थिति का स्वरूप समझाते हुए बहुत ही स्पष्ट वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

“अस, स्थावरादि प्राणियोंका आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। वायु के आधार पर उदधि और उसके आधार पर पृथ्वी कैसे ठहर सकती है ? इस प्रश्न का खुलासा यह है : कोई पुरुष चमड़े की मशक को पवन भरकर फुल देवे। फिर उस मशक के मुँह को चमड़े के पीते से मजबूत गाठ देकर बाँध देवे। इसी मशक के बीच के भाग को भी बाँध दे। ऐसा करने से मशक में भरे हुए पवन के दो भाग हो जाएँगे जिससे मशक डुगाडुगी जैसा लगने लगेगा। तब मशक का मुँह खोलकर ऊपर के भाग में से पवन निकाल दिया जावे और उसकी जगह पानी भर कर फिर मशक का मुँह बन्द कर देवे और बीच का बन्धन खोल देवे। उसके बाद ऐसा लगेगा कि जो पानी मशक के ऊपर के भाग में भरा गया है, वह ऊपर के भाग में ही रहेगा, अर्थात् वायु के ऊपर के भाग में ही रहेगा, अर्थात् वायु के ऊपर ही ठहरेगा, नीचे नहीं जा सकता। क्योंकि ऊपर के भाग में जो पानी है, उसका आधार मशक के नीचे के भाग का वायु है। अर्थात् जैसे मशक में पवन के आधार पर पानी ऊपर रहता है, वैसे ही पृथिवी वगैरह भी पवन के आधार पर प्रतिष्ठित हैं।” शतक १, उद्देशक ६।



चौथी की एक हजार बीस हजार, पाँचवीं की एक लाख सट्टाएक हजार, छठी की एक लाख सोळा हजार तथा सातवीं की अठारह एक लाख अठार हजार होकर है। सातों भूमियों के नीचे जो सात धनोदभि ब्रह्म हैं उन सबकी मोटाई बराबर अर्थात् बीस बीस हजार होकर है और जो सात धनवात तथा सात तनुवात ब्रह्म हैं, उनकी मोटाई सामान्य रूप से अर्धक्यात होकर प्रमाण होने पर भी आपस में तुल्य नहीं है, अर्थात् प्रथम भूमि के नीचे के धनवात ब्रह्म तथा तनुवात ब्रह्म की अर्धक्यात होकर प्रमाण मोटाई से दूसरी भूमि के नीचे के धनवात ब्रह्म तनुवात ब्रह्म की अर्धक्यात होकर प्रमाण मोटाई विशेष है। इसी रूप से उत्तरोत्तर छठी भूमि के धनवात-तनुवात ब्रह्म से सातवीं भूमि के धनवात-तनुवात ब्रह्म की मोटाई विशेष विशेष है। यह बात आकाश के बारे में भी समझें।

पहली भूमि रत्नप्रमाण होने से रत्नप्रमाण कहलाती है। इसी तरह चर्कण्य—(चक्रण्य) के उद्भव होने से पृथ्वी चर्कण्यप्रमाण है। वायुका—रेती की सुस्फुटा से तीसरी वायुकाप्रमाण है। पद्म—कीचड़ की अधिकता से चौथी पद्मप्रमाण है। धूम—धुँरे की अधिकता से पाँचवीं धूमप्रमाण है। तम—भेंदरे की विशेषता से छठी तम-प्रमाण और महातमः—धन अन्वकार की प्रचुरता से सातवीं भूमि महातमः-प्रमाण कहलाती है। इन सातों के नाम क्रमशः वर्मा वंशा शिखर जलना रिखा माधव्या और माचरी हैं।

रत्नप्रमाण भूमि के तीन अण्ड—हिस्से हैं। सबसे ऊपर का प्रथम अण्डाण्ड रत्नप्रमाण है जो मोटाई में १९ हजार होकर प्रमाण है। उसके नीचे का दूसरा अण्ड पद्मप्रमाण है जो मोटाई में ८४ हजार होकर है। उसके नीचे का तीसरा अण्ड वायुकाप्रमाण है, जो मोटाई में ८ हजार होकर है। तीनों अण्डों की मोटाई मिलाने से १ लाख ८ हजार होकर होती है। दूसरी से लेकर सातवीं भूमि तक ऐसे अण्ड नहीं हैं। क्योंकि उनमें

शर्करा, बालुका आदि जो जो पदार्थ हैं वे सब जगह एक से हैं। रत्नप्रभा का प्रथम काण्ड दूसरे पर और दूसरा काण्ड तीसरे पर स्थित है। तीसरा काण्ड घनोदधि बलय पर, घनोदधि घनवात बलय पर, घनवात तनुवात बलय पर, तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित है, परन्तु आकाश किसी पर स्थित नहीं है। वह आत्म-प्रतिष्ठित है, क्योंकि आकाश का स्वभाव ही ऐसा है; जिससे उसको दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं रहती। दूसरी भूमि का आधार उसका घनोदधि बलय है, वह बलय अपने नीचे के घनवात बलय पर आश्रित है, यनवात अपने नीचे के तनुवात के आश्रित है, तनुवात नीचे के आकाश पर प्रतिष्ठित है और आकाश स्वाश्रित है। यही क्रम सातवीं भूमि तक की हर भूमि और उसके घनोदधि बलय की स्थिति के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

ऊपर ऊपर की भूमि से नीचे नीचे की भूमिका बाहुल्य कम होने पर भी उनका विष्कम्भ आयाम अधिक अधिक बढ़ता ही जाता है, इसलिए उनका सस्यान छत्रातिष्ठत्र के समान अर्थात् उत्तरोत्तर पृथु—विस्तीर्ण, पृथुतर कहा गया है। १।

सातों भूमियों की जितनी जितनी मोटाई ऊपर कही गई है, उसके ऊपर तथा नीचे का एक एक हजार योजन छोड़कर बाकी के मध्यभाग में नरकावास हैं, जैसे रत्नप्रभा की एक लाख अस्सी हजार योजन की मोटाई में से ऊपर-नीचे का एक एक हजार योजन छोड़ कर बीच के एक लाख अठहत्तर हजार योजन प्रमाण भाग में नरक हैं। यही क्रम सातवीं भूमि तक समझा जाय। नरकों के रौरव, रौद्र, घातन, शोचन आदि अशुभ नाम हैं, जिनको सुनने से ही भय होता है। रत्नप्रभागत सीमान्तक नाम के नरकावास से लेकर महातम प्रभागत अप्रतिष्ठान नामक नरकावास तक के सभी नरकावास वज्र के छुरे के सदृश तल वाले हैं। सस्यान—आकार

सबका एक सा नहीं है कुछ, गोल कुछ त्रिकोण, कुछ चतुष्कोण, कुछ हॉबी जैसे, कुछ लोहे के पड़े जैसे; इस तरह भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। प्रश्न—प्रश्न जो भूमिक बांधे घर के तले कं समान हैं, उनही संख्या इस प्रकार है—रत्नप्रमा में तेरह प्रस्तर हैं वाक्यप्रमा में ग्यारह। इस प्रकार नीचे की हर एक भूमि में दो-दो पत्रने से साठवीं महत्तमाप्रमा भूमि में एक ही प्रस्तर है; इन्हीं प्रस्तरों में नरक हैं।

प्रथम भूमि में तीस अक्ष, दूसरी में पचीस अक्ष, तीसरी में पंद्रह भूमियों में नरक—अक्ष चौथी में दस अक्ष पाँचवीं में तीन अक्ष, बाँकी की संख्या छठी में दो अक्ष एक अक्ष और सातवीं भूमि में शिष्ट पाँच नरकवास हैं।

प्र —प्रस्तरों में नरक कहने का क्या मतलब है ?

उ —एक प्रस्तर और दूसरे प्रस्तर के बीच की अन्तर्व्याप—अन्तर है उसमें नरक नहीं है; किन्तु हर एक प्रस्तर की सीढ़ाई को तीन-तीन हजार योजन की मानी गई है उसी में ये विविध संस्करण बंधे नरक हैं।

प्र०—नरक और मारक का क्या संबंध है ?

उ —नरक जीव हैं और मारक उनके खान का नाम है। नरक नामक स्वाम के संकल्प से ही वे जीव मारक बनते हैं। २।

पहली भूमि से दूसरी और दूसरी से तीसरी इसी तरह साठवीं भूमि तक के नरक अष्टम अष्टमत्तर, अष्टमत्तर रचना बांधे हैं। इसी प्रकार उन नरकों में स्थित मारकों की जेम्मा परिणाम हैद बेहना और भिक्षिना भी उच्चोत्तर अधिक अधिक अष्टम है।

रत्नप्रमा में आपोत केना है। वाक्यप्रमा में भी आपोत है, पर रत्नप्रमा से अधिक तीव्र संज्ञा बांधी है। वाक्यप्रमा में केना आपोत और नीक केना है। पशुप्रमा में नीक केना है।

धूमप्रभा में नील-कृष्ण लेश्या है तमःप्रभामें कृष्णलेश्या है और महातम-प्रभा में भी कृष्ण लेश्या है, पर तम प्रभा से तीव्रतम है ।

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, संस्थान आदि अनेक परिणाम प्रकार के पौद्गलिक परिणाम सातों भूमियों में उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ हैं ।

सातों भूमियों के नारकों के शरीर अशुभ नमकर्म के उदय से उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, संस्थान वाले तथा अधिक अधिक अशुचि और वीभत्स हैं ।

सातों भूमियों के नारकों की वेदना उत्तरोत्तर तीव्र होती है । पहली तीन भूमियों में उष्ण वेदना, चौथी में उष्ण-शीत, पाँचवीं में शीतोष्ण, छठी में शीत और सातवीं में शीततर वेदना है । यह उष्ण वेदना और शीत वेदना इतनी सख्त है कि इसे भोगने वाले नारक अगर मर्त्य लोक की सख्त गरमी या सख्त सरदी में आ जायँ, तो उन्हें बड़े आराम से नौद आ सकती है ।

उनकी विक्रिया भी उत्तरोत्तर अशुभ होती है । वे दुःख से घबरा कर उससे छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, पर होता है उलटा । सुखका साधन सम्पादन करने में उनको दुःख के साधन ही विक्रिया प्राप्त होते हैं । वे वैकियलब्धि से बनाने लगते हैं कुछ शुभ, पर बन जाता है अशुभ ।

प्र०—लेश्या आदि अशुभतर भावों को नित्य कहने का क्या मतलब है ?

उ०—नित्य का मतलब निरन्तर है । गति, जाति, शरीर और अज्ञोपाङ्ग नामकर्म के उदय से नरक गति में लेश्या आदि भाव जीवन पर्यन्त अशुभ ही बने रहते हैं, बीच में एक पल के लिए भी अन्तर नहीं पड़ता और न कभी शुभ ही होने हैं । ३ ।

एक तो नरक में ज्ञेय-स्वभाव से तरही गरमी का मर्मकर हुआ है ही, मूल-प्यास का हुआ तो और भी मर्मकर है। मूल का हुआ इतना अधिक है कि अग्नि की तरह सर्व भक्षण से भी शामिल नहीं होती, बल्कि मूल की व्याप्त और भी तेज ही आती है। प्यास का कष्ट इतना अधिक है कि पाने मिलने तक से भी वृत्ति नहीं ही होती। इस हुआ के उपरान्त ब्रह्म सारी हुआ तो उनके भाषण के कैर और मारपीट से होता है जैसे कौश्य और उन्मत्त क्या सोंप और नेकन कम-बानु है। जैसे ही नारक जीव कम-बानु है। इसलिए वे एक दूसरे की देखाकर कुत्तों की तरह भाषण में लड़ते हैं आदते हैं और गुस्से से बलते हैं; इसीलिए परस्परव्यतिष्ठ हुआ बाके कहे गए हैं। ५।

नारकों के तीन प्रकार की वेदना मानी गई है जिसमें ज्ञेयस्वभाव अन्य और परस्परव्यतिष्ठ वेदना का वर्णन पहले किया गया है। तीसरी वेदना उत्कृष्ट अन्तर्म अनित है। पहली दो प्रकार की वेदना साथे भूमियों में साधारण है। तीसरे प्रकार की वेदना सिर्फ पहली तीन भूमियों में होती है, क्योंकि उन्हीं भूमियों में परमाध्यात्मिक हैं। परमाध्यात्मिक एक प्रकार के अद्वय देव हैं जो बहुत ही स्वभाव वाले और पापछा होते हैं। इनकी मन्त्र अन्वयिप आदि पत्रह आविर्भाव हैं। वे स्वभाव से ही ऐसे निर्बल और दुर्बल होते हैं कि उन्हें दूसरों को सत्ता में ही व्यन्धन जाता है। इसीलिए वे नारकों को अनेक प्रकार के मदारों से दुखती करते करते हैं। उन्हें आपस में कुत्तों जैसी और मर्कों की तरह लड़ाते हैं। आपस में उनको कबले मार-पीट करते देखाकर बहुत लुषी मनाते हैं। बल्कि वे परमाध्यात्मिक एक प्रकार के देव हैं उन्हें और भी अनेक दुख साधन मार हैं तथापि पूज्यम इत तीन दोष के कारण उन्हें दूसरों की सत्ता में ही प्रवृत्त होती है। नारक भी वेचारे कर्मवश आधरव होकर सत्त खीचन तीन वेदनाओं के अनुभव ही होती करते हैं। वेदना किन्तु ही क्यों

न हो, पर नारकों को न तो कोई शरण है और अनपवर्तनीय—तीचमें कम नहीं होनेवाली आयु के कारण न जीवन ही जल्दी समाप्त होता है । ५ ।

प्रत्येक गति के जीवों की स्थिति—आयुमर्यादा जघन्य और उत्कृष्ट दो तरह से बतलाई जा सकती है । जिससे कम न पाई जा सके उसे जघन्य और जिससे अधिक न पाई जा सके उसे उत्कृष्ट नारकों की स्थिति कहते हैं । इस जगह नारकों की सिर्फ उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन है । उनकी जघन्य स्थिति आगे बतलाई जायगी । पहली में एक सागरोपम धी, दूसरी में तीन, तीसरी में सात, चौथी में दस, पाँचवीं में सत्रह, छठी में बाईस और सातवीं में तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु की स्थिति है ।

यहाँ तक सामान्य रूप से अधोलोक का वर्णन पूरा होता है । इसमें दो बातें खास जान लेनी चाहिए—गति-आगति और द्वीप-समुद्र आदि का सम्भव ।

असृष्टी प्राणी मरकर पहली भूमि में उत्पन्न हो सकते हैं, आगे नहीं । भुजपरिसर्प पहली दो भूमि तक, पक्षी तीन भूमि तक, सिंह चार भूमि तक, उरग पाँच भूमि तक, स्त्री छह भूमि तक और मत्स्य तथा मनुष्य मरकर सात भूमि तक जा सकते हैं । साराद्य तिर्यच और मनुष्य ही नरक भूमि में पैदा हो सकते हैं, देव और नारक नहीं, इसका कारण यह है कि उनमें वैसे अघ्यवसान का अभाव है । नारक मरकर फिर तुरन्त न तो नरक गति में ही पैदा होते हैं और न देव गति में । वे सिर्फ तिर्यच और मनुष्य गति में पैदा हो सकते हैं ।

पहली तीन भूमियों के नारक मनुष्य जन्म पाकर तीर्थङ्कर पद तक प्राप्त कर सकते हैं । चार भूमियों के नारक मनुष्यत्व पाकर निर्वाण भी पा

सकते हैं। पाँच भूमियों के मारक मनुष्यगति में सदा  
 आगति का काम से सकते हैं। छह भूमियों से निकसे हुए  
 नारक देशकिरति और सात भूमियों से निकसे हुए सम्भवत्व का काम प्राप्त  
 कर सकते हैं।

एतदग्र्य को छोड़कर पाँचों की छह भूमियों में न तो द्वीप समुद्र  
 पर्वत सरोवर ही है; न गौण, वाहर आदि; न वृक्ष, लता आदि वाहर  
 वनराशि काय है; न ह्यन्द्रिय च भेकर पद्येतिशय पर्वत  
 द्वीप, समुद्र आदि तिर्यक न मनुष्य हैं और न किसी प्रकार के देव ही।  
 एतदग्र्य को छोड़कर चारों का कारण यह है कि उसका  
 धातु मृग मावन्वोक— तिरछे लोक में समिस्त्व है; जिससे उसमें उच्च ह्यप  
 समुद्र ग्राम नगर, वनापति तिर्यक, मनुष्य देव पाये जा सकते हैं।  
 एतदग्र्य के सिवा शेष छह भूमियों में तिर्यक नारक और कुछ पद्येतिशय जीव  
 पाये जाते हैं। इन सामान्य नियम का भी अन्वय है; क्योंकि उन भूमियों  
 में कहीं कहीं जहाँ पर कुछ मनुष्य देव और पद्येतिशय तिर्यक भी लगभग  
 है। मनुष्य का इन अन्वयों से समझ दे कि केवली समुद्रात करन बाल्य  
 मनुष्य सर्वलोक व्यापी होने से उन भूमियों में भी भाग्यदेष केसाता है।  
 इसके सिवा वैदिकपन्थि नामे मनुष्य ही भी उन भूमियों तक पहुँच है।  
 निर्गुणों की पहुँच भी उन भूमियों तक है; परन्तु यह निर्यक वैदिकपन्थि ही  
 अन्वयों से ही ज्ञात जाय है। देवों की पहुँच के विषय में यह बात है  
 कि कुछ देव कहीं कहीं अन्न पूर्व काम के सिवा मारक के पास उड़ि  
 दुःख जाने के उद्धार में जाते हैं। येने जाने का देव भी निर्यक हीन  
 भूमियों तक जा सकते हैं अति गति। जगत्कारिण जो एक प्रकार के  
 देव और अन्वयों के कारण ही जगत् हीन भूमियों में हैं।  
 अ. १. २६ अ. ३ मे १० वर्य भूमि में जाए जा सकते हैं। ६।

## मध्यलोक का वर्णन—

जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः । ७ ।

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः । ८ ।

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बू-  
द्वीपः । ९ ।

तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षा  
क्षेत्राणि । १० ।

तद्विभाजिनः पूर्वपरायता हिमवन्महाहिमवन्निपधनील-  
रुक्मिमाशिखरिणो वर्षधरपर्वताः । ११ ।

द्विर्धातकीखण्डे । १२ ।

पुष्करार्धे च । १३ ।

प्राङ् मानुषोत्तरान् मनुष्याः । १४ ।

आर्या म्लेच्छाश्च । १५ ।

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तरकुरु-  
भ्यः । १६ ।

नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तमुहूर्ते । १७ ।

तिर्यग्योनीनां च । १८ ।

जम्बूद्वीप आदि शुभ नाम वाले द्वीप, तथा लवण आदि शुभ  
नाम वाले समुद्र हैं ।

वे सभी द्वीप और समुद्र, वलय—चूड़ी जैसी धाकृति वाले, पूर्व  
पूर्व को वेष्टित करने वाले और दूने दूने विष्कम्भ—व्यास अर्थात् विस्तार  
वाले हैं ।



उन सब के बीच में अम्बुद्वीप है, जो ब्रह्म—मील है, स्यात् योजन-विष्कम्भ बाह्य है और कितके मध्य में मेक पर्वत है ।

अम्बुद्वीप में भरतवर्ष, ऐमत्तवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यवर्ष, देवव्यस्तवर्ष, ऐरावतवर्ष ये सात देश हैं ।

उन देशों को घृण्य करनेवाले और पूर्व-पश्चिम छोड़े ऐसे हिमवान्, मन्दाहिमवान्, निपद्य, मील, पद्मि, और विश्वी—ये छह वर्षपर पर्वत हैं ।

वात्सरीकण्ड में पर्वत तथा क्षेत्र अम्बुद्वीप से दूरे हैं ।

पुष्करार्धद्वीप में भी उतनी ही है ।

मन्तुपीठ नामक पर्वत के पहले तक ही-अनुप्य है ।

वे आर्ष और श्लेष्य है ।

देवकुण्ड और उत्तरकुण्ड को छोड़ कर भरत, ऐरावत तथा विदेह में सभी कर्म भूमिकों हैं ।

मनुष्यों की स्थिति—आनु उत्तरार्ध तीन पञ्चोपम तक और अन्वन् अन्वन्पूर्व प्रमात्र है ।

तथा विदेहों की स्थिति भी उतनी ही है ।

मध्य लोक की व्याप्ति सागर के समान पूरी गई द्वीप और समुद्र है । यही बात द्वीप-समुद्रों के वर्णन द्वारा स्पष्ट की गई है ।

मध्य लोक में अर्धकाल द्वीप और समुद्र हैं । वे क्रम से द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप इस तरह-अवस्थित हैं । उन सबके नाम छम ही हैं । यहाँ द्वीप-समुद्रों के किरण में व्यास २५५५ और व्याप्ति के तीन बार्ते बलवार्ध गई हैं; जिनसे मध्य लोक का व्यापक माध्यम हो जाता है ।

जम्बूद्वीप का पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण विस्तार एक एक लाख योजन है, लवणसमुद्र का उससे दूना है, घातकीखण्ड का लवणसमुद्र से, कालोदधि का घातकीखण्ड से, पुष्करवरद्वीप का कालोदधि से, व्यास पुष्करोदधि समुद्र का पुष्करवरद्वीप से विष्कम्भ दूना दूना है।

त्रिष्कम्भ का यही क्रम अन्त तक समझना चाहिए अर्थात् अंतिम द्वीप स्वयम्भूरमण से आखिरी समुद्र स्वयम्भूरमण का विष्कम्भ दूना है।

द्वीप-समुद्रों की रचना चर्की के पाट और उसके थाल के समान है, अर्थात् जम्बूद्वीप लवणसमुद्र से वेष्टित है, लवणसमुद्र घातकीखण्ड से, घातकीखण्ड कालोदधि से, कालोदधि पुष्करवरद्वीप से और रचना पुष्करवरद्वीप पुष्करोदधि से वेष्टित है। यही क्रम स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यंत है।

जम्बूद्वीप याली जैसा गोल है और अन्य सब द्वीप-समुद्रों की आकृति वलय अर्थात् चूड़ी के समान है। ७, ८।

जम्बूद्वीप ऐसा द्वीप है, जो सबसे पहला और सब द्वीप-समुद्रों के बीच में है अर्थात् उसके द्वारा कोई द्वीप या समुद्र वेष्टित नहीं हुआ है।

जम्बूद्वीप, उसके क्षेत्रों और प्रधान पर्वतों का वर्णन जम्बूद्वीप का विष्कम्भ लाख योजन प्रमाण है। वह कुम्हार के चाक के समान गोल है, लवणादि की तरह वलयाकृति नहीं। उसके बीच में मेरु पर्वत है। मेरु का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है—

मेरु की ऊँचाई एक लाख योजन है, जिसमें हजार योजन जितना भाग जमीन में अर्थात् अदृश्य है। निन्यानवे हजार योजन प्रमाण जमीन के ऊपर है। जो हजार योजन प्रमाण भाग जमीन में है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई सब जगह दस हजार योजन प्रमाण है। पर बाहर के भाग के ऊपर का अंश जहाँ से चूलिका निकलती है वह हजार हजार योजन

प्रमाण सम्मान-बोध है। मेव के तीन कण्ड हैं। वह तीनों क्षेत्रों में अवगाहित होकर रहा है और पार नहीं से पिरा हुआ है। पहल्य कण्ड ह्यार योजन प्रमाण है, जो जमीन में है। दूसरा त्रैलोक्य ह्यार योजन और तीसरा जमीन ह्यार योजन प्रमाण है। पहले कण्ड में शुद्ध पृथिवी तथा कंकड़ आदि की दूतरे में बौद्धी, स्फटिक आदि की और तीसरे में लोहे की प्रचुरता है। पार नहीं के मध्य कण्डः मध्यकाल, मन्दन लौमन्त और पान्शुक है। अल्ल योजन की ऊँचाई के बाद सबसे ऊपर एक कृत्रिम—बोटी है, जो वाष्पीय योजन ऊँची है जो मूल में बारह योजन बाँध में आठ योजन और ऊपर पार योजन प्रमाण सम्मान-बोटी है।

जम्बूद्वीप में मुख्यतया सात क्षेत्र हैं जो बंध कर्ष वा वास्तु कहलते हैं। इनमें पहल्य भरत है, जो दक्षिण की ओर है भरत से उत्तर की ओर हेमन्त हेमन्त के उत्तर में हरि, हरि के उत्तर में विदेह, विदेह के उत्तर में रम्यक रम्यक के उत्तर में हेरम्यक और हेरम्यक के उत्तर में ऐरावतकर्ष है। व्यवहारविधि विद्या के नियम के अनुसार मेव पर्वत लार्ती क्षेत्रों के उत्तर मध्य में अवस्थित है।

लार्ती क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग करने वाले उनके बीच ऊपर पर्वत हैं, जो कर्षकर कहलते हैं। वे सभी पूर्व-पश्चिम ऊँचे हैं। भरत और हेमन्त क्षेत्र के बीच हिमवान पर्वत है। हेमन्त और हरिकर्ष अ

१ विद्या का नियम पूर्व के उदकास्त पर निर्भर है। सूर्योदय की ओर मुल करके लगे होने पर बाईं तरफ उत्तरदिशा में मेव पड़ता है। भरत-क्षेत्र में पूर्वत की जो दिशा है, ऐरावत क्षेत्र में बाईं पूर्वत की दिशा है। इसीलिए बाईं भी पूर्वत की ओर मुल करने से मेव पर्वत उत्तर दिशा में ही रहता है। इसी तरह से दूसरे क्षेत्रों में भी मेव का उत्तरपश्चिम समस्तमा बाहिय।

विभाजक महाहिमवान् है। हरिवर्ष और विदेह को जुदा करने वाला निषधपर्वत है। विदेह और रम्यक वर्ष को भिन्न करने वाला नीलपर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत को विभक्त करने वाला रुक्मी पर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावत के बीच विभाग करने वाला शिखरी पर्वत है।

ऊपर बताया हुए सातों क्षेत्र थाली के आकार वाले जम्बूद्वीप में पूर्व के छोर से पश्चिम के छोर तक विस्तृत लम्बे पट के रूप में एक के बाद एक आए हैं। विदेह क्षेत्र इन सबके मध्य में है, इसलिए मेरु पर्वत भी उस क्षेत्र के बराबर मध्य में स्थित है। ऊपर बताया गया है कि विदेह क्षेत्र को रम्यक क्षेत्र से नील पर्वत अलग करता है, और हरिवर्ष क्षेत्र को निषधपर्वत अलग करता है। विदेह क्षेत्र में मेरु और नीलपर्वत के बीच का अर्धचन्द्राकार भाग, जिसकी कि पूर्व-पश्चिम सीमा वहाँ के दो पर्वतों से स्थिति होती है, वह उत्तरकुरु कहलाता है; और मेरु तथा निषधपर्वत के बीच का वैसा ही अर्धचन्द्राकार भाग देवकुरु कहलाता है। देवकुरु और उत्तरकुरु ये दोनों क्षेत्र विदेह (अर्थात् महाविदेह) के ही भाग हैं, परन्तु उन क्षेत्रों में युगलिकों की वस्ता होने के कारण वे भिन्न रूप से पहचाने जाते हैं। देवकुरु और उत्तरकुरु के भाग जितना क्षेत्र छोड़ने पर महाविदेह का जो पूर्व और पश्चिम भाग अवशिष्ट रहता है उस हर एक भाग में सोलह सोलह विभाग हैं। वह प्रत्येक विभाग विजय कहलाता है। इस प्रकार सुमेरु पर्वत के पूर्व और पश्चिम दोनों ओर मिलकर कुल ३२ विजय होते हैं।

जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र की सीमा पर स्थित हिमवान पर्वत के दोनों छोर पूर्व-पश्चिम लक्षणसमुद्र में फैले हुए हैं। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र की सीमा पर स्थित शिखरी पर्वत के दोनों छोर भी लक्षणसमुद्र में फैले हुए हैं। प्रत्येक छोर दो भाग में विभाजित होने के कारण कुल मिलाकर

होनों पर्वतों के आठ भागो छव्यतमुर में आने हुए हैं । ये शक्ति की  
 साक्षरि शक्ति होने से साक्षा कहस्यते हैं । प्रत्येक साक्षा पर मनुष्य की  
 बस्ती वाले सात सात क्षेत्र हैं । ये क्षेत्र छव्यतमुर में अपने के कारण  
 अंतर्द्वीप रूप से प्रसिद्ध हैं । ऐसे अंतर्द्वीप कुल छव्यत हैं । उनमें भी  
 युगलिक धर्मनाके मनुष्य रहते हैं । ९-११ ।

अन्वृष्टीप की शक्ति सातकीसाक्ष में मेरु कर्ष और कर्षण की  
 संख्या होती है। अर्थात् उत्तम हो मेरु चौदह कर्ष और बारह कर्षण हैं,  
 सातकीसाक्ष और परमुर नाम एक से ही हैं; अर्थात् अन्वृष्टीप में स्थित  
 पुष्करार्थीप मेरु, कर्षण और कर्ष के दो नाम हैं, ये ही सातकी-  
 साक्षगत मेरु आदि के भी हैं । ब्रह्मसाक्षरि सातकीसाक्ष के पूर्वार्ध और  
 पश्चिमार्ध ऐसे दो भाग हैं । पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध का विभाग दो  
 पर्वतों से ही जाता है जो दक्षिणोत्तर विस्तृत हैं और दृष्टाक्षर—बाम के  
 समान तरङ्ग हैं । प्रत्येक भाग में एक-एक मेरु, सात-सात कर्ष और छ-छ  
 कर्षण हैं । सातों पर कि नही क्षेत्र, पर्वत आदि को कुछ अन्वृष्टीप  
 में हैं वे सातकीसाक्ष में होते हैं । सातकीसाक्ष को पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध  
 रूपसे विभक्त करनेवाले दक्षिणोत्तर विस्तृत और दृष्टाक्षर दो पर्वत हैं  
 तथा पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में पूर्व-पश्चिम विस्तृत छः छः कर्षण पर्वत  
 हैं । वे सभी एक ओर से काश्चोदधि को और पृथ्वी ओरसे अणुबोधि  
 को होते हैं । पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में स्थित छः छः कर्षणों को पहिले  
 की नाभि में जो हुए आर्य की उपमा ही जान तो उन कर्षणों के कारण  
 विभक्त होने वाले सात मय आदि क्षेत्रों की जारों के बीच के अन्तर की  
 उपमा हैनी चाहिए ।

मेरु कर्ष और कर्षणों की जो संख्या सातकीसाक्ष के दो, वही  
 पुष्करार्थीप में है अर्थात् उत्तम भी हो मेरु चौदह कर्ष तथा बारह

वर्षघर हैं, जो इष्वाकार पर्वतों के द्वारा विभक्त पूर्वाधि और पश्चिमार्ध में स्थित हैं। इस तरह मिलाने से ढाई द्वीप में कुल पाँच मेरु, तीस वर्षघर और पैंतीस वर्ष क्षेत्र हैं। उक्त पैंतीस क्षेत्र के पांच (महा) विदेह क्षेत्र में पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु और एकसौ साठ विजय हैं। अन्तर्द्वीप सिर्फ लवणसमुद्र में होने के कारण छप्पन हैं। पुष्करद्वीप में एक मानुषोत्तर नामका पर्वत है, जो इसके ठीक मध्य में शहर के किले की तरह गोलाकार खड़ा है और मनुष्यलोक को घेरे हुए है। जम्बूद्वीप, घातकी-खण्ड और आधा पुष्करद्वीप ये ढाई द्वीप तथा लवण, कालोदधि ये दो समुद्र इतना ही भाग मनुष्यलोक कहलाता है। उक्त भाग का नाम मनुष्यलोक और उक्त पर्वत का नाम मानुषोत्तर इसलिए पड़ा है कि इसके बाहर न तो कोई मनुष्य जन्म लेता है और न कोई मरता है। सिर्फ विद्यासम्पन्न मुनि या वैक्रिय लब्धिधारी मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर जा सकते हैं, पर उनका भी जन्म-मरण मानुषोत्तर के अदर ही होता है। १२, १३।

मानुषोत्तर पर्वत के पहले जो ढाई द्वीप और दो समुद्र कहे गए हैं, उनमें मनुष्य की स्थिति है सही, पर वह सार्वत्रिक नहीं, अर्थात् जन्म से मनुष्यजाति का तो मनुष्यजाति का स्थान सिर्फ ढाई द्वीप के अन्तर्गत स्थितिक्षेत्र और जो पैंतीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर्द्वीप कहे गए हैं; उन्हीं प्रकार में होता है, पर सशरण, विद्या या लब्धि के निमित्त से मनुष्य ढाई द्वीप के तथा दो समुद्र के किसी भी भाग में पाया जा सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि मेरुपर्वत की चोटी पर भी वह उक्त निमित्त से रह सकता है। ऐसा होने पर भी यह भारतीय है, यह हैमवतीय है इत्यादि व्यवहार क्षेत्र के संबन्ध से और यह जम्बूद्वीपीय है, यह घातकी-खण्डीय है इत्यादि व्यवहार द्वीप के संबन्ध से समझना चाहिए। १४।

मनुष्यजाति के मुख्यतया दो भेद हैं - आर्य और ग्लेच्छ। निमित्त भेद से छह प्रकार के आर्य माने गए हैं। जैसे क्षेत्र से, जाति से, कुल से,

कर्म से, शिष्य से और मापा से । ज्ञेय-भार्य से हैं, जो पत्रुह कर्मभूमियों में और उनमें भी आनन्दियों में पैदा होते हैं । श्री हस्ताकु, विदेह ही ज्ञात, कुसु उप आदि बंधों में पैदा होती हैं वे पति-भार्य हैं । कुसुह, बभ्रवी, बभ्रुदेव, बभ्रुदेव और पत्ने श्री श्री विष्णु कुसु बाळे हैं वे कुसु-भार्य हैं । बभ्रु बभ्रु, पत्ने पाठन कृपि छिपि, बभ्रुभ्य आदि से आशीविद्या करने वाले कर्म-भार्य हैं । शुष्कहा, गार्, कुम्हार आदि जो अन्य आरम्भ बाष्प और अनिष्प आशीविद्या से होते हैं वे शिष्य-भार्य हैं । जो शिष्य पुरुषमात्र भाषा में सुवम रीति से बोझने आदि का व्यवहार करते हैं, वे माप्य-भार्य हैं । इन छह प्रकार के भार्यों से विपरीत ज्ञान वाले सभी श्रेष्ठ हैं, जैसे, शक यवन कम्बोज चक्र, पुष्पिन्द आदि । ज्ञान अन्तर्हीनों में रहने वाले तो सभी और कर्मभूमियों में भी जो भनार्य देखोत्पन्न हैं, वे श्रेष्ठ ही हैं । १५।

जहाँ मोक्षमार्ग के जानने वाले और उपदेश करने वाले तीर्थंकर पैदा हो सकते हैं वही कर्मभूमि है । बार् हीप में मनुष्य की पैदाइश वाले पैंतीस ज्ञेय और ज्ञान अन्तर्हीण रहे गए हैं उनमें से कर्मभूमियों का निर्देश उक्त प्रकार की कर्मभूमियों पर ही है । जैसे पंच भक्त पाँच देवगत और पाँच विदेह । इनको छोड़कर बाकी

१ पाँच भक्त और पाँच देवगत में प्रत्येक में ठाढ़े पचीस आनन्देय गिनाने गए हैं । इस तरह वे ही ही पचपन आनन्देय हैं और पाँच विदेह की एकही छठ आनन्देय-विजय भार्येय हैं । इन्हीं में तीर्थंकर उत्पन्न होकर कर्मप्रवर्तन करते हैं । उनको छोड़कर बाकी का पत्रुह कर्मभूमियों का माप्य भार्येय रूप से नहीं माना जाता ।

२ तीर्थंकर, गणेश आदि जो आतिशयतमक हैं वे शिष्य, उनही मया संस्कृत, अर्धमागधी इत्यादि ।

३ इस व्याख्या के अनुसार हेमवत आदि तीस भौमाभूमियों भर्तव्य आनन्देयभूमियों में रहने वाले श्रेष्ठ ही हैं ।

के बीस क्षेत्र तथा सब अन्तर्द्वीप अकर्मभूमि (भोगभूमि) ही हैं। यद्यपि देवकुरु और उत्तरकुरु ये दो विदेह के अदर ही हैं, तथापि वे कर्मभूमियाँ नहीं, क्योंकि उनमें युगलिक-धर्म होने के कारण चारित्र कभी सम्भव नहीं है, जैसा कि हैमवत आदि अकर्मभूमियों में नहीं है। १६।

मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति—जीवितकाल तीन पत्योपम और जघन्य मनुष्य और तिर्यञ्च स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। तिर्यञ्चों की स्थिति भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति मनुष्य के बराबर अर्थात् उत्कृष्ट तीन पत्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है।

भव और कायभेद से स्थिति दो प्रकार की है। कोई भी जन्म पाकर उसमें जघन्य अथवा उत्कृष्ट जितने काल तक जी सकता है वह भवस्थिति है, और बीच में किसी दूसरी जाति में जन्म न ग्रहण करके किसी एक ही जाति में बार बार पैदा होना कायस्थिति है। ऊपर मनुष्य और तिर्यञ्च की जो जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वह उनकी भवस्थिति है। कायस्थिति का विचार इस प्रकार है मनुष्य हो या तिर्यञ्च, सब की जघन्य कायस्थिति तो भवस्थिति की तरह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति सात अथवा आठ भवग्रहण परिमाण है, अर्थात् कोई भी मनुष्य अपनी मनुष्यजाति में लगातार सात अथवा आठ जन्म तक रहने के बाद अवश्य उस जाति को छोड़ देता है।

सब तिर्यञ्चों की कायस्थिति भवस्थिति की तरह एकसी नहीं है। इसलिए उनकी दोनों स्थितियों का विस्तृत वर्णन आवश्यक है। पृथ्वी-काय की भवस्थिति चाईस हजार वर्ष, जलकाय की सात हजार वर्ष, वायुकाय की तीन हजार वर्ष, तेज काय की तीन अहोरात्र भवस्थिति है। उन चारों की कायस्थिति असख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण है। वनस्पतिकाय की भवस्थिति दस हजार वर्ष और कायस्थिति अनन्त



उत्सर्पिणी-अवर्षिणी प्रमाण है। इन्द्रिय की भवस्थिति बारह रूप, त्रीन्द्रिय की उनचात अहोयत्र और चतुरिन्द्रिय की छः मात्र प्रमाण है। इन तीनों की कायस्थिति संस्मात् ह्यार रूप की है। पञ्चेन्द्रिय तिर्षणो में गर्भत्र और संमूर्द्धिम की भवस्थिति भिन्न भिन्न है। गर्भत्र की जैसे बलचर, उरग और मुजग की क्योड पूर्व पक्षियों की पक्ष्योपम का अस्तंक्ष्यठवों मात्र और चतुराक्ष स्वच्छर की तीन पक्ष्योपम भवस्थिति है। संमूर्द्धिम की, जैसे बलचर की क्योड पूर्व उरग की श्रेयस ह्यार, मुजग की वयास्त्रीत ह्यार रूप की भवस्थिति है। पक्षियों की बहत्तर ह्यार, अष्टाक्षरों की चौदही ह्यार रूप प्रमाण भवस्थिति है। गर्भत्र पञ्चेन्द्रिय तिर्षण की कायस्थिति सात या आठ अक्षरप्रहस और संमूर्द्धिम की सात अक्षरप्रहस पत्रिप्रम है। १७, १८।

## चौथा अध्याय

तीसरे अध्यायमें मुख्यतया नारक, मनुष्य और तिर्यक् का वर्णन किया गया है। अब इस अध्याय में मुख्यतया देवों का वर्णन करते हैं।

देवों के प्रकार—

### देवाश्चतुर्निकाया । १ ।

देव चार निकाय वाले हैं।

निकाय का मतलब समूह विशेष या जाति है। देवों के चार निकाय हैं १. भवनपति, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिष्क, और ४ वैमानिक । १।

तीसरे निकायकी लेश्या—

### तृतीय पीतलेश्या । २ ।

तीसरा निकाय पीतलेश्या वाला है।

उक्त चार निकायोंमें तीसरे निकायके देव ज्योतिष्क हैं। उनमें सिर्फ पीत—तेजो लेश्या है। यहाँ लेश्याका मतलब द्रव्यलेश्या अर्थात्

---

१ दिगम्बर परंपरा भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायोंमें कृष्ण से तेज. पर्यन्त चार लेश्याएँ मानती है, पर श्वेताम्बर परंपरा भवनपति, व्यन्तर दो निकाय में ही उक्त चार लेश्याएँ मानती हैं, और ज्योतिष्कनिकाय में सिर्फ तेजोलेश्या मानती है। इसी मतभेद के कारण श्वेताम्बर परंपरा में यह दूसरा और आगे का सातवाँ ये दोनों सूत्र भिन्न हैं। दिगम्बर परंपरामें इन दोनों सूत्रों के स्थानमें सिर्फ एक ही सूत्र 'आदितस्त्रिषु सीतान्तलेश्या.' पाया जाता है।

२ लेश्या का विशेष स्वरूप जानने के लिए देखो हिन्दी चौथे कर्मग्रन्थ में लेश्या शब्द विषयक परिशिष्ट पृ० ३३।

धारीरिक्त वर्ण से है अल्पकृत्याय विशेष रूप भावलेपया से नहीं, क्योंकि मासलेप्या तो चारों निष्कर्मों के देवों में छाहीं पाई जाती है । २ ।

चार निष्कर्मों के भेद—

दशरूपसङ्घादसृष्टिकल्पा कल्पोपपन्नपर्यन्ता । ३ ।

कस्योरस्य देव तस्य के चतुर्निष्कर्मिक देव अनुक्रमते इत, आठ पाँच और बारह भेद होते हैं ।

मकनपठिनिष्कर्म के इत व्यन्तरनिष्कर्म के आठ, ज्योतिष्कनिष्कर्म के पाँच और वैमानिकनिष्कर्म के बारह भेद हैं; जो तब आगे कहे जावेंगे । वैमानिकनिष्कर्म के बारह भेद कहे हैं वे कस्योपस्य वैमानिक देव तस्य के सम्झने चाहिये, क्योंकि कस्यातीत देव हैं जो वैमानिक निष्कर्म के पर तस्य बारह भेदों में नहीं आते । तीर्थर्म से अल्पस्य तस्य बारह स्वर्ग—देवलोके हैं वे कस्य कहेजते हैं । ३ ।

चतुर्निष्कर्म के अन्तर भेद—

इन्द्रसामानिकप्रायस्त्रिषुपारिषदात्मरसल्लोका  
अनीकप्रकीर्णकामियोम्यकिन्विषिक्रमैकस्य । ४ ।

शायस्त्रिषुलोकपासवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्का । ५ ।

चतुर्निष्कर्म के तस्य इत आदि एक-एक इन्द्र, सामानिक, शायस्त्रिषु, पारिषदात्मरस ल्लोका अनीक प्रकीर्णक कामियोम्य और किन्विषिक्रम रूप हैं ।

व्यन्तर और ज्योतिष्क शायस्त्रिषु तथा ल्लोकाक रहित हैं ।

मकनपठिनिष्कर्म के अमुरकुम्भर आदि इत प्रकार के देव हैं । के इत एक क्रिम के देव इन्द्र, सामानिक आदि इत आणी में विभक्त हैं । ४ इन्द्र से हैं जो सामानिक आदि तब प्रकार के देवों के स्वर्ग में ।

२ सामानिक वे हैं जो आयु आदि में इन्द्र के समान हों अर्थात् जो अमात्य, पिता, गुरु आदि की तरह पूज्य हैं, पर जिनमें सिर्फ इन्द्रत्व नहीं है। ३ त्रायन्त्रिंश वे हैं जो देव, मनी या पुरोहित का काम करते हैं। ४. पारिपत्य वे हैं जो मित्र का काम करते हैं। ५. आत्मरक्षक वे हैं जो शत्रु उठाये हुए आत्मरक्षक रूप से पीठ की ओर खड़े रहते हैं। ६ लोकपाल वे हैं जो सरहद की रक्षा करते हैं। ७. अनीक वे हैं जो सैनिक रूप और सेनाधिपति रूप हैं। ८. प्रकीर्णक वे हैं जो नगरवासी और देशवासी के समान हैं। ९. आभियोग्य-सेवक वे हैं जो दास के तुल्य हैं। १०. किल्बिषिक वे हैं जो अन्त्यज समान हैं। चाण्ड देवलोकों में अनेक प्रकार के वैमानिक देव भी इन्द्र, सामानिक आदि दस भागों में विभक्त हैं।

व्यन्तरनिकाय के आठ और ज्योतिष्कनिकाय के पाँच भेद सिर्फ इन्द्र आदि आठ विभागों में ही विभक्त हैं, क्योंकि इन दोनों निकायों में त्रायन्त्रिंश और लोकपाल जाति के देव नहीं होते। ४, ५।

इन्द्रों की संख्या का नियम—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः । ६ ।

पहले के दो निकायों में दो दो इन्द्र हैं।

भवनपतिनिकाय के असुरकुमार आदि दसों प्रकार के देवों में तथा व्यन्तरनिकाय के किन्नर आदि आठों प्रकार के देवों में दो दो इन्द्र हैं। जैसे, चमर और बलि असुरकुमारों में, धरण और भूतानन्द नागकुमारों में, हरि और हरिसह विद्युत्कुमारों में, वेणुदेव और वेणुदारी सुपर्णकुमारों में, अग्निशिख और अग्निमाणव अग्निकुमारों में, वेलम्ब और प्रमञ्जन वातकुमारों में, सुषोष और महाषोष स्तनितकुमारों में, जलकान्त और जलप्रभ उदधि-

कुमारों में, पूज और वाशिष्ठ द्वीपकुमारों में तथा अमित्यति और अमित-  
-पाहन दिक्कुमारों में इन्द्र हैं। इसी तरह स्वप्नतथिकाय में सो, किन्नरों में  
किन्नर और किपुक्षय किपुक्षयों में अप्सुक्षय और महापुक्षय महोरग में अति-  
-काय और महाकाय गान्धर्वों में गीतरति और गीतयथा; यक्षों में पूर्णमात्र  
और मयिमद्र, राक्षसों में भीम और महाभीम मूर्तों में प्रतिरूप और  
अप्रतिरूप तथा विद्याक्षों में काक और महाकाक ये ही हो इन्द्र हैं।

भस्वनपति और स्वप्नर इन वा निष्कर्मों में हो वा इन्द्र कहने से  
-श्रेय हो तिकाओं में हो वो इन्द्रों का अभाव सूचित किया गया है।  
ज्योतिष्क में तो चन्द्र और सूर्य ही इन्द्र हैं। चन्द्र और सूर्य अष्टक्यात हैं।  
इसलिये ज्योतिष्कनिष्कर्म में इन्द्र भी इतने ही हुए। वैमानिकनिष्कर्म में  
हरएक कर्म में एक एक इन्द्र है। शीबर्म-करण में शक ऐशान में ईशान  
-शान्तकुमार में तन्त्रकुमार नामक इन्द्र हैं। इसी तरह ऊपर के देवलोको में  
उन देवलोको के नामवाच्य एक एक इन्द्र हैं। तिरुं विद्येष्ठा इत्येते दे  
-विक अमल और प्राणत इन हो का इन्द्र एक है भित्तवा नाम प्राणत है।  
आरव और अश्रुत इन हो कर्मों का इन्द्र भी एक है भित्तवा नाम है  
-अश्रुत । ६ ।

पहले दो निष्कर्मों में स्वप्न-

पीतान्तलेषया । ७ ।

पहले दो निष्कर्म के देव पीत-तैलः पर्यन्त केशवा पाछे हैं ।

भस्वनपति और स्वप्नर जाति के देवों में धार्मिक कर्मकर्म इत्येतेषा  
-वार ही मानी जाती हैं। जैसे-कर्म शीक कपोत और पीत तैल । ७ ।

देवों के कामगुण का कर्मन-

कप्रवर्षीचारा मा ऐशानात् । ८ ।

शेषा. स्पर्शरूपशब्दमन प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः । ९ ।

परेऽप्रवीचारा । १० ।

ऐशान तब के देव कायप्रवीचार अर्थात् शरीर से विषयसुख भोगने वाले होते हैं ।

चारी के देव दो दो कल्पों में क्रम से स्पर्श, रूप, शब्द और सक्न्प द्वारा विषयसुख भोगने वाले होते हैं ।

अन्य सब देव प्रवीचार रहित अर्थात् वैषयिक सुखभोग से रहित होते हैं ।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले तथा दूसरे स्वर्ग के वैमानिक-इतने देव मनुष्य की तरह शरीर से कामसुख का अनुभव करके प्रसन्नता लाभ करते हैं ।

तीसरे स्वर्ग से ऊपर के वैमानिक देव मनुष्य के समान सर्वाङ्गीण शरीरस्पर्श द्वारा कामसुख नहीं भोगते, किन्तु अन्य अन्य प्रकार से वैषयिक सुख का अनुभव करते हैं । जैसे तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव तो देवियों के स्पर्शमात्र से कामतृष्णा की शान्ति कर लेते हैं, और सुख का अनुभव करते हैं । पाँचवें और छठे स्वर्ग के देव देवियों के सुसज्जित रूप को देखकर ही विषयसुखजन्य संतोष लाभ कर लेते हैं । सातवें और आठवें स्वर्ग के देवों की कामवासना देवियों के विविध शब्दमात्र को सुनने से शान्त हो जाती है और उन्हें विषयसुख के अनुभव का आनन्द मिलता है । नववें और दसवें तथा ग्यारहवें और बारहवें इन दो जोड़ों अर्थात् चार स्वर्गों के देवों की वैषयिक तृप्ति सिर्फ देवियों के चिन्तनमात्र से हो जाती है । इस तृप्ति के लिए उन्हें न तो देवियों के स्पर्श की, न रूप देखने की और न गीत आदि सुनने की अपेक्षा रहती है । सारांश यह है कि—दूसरे स्वर्ग तक ही देवियों के स्पर्श नहीं । हमलिया से जान हीमने —————

रहने-बसने के देवों को विषयसुख के लिए उत्सुक और इस कारण अपनी ओर  
 आदरधील जानती है। तभी वे ऊपर के देवों के निकट पहुँच जाती हैं।  
 वहाँ पहुँचते ही उनके हस्त आदि के स्पर्शमात्र से तीव्र, चौधे स्वर्ग के  
 देवों की क्रमवृत्ति हो जाती है। उनके श्रुतारसमिश्र मनोहर स्पर्श से  
 देखने मात्र से पौनर्बे और छठे स्वर्ग के देवों का कामकाज पूर्ण हो जाती  
 है। इसी तरह उनके सुन्दर लगीलमय शब्द से सुनने मात्र से सातवें  
 और आठवें स्वर्ग के देव वैश्विक ज्ञानन्द का अनुभव कर लेते हैं। इन्हीं  
 की पहुँच सिर्फ आठवें स्वर्ग तक ही है, इसके ऊपर नहीं। नववें से बारहवें  
 स्वर्ग के देवों की क्रम-सुकृति केवल देवियों के चिन्तनमात्र से हो जाती  
 है। बारहवें स्वर्ग से ऊपर की देव हैं वे शान्त और कामकाज से परित  
 होते हैं। इसलिए उनको देवियों के स्पर्श स्पर्श शब्द या चिन्तन द्वारा  
 क्रमसुख भोगने की अपेक्षा नहीं पड़ती; फिर भी वे अन्य देवों से अधिक  
 लम्बे और अधिक चुकी होते हैं। कारण स्पष्ट है और यह यह कि—  
 ज्यों ज्यों क्रमवाचना की प्रकृति एवं स्त्री स्त्री चित्तस्त्रिय अधिक ज्यों ज्यों  
 चित्तस्त्रिय अधिक स्त्री स्त्री उत्तरी भिन्नते के लिए विषयभोग भी अधिक  
 अधिक चाहिए। पहले स्वर्ग तक के देवों की अपेक्षा तीव्र और चौधे के  
 देवों की और उनकी अपेक्षा पौनर्बे छठे के देवों की—इस तरह ऊपर ऊपर  
 के स्वर्ग के देवों की कामकाज सम्पन्न होती है। इसलिए उनके चित्त-  
 स्त्रिय की माया भी कम होती है। अतएव उनके कामनीय के लक्षण भी  
 कम पड़े गए हैं। बारहवें स्वर्ग के ऊपरवाले देवों की क्रमवाचना शान्त  
 होती है इस कारण उन्हें स्पर्श रूप शब्द चिन्तन आदि में के कितनी  
 भी भोग की इच्छा नहीं होती। वे संतोषजन्य परमसुख में निमग्न रहते  
 हैं। यही कारण है कि कितने नीचे नीचे की अपेक्षा ऊपर ऊपर के देवों  
 का सुत्र अधिकधिक माना गया है। ८१ ।

चतुनिकाय देवों के पूर्वोक्त भेदों का वर्णन—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-  
द्वीपदिकुमारा । ११ ।

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगान्धर्वयक्षराक्षसभूत-  
पिशाचाः । १२ ।

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च । १३ ।

भेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके । १४ ।

तत्कृत कालविभागः । १५ ।

बहिरवस्थिताः । १६ ।

वैमानिकाः । १७ ।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । १८ ।

उपर्युपरि । १९ ।

सौधर्मे शानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्र-  
सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु वि-  
जय वैजयन्तजयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थासिद्धे च । २० ।

असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार,  
वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, और दिककुमार ये  
भवनवासिनिकाय हैं ।

किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, और पिशाच  
ये व्यन्तरनिकाय हैं ।

१. श्वेताम्बर संप्रदाय में बारह कल्प हैं, पर दिगम्बर संप्रदाय सोलह  
कल्प मानता है, उनमें ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र और शतार नाम के चार  
कल्प अधिक हैं । जो क्रमशः छठे, आठवें, नववें और ग्यारहवें नवर पर  
आते हैं । दिगम्बर सूत्रपाठ के लिए देखो-सूत्रों का तुलनात्मक परिशिष्ट ।



द्वयं, पन्न तथा ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारा वे ज्योतिष-  
निकाय हैं।

वे मनुष्यलोक में भ्रम की धारों और प्रवृत्तियां करने वाले तब  
निरन्तर गतिशील हैं।

काक का विभाग उन—परज्योतिष्यों द्वारा किया हुआ है।

ज्योतिष्य मनुष्यलोक के बाहर स्थिर होते हैं।

सदृश विज्ञानवाले वैमानिक देव हैं।

वे कम्प्योपपन्न और कम्पातीत रूप हैं।

और ऊपर ऊपर रहते हैं।

सौधर्म ऐशान तानकुमार, माहेन्द्र, कक्ष्येक अस्तक, म्नाडिन  
सदस्वर, मानन्त, प्राकृत आरभ्य और अश्व्युत तथा मय प्रेनेक में  
विशय, वैश्वन्त अयन्त अपराजित तथा सर्वापठित में उनका निवास है।

इस प्रकार के मन्त्रपति अम्बुशीपगत सुमेक पर्वत के तीर्थे, उल्ले  
रक्षित और उत्तर मार्ग में ठिठके अनेक कीटाकोटि कह कर ध्येन तक लगे  
रघुविष मन्त्रपति हैं। अमुरकुमार बहुत करके आवाजों में और कर्म  
मन्त्रों में रहते हैं तथा नामकुमार आदि तब प्राक  
के एक एक हजार बोकन छोड़कर बीच के एक स्थल अट्टमण्डल  
ध्येन परिमाण मात्र में तब जाते हैं; पर मन्त्र ही रत्नप्रभा के बीचें नये  
हजार बोकन परिमाण मात्र में ही होते हैं। आवाज बड़े मन्त्रपति होते हैं  
और मन्त्र मगर लटका। मन्त्र बाहर से गोले मीटर से समचतुर्भुज  
और तले में पुष्करकर्मिका जैसे होते हैं।

। तभी मन्त्रपति कुमार इच्छित करे ध्यान हैं कि वे कुमार की लक्ष  
देवने में मन्त्रोदर तथा सुकुम्बर हैं और मनु व मधुर मतिवाले तथा कीटापीन

हैं। दसों प्रकार के भवनपतिशो की चिह्नादि स्वरूपसम्पत्ति जन्म से ही अपनी अपनी जाति में जुदा जुदा है। जैसे—असुरकुमारों के मुकुट में चूड़ामणि का चिह्न होता है। नागकुमारों के नाग का, विशुत्कुमारों के वज्र का, सुपर्णकुमारों के गरुड का, अग्निकुमारों के घट का, वातकुमारों के अश्व का, स्तनितकुमारों के वर्धमान—शरावसपुत्र (शरावयुगल) का, उदधिकुमारों के मकर का, द्वीपकुमारों के सिंह का और दिक्कुमारों के हस्ति का चिह्न होता है। नागकुमार आदि सभी के चिन्ह उनके आभरण में होते हैं। सभी के वस्त्र, शस्त्र, भूषण आदि विविध होते हैं। ११।

सभी व्यन्तर देव ऊर्ध्व, मध्य और अध—तीनों लोकों में भवन और आवासों में बसते हैं। वे अपनी इच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से भिन्न भिन्न जगह जाया करते हैं। उनमें से कुछ व्यन्तरो के भेद-प्रभेद तो मनुष्यों की भी सेवा करते हैं। वे विविध प्रकार के पहाड और गुफाओं के अन्तरो में तथा वनों के अन्तरो में बसने के कारण व्यन्तर कहलाते हैं। इनमें से किन्नर नामक व्यन्तर के दस प्रकार हैं; जैसे—किन्नर, किंपुरुष, किंपुरुषोत्तम, किन्नरोत्तम, हृदयगम, रूपशाली, अनिन्दित, मनोरम, रतिप्रिय और रतिश्रेष्ठ। किंपुरुष नामक व्यन्तर के दस प्रकार हैं, जैसे—पुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषवृषभ, पुरुषोत्तम, अतिपुरुष, मरुदेव, मरुत, मेरुप्रभ और यशस्वान्। महोरग के दस प्रकार ये हैं—भुजग, भोगशाली, महाकाय, अतिक्राय, स्कन्धशाली, मनोरम, महावेग, महेश्वक्ष, मेरुकान्त और भास्वान्। गान्धर्व के चारह प्रकार ये हैं—हाहा, हूहू, तुम्बुरव, नारद, ऋषिवादिक, भूतवादिक, कादम्ब, महाकादम्ब, रैवत, विश्वावसु, गीतरति और गीतयशः। यक्षोंके तेरह प्रकार ये

१ सप्रहणी में उदधिकुमारों के अश्व का और वातकुमारों के मकर का चिन्ह लिखा है. गा० २६।

है—पूर्वमन्त्र, माषिमन्त्र, श्वेतमन्त्र, हरिमन्त्र, सुमनोमन्त्र, व्यतिपातिकमन्त्र, दुष्ट, सर्वघ्नोमन्त्र, मनुष्यघ्न, वनाभिपति, वनाहार, रूपघ्न और बधोत्पत् ।  
 रक्षकों के सात प्रकार ये हैं—भीम, महाभीम विम विनामक, ब्रह्मरक्ष, राक्षस और ब्रह्मघ्नसत । मूर्तके.नन प्रकार ये हैं—गुरुम, प्रतिष्म, अस्मिन् भूयोत्तम एकमिदक, महास्फुटिक महावेग, प्रतिष्ठक और भावमय ।  
 पिशाचों के पन्द्रह भेद ये हैं—कुष्माण्ड, पटक शोष, आन्त्रक, काष्ठ, महाशक, शीघ्र, अशीघ्र, तापपिशाच मुखपिशाच, अचत्वारक, देह, महाविवेह तृणिक और वनपिशाच ।

आर्ये प्रकार के व्यन्त्रों के सिन्धु अनुक्रम से अशोक, जम्बक, ताम्र, तुम्बक, का लड्डूहे सुस्त और करम्बक हैं । अशुद्ध के सिवा शेष सब चिह्न इष्ट अति के हैं, सब चिह्न उनके आभूषण आदि में होते हैं । (१२)

मेघ के समस्त भूभाग से लक्ष्मी मन्त्रे शोकन की ऊँचाई पर शोचिक के लेन का अग्रम्य होता है; जो वहाँ से ऊँचाई में एक ही एक शोकन परिमाण है, और तिरछा अक्षरपाठ ही पञ्चविध शोचिक लक्ष्मी परिमाण है । उसमें एक शोकन की ऊँचाई पर अर्थात् एक समस्त से आठ ही शोकन की ऊँचाई पर सूर्यके विमान है, वहाँ से अगली शोकन की ऊँचाई पर अर्थात् समस्त से आठ ही अगली शोकन की ऊँचाई पर चन्द्र के विमान है; वहाँ से तीस शोकन की ऊँचाई तक में अर्थात् समस्त से नव ही शोकन की ऊँचाई तक में ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारे हैं । प्रकीर्ण तारे करने का मतलब यह है कि अल्प कुछ तारे ऐसे भी हैं जो अनिश्चयवापी होनेसे कभी पूर्व चन्द्र के नीचे भी पड़ते हैं और कभी ऊपर भी । चन्द्र के ऊपर भी शोकन की ऊँचाई में पहले बार शोकन की ऊँचाई पर नक्षत्र हैं इसके बाद बार शोकन की

ऊँचाई पर बुधग्रह, बुध से तीन योजन ऊँचे शुक्र, शुक्र से तीन योजन ऊँचे गुरु, गुरु से तीन योजन ऊँचे मङ्गल और मङ्गल से तीन योजन ऊँचे शनैश्वर है। अनियतचारी तारा जब सूर्य के नीचे चलता है, तब वह सूर्य के नीचे दस योजन प्रमाण ज्योतिष-क्षेत्र में चलता है। ज्योतिष-प्रकाशमान विमान में रहने के कारण सूर्य आदि ज्योतिष्क कहलाते हैं। उन सबके मुकुटों में प्रभामण्डल का सा उज्ज्वल, सूर्यादि के मण्डल जैसा चिह्न होता है। सूर्य के सूर्यमण्डल का सा, चन्द्र के चन्द्रमण्डल का सा और तारा के तारामण्डल का सा चिह्न समझना चाहिए। १३।

मानुषोत्तर नामक पर्वत तक मनुष्यलोक है, यह बात पहिले कही जा चुकी है। उस मनुष्यलोक में जो ज्योतिष्क हैं, वे सदा भ्रमण किया करते हैं। उनका भ्रमण मेरु के चारों ओर होता है। मनुष्य-  
 चरज्योतिष्क लोक में कुल सूर्य और चन्द्र एकसौ बत्तीस हैं। जैसे—  
 जम्बूद्वीप में दो दो, लवणमुद्र में चार चार, वातकीखण्ड में बारह बारह, कालोदधि में बयालीस बयालीस और पुष्करार्ध में बृहत्तर बृहत्तर सूर्य तथा चन्द्र हैं। एक एक चन्द्र का परिवार अट्ठाईस नक्षत्र, अट्ठासी ग्रह और छ्वांसठ हजार नवसौ पचहत्तर कोटाकोटी तारों का है। यद्यपि लोक-मर्यादा के स्वभाव से ही ज्योतिष्क विमान सदा ही आपसे आप फिरते रहते हैं, तथापि समृद्धि विशेष प्रकट करने के लिए और आभियोग्य—सेवक नाम कर्म के उदय से क्रीडाशील कुछ देव उन विमानों को उठाकर घूमते रहते हैं। आगे के भाग में सिंहाकृति, दाहिने गजाकृति, पीछे बैलरूपधारी और उत्तर में अश्वरूपधारी देव विमान के नीचे लग कर भ्रमण किया करते हैं। १४।

सुहृत् अहोरात्र पक्ष, मास आदि, अतीत वर्तमान आदि; तथा संस्मरण अर्थात्स्वप्न, आदि रूप से अनेक प्रकार का काष्णिकव्यवहार मनुष्यजीव में ही होता है उसके बाहर नहीं। मनुष्यजीव के बाहर काष्णिकविमग्ना अथवा कोई काष्णिकव्यवहार करनेवाला हो और ऐसा व्यवहार करे तो भी वह मनुष्यजीव प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार ही; क्योंकि व्यवहारिक अक्षयविमग्ना का मुख्य आधार नियत किया मात्र है। ऐसी क्रिया पूर्व जन्म आदि ज्योतिषों की गति ही है। गति भी ज्योतिषों की तर्जनी नहीं पाई जाती सिर्फ मनुष्यजीव के अंदर वर्तमान ज्योतिषों में ही पाई जाती है। इसीलिए माना गया है कि काष्णिक विमग्ना ज्योतिषों की विविध गति पर ही निर्भर है। दिन, रात पक्ष आदि जो स्वप्न अक्षयविमग्ना हैं वे सूर्य आदि ज्योतिषों की निश्चल गति पर अवलम्बित होने के कारण उससे आने जा सकते हैं, समस्त आकस्मिक आदि सूक्ष्म अक्षयविमग्ना उससे नहीं आने जा सकते। स्वप्न विमग्ना में सूर्य के प्रथम दर्शन से लेकर स्थान विमग्ना में जो सूर्य का अन्वर्धन होता है; वह उदय और अस्त के बीच की सूर्य की गतिक्रिया से ही दिन का व्यवहार होता है। इसी तरह सूर्य के अस्त से उदय तक की गतिक्रिया से रात का व्यवहार होता है। दिन और रात का तीसरा भाग सुहृत् है। पक्ष दिनरात का पक्ष है। दो पक्षों का मास दो मास की श्रद्ध तीन श्रद्ध का अथवा दो अथवा का वर्ष पौष वर्षों का पुण हत्यादि अनेक प्रकार का शौकिक अक्षयविमग्ना सूर्य की गतिक्रिया है। किना जाता है। जो क्रिया प्राप्त है वह वर्तमान अक्षय, जो होमेवाची है वह अनागत अक्षय और जो हो चुकी है वह अतीत अक्षय। जो अक्षय गिमतरी में आ सकता

है वह संख्येय, जो गिनती में नहीं आ सकता सिर्फ उपमान द्वारा जाना जा सकता है वह असंख्येय, जैसे—पत्योपम, सागरोपम आदि, और जिसका अन्त नहीं वह अनन्त है । १५ ।

मनुष्यलोक के बाहर के सूर्य आदि ज्योतिष्क विमान स्थिर हैं, क्योंकि उनके विमान स्वभाव से ही एक जगह कायम रहते हैं, इधर-उधर भ्रमण नहीं करते । इसी कारण से उनकी लेश्या और स्थिरज्योतिष्क उनका प्रकाश भी एकरूप स्थिर है, अर्थात् वहाँ राहु आदि की छाया न पड़ने में ज्योतिष्कों का स्वाभाविक पीतवर्ण ज्यों का त्यों बना रहता है और उदय-अस्त न होने के कारण उनका लक्ष योजन परिमाण प्रकाश भी एकसा स्थिर ही रहता है । १६ ।

चतुर्थ निकाय के देव वैमानिक कहलाते हैं । उनका वैमानिक नाम पारिभाषिक मात्र है, क्योंकि विमान से चलने वाले वैमानिक देव तो अन्य निकाय के देव भी हैं । १७ ।

वैमानिक के कल्पोपपन्न और कल्पातीत ऐसे दो भेद हैं । जो कल्प में रहते हैं वे कल्पोपपन्न और जो कल्प के ऊपर रहते हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं । वे सभी वैमानिक न तो एक ही, स्थान में हैं और न तिरछे हैं किन्तु एक दूसरे के ऊपर-ऊपर वर्तमान हैं । १८, १९ ।

कल्प के सौधर्म, ऐशान आदि बारह भेद हैं । उनमें से सौधर्म-कल्प ज्योतिष्क के ऊपर असंख्यात योजन चढ़ने के बाद मेरु के दक्षिण भाग से उपलक्षित आकाशप्रदेश में स्थित है । उसके बहुत ऊपर किन्तु उत्तर की ओर ऐशान कल्प है । सौधर्म कल्प के बहुत समश्रेणि में सानत्कुमार कल्प है, और ऐशान के ऊपर समश्रेणि में माहेन्द्र कल्प है ।

१ यह तो अनन्त का शब्दार्थ है । उसका पूरा भाव समझने के लिये देखो, चौथा कर्मग्रन्थ ।

इन दोनों के मध्य में किन्तु ऊपर ब्रह्मस्थीक कल्प है। इसके ऊपर समभेगि में कम से त्वास्तक महाशुक्र, और तद्वहार ये तीन कल्प एक दूसरे के ऊपर हैं। इनके ऊपर सौम्य और ऐशान-की तरह आनत, प्रायत दो कल्प हैं। इनके ऊपर समभेगि में तानाकुमार और माहेन्द्र की तरह आरम और अत्युत कल्प हैं। कर्षी के ऊपर अनुक्रम से मय विमल ऊपर ऊपर हैं; जो पुण्याहति श्रेक के भीवास्थानीय म्यग में होने के कारण प्रैवेक कहलाते हैं। इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराकित और तर्वाविक्र के पाँच विमान ऊपर ऊपर हैं जो सबसे उत्तर-प्रधान होने के कारण अनुत्तर कहलाते हैं।

सौम्य से अत्युत तक के देव कर्षोपपन्न और इनके ऊपर के सभी देव कर्षातीत हैं। कर्षोपपन्न में स्वामि-सेवक माय है, कर्षातीत में मर्षी के दो सभी इन्द्रकृ होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। अनुप्यत्सेक में किसी निमित्त से जाना हुआ, जो कर्षोपपन्न देव ही जाते आते हैं कर्षा-तीत अपने स्वान को छोड़कर कहीं नहीं जाते। ९ ।

कुछ मार्गों में देवों की उत्तरोत्तर अधिकता और हीनता-

स्वितिप्रभावसुखशुचिष्ठेष्माविष्टुदीन्त्रियावबिबिपयतो  
ऽधिकः । ११ ।

गतिशरीरपरिग्रहामिमानतो हीनाः । १२ ।

स्विति प्रभाव सुख, शुचि केव्याविष्टुदि, इन्द्रियादिदय और अरवि-विषम में ऊपर ऊपर के देव अधिक हैं।

गति शरीर, परिग्रह और अभिमान में ऊपर ऊपर के देव हीन हैं।

माँचे मर्षी के देवों से ऊपर ऊपर के देव सात षटों में अधिक हीन हैं जैसे—

इसका विशेष खुलासा आगे तीसरे सूत्र से लेकर  
१ स्थिति त्रेपनवें सूत्र तक है ।

निग्रह, अनुग्रह करने का सामर्थ्य, अणिमा महिमा आदि सिद्धि का सामर्थ्य और आक्रमण करके दूसरों से काम करवाने का बल—यह सब प्रभाव के अन्तर्गत हैं । ऐसा प्रभाव यद्यपि ऊपर ऊपर २ प्रभाव के देवों में अधिक होता है, तथापि उनमें उत्तरोत्तर अभिमान व संक्लेश कम होने से वे अपने प्रभाव का उपयोग कम ही करते हैं ।

इन्द्रियों के द्वारा उनके ग्राह्यविषयों का अनुभव करना सुख है । शरीर, वस्त्र और आभरण आदि की दीप्ति ही श्रुति है ! उक्त सुख और श्रुति ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होने के कारण ३,४ सुख और श्रुति उत्तरोत्तर क्षेत्रस्वभावजन्य शुभ पुद्गलपरिणाम की प्रकृष्टता ही है ।

लेश्या का नियम अगले तेवीसवें सूत्र में स्पष्ट होगा । यहाँ इतना जान लेना चाहिए कि जिन देवों की लेश्या समान है, उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों की लेश्या संक्लेश की ५ लेश्या की विशुद्धि कमी के कारण उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर ही होती है ।

दूर से इष्ट विषयों को ग्रहण करने का जो इन्द्रियों का सामर्थ्य, वह भी उत्तरोत्तर गुण की वृद्धि और संक्लेश की न्यूनता ६ इन्द्रियविषयक के कारण ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक-अधिक है ।

अवधिज्ञान का सामर्थ्य भी ऊपर-ऊपर के देवों में ज्यादा ही होता है । पहले, दूसरे स्वर्ग के देव अधोभाग में रत्नप्रभा तक, तिरछे भाग में असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वभाग में अपने-अपने भवन तक अवधिज्ञान से जानने का सामर्थ्य रखते हैं । तीसरे-चौथे स्वर्ग के देव



७ अक्षविज्ञान का विषय

अधोभाग में शर्कराप्रमा तक, तिरछे भाग में अर्ध-सप्ताह तक लाल योजन तक और ऊर्ध्वभाग में अपने-अपने मूल तक अक्षविज्ञान से देख सकते हैं। इसी तरह अमघः बढते-बढते अन्त में अनुत्तर-विमानवासी देव सम्पूर्ण अक्ष-नाडी की अक्षविज्ञान से देख सकते हैं। जिन देवों के अक्षविज्ञान का क्षेत्र समान होता है उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देव विद्युत्-विद्युत्तर ज्ञान का सामर्थ्य रखते हैं। २१।

चार बाँतें ऐसी हैं जो नीचे की अपेक्षा ऊपर उपर के देवों में कम-कम पाई जाती हैं जैसे—

गमनक्षिप्ता की द्युति और गमनक्षिप्ता में प्रकृति के दोनों ही ऊपर ऊपर के देवों में कम पाई जाती हैं क्योंकि ऊपर ऊपर के देवों में उतार

१ गति देहान्तर विषयक श्रद्धा करने की रति कम-कम होती जाती है। तानकुमार आदि के देव जिन की अपत्य स्थिति ही वास्तविक होती है, वे अधोभाग में साठवें नरक तक और तिरछे अर्धसप्ताह हल्कर कोशाक्षरीय योजन पर्यन्त जाने का सामर्थ्य रखते हैं। इसके बाद के अपत्य स्थिति वाले देवों का गतितामर्थ्य बढते-बढते वहाँ तक पट जाता है कि ऊपर के देव अधिक से अधिक तीसरे नरक तक ही जाने का सामर्थ्य रखते हैं। द्युति चाहे अधिक ही पर कोई देव अधोभाग में तीसरे नरक से भाग्य न गया है और न व्यवसाय।

शरीर १५ परिमाण पहले बृहते स्वर्ग में साठ हाथ का; तीसरे, चौथे

२ शरीर स्वर्ग में छः हाथ का; पाँचवें, छठे स्वर्ग में पाँच हाथ

का; साठवें आठवें स्वर्ग में चार हाथ का; नवमें से

बाहरवें स्वर्ग तक में तीन तीन हाथ का; नव प्रैवेपक में छः हाथ का और अनुत्तरविमान में एक हाथ का है।

पहले स्वर्ग में बत्तीस लाख विमान, दूसरे में अट्ठाईस लाख, तीसरे में बारह लाख, चौथे में आठ लाख, पाँचवें में चार लाख, छठे में पचास हजार, सातवें में चालीस हजार, आठवें में छ हजार, नववें से बारहवें तक में सात सौ, अघोवर्ती तीन प्रवेयक में एकसौ ग्यारह, मध्यम तीन प्रवेयक में एकसौ सात, ऊर्ध्व तीन प्रवेयक में सौ और अनुत्तर में सिर्फ पाँच ही विमान का परिग्रह है ।

३ परिग्रह

अभिमान का मतलब अहंकार से है । स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, विभूति, स्थिति आदि में अभिमान पैदा होता है ।

४ अभिमान

ऐसा अभिमान कपाय की कमी के कारण ऊपर ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर कम ही होता है ।—

सूत्र में नहीं कही हुई और भी पाँच बातें देवों के संबन्ध में ज्ञातव्य हैं— १ उच्छ्वास, २ आहार, ३ वेदना, ४. उपपात और ५ अनुभाव ।

ज्यों ज्यों देवों की स्थिति बढ़ती जाती है, त्यों त्यों उच्छ्वास का कालमान भी बढ़ता जाता है, जैसे— दस हजार वर्ष की आयुवाले देवों का एक एक उच्छ्वास सात सात स्तोक परिमाण काल में होता है । एक पत्न्योपम की आयु वाले देवों का

१ उच्छ्वास

उच्छ्वास एक दिन के अन्दर एक ही होता है । सागरोपम की आयु वाले देवों के विषय में यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की हो उनका एक एक उच्छ्वास उतने उतने पक्ष पर होता है ।

आहार के संबन्ध में यह नियम है कि दस हजार वर्ष की आयु वाले देव एक एक दिन बीच में छोड़कर आहार लेते हैं । पत्न्योपम की आयु वाले दिनपृथक्त्व के बाद

२ आहार

१. दो की सख्या से लेकर नव की सख्या तक पृथक्त्व का व्यवहार होता है ।

आहार लते हैं। सागरोपम के विषय में, वह नियम है कि किन्हीं अणु स्थिते सागरोपम की ही वे उतने हजार वर्ष के बाद आहार लेते हैं।

सामान्य रीति से देवों के सावा-सुक वेदना ही होती है। कर्म असावा-सुक वेदना हो गई तो वह अमृतमूर्च्छित है  
१ वेदना अधिक झल तक नहीं रहती। सावा वेदना भी असा-  
वार ७ महीने तक एक ही रहकर फिर बदल आती है।

उपपात का अस्तस्य उत्पत्तिस्थान की योग्यता से है। अन्य जैनेतर-  
व्यक्ति मियात्की कारणों स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकते हैं। स्व-जै-  
विक्रम मियात्की प्रियेयक तक जा सकते हैं। सम्प्रति  
४ उपपात परम स्वर्ग से सर्वोच्च पर्यन्त कहीं भी जा सकते हैं।  
परम चतुर्दशपूर्वी संकत पौषवे स्वर्ग से नीचे उत्पन्न होते ही नहीं।

अनुमय का अस्तस्य ओकस्वभाव-अगर्भ से है। इसी की दबोखत  
तक विमान तथा भिक्षुविसा आदि आकाश में निराधार  
५ अनुमय अवस्थित हैं।

मगधान् अधिस्त के अमाभिरिक आदि प्रसंगों पर देवों के आवन का अभिमत हीन्य वह भी ओकानुभाव का ही कार्य है। आवनकूप के अनन्तर अवधिज्ञान के उपयोग से तीर्थंकर की शक्ति को जानकर कुछ देव निकल आकर उनकी शक्ति बन्दना उपासना आदि से आत्मशुद्धि करते हैं। कुछ देव अपने ही स्थान में रहकर प्रसुप्तान अशक्तिर्म, प्रणिपात नमस्कार, उपहार आदि से तीर्थंकर की शक्ति करते हैं। यह भी सब ओकानुभाव का ही कार्य है। ११।

विमानिकों में लेखा का नियम—

पीतपद्मशुक्लेषु द्वित्रिदोषेषु । २० ।

दो, तीन और शेष स्वर्गों में क्रम से पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या-वाले देव हैं ।

पहले दो स्वर्गों के देवों में पीत—तेजो लेश्या होती है । तीसरे से पाँचवें स्वर्ग तक के देवों में पद्मलेश्या और छठे से सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त के देवों में शुक्ललेश्या होती है । यह नियम शरीरवर्णरूप द्रव्यलेश्या का है, क्योंकि-कि अध्यवसाय रूप भावलेश्या तो सब देवों में छहों पाई जाती हैं । २३ ।

कल्पों की परिगणना—

प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः । २४ ।

ग्रैवेयकों से पहले कल्प हैं ।

जिनमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि रूप से देवों के विभाग की कल्पना है वे कल्प हैं । ऐसे कल्प ग्रैवेयक के पहले तक अर्थात् सौधर्म से अच्युत पर्यन्त बराह हैं । ग्रैवेयक से लेकर सभी कल्पातीत हैं, क्योंकि उनमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि रूप से देवों की विभाग कल्पना नहीं है, अर्थात् वे सभी बराबरी वाले होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं । २४ ।

लोकान्तिक देवों का वर्णन—

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिका । २५ ।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुपिताव्याबाध-  
भरुतोऽरिष्टाच । २६ ।

१ रायल एशियाटिक सोसायटी की मुद्रित पुस्तक में 'अरिष्टाश्च' इस अंश को निश्चित रूप से सूत्र में न रखकर कोष्ठक में रक्खा है, परन्तु म० भ० की मुद्रित पुस्तक में यही अंश 'रिष्टाश्च' पाठ सूत्रगत ही निश्चित रूप से छपा है । यद्यपि खेताम्बर त्रपदाय के मूलसूत्र में 'ऽरिष्टाश्च' ऐसा पाठः

ब्रह्मलोक ही लोकान्तिक देवों का आश्रय—मिवाचस्याग है ।

सारस्वत आदित्य, वहि अरुण गहतोय, त्रुपित, अम्ब्याशय मरुत और अरिष्ट ये लोकान्तिक हैं ।

लोकान्तिक देव का विपर्यय से रहित होने के कारण देवर्षि कहलाते हैं तथा आपस में छोटे बड़े न होने के कारण सभी स्वल्प हैं और जो तीर्थहर के निष्कमल—एहस्याग के समय उनके सामने उपस्थित होकर 'बुद्धर बुद्धर' शब्द द्वारा प्रतिबोध करन का अपना आचार पाकन करते हैं वे ब्रह्मलोक नामक पौषों स्वर्ग के ही जाते और दिश्याभ्यं-विदिशाभ्यं में रहते हैं पृथ्वी जगह नहीं मही रहते । वे सभी जाँ से श्युत होकर मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष पाते हैं ।

हरषक विद्या हरषक विदिशा और मध्यम्याग ॥ एक एक वाति बसने के कारण उनकी कुछ नव वातियों हैं जैसे—पूर्वोत्तर अर्थात् ईशान-कोन में सारस्वत पूर्व में आदित्य, पूवर्धिव्य—अमिक्षेय में वहि उच्चिम में अरुण उच्चिमपश्चिम—त्रैर्त्स्यकोष में गहतोय, पश्चिम में त्रुपित पश्चिमो-त्तर—बावम्यकोष में अम्ब्याशय उत्तर में मरुत और बीच में अरिष्ट नामक लोकान्तिक रहते हैं । इनके सारस्वत वाति नाम विमल के नाम के आचार पर ही प्रथित हैं । यही इतनी विशेषता और भी ज्ञान लेनी चाहिए कि इन दो सूत्रों के मूलभाष्य में लोकान्तिक देवों के आठ ही मेद-वतमाने गए हैं मरु नहीं । दिगम्बर संप्रदाय के सूत्र पाठ से भी अर्थ

ही तथापि इस सूत्र के माध्य की टीका में "हरिषोपत्तार रिषिमान्प्रत्तार-वर्तिमान्" इत्यादि उल्लेख है, जिससे 'अरिष्ट' के स्थान में 'रिष्ट' होने का भी संक हो सकता है । परन्तु दिगम्बर संप्रदाय में इस सूत्र का जन्तितम नाम 'अम्ब्याशयविद्या' ऐसा मिलता है । इससे यही साक तौर पर 'अरिष्ट' नाम ही प्रस्थित होता है, 'रिष्ट' नहीं; साथ ही 'मरुत' का भी विधान नहीं है ।

सख्या की ही उपलब्धि होती है, उनमें 'मरुत' का उल्लेख नहीं। हाँ, स्थानाङ्ग आदि सूत्रों में नव भेद जहर पाये जाते हैं। उत्तमचरित्र में तो दश भेदों का भी उल्लेख मिलता है। इससे ऐसा मालूम होता है कि यहीं मूलसूत्र में 'मरुतो' पाठ पीछे से प्रक्षिप्त हुआ है। २५, २६।

अनुत्तर विमान के देवों का विशेषत्व—

विजयादिषु द्विचरमाः । २७ ।

विजयादि में देव, द्विचरम—दो बार मनुष्य जन्म धारण करके सिद्धत्व को प्राप्त करने वाले होते हैं।

अनुत्तरविमान के पाँच प्रकार हैं। उनमें से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार विमानों में जो देव रहते हैं, वे द्विचरम होते हैं, अर्थात् वे अधिक से अधिक दो बार मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते हैं। इसका क्रम इस प्रकार है चार अनुत्तरविमान से च्युत होने के बाद मनुष्यजन्म, उस जन्म के बाद अनुत्तरविमान में देवजन्म, वहाँ से फिर मनुष्य जन्म और उसी जन्म से मोक्ष। परन्तु सर्वार्यसिद्ध विमानवासी देव सिर्फ एक ही बार मनुष्य जन्म लेते हैं, वे उस विमान से च्युत होने के बाद मनुष्यत्व धारण करके उसी जन्म में मोक्ष लाभ करते हैं। अनुत्तर विमानवासी के सिवा अन्य सब प्रकार के देवों के लिए कोई नियम नहीं है, क्योंकि कोई तो एक ही बार मनुष्यजन्म लेकर मोक्ष जाते हैं, कोई दो बार, कोई तीन बार, कोई चार बार और कोई उससे भी अधिक बार जन्म धारण करते हैं। २७।

तिर्यचों का स्वरूप—

औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनय । २८ ।

औपपातिक और मनुष्य से जो शेष हैं, वे तिर्यचयोनि वाले हैं।

तिर्यक जीव कहलाते हैं। इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया है। औपपातिक-देव तथा नारक, और मनुष्य को छोड़कर बाकी के सभी संघर्षी जीव तिर्यक कहे जाते हैं। देव, नारक और मनुष्य त्रिपुत्र पञ्चेन्द्रिय होते हैं पर तिर्यक में एकैन्द्रिय से पञ्चन्द्रिय तक सब प्रकार के जीव आ जाते हैं। देव, नारक और मनुष्य ब्रह्म लोक के साठ मार्गों में ही पाये जाते हैं, बड़े तिर्यक नहीं पाये जाते क्योंकि उनका स्थान लोका के सब मार्गों में है। १८।

अधिकार सूत्र-

स्थितिः । २९।

आयु वर्धन की जाती है।

मनुष्य और तिर्यक की अल्प्य और उत्कृष्ट आयु बतलाई गई है। देव और नारक की अतकल्प्य आयु है, वह इस अष्टादश की समाप्ति तक अतकार्य जाती है। २९।

भवनपरिनिर्वाण की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन-

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्न्योपममध्यर्धम् । ३०।

श्रेयार्था पादोने । ३१।

असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च । ३२।

मर्गों में दक्षिणार्ध के इन्हीं की स्थिति श्रेष्ठ पत्न्योपम की है।

श्रेष्ठ इन्हीं की स्थिति पीने की पत्न्योपम की है।

दो असुरेन्द्रों की स्थिति कम से सागरोपम और कुछ अधिक सागरोपम की है।

यहाँ भवनपरिनिर्वाण की भी स्थिति बतलाई गई है वह उत्कृष्ट उत्पत्तनी बाहिष्ठा क्योंकि अणुपरिनिर्वाण का वर्णन आगे पैतृवर्णने सूत्र में

आने वाला है। भवनपतिनिराव के असुरकुमार, नागकुमार आदि दस भेद पहले कहे जा चुके हैं। हर एक भेद के दक्षिणार्थ के अधिपति और उत्तरार्थ के अधिपति रूप से दो दो इन्द्र हैं; जिनका वर्णन पहले ही कर दिया गया है। उनमें से दक्षिण और उत्तर के दो असुरेन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है दक्षिणार्थ के अधिपति चमर नामक असुरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम की ओर उत्तरार्थ के अधिपति बलि नामक असुरेन्द्र की स्थिति सागरोपम से कुछ अधिक है। असुरकुमार को 'छोड़कर बाकी के नागकुमार आदि नव प्रकार के भवनपति के जो दक्षिणार्थ के धरण आदि नव इन्द्र हैं, उनकी स्थिति डेढ़ पत्योपम की और जो उत्तरार्थ के भूतानन्द आदि नव इन्द्र हैं, उनकी स्थिति पौने दो पत्योपम की है। ३०-३२।

वैमानिकों की उत्कृष्ट स्थिति-

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् । ३३ ।

सागरोपमे । ३४ ।

अधिके च । ३५ ।

सप्त सानत्कुमारे । ३६ ।

विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि  
च । ३७ ।

आरणाच्युताद् ऊर्ध्वमेकैकेन नवसु गैवेयकेषु, विजया-  
दिषु सर्वार्थसिद्धे च । ३८ ।

सौधर्म आदि देवलोकों में निम्नोक्त क्रम से स्थिति जानना ।

सौधर्म में दो सागरोपम की स्थिति है ।

ऐशान में कुछ अधिक दो सागरोपम की स्थिति है ।

सानत्कुमार में सात सागरोपम की स्थिति है ।



माहेन्द्र से आरम्भाभ्युत्त तक कम से कुछ अधिक सात सागरोपम, तीन से अधिक सात सागरोपम, सात से अधिक सात सागरोपम, दस से अधिक सात सागरोपम ग्यारह से अधिक सात सागरोपम, तेरह से अधिक सात सागरोपम पंद्रह से अधिक सात सागरोपम प्रमाण स्थिति है।

आरम्भाभ्युत्त के ऊपर नव त्रैलोक्य, चार विजयादि और सर्वांगसिद्ध में अनुक्रम से एक एक सागरोपम अधिक स्थिति है।

यहाँ वैमानिक रेखा की जो स्थिति कम से बतलाई गई है वह उल्टी है; उनकी अप्पम स्थिति आगे बतलाई जाएगी। पहले तर्क में दो सागरोपम की दूरी में दो सागरोपम से कुछ अधिक, तीसरे में सात सागरोपम की, चौथे में सात सागरोपम से कुछ अधिक पाँचवें में दस सागरोपम की, छठे में चौदह सागरोपम की सातवें में सत्रह सागरोपम की आठवें में अठारह सागरोपम की नववें-दसवें में बीस सागरोपम की और ग्यारहवें-बारहवें स्वर्ग में बारह सागरोपम की स्थिति है। नव त्रैलोक्य में तेरह सागरोपम की दूरी में चौबीस सागरोपम की इसी तरह एक एक बढ़ते बढ़ते नववें त्रैलोक्य में इच्छीत सागरोपम की स्थिति है। पहले चार अनुचर विमान में बीसवें और सर्वांगसिद्ध में तेरह सागरोपम की स्थिति है। ३३-३८।

वैमानिकी की अप्पम स्थिति—

अपरा पत्योपमधिक ४ । ३९ ।

सागरोपमे । ४० ।

१ विमानर डीकाओं में और कहीं कहीं शेलाम्बर प्रश्नों में भी विजयादि चार विमानों में उल्टी स्थिति तेरह सागरोपम की मानी है। देखो इसी अप्पम का ९ ४२ का माप्य। संश्लेषी में श्री ३३ सागरोपम की उल्टी स्थिति कही गई है।

अधिके च । ४१ ।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा । ४२ ।

अपरा—जघन्य स्थिति पत्योपम और कुछ अधिक पत्योपम की है ।

दो सागरोपम की है ।

कुछ अधिक दो सागरोपम की है ।

आगे आगे पहली पहली परा—उत्कृष्ट स्थिति अनन्तर अनन्तर की जघन्य स्थिति है ।

सौघर्मादि की जघन्य स्थिति अनुक्रम से इस प्रकार है पहले स्वर्ग में एक पत्योपम की दूसरे में पत्योपम से कुछ अधिक, तीसरे में दो सागरोपम की, चौथे में दो सागरोपम से कुछ अधिक स्थिति है । पाँचवें से आगे आगे सभी देवलोकों में जघन्य स्थिति बढ़ी है जो अपनी अपनी अपेक्षा पूर्व पूर्व के देवलोकों में उत्कृष्ट स्थिति हो । इस नियम के अनुसार चौथे देवलोक की कुछ अधिक सात सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति ही पाँचवें देवलोक में जघन्य स्थिति है, पाँचवें की दस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति छठे में जघन्य स्थिति है; छठे की चौदह सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति सातवें में जघन्य स्थिति है, सातवें की सत्रह सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति आठवें में जघन्य है, आठवें की अठारह सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति नववें दसवें में जघन्य, नववें-दसवें की बीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति ग्यारहवें-बारहवें की जघन्य, ग्यारहवें-बारहवें की बाईस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति प्रथम प्रैवेयक की जघन्य स्थिति है, इसी तरह नीचे नीचे के प्रैवेयक की उत्कृष्ट स्थिति को ऊपर ऊपर के प्रैवेयक की जघन्य स्थिति समझना चाहिए । इस क्रम से नववें प्रैवेयक की जघन्य स्थिति तीस सागरोपम की होती है । चार अनुत्तरविमान की जघन्य स्थिति

इच्छीस सागरोपम की है। सर्वाधिक में उत्कृष्ट और अल्प स्थिति में अन्तर नहीं है अर्थात् तृतीस सागरोपम की ही स्थिति है। १९-४१।

नारकी की अल्प स्थिति-

नारकाणां च द्वितीयादिषु । ४३ ।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् । ४४ ।

दूरी अदि भूमियों में नारकी की पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति ही अन्तर अन्तर की अल्प स्थिति है।

पृथ्वी भूमि में अल्प स्थिति दस हजार वर्ष की है।

जैसा ब्रह्मांडीय सृज में है वही की अल्प स्थिति का क्रम है जैसा ही क्रम दूरी से केन्द्र सातवीं भूमि तक के नारकी की अल्प स्थिति का है। इस नियम के अनुसार पृथ्वी भूमि की एक सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति दूरी में अल्प स्थिति है। दूरी की तीन सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तीसरी में अल्प है। तीसरी की सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति चौथी में अल्प है। चौथी की दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति पाँचवीं में अल्प है। पाँचवीं की सत्रह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति छठी में अल्प है। छठी की चारस सागरोपम स्थिति सातवीं में अल्प है। पृथ्वी भूमि में अल्प स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है। ४३ ४४।

अवगतिषु की अल्प स्थिति-

अवनेषु च । ४५ ।

अवनों में भी दस हजार वर्ष प्रमाण ही अल्प स्थिति है।

अन्तराणां की स्थिति-

अन्तराणां च । ४६ ।

परा पत्न्योपमम् । ४७ ।

व्यन्तरोकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है ।  
और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम प्रमाण है । ४६, ४७ ।

ज्योतिष्को की स्थिति—

ज्योतिष्काणामधिकम् । ४८ ।

ग्रहाणामेकम् । ४९ ।

नक्षत्राणामर्धम् । ५० ।

तारकाणां चतुर्भागः । ५१ ।

जघन्या त्वष्टभागः । ५२ ।

चतुर्भागः शेषाणाम् । ५३ ।

ज्योतिष्क अर्थात् सूर्य, चन्द्र की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक पल्योपम की है ।

ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की है ।

नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति अर्ध पल्योपम की है ।

तारों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चौथा भाग है ।

और जघन्य स्थिति तो पल्योपम का आठवाँ भाग है ।

शेष अर्थात् तारों को छोड़कर बाकी के ज्योतिष्कों अर्थात् ग्रहों तथा नक्षत्रों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चौथा भाग है । ४८-५३ ।

## पाँचवाँ अध्याय

ऊरे से पीछे अध्याय तक जीवतत्त्व का निरूपण हुआ। इन अध्याय में जीवतत्त्व का निरूपण है।

अजीब के भेद—

अजीबकाया धर्माधर्माकाष्ठपुद्गला । १ ।

धर्मोक्तिकाय अधर्मोक्तिकाय आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय में चार अजीबकाय हैं।

निरूपणव्यवृत्ति के नियमानुसार पहले अक्षय और बाद में भेदों का कथन करना चाहिये; फिर भी यहाँ एकद्वार में अजीवतत्त्व का अक्षय न बतलाकर उसके भेदों का जो कथन किया है उसका अभिप्राय यह है कि अजीब का अक्षय जीव के अक्षय से ही प्राप्त हो जाता है। उसके अक्षय से करने की क्षमता आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि अ+जीब को जीव नहीं दे वह अजीब दे। उपयोग जीव का अक्षय है किंतु उपयोग न हो वह तब अजीब; अर्थात् उपयोग का अभाव ही अजीब का अक्षय प्राप्त होता है।

अजीब वह जीव का किरौंधी भावात्मक तत्त्व है; वह केवल अक्षय नामक नहीं है।

धर्म अदि चार अ और तरणों की अस्तित्वाय करने का अभिप्राय यह है कि वे तब तिर्यक एक प्रदेष्टव्य या एक अवयवरूप मही हैं किन्तु प्रथम अथवा समूहक्य हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों ही प्रदेष्टव्य रूप हैं और पुद्गल अवयवरूप तथा अवयवप्रथम रूप है।

अजीवतत्त्व के भेदों में काल की गणना नहीं की गई है। इसका कारण यह है कि काल के तत्त्वरूप होने में मतभेद है। जो आचार्य उसे तत्त्व मानते हैं वे भी सिर्फ प्रदेशात्मक मानते हैं, प्रदेशप्रचयरूप नहीं मानते; इसलिए उनके मत से भी अस्तिकायों के साथ उसका परिगणन युक्त नहीं है, और जो आचार्य काल को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानते, उनके मत से तो तत्त्व के भेदों में काल का परिगणन प्राप्त ही नहीं है।

प्र०—क्या उक्त चार अजीवतत्त्व दूसरे दर्शनों में भी मान्य हैं ?

उ०—नहीं, आकाश और पुद्गल ये दो तत्त्व तो वैशेषिक, न्याय, सांख्य आदि दर्शनों में भी माने गए हैं, परन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो तत्त्व जैनदर्शन के सिवा अन्य किसी भी दर्शन में नहीं माने गए हैं। जिस तत्त्व को जैनदर्शन में आकाशास्तिकाय कहते हैं उसको जैनेतर दर्शनों में आकाश कहते हैं। पुद्गलास्तिकाय यह संज्ञा भी सिर्फ जैनशास्त्र में प्रसिद्ध है। जैनेतरशास्त्रों में पुद्गलस्थानीय तत्त्व का प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से व्यवहार किया गया है। १।

मूलद्रव्यों का कथन—

द्रव्याणि, जीवाश्च । २ ।

धर्मास्तिकाय आदि उक्त चार अजीवतत्त्व और जीव ये पाँच द्रव्य हैं।

जैनदृष्टि के अनुसार यह जगत् सिर्फ पर्याय अर्थात् परिवर्तन रूप नहीं है; किन्तु परिवर्तनशील होने पर भी अनादि-निधन है। इस जगत् में जैनमत के अनुसार अस्तिकाय रूप मूलद्रव्य पाँच हैं, वे ही इस सूत्र में बतलाये गए हैं।

इस सूत्र से लेकर अगले कुछ सूत्रों में द्रव्यों के सामान्य तथा विशेष धर्म का वर्णन करके उनका पारस्परिक साधर्म्य-वैधर्म्य बतलाया गया

है। साधर्म्य का अर्थ है समानधर्म—समानता और वैधर्म्य का अर्थ है विरुद्धधर्म—असमानता। इस सूत्र में जो द्रव्यत्व का विधान है वह धर्मास्तिकत्व आदि पाँचों पक्षों का द्रव्यत्व साधर्म्य है। अगर वह हो सके तो गुण का पक्षों का, क्योंकि गुण और पक्षों स्वयं द्रव्य नहीं हैं। १।

मूलद्रव्यों का साधर्म्य और वैधर्म्य—

नित्यावीक्षतान्यरूपाणि । ३ ।

रूपिण पुद्गला । ४ ।

आऽऽकाशदेकरूपाणि । ५ ।

निष्क्रियाणि च । ६ ।

उक्त द्रव्य निम्न हैं स्थिर हैं और अपयी हैं।

पुद्गल कपी अपयी मूर्त हैं।

उक्त पाँच में वे आकाश तक के द्रव्य एक एक हैं।

और निष्क्रिय हैं।

धर्मस्तिकत्व आदि पाँचों द्रव्य निष्क्रिय हैं अर्थात् वे अपने अपने सामान्य तथा विशेष स्वभाव से कदापि द्रव्य नहीं होते। वे पाँचों द्रव्य भी हैं क्योंकि उनकी संख्या में कभी श्रुताधिकता नहीं होती, परंतु अस्वीय तो धर्मस्तिकत्व, अनात्मस्तिकत्व, आकाशास्तिकत्व और अस्वीयत्व के चार ही द्रव्य हैं। पुद्गलद्रव्य अस्वीय नहीं है। कारण यह कि—मिथ्यात्व तथा अनस्तिकत्व से दोनों पाँचों द्रव्यों के साधर्म्य हैं परंतु अस्वीयत्व पुद्गल भी छोड़कर दोष चार द्रव्यों का साधर्म्य है।

१ भाष्य में आ आकाशम् ऐता लघुपरिहित पाठ है दिगम्बर परंपरा में ता सूत्र में आ लघुपरिहित पाठ है।

प्र०—नित्यत्व और अवस्थितत्व के अर्थ में क्या अन्तर है ?

उ०—अपने अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से च्युत न होना नित्यत्व है, और अपने अपने स्वरूप में कायम रहते हुए भी दूसरे तत्व के स्वरूप को प्राप्त न करना अवस्थितत्व है, जैसे जवितत्त्व अपने द्रव्यात्मक सामान्य रूप और चेतनात्मक विशेष रूप को कभी नहीं छोड़ता, यह उसका नित्यत्व है, और उक्त स्वरूप को न छोड़ता हुआ भी अजीव तत्व के स्वरूप को प्राप्त नहीं करता यह उसका अवस्थितत्व है। सारांश यह कि स्व-स्वरूप को न त्यागना और परस्वरूप को प्राप्त न करना ये दो अंश—धर्म सभी द्रव्यों में समान हैं। उनमें से पहला अंश नित्यत्व और दूसरा अंश अवस्थितत्व कहलाता है। द्रव्यों के नित्यत्वकथन से जगत् की शाश्वतता सूचित की जाती है और अवस्थितत्वकथन से उनका पारस्परिक असाकर्य सूचित किया जाता है; अर्थात् वे सत्र परिवर्तनशील होने पर भी अपने स्वरूप में सदा स्थित हैं और एक साथ रहते हुए भी एक दूसरे के स्वभाव—लक्षण से अस्पृष्ट हैं। अतएव यह जगत् अनादि-निधन भी है और इसके मूल तत्वों की संख्या भी एक सी रहती है।

प्र०—धर्मास्तिकाय आदि अजीव सत्र द्रव्य हैं और तत्त्व भी हैं तत्र उनका कोई न कोई स्वरूप अवश्य मानना पड़ेगा, फिर उन्हें अरूपी कैसे कहा गया ?

उ०—यहाँ अरूपित्व का मतलब स्वरूपनिषेध से नहीं है, स्वरूप तो धर्मास्तिकाय आदि तत्वों का भी अवश्य होता है। अगर उनका कोई स्वरूप न हो तत्र तो वे अश्वशृङ्ग की तरह वस्तु ही सिद्ध न हों। यहाँ अरूपित्व के कथन से रूप—मूर्ति का निषेध करना है। रूप का अर्थ यहाँ मूर्ति है। रूप आदि सस्थान परिणाम को अथवा रूप, रस, गन्ध



और स्पर्श के समुदाय को मूर्ति कहते हैं। ऐसी मूर्ति का धर्मास्तित्वाद्य आदि चार तत्वों में समाव होता है। वही बात अस्पर्श पर से कही गई है। १।

रूप, मूर्तत्व मूर्ति से सभी शब्द समानाधिकार हैं। रूप, रस आदि को गुण इन्द्रियों से ग्रहण किये जा सकते हैं, वे इन्द्रियमात्र गुण ही मूर्ति कहे जाते हैं। पुद्गलों के गुण इन्द्रियमात्र हैं, इसलिये पुद्गल ही मूर्त—स्वी हैं। पुद्गल के सिवा अन्य कोई द्रव्य मूर्त नहीं है; क्योंकि वे इन्द्रियों से पर्योक्त नहीं होते। अतएव क्वचित् यह पुद्गल ही निज धर्मास्तित्वाद्य आदि चार तत्वों का वैकर्म्य है।

यद्यपि अतीन्द्रिय होने से परमाणु आदि अनेक सूक्ष्म द्रव्य और उनके गुण इन्द्रियमात्र नहीं हैं तथापि विशिष्ट परिचायकत्व व्यवस्था विचार में वे ही इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने की योग्यता रखते हैं; इसी कारण वे अतीन्द्रिय होते हुए भी स्वी—मूर्त ही हैं। अस्वी कहे जाने वाले धर्मास्तित्वाद्य आदि चार द्रव्य तो इन्द्रिय के किये करने की योग्यता ही नहीं रखते। अतीन्द्रिय पुद्गल और अतीन्द्रिय धर्मास्तित्वाद्यादि इन्हीं में वही अन्तर है। २।

उक्त चार द्रव्यों में से अधिकांश पदार्थ के तीन इन्द्र अर्थात् धर्म-स्तित्वाद्य धर्मास्तित्वाद्य और आध्यात्मिकत्वाद्य एक एक व्यक्ति रूप हैं। इनकी ही या दो में अधिक व्यक्तिगण नहीं हैं।

इसी तरह वे त्रिणों ही निश्चित—विशेषित हैं। एक व्यक्तिगण और निश्चितत्व से दोनों उक्त त्रिणों द्रव्यों का नापसर्ग और जीवास्तित्वाद्य तथा पुद्गलास्तित्वाद्य का वैकर्म्य है। जीव और पुद्गल रस की अनेक व्यक्तियों हैं और वे विशिष्टता भी हैं। जैनदत्तान् वेदान्त की तरह आत्म-द्रव्य को एक व्यापकत्व नहीं मानता और नापसर्ग वैशिष्टिक आदि सभी दे; देह रसों की तरह उन्हे निश्चित भी नहीं मानता।

प्र०—जैनमत के अनुसार सभी द्रव्यों में पर्यायपरिणमन—उत्पाद, व्यय माना जाता है। यह परिणमन क्रियाशील द्रव्यों में हो सकता है। घर्मास्तिकाय आदि तीन द्रव्यों को अगर निष्क्रिय माना जाय तो उनमें पर्यायपरिणमन कैसे घट सकेगा ?

उ०—यहाँ निष्क्रियत्व से गतिक्रिया का निषेध किया गया है, क्रियामात्र का नहीं। जैनमत के अनुसार निष्क्रिय द्रव्य का मतलब 'गति-शून्य द्रव्य' इतना ही है। गतिशून्य घर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में भी सदृशपरिणमन रूप क्रिया जैनदर्शन मानता ही है। ५, ६।

प्रदेशों की संख्या का विचार—

असह्येयाः प्रदेशा घर्माधर्मयोः । ७।

जीवस्य च । ८।

आकाशस्यानन्ताः । ९।

सह्येयाऽसह्येयाश्च पुद्गलानाम् । १०।

नाणो । ११।

धर्म और अधर्म के प्रदेश असंख्यात हैं।

एक जीव के प्रदेश असंख्यात हैं।

आकाश के प्रदेश अनन्त हैं।

पुद्गलद्रव्य के प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनन्त होते हैं।

अणु—परमाणु के प्रदेश नहीं होते।

धर्म, अधर्म आदि चार अजीव और जीव इन पाँच द्रव्यों को काल कहकर पहले यह सूचित किया है कि पाँच द्रव्य अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशप्रचय रूप हैं; परन्तु उनके प्रदेशों की विशेष संख्या पहले नहीं बतलाई है, वही संख्या यहाँ बतलाई जाती है।

धर्माधिकार्य और अधर्माधिकार्य—प्रत्येक द्रव्य के प्रदेश अंत  
 स्थात है। प्रदेश का मतलब एक ऐसे सूक्ष्म अंश से है, जिसके द्वारा  
 अणु की कल्पना बुद्धि से भी नहीं की जा सकती। ऐसे अनिमात्म सूक्ष्म  
 को निरंश अंश भी कहते हैं। धर्म, अधर्म ये दो द्रव्य एक एक व्यक्ति  
 रूप हैं और उनके प्रदेश—अधिभाष्य अंश अंतस्थात-अंतस्थात हैं। इस  
 कथन से प्रकृत यह हुआ कि उस बौनों द्रव्य एक ऐसे अलंब स्वरूप  
 है जिसके अंतस्थात अधिभाष्य सूक्ष्म अणु सिर्फ बुद्धि से कल्पित किये जा  
 सकते हैं, वे बस्तुभूत स्वरूप से असंग नहीं किये जा सकते।

अधर्माधिकार्य स्थिति का से अनन्त है। प्रत्येक अधिभाष्य एक अलंब  
 बस्तु है जो धर्माधिकार्य की तरह अंतस्थात प्रदेश-परिमाण है।

अधिकांश द्रव्य अल्प मात्रा द्रव्यों से बसा स्वरूप है क्योंकि वह अनन्त  
 प्रदेशपरिमाण है।

पुद्गलद्रव्य के स्वरूप धर्म, अधर्म आदि द्वारा चार द्रव्योंकी तरह  
 नियत रूप नहीं है; क्योंकि कोई पुद्गल स्वरूप लक्षणात प्रदेशों का होता  
 है कोई अंतस्थात प्रदेशों का, कोई अनेक प्रदेशों का, और कोई  
 अनन्तानन्त प्रदेशों का भी होता है।

पुद्गल और चार द्रव्यों के बीच इतना अंतर है कि—पुद्गल के  
 प्रदेश अपने स्वरूप से अलग-अलग हो सकते हैं, पर अन्य चार द्रव्यों  
 के प्रदेश अपने-अपने स्वरूप से अलग नहीं हो सकते; क्योंकि पुद्गल से  
 भिन्न चारों द्रव्य अमूर्त हैं, और अमूर्त का स्वरूप स्थिर म होने का  
 है। पुद्गलद्रव्य मूर्त है मूर्त के लंब हो भी सकते हैं क्योंकि लंबेय और  
 विषेय के हाथ मिलने की तथा अलग होने की शक्ति मूर्तद्रव्य में होती  
 जाती है। इसी कारण के कारण पुद्गलद्रव्य के लंबे बड़े लम्बी अंशों  
 की लक्षण कहते हैं।

यद्यपि परमाणु भी पुद्गल होने के कारण मूर्त है, तथापि उसका विभाग नहीं हो सकता, क्योंकि वह आकाश के प्रदेश की तरह पुद्गल का छोटे से छोटा अंश है। परमाणु का ही परिमाण सबसे छोटा परिमाण है, इसी से वह भी अविभाज्य अंश है।

यहाँ जो परमाणु के खड्ग—अंश न होना कहा जाता है, वह द्रव्य व्यक्ति रूप से है, पर्याय रूप से नहीं। पर्याय रूप से तो उसके भी अंशों की कल्पना की गई है; क्योंकि एक ही परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस आदि अनेक पर्याय हैं, वे सभी उस द्रव्य के भाव रूप अंश ही हैं। इसलिए एक परमाणु के भी भावपरमाणु अनेक माने जाते हैं।

प्र०—धर्म आदि के प्रदेश और पुद्गल के परमाणु के बीच क्या अन्तर है ?

उ०—परमाणु की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। जितने क्षेत्र में परमाणु रह सकता है, उतने भाग को प्रदेश कहते हैं। परमाणु अविभाज्य अंश होने से उनके समाने लायक क्षेत्र भी अविभाज्य ही होगा। अतएव परमाणु और तत्परिमित प्रदेशसंज्ञक क्षेत्र दोनों ही परिमाण की दृष्टि से समान हैं, तो भी उनके बीच यह अन्तर है कि परमाणु अपने अशीभूत स्कन्ध से अलग हो सकता है, पर धर्म आदि द्रव्यों के प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग नहीं हो सकते।

प्र०—नववें सूत्र में 'अनन्त' पद है, इससे पुद्गलद्रव्य के अनेक अनन्त प्रदेश होने का अर्थ तो निकल सकता है, पर अनन्तानन्त प्रदेश होने का जो अर्थ ऊपर निकाला है सो किस पद से ?

उ०—अनन्तपद सामान्य है, वह सब प्रकार की अनन्त संख्याओं का बोध करा सकता है। इसलिए उसी पद से अनन्तानन्त अर्थ का लाभ

द्रव्यों के स्थितिधेय का विचार—

लोकाकाशेषवगाहः । १२ ।

धर्माधर्मयो कृत्स्ने । १३ ।

एकप्रदेशादिषु मान्य पुद्गलानाम् । १४ ।

असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् । १५ ।

प्रदेशसहागविसर्गोभ्यां प्रदीपवत् । १६ ।

आशेष— उदरनेवाके द्रव्यों की स्थिति लोकाकाश में ही है ।

धर्म और अधर्म द्रव्यों की स्थिति समस्त लोकाकाश में है ।

पुद्गलद्रव्यों की स्थिति लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प

से अर्थात् अनिश्चितरूप से है ।

जीवों की स्थिति लोक के अंतर्ब्रह्मणो मय आदि में होती है ।

क्योंकि प्रदीप की तरह उनके प्रदेशों का संक्षोभ और विस्तार

होता है ।

अतः पौंच अस्तित्वमय रूप है । इतस्तुत् प्रश्न होता है कि उन

पौंच अस्तित्वमयों का आधार— स्थितिधेय क्या है ? क्या उनका आधार

उनके अतिरिक्त और कोई द्रव्य है, अथवा उन पौंच में से ही कोई एक

द्रव्य बाकी के सब द्रव्यों का आधार है ? इस प्रश्न का उत्तर इस अमर

पर दिया गया है कि आकाश ही आधार है और बाकी के सब द्रव्य

आशेष हैं । यह उत्तर व्यवहारवृत्ति के समझना चाहिये, नियमवृत्ति से ता

सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ अर्थात् अपने अपने स्वरूप में स्थित हैं । कोई एक

द्रव्य दूसरे द्रव्य में तात्कालिक वृत्ति से नहीं रह सकता । यह प्रश्न ही लक्ष्यता

है कि जैसे धर्म आदि पौंच द्रव्यों का आधार व्यवहारवृत्ति से आधार माना

जाता है वैसे आकाश का आधार क्या है ? इसका उत्तर नहीं दे कि

आकाश का कोई ध्रुव आधार नहीं है, क्योंकि उसमें बड़े परिमाण वाला या उसके बराबर परिमाणवाला और कोई तत्त्व ही नहीं है। इसलिए व्यवहार या निश्चय दोनों दृष्टियों में आकाश स्वप्रतिष्ठ ही है। आकाश को इतर द्रव्यों का आधार कहने का कारण यह है कि आकाश उन द्रव्यों से महान् है।

आधेयभूत धर्म आदि चार द्रव्य भी समग्र आकाश में नहीं रहते। वे आकाश के अमुक्त परिमित भाग में ही स्थित हैं। जितने भाग में वे स्थित हैं, उतना आकाशभाग 'लोक' कहलाता है। लोक का अर्थ है पाँच अस्तिकाय। इस भाग के बाहर इर्द गिर्द चारों ओर अनन्त आकाश विद्यमान है। उसमें इतर द्रव्यों की स्थिति न होने के कारण वह भाग अलोकाकाश कहलाता है। यहाँ अस्तिकायों के आधारधेय संबन्ध का जो विचार है, वह लोकाकाश को ही लेकर समझना चाहिए।

धर्म और अधर्म ये दो अस्तिकाय ऐसे अखंड स्कन्धरूप हैं कि वे संपूर्ण लोकाकाश में ही स्थित हैं। इस बात को यों भी कह सकते हैं कि वस्तुतः अखंड आकाश के भी जो लोक और अलोक ऐसे दो भागों की कल्पना बुद्धि से की जाती है, वह धर्म, अधर्म द्रव्य संबन्ध से ही हैं। जहाँ उन द्रव्यों का संबन्ध न हो वह अलोक और जहाँ तक संबन्ध हो वह लोक जानना चाहिए।

पुद्गलद्रव्य का आधार सामान्यरूप से लोकाकाश ही नियत है, तथापि विशेष रूप से भिन्न भिन्न पुद्गलद्रव्य के आधारक्षेत्र के परिमाण में अन्तर होता है। पुद्गलद्रव्य धर्म, अधर्मद्रव्य की तरह एक व्यक्तिमात्र तो है ही नहीं, जिससे उसके एकरूप आधारक्षेत्र होने की संभावना की जा सके। भिन्न भिन्न व्यक्ति होते हुए भी पुद्गलों के परिमाण में विविधता है, एकरूपता नहीं है। इसीसे यहाँ उसके आधार का परिमाण अनेक रूप से—

मन्त्र का विषय = लक्षण मन्त्र है। और पुस्तक लक्षण के एक प्रयोग में मन्त्र की तरह ही प्रयोग में लाया है। इसी तरह और पुस्तक लक्षण के प्रयोग परीक्षा के बाध में भी लाया है। मन्त्र का वि-  
 श्वामयुक्त मन्त्र के प्रयोग की संख्या आदेशानुसार पुस्तक मन्त्र के प्रयोगों  
 की संख्या मन्त्र का एक बार ही लक्ष्य है, अधिक नहीं। अतएव  
 एक मन्त्र एक ही लक्षण प्रयोग में लिख गया है पर इतना एक  
 प्रयोग में ही टर सकता है और ही में न। इसी तरह टरनेपर संख्या  
 बढ़ने वाले मन्त्र, अतएव यावत् संख्यातानुसार एक प्रयोग ही  
 प्रयोग, तीन प्रयोग, यावत् संख्यात प्रयोग तीन में टर सकते हैं। संख्या-  
 तानुसार मन्त्र की स्थिति के लिए अर्थक्यात प्रयोग वाले मन्त्र की व्याख्या  
 नहीं करनी। अर्थक्यातानुसार एक प्रयोग में केवल अधिक से अधिक  
 मन्त्रे वाक्य की अर्थक्यात संख्या वाले प्रयोगों के मन्त्र में टर सकता है।  
 अन्त्यानुसार और अन्त्यान्त्यानुसार एक ही एक प्रयोग ही प्रयोग इत्यादि  
 कम से बढ़ते बढ़ते संख्यात प्रयोग और अन्त्यात प्रयोग वाले क्षेत्र में टर  
 सकते हैं उनकी स्थिति के लिए अन्त्यात प्रयोगात्मक क्षेत्र बस्ती नहीं है।  
 पुस्तकमन्त्र का सबसे बड़ा लक्षण शिष्टे अन्त्यात महालक्षण कहते हैं और जो  
 अन्त्यान्त्यात मन्त्रों का बना हुआ होता है वह भी अर्थक्यात प्रयोग  
 बाधकाकार्य में ही समा जाता है।

जैन दर्शन में भाष्य का परिमाण आकाश की तरह न तो व्यापक  
 है और न परमाणु की तरह अणु, किन्तु मध्यम परिमाण मन्त्र जाता

१. जो परमाणुओं के समान हुआ लक्षण-अन्त्यात लक्षण कहलाता है।  
 तीन परमाणुओं का लक्षण अन्त्यात। इसी तरह चार परमाणुओं का अन्त्यात,  
 संख्यात परमाणुओं का संख्यातानुसार, अर्थक्यात का अर्थक्यातानुसार, अन्त्यात  
 का अन्त्यातानुसार और अन्त्यान्त्यात परमाणु लक्षण  
 कहलाता है।

है। यद्यपि सब आत्माओं का मध्यम परिमाण प्रदेश सख्या की दृष्टि से समान है, तथापि लम्बाई, चौड़ाई आदि सबकी एकसी नहीं है। इसलिए प्रश्न होता है कि जीवद्रव्य का आधारक्षेत्र कमसे कम और अधिक से अधिक कितना माना जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि एक जीव का आधारक्षेत्र लोकाकाश के असख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश तक हो सकता है। यद्यपि लोकाकाश असख्यात प्रदेश परिमाण है, तथापि असख्यात सख्या के भी असख्यात प्रकार होने से लोकाकाश के ऐसे असख्यात भागों की कल्पना की जा सकती है, जो अगुलासंख्येय भाग परिमाण हों, इतना छोटा एक भाग भी असख्यात प्रदेशात्मक ही होता है। उस एक भाग में कोई एक जीव रह सकता है, उतने उतने दो भाग में भी रह सकता है। इसी तरह एक एक भाग बढ़ते बढ़ते आखिरकार सर्व लोक में भी एक जीव रह सकता है अर्थात् जीवद्रव्य का छोटे से छोटा आधारक्षेत्र अगुलासंख्येय भाग परिमाण का खंड होता है, जो समग्र लोकाकाश का एक असख्यातवाँ हिस्सा होता है। उसी जीव का कालान्तर में अथवा उसी समय जीवान्तर का कुछ बड़ा आधारक्षेत्र उक्त भाग से दूना भी पाया जाता है। इसी तरह उसी जीव का या जीवान्तर का आधारक्षेत्र उक्त भाग से तिगुना, चौगुना, पाँचगुना आदि क्रम से बढ़ते बढ़ते कभी असख्यातगुण अर्थात् सर्व लोकाकाश में हो सकता है। एक जीव का आधारक्षेत्र सर्व लोकाकाश तभी हो सकता है, जब वह जीव केवलिसमुद्धात की दशा में हो। जीव के परिमाण की न्यूनाधिकता के अनुसार उसके आधारक्षेत्र के परिमाण की जो न्यूनाधिकता ऊपर कही गई है, वह एक जीव की अपेक्षा से समझनी चाहिए। सर्व जीवराशि की अपेक्षा से तो जीवतत्त्व का आधारक्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश ही है।



अब प्रश्न यह होता है कि एक जीवद्रव्य के परिमाण में जो कमी  
 मेर से न्यूनाधिकता पार्श्व जाती है या तुल्य प्रवेश बाह्य निम्न-निम्न  
 के परिमाण में एक ही समय में जो न्यूनाधिकता देखी जाती है, उसका  
 कारण क्या है ? इसका उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि कार्मण्य  
 जो अनादि काल से जीव के साथ लगा हुआ है और जो अमर-मृत्यु  
 अनुभव के रूप में होता है उसके संरक्षण से एक ही जीव के परिमाण में  
 माना जीवों के परिमाण में विविधता आती है । कार्मण्य शरीर तथा  
 वा नहीं देता । उसके संरक्षण से जीवार्थिक आदि जो अमर शरीर  
 होते हैं वे भी कार्मण्य के अनुसार छोटे बड़े होते हैं । जीवद्रव्य कल  
 है तो अमूर्त पर वह शरीरसंरक्षण के कारण मूर्तत्व बन जाता है  
 इसलिए जब जब कितना कितना बड़ा शरीर उसे प्राप्त हो, तब तब उसे  
 परिमाण उतना ही हो जाता है ।

वर्मास्तिक्यादि द्रव्य की तरह जीवद्रव्य भी अमूर्त है फिर  
 का परिमाण नहीं बढ़ता बढ़ता और हटने का कार्य करता करता है ।  
 प्रश्न का उत्तर स्वभाव मेर के विषय और कुछ नहीं है ? जीव  
 का स्वभाव ही ऐसा है कि वह निमित्त मिश्रण पर प्रतीप की तरह संके  
 और विकास को प्राप्त करता है जैसे लूके आत्मघ्न में रत्ने हुए प्र  
 का प्रकाश अनेक परिमाण होता है पर उसे जब एक कोठरी में र  
 जाता है तब उसका प्रकाश कोठरी भर ही बन जाता है, फिर उठी को ।  
 एक कुंडे के नीचे रखा जाता है तब वह कुंडे के नीचे के भाग को  
 प्रकाशित करता है छोटे के नीचे रत्ने जगमे पर उसका प्रकाश उतना ही  
 जाता है । इन प्रकार प्रतीप की तरह जीवद्रव्य भी संकोच-विकसणशील ।  
 इसलिए वह जब जब कितने छोटे या बड़े शरीर को धारण करता है तब  
 शरीर के परिमाणानुसार उसके परिमाण में संकोच-विकास होता है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि जीव संकोचस्वभाव के कारण छोटा होता है तब वह लोकाकाश के प्रदेश रूप असंख्यातवें भाग से छोटे भाग में अर्थात् आकाश के एक प्रदेश पर या द्वा, चार, पाँच आदि प्रदेश पर क्यों समा नहीं सकता ? इसी तरह यदि उसका स्वभाव विकसित होने का है, तो वह विकास के द्वारा सम्पूर्ण लोकाकाश की तरह अलोकाकाश को भी व्याप्त क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर यह है कि संकोच की मर्यादा कर्मण शरीर पर निर्भर है, कर्मण शरीर तो कोई भी अगुलासंख्यात भाग से छोटा हो ही नहीं सकता; इसलिए जीवका संकोच कार्य भी वहाँ तक ही परिमित रहता है, विकास की मर्यादा लोकाकाश तक ही मानी गई है। इसके दो कारण बतलाए जा सकते हैं, पहला तो यह कि जीव के प्रदेश उतने ही हैं जितने लोकाकाश के। अधिक से अधिक विकास दशा में जीव का एक प्रदेश आकाश के एक ही प्रदेश को व्याप्त कर सकता है, दो या अधिक को नहीं; इसलिए सर्वोत्कृष्ट विकास दशा में भी वह लोकाकाश के बाहरी भाग को व्याप्त नहीं कर सकता। दूसरा कारण यह है कि विकास गतिकार्य है, और गति धर्मास्तिकाय के सिवा हो नहीं सकती, इस कारण लोकाकाश के बाहर जीव के फैलने का प्रसंग ही नहीं आता।

प्र०—असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में शरीरवारी अनन्त जीव कैसे समा सकते हैं ?

उ०—सूक्ष्मभाव में परिणत होने से निगोदशरीर से व्याप्त एक ही आकाशक्षेत्र में साधारणशरीरी अनन्त जीव एक साथ रहते हैं; और मनुष्य आदि के एक औदारिक शरीर के ऊपर तथा अन्दर अनेक सूक्ष्म जीवों की स्थिति देखी जाती है, इसलिए लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों का समावेश विरुद्ध नहीं है।

मद्यपि पुद्गल प्रथम अनन्तानन्त और मूर्त हैं तथापि लोकाकाश में उनके समा जाने का कारण यह है कि पुद्गलों में सूक्ष्मत्व रूप से परिणत होने की शक्ति है। जब ऐसा परिणमन होता है तब एक ही क्षेत्र में एक बड़े को व्यापार पहुँचाए बिना अनन्तानन्त परमाणु और अनन्तानन्त स्थल स्थान पा सकते हैं जैसे एक ही स्थान में हजारों कीपकों का प्रकाश व्यापार के बिना ही समा जाता है। पुद्गलप्रथम मूर्त होने पर भी व्यापार शक्ति तभी होता है, जब सूक्ष्म भाव में परिणत हो। सूक्ष्मत्वपरिणमन दृश्य में वह न किसी को व्यापार पहुँचाता है और न स्वयं ही किसी से व्यापार पाता है। १६-१६।

कार्ये ह्यस्य फलं, अथर्म और आकाश के लक्षणों का कथन—

✓ गतिस्थित्युपग्रहो घर्माघर्मायोस्पर्कारः । १७ ।

आकाशस्यावगाह । १८ ।

गति और स्थिति में निमित्त बनना यह अनुक्रम से घम और अथम प्रथमों का अर्थ है।

अवकाश में निमित्त जाना आकाश का कार्य है।

घर्म अथर्म और आकाश के तीनों अमूर्त होने से इन्द्रियगम्य नहीं हैं इससे इनकी तिदि लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकती। मद्यपि आमस प्रमाण से इनका अस्तित्व मान्य जाता है तथापि अग्रम-पौन्यक एतौ सुक्ति भी है जो ठक इन्द्रों के अस्तित्व को सिद्ध करती है। यह सुक्ति यह है कि—जगत में गतिशील और गतिपूर्वक स्थितियों

१. यद्यपि "गतिस्थित्युपग्रहो" ऐसा भी पाठ करी करी देना जाय है, तथापि अग्रम का होने न "गतिस्थित्युपग्रहो" यह पाठ अधिक भगत मान पट्या है। दिगम्बर परम्परा में यह "गतिस्थित्युपग्रही" ऐसा ही पाठ निर्दिष्ट है।

पदार्थ जीव और पुद्गल दो हैं। यद्यपि गति और स्थिति दोनों ही उक्त दो द्रव्यों के परिणाम व कार्य होने से उन्हीं से पैदा होते हैं, अर्थात् गति और स्थिति का उपादान कारण जीव और पुद्गल ही हैं, तथापि निमित्त कारण जो कार्य की उत्पत्ति में अवश्य अपेक्षित है, वह उपादान कारण से भिन्न होना ही चाहिए। इसीलिए जीव-पुद्गल की गति में निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय की और स्थिति में निमित्त रूप से अधर्मास्तिकाय की सिद्धि हो जाती है। इसी अभिप्राय से शास्त्र में धर्मास्तिकाय का लक्षण ही 'गतिशील पदार्थों की गति में निमित्त होना' बतलाया है और अधर्मास्तिकाय का लक्षण 'स्थिति में निमित्त होना' बतलाया गया है।

धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल ये चारो द्रव्य कहीं न कहीं स्थित हैं, अर्थात् आद्येय बनना या अवकाश लाभ करना उनका कार्य है। पर अपने में अवकाश—स्थान देना यह आकाश का कार्य है। इसीसे अवगाहप्रदान को आकाश का लक्षण माना गया है।

प्र०—साख्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों में आकाशद्रव्य तो माना गया है, पर धर्म, अधर्म द्रव्यों को और किसी ने नहीं माना, फिर जैनदर्शन ही उन्हें स्वीकार क्यों करता है ?

उ०—जड़ और चेतन द्रव्य जो दृश्यादृश्य विश्व के खास अंग हैं, उनकी गतिशीलता तो अनुभव सिद्ध है। अगर कोई नियामक तत्त्व न हो तो वे द्रव्य अपनी सहज गतिशीलता के कारण अनन्त आकाश में कहीं भी चले जा सकते हैं। यदि वे सचमुच अनन्त आकाश में चले ही जायें तो इस दृश्यादृश्य विश्व का नियत सस्यान जो सदा सामान्य रूप से एकसा नजर आता है वह किसी भी तरह घट नहीं सकेगा, क्योंकि अनन्त पुद्गल और अनन्त जीव व्यक्तियों भी अनन्त परिमाण विरचृत आकाश क्षेत्र में बेरोकटोक संचार होने से ऐसे पृथक् हो जायेंगी, जिनका पुनः

मिथ्या और नियतसृष्टि रूप से नजर आना असम्भव नहीं तो कुतूहल  
भवस्य हो व्यवसाय । यही कारण है कि गतिघीस उक्त इष्टों की स्थितिबोध  
का नियन्त्रित करने वाले तत्त्व को जैन दर्शन स्वीकार करता है । यह  
तत्त्व पर्याप्तिक्रम कहलाता है । गतिमर्शादा के नियामक रूप से उक्त  
तत्त्व को स्वीकार कर केने पर तुल्य मुक्ति से स्थितिमर्शादा के नियामक रू  
से व्यभिचिस्विक्रम तत्त्व को भी जैन दर्शन स्वीकार कर ही लेता है ।

पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार को दिग्द्वय का कार्य माना जात  
है उक्तरी उपपत्ति आकाश के द्वारा हो सकने के कारण दिग्द्वय के  
आकाश से अलग मानने की आवश्यक नहीं । पर धर्म, अवम इष्टों के  
कार्य आकाश से सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि आकाश को गति और  
स्थिति का नियामक मानने से वह अन्तर्गत और अस्तित्व होने के कारण  
कह तथा चेतन इष्टों को अपने में सर्वत्र यति व स्थिति करने से उक्त  
नहीं सकता और ऐसा होने से नियत इत्यादिस्य विषय के संत्पान की अत्र  
वपत्ति बनी ही रहेगी । इसलिए धर्म, अवम इष्टों को आकाश से अलग  
स्वतन्त्र मानना आवश्यक है । जब वह और चेतन गतिघीस हैं, तो  
अर्थात् आकाशकेव में उनकी यति, नियामक के बिना ही अपने स्वभाव  
से नहीं मानी जा सकती। इसलिए धर्म, अवम इष्टों का अस्तित्व मुक्ति  
सिद्ध है । १७ १८ ।

कार्ये इत्यु पुत्रस्य का अर्थ—

शरीरमाश्चन प्राणापाना पुद्गलानाम् । १० ।

मुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाथ । २० ।

शरीर बाणी, मन निःपात और उच्छ्वस के पुद्गलों के उपधर-

तथा सुख, दुःख, जीवन और मरण ये भी पुद्गलों के उपकार हैं ।

अनेक पौद्गलिक कार्यों में से कुछ कार्य यहाँ ब्रतलाए हैं, जो जीवों पर अनुग्रह या निग्रह करते हैं । औदारिक आदि सब शरीर पौद्गलिक ही है अर्थात् पुद्गल से ही बने हैं । यद्यपि कार्मण शरीर अतीन्द्रिय है, तथापि वह दूसरे औदारिक आदि मूर्त द्रव्य के सन्नन्ध से सुखदुःखादि विपाक देता है, जैसे जलादि के सन्नन्ध से धान । इसलिए उसे भी पौद्गलिक ही समझना चाहिए ।

दो प्रकार की भाषा में से भावभाषा तो वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से तथा अगोपाग नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली एक विशिष्ट शक्ति है, जो पुद्गल सापेक्ष होने से पौद्गलिक है, और ऐसे शक्तिवाले आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर वचनरूप में परिणत होने वाली भाषावर्गणा के स्कन्ध ही द्रव्यभाषा है ।

लब्धि तथा उपयोग रूप भावमन पुद्गलावलम्बी होने से पौद्गलिक है । ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और अगोपाग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के जो स्कन्ध गुणदोषविवेचन, स्मरण आदि कार्यों में अभिमुख आत्मा के अनुग्राहक अर्थात् उसके सामर्थ्य के उच्चेजक होते हैं वे द्रव्यमन हैं । इसी प्रकार आत्मा के द्वारा उदर से बाहर निकाला जाने वाला निश्वासवायु—प्राण और उदर के भीतर पहुँचाया जाने वाला उच्छ्वासवायु—अपान ये दोनों पौद्गलिक हैं, और जीवनप्रद होने से आत्मा के अनुग्रहकारी हैं ।

भाषा, मन, प्राण और अपान इन सबका व्याघात और अभिभव देखा जाता है । इसलिए वे शरीर की तरह पौद्गलिक ही हैं ।

जीव का प्रीतिरूप परिणाम सुख है, जो सातावेदनीय कर्म रूप अन्तरंग कारण और द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य कारण से उत्पन्न होता है ।

परिष्ठाप ही हुआ है श्री महात्मावेदजीय कर्म रूप अन्तरंग अरु अन्त-  
रम्य आदि बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है ।

अनुक्रम के उद्भव से देहपापी जीव के प्राण और अपान का कार्य  
रहना जीवित है और प्राणानान का उच्छेद होना मरण है । ये सब सुख-  
दुःख आदि पर्वीय जीवों में पुत्रकों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं । इसलिए  
वे जीवों के प्रति पौत्रस्तिक उपकार माने गए हैं । १९, २ ।

कार्य द्वारा जीव का उत्पन्न—

परस्परौपग्रहो जीवानाम् । २१ ।

परस्पर के क्रय में निमित्त होना—यह जीवों का उपकार है ।

इस सूत्र में जीवों के पारस्परिक उपकार का वर्णन है । एक अक्ष-  
रित वा अक्षरित के उपदेश द्वारा बृजने जीव का उपकार करता है ।  
माष्टिक पैदा हैकर भीकर पर उपकार करता है और नीकर रित पर  
अक्षरित की शय कर माष्टिक पर उपकार करता है । आचार्य तत्कर्म  
का उपदेश करते उनके अनुग्रह द्वारा शिष्य का उपकार करता है और  
शिष्य अनुग्रह प्रदायि द्वारा आचार्य का उपकार करता है । २१ ।

कार्य द्वारा काल का उत्पन्न—

वर्चना परिष्ठाप क्रिया परस्त्रापरत्वे च कालम् । २२ ।

वर्चना परिष्ठाप क्रिया और परस्पर-अपरत्वे में काल के उपकार हैं ।

काल की स्वतन्त्र रूप मानकर वहाँ उनके उपकार कलाए गए हैं ।  
अने अने पर्वीय की उत्पत्ति में स्वयमेव प्रवर्तमान चर्म आदि शब्दों की  
निमित्तकृप से प्रेरणा करना पर वर्चना करव्यती है । स्वतन्त्र वा स्वाम  
दिए बिना होने वाला रूप का अन्तर्गत रूप वर्चन, जो पूर्वावस्था के

निवृत्ति और उत्तरावस्था की उत्पत्तिरूप है, उसे परिणाम समझना चाहिए। ऐसा परिणाम जीव में ज्ञानादि तथा क्रोधादि, पुद्गल में नील, पीत वर्णादि और धर्मास्तिकाय आदि शेष द्रव्यों में अगुरुलघु गुण की हानि-वृद्धि रूप है। गति-परिस्पन्द ही क्रिया है। ज्येष्ठत्व परत्व है और कनिष्ठत्व अपरत्व है। यद्यपि वर्तना आदि कार्य यथासम्भव धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के ही हैं, तथापि काल सब का निमित्त कारण होने से यहाँ वे काल के उपकार रूप से वर्णन किए गए हैं। २२।

पुद्गल के असाधारण पर्याय—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । २३ ।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायाऽऽ-  
तपोद्द्योतवन्तश्च । २४ ।

पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले होते हैं।

तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, सस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत वाले भी हैं।

बौद्ध लोग पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव के अर्थ में करते हैं, तथा वैशेषिक आदि दर्शनों में पृथिवी आदि मूर्त द्रव्यों को समान रूप से स्पर्श, रस आदि चतुर्गुण युक्त नहीं माना है, किन्तु पृथिवी को चतुर्गुण, जल को

१ अगुरुलघु शब्द जैन परम्परा में तीन स्थलों पर भिन्न भिन्न अर्थों में व्यवहृत है—

(१) आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि जो आठ गुण आठ कर्म से आन्वार्य-आवरण योग्य—माने गये हैं, उनमें एक अगुरुलघुत्व नामक आत्मगुण है, जो गोत्रकर्म से आन्वार्य है। गोत्रकर्म का कार्य जीवन में उच्च



गण्य रहित त्रिगुण क्षेत्र को गण्य-रस रहित द्विगुण और वायु को गण्य स्पर्शगुण वाक्य मान्य है। इसी तरह उन्होंने मममें स्पर्श आदि चारों गुण नहीं माने हैं। इसलिए उन बौद्ध आदि से मतभेद दिखाना प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है। इस सूत्र से यह सूचित किया जाता है कि क्षेत्र दर्शन में जीव और पुद्गल तत्त्व भिन्न हैं। अतः पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव तत्त्व के लिए नहीं होता। इसी तरह पृथिवी, जल, तेज और वायु के

से, बेश ले, कपूरंग से और वृक्षों से और अनेक निमित्तों से उच्च या नीच रूप से व्यभिक्त होते हैं। परंतु सब आत्मार्थ समान हैं, उनमें न तो कोई उच्च है और न कोई नीच। इस प्रकार शक्ति और योग्यतामूलक जो साम्य है उक्त साम्य को स्थिर रखनेवाला जो सहस्रगुण या शक्ति है वह अगुण्यत्व कहलाता है।

(२) अगुण्यत्व नाम इस प्रकार का एक कर्म है जो छोटे नामकर्म के प्रकर्मों में आता है; उक्तका कृत्य आगे नामकर्म की चर्चा के समय बताया है वह वहीं से देखना चाहिए।

(३) पहले नेत्र पर जो अगुण्यत्व की व्याख्या की गई है वह अगुण्यत्व केवल आत्मगत है, जब कि प्रस्तुत अगुण्यत्व गुण सभी जीव अर्थात् ब्रह्मों को व्याप्त होता है। यदि ब्रह्म स्वतः परिममन्वीकृत हो तो किसी समय भी ऐसा क्यों नहीं होता कि वह ब्रह्म अन्य ब्रह्म रूप में भी परिणाम को प्राप्त करे? इसी प्रकार ऐसा प्रश्न भी होता है कि एक ब्रह्म में ही हुई भिन्न भिन्न शक्तियों अर्थात् गुण अपने अपने परिणाम उत्पन्न करते ही पते हैं तो कोई एक शक्ति अपने परिणाम की नियतता की सीमा से बाहर बाहर अन्य शक्ति के परिणाम क्यों नहीं पैदा करती? इसी प्रकार ऐसा प्रश्न भी होता है कि एक ब्रह्म में जो अनेक शक्तियाँ स्वीकृत की गई हैं वे अपना नियत सञ्चरण छोड़कर विचर क्यों नहीं जाती? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर अगुण्यत्वगुण से दिया जाता है। यह गुण सभी ब्रह्मों में निरन्तर पर मौजूद है जिससे एक ही ब्रह्म ब्रह्मरूप नहीं होता,

सभी पुद्गल रूप से समान हैं; अर्थात् वे सभी स्पर्श आदि चतुर्गुण युक्त हैं। तथा जैन दर्शन में मन भी पौद्गलिक होने के कारण स्पर्श आदि गुणवाला ही है। स्पर्श आठ प्रकार का माना जाता है, जैसे—कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध—चिम्ना और स्थ—रसा। रस के पाँच प्रकार हैं तिक्त—कटुघा, कटुक—चरपरा, कषाय—कसैला, खट्टा और मीठा। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध हैं। वर्ण पाँच हैं—काला, नीला—हरा, लाल, पीला और सफेद। उक्त प्रकार से स्पर्श आदि के कुल बीस भेद होते हैं; पर इनमें से प्रत्येक के मरुयात, असरुयात और अनन्त भेद तारतम्य भाव से पाये जाते हैं। जो जो वस्तु मृदु होती है, उस सब के मृदुत्व में कुछ न कुछ तारतम्य पाया जाता है। इस कारण सामान्य रूप से मृदुत्व स्पर्श एक होने पर भी उसके तारतम्य के अनुसार सरुयात,

एक भी गुण गुणान्तर का कार्य नहीं करता और नियत सहभावी परस्पर अलग नहीं होते।

ग्रन्थों के सुस्पष्ट आधार के अतिरिक्त भी मैंने अगुरुलघु गुण की अतिम व्याख्या का विचार किया। मैं इसका सवाद ढूँढ रहा था। मुझसे जब कोई प्रच्छता तब यह व्याख्या कहता परंतु सवाद प्राप्त करने की जिज्ञासा तो रहती ही थी। प्रस्तुत टिप्पण लिखने का समय आया तब एकाएक स्व० पांडित गोपालदासजी बरैया की 'श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' पुस्तिका मिल गई। इसमें श्रीयुत बरैयाजीने भी ऐसा ही विचार दर्साया है। इसलिए इतने अंश में मेरे इस विचार को सवाद प्राप्त हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। अतएव मैं इस स्थल पर उल्लेख करता हूँ। विशिष्ट अभ्यासी अधिक अन्वेषण करें। प० बरैयाजी जैन तत्त्वज्ञान के असाधारण ज्ञाता थे।

ऊपर जिस अगुरुलघुगुण को मानने के लिए जो दलील दी गई है, लगभग उसके जैसी ही एक दलील जैन परम्परा में माने गए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय का समर्थन करते समय दी जाती है। वह तुलनात्मक दृष्टि से जानने योग्य है। जड़ और चेतन गतिशील होने के कारण आकाश में

अलक्ष्यता और अमग्न तक मेद पाये जाते हैं। यही बात कठिन भावि  
अन्य स्पर्श तथा रस आदि अन्य पदार्थों के विषय में भी समझनी चाहिए

शब्द श्रेय गुण नहीं है, बस कि वैशेषिक वैशेषिक भावि  
मानते हैं। यह मायावर्णना के पुत्रों का एक प्रकार का विधि  
परिचय है। निमित्त मेद से उसके अनेक मेद किए जाते हैं। जो शब्द  
आत्मा के प्रकृत से उत्पन्न होता है वह प्रयोग्य, और जो किसी के प्रकृत से  
बिना ही उत्पन्न होता है वह वैशेषिक है। वाक्यों की गर्जना वैशेषिक  
है। प्रयोग्य शब्द के छह प्रकार बतलाए गए हैं। वे हैं १ मन्वा-  
न्मुख्य आदि की व्यक्त और पद्य पद्य आदि की अव्यक्त ऐसी अनेकविध  
मन्वादि। २ तत्-अमग्न स्पेरे हुए वाक्यों का अर्थात् मूर्द्धा पद आदि

आदि जहाँ जैसे नहीं जाँचें इसके लिए उक्त दोनों का निवामक रूप से मान  
गए हैं और कहा गया है कि इनके कारण गतिस्थिति इत्थं की गतिस्थिति  
अलक्ष्यता अतिनी मर्यादित रहती है। अतः प्रकार से दोनों का निवामक  
के निवामक रूप से माने गए हैं उसी प्रकार अगुस्तु गुण के विषय में  
समझना चाहिए।

गतिस्थिति की मर्यादा के लिए गतिस्थितिक पदार्थों का स्वभाव ही  
माना जाय या आकाश का ऐसा सम्भाव माना जाय और उक्त दोनों कार्यों  
की भी मानें तो क्या असंभव है? ऐसा प्रश्न होना सहज है। परन्तु यह  
विषय अज्ञान का होने के कारण इसमें केवल निश्चय का समर्थन करना  
पड़ता है। यह विषय हेतुवाद या तर्कवाद का नहीं है कि कितने केवल तर्क  
के बल से इन कार्यों का स्वीकार या अस्वीकार किया जाय। अगुस्तु-गुण  
के समर्थन के बारे में भी मुख्यरूप से अज्ञानवाद का ही आशय किया चाहिए।  
हेतुवाद अज्ञान में अज्ञानवाद की पक्ष के लिए ही है ऐसा स्वीकार किया

का शब्द । ३. वितत—तार वाले वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द ।  
 ४ घन—झालर, घट आदि का शब्द । ५. शुषिर—फूँक कर बजाये जाने  
 वाले शर, बसी आदि का शब्द । ६ सघर्ष—लकड़ी आदि के सर्षर्षण में  
 होनेवाला शब्द ।

परस्पर आश्लेष रूप बन्ध के भी प्रायोगिक, वैज्ञानिक ऐसे दो भेद  
 हैं । जीव और शरीर का संबन्ध तथा लाख और लकड़ी का संबन्ध प्रयत्न  
 सापेक्ष होने से प्रायोगिक बन्ध है । त्रिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का  
 प्रयत्न निरपेक्ष पौद्गलिक आश्लेष वैज्ञानिक-बन्ध है ।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के अन्त्य तथा आपेक्षिक ऐसे दो दो भेद हैं ।  
 जो सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व दोनों एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से घट न  
 सकें वे अन्त्य और जो घट सकें वे आपेक्षिक । परमाणुओं का सूक्ष्मत्व  
 और जगद् व्यापी महास्कन्ध का स्थूलत्व अन्त्य है, क्योंकि अन्य पुद्गल की  
 अपेक्षा परमाणुओं में स्थूलत्व और महास्कन्ध में सूक्ष्मत्व घट नहीं सकता ।  
 ह्यणुक आदि मध्यवर्ती स्कन्धों का सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व दोनों आपेक्षिक हैं;  
 जैसे आँवले का सूक्ष्मत्व और बिल्व का स्थूलत्व । आँवला बिल्व की  
 अपेक्षा छोटा होने के कारण उससे सूक्ष्म है और बिल्व आँवले से स्थूल है ।  
 परन्तु वही आँवला बेर की अपेक्षा स्थूल भी है और वही बिल्व कूष्माण्ड  
 की अपेक्षा सूक्ष्म भी है । इस तरह जैसे आपेक्षिक होने से एक ही वस्तु  
 में सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व दोनों विरुद्ध पर्याय पायी जा सकती हैं, वैसे अन्त्य-  
 सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व एक वस्तु में पाये नहीं जा सकते ।

सस्थान दृश्यत्वरूप, अनित्यत्वरूप से दो प्रकार का है । जिसका  
 आकार की किसी के साथ तुलना की जा सके—वह दृश्यत्वरूप, और जिसकी  
 तुलना न की जा सके वह अनित्यत्वरूप है । मेघ आदि का सस्थान-  
 रचना विशेष अनित्यत्वरूप है । क्योंकि तद्विगत रूप होने से

प्रकार से उसका निरूपण किया नहीं जा सकता, और अन्य पदार्थों का संस्थान इत्येवमस्म है; जैसे तैल, सिपाहा आदि का। गोल त्रिकोण चतुष्कोण, सीप, परिमण्डल—वक्रमाकार आदि रूप से इत्येवमस्म संस्थान के अनेक भेद हैं।

एकरा अर्थात् स्फुट रूप में परिष्कृत पुत्रसपिण्ड का विस्तेप-विम्वय होना भेद है। इसके पाँच प्रकार हैं : १ औत्सरिक—बीर मा जोड़े जाने पर होने वाली छकड़ी पत्थर आदि का भेदम्। २ चौर्दिक—कप कप रूप से सूँठ हो जाना जैसे—जो आदि का सत्तू आटा इत्यादि। ३ लघु—टुकड़े टुकड़े हो कर टूट जाना जैसे—बड़े का कपालादि। ४ प्रतर—पहलें निकलसना, जैसे—अन्नक भोज्यव आदि में। ५ अनुत्त—छाक निकलना जैसे—बॉल, ढल आदि की।

उम अन्वकार की कहते हैं; जो देखने में बकाबट जालने वाला प्रकार का दिरोपी एक परिणाम विधेय है।

ऊचा प्रकाश के ऊपर आनरण आ जाने से होती है। इसके दो प्रकार हैं—आहने आदि स्वच्छ पदार्थों में जो मुख का दिग्ग पड़ता है, बिजमें मुख का वर्ण आकार आदि क्कों का रंगों देखा जाता है वह वर्णादि विचर परिणामरूप ऊचा है और अन्य अस्वच्छ प्रथों पर जो मात्र प्रतिबिम्ब (परछाई) पड़ता है वह प्रतिबिम्बस्म ऊचा है।

सर्ष आदि का ठण प्रकाश आतप और चन्द्र मणि, लघोत्त आदि का अनुष्ण प्रकाश उचोत है।

सर्ष आदि तथा चम्प आदि उपर्युक्त सभी पदार्थ पुत्रक के ही रूप होने से पौष्टिक पर्याय माने जाते हैं।

तेईतबे और बीबीतबे रूप की असम करके यह सूचित किया है कि सर्ष आदि पदार्थ परमाणु और स्वच्छ दोनों में पाये जाते हैं, परन्तु

शब्द बन्ध आदि पर्याय सिर्फ स्फुन्ध में पाये जाते हैं। यद्यपि सूक्ष्मतरु परमाणु और स्फुन्ध दोनों का पर्याय है, तथापि उसका परिगणन स्पर्श आदि के साथ न करके शब्द आदि के साथ किया है, वह भी प्रतिपत्ती स्थूलव पर्याय के साथ उसके कथन का औचित्य समझ करके ही। २२, २४।

### पुद्गल के मुख्य प्रकार—

अणवः स्फुन्धाश्च । २५ ।

पुद्गल परमाणुरूप और स्फुन्धरूप हैं।

व्यक्तिरूप से पुद्गलद्रव्य अनन्त हैं, और उनकी विविधता भी अपरिमित है, तथापि अगले दो सूत्रों में पौद्गलिक परिणाम की उत्पत्ति के भिन्न भिन्न कारण दिखाने के लिए यहाँ तदुपयोगी परमाणु और स्फुन्ध—ये दो प्रकार संक्षेप में बतलाए गए हैं। सम्पूर्ण पुद्गलत्राशि इन दो प्रकारों में समा जाती है।

जो पुद्गलद्रव्य कारणरूप है, कार्यरूप नहीं है, वह अन्त्य द्रव्य कहलाता है। ऐसा द्रव्य परमाणु है, जो नित्य है, सूक्ष्म है और किसी एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श से युक्त है। ऐसे परमाणु-द्रव्य का ज्ञान इन्द्रियों से तो हो नहीं सकता। उसका ज्ञान आगम या अनुमान से साध्य है। परमाणु का अनुमान कार्यहेतु से माना गया है। जो जो पौद्गलिक कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब सकारण हैं। इसी तरह जो अदृश्य अतिम कार्य होगा, उसका भी कारण होना चाहिए; वही कारण परमाणुद्रव्य है। उसका कारण और कोई द्रव्य न होने से उसे अतिम कारण कहा है। परमाणुद्रव्य का कोई विभाग नहीं है और न हो सकता है। इसलिए उसका आदि, उसका मध्य और उसका अन्त वह आप ही है। परमाणुद्रव्य अत्रद्व—असमुदाय रूप होते हैं।

पुत्रस्यस्य का द्वारा प्रकार स्वरूप है। स्वरूप सभी ब्रह्मसमुत्पत्तियों होते हैं, और वे होने के कारणस्वरूप की अपेक्षा से वायव्य रूप तथा अपन कायस्वरूप की अपेक्षा से कारणस्वरूप रूप हैं। जैसे विप्रदेश आदि स्वरूप के परमाणु आदि के कार्य हैं और विप्रदेश आदि के कारण भी हैं। २५।

अनुष्ठान से स्वरूप और अणु की उत्पत्ति के कारण—

सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते । २६ ।

भेदादणु । २७ ।

संघात से, भेद से और संघात-भेद दोनों से स्वरूप उत्पन्न होते हैं। अणु भेद से ही उत्पन्न होता है।

स्वरूप—अवयवी ब्रह्म की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। कोर

स्वरूप संघात—एकत्वपरिणति से उत्पन्न होता है कोर भेद से जन्य है और कोर एक साथ भेद-संघात दोनों निमित्तों से होता है। जब अस्मा अस्मा स्थित ही परमाणुओं के मिलने पर विप्रदेशिक स्वरूप होता है तब वह संघातजन्य कहलता है। इसी तरह तीन बार संघात अन्तःसत्, अनन्त वाक् अन्तःस्थ परमाणुओं के मिलने मात्र से विप्रदेश चतुःश्रेय संघातप्रदेश अन्तःस्थप्रदेश अन्तःस्थ वाक् अन्तःस्थ प्रदेश तक स्वरूप बनते हैं। वे सभी संघातजन्य हैं। किसी बड़े स्वरूप के होने मात्र से जो छोटे छोटे स्वरूप होते हैं वे भेदजन्य हैं। वे भी विप्रदेश से लेकर वाक् अन्तःस्थ प्रदेश तक हो सकते हैं। जब किसी एक स्वरूप के होने पर उसके अवयव के साथ उसी समय द्वारा कोर प्रकृति मिल जाने से तथा स्वरूप बनता है तब वह स्वरूप भेद-संघातजन्य है। ऐसे स्वरूप भी विप्रदेश से लेकर अन्तःस्थ प्रदेश तक हो सकते हैं। वे जो अधिक प्रदेश वाले स्वरूपों के लिए यह बात समझनी चाहिए कि तीन

चार आदि अलग अलग परमाणुओं के मिलने से भी त्रिप्रदेश, चतुष्प्रदेश आदि स्कन्ध होते हैं, और द्विप्रदेश स्कन्ध के साथ एक परमाणु मिलने से त्रिप्रदेश तथा द्विप्रदेश या त्रिप्रदेश स्कन्ध के साथ अनुक्रम से दो या एक परमाणु मिलने से भी चतुष्प्रदेश स्कन्ध बन सकता है ।

अणुद्रव्य किसी द्रव्य का कार्य नहीं है, इसलिए उसकी उत्पत्ति में दो द्रव्यों का सघात सम्भव नहीं है । यों तो परमाणु नित्य माना गया है, तथापि यहाँ उसकी उत्पत्ति पर्यायदृष्टि से बतलाई गई है, अर्थात् परमाणु द्रव्यरूप से तो नित्य ही है, पर पर्यायदृष्टि से वह जन्य भी है । कभी स्कन्ध के अवयव रूप बनकर सामुदायिक अवस्था में परमाणु का रहना और कभी स्कन्ध से अलग होकर विशकलित अवस्था में रहना ये सभी परमाणु के पर्याय—अवस्थाविशेष ही हैं । विशकलित अवस्था स्कन्ध के भेद से ही उत्पन्न होती है । इसलिए वहाँ भेद से अणु की उत्पत्ति के कथन का अभिप्राय इतना ही है कि—विशकलित अवस्था विशिष्ट परमाणु भेद का कार्य है, शुद्ध परमाणु नहीं । २६, २७ ।

अचाक्षुष स्कन्ध के चाक्षुष बनने में हेतु—

**भेदसघाताभ्यां चाक्षुषा । २८ ।**

भेद और सघात से ही चाक्षुष स्कन्ध बनते हैं ।

अचाक्षुष स्कन्ध भी निमित्त पाकर चाक्षुष बन सकता है, यह इदिखाना इस सूत्र का उद्देश्य है ।

पुद्गल के परिणाम विविध है, अतः कोई पुद्गल स्कन्ध अचाक्षुष—चक्षु से अग्राह्य होता है, तो कोई चाक्षुष—चक्षु से ग्राह्य होता है । जो स्कन्ध पहले सूक्ष्म होने के कारण अचाक्षुष हो वह निमित्तवश सूक्ष्मत्व परिणाम छोड़कर त्रादर—स्थूल परिणामविशिष्ट बनने से चाक्षुष हो सकता है । उस स्कन्ध के ऐसा होने में भेद तथा सघात दो ही हेतु अपेक्षित



है। अब किसी स्कन्ध में सूत्रगत परिणाम की निश्चयि हो कर सूत्रगत परिणाम उत्पन्न होता है तब कुछ मये अणु उस स्कन्ध में अवश्य मिस्र जाते हैं। किन्तु मिश्रते ही नहीं; किन्तु कुछ अणु उस स्कन्ध में से मिस्र मी हो जाते हैं। सूत्रगत परिणाम की निश्चयि पूर्वक सूत्रगत परिणाम की उत्पत्ति न केवल संघात—अणुओं के मिश्रने मात्र से होती है और न केवल भेद—अणुओं के अलग होने मात्र से ही होती है। सूत्रगत—बाह्यरूप रूप परिणाम के सिवाय कोई स्कन्ध बाह्यरूप तो ही ही नहीं सकता। इसीलिए यहाँ नियम पूर्वक कहा गया है कि बाह्यरूपस्कन्ध भेद और संघात दोनों ही से बनता है।

भेद शब्द के दो अर्थ हैं : १ स्कन्ध का टूटना अर्थात् उसमें से अणुओं का अलग होना तथा २ पूर्व परिणाम निवृत्त होकर दूसरे परिणाम का उत्पन्न होना। इन दो अर्थों में से पहला अर्थ लेकर उभर सूत्रार्थ किन्ता गया है। दूसरे अर्थ के अनुसार सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है—अब कोई सूत्रम स्कन्ध भेद से प्रथम करने योग्य बाह्य परिणाम को प्राप्त करता है, अर्थात् बाह्यरूप मिस्र कर बाह्यरूप बनता है तब उसके पसा होने में सूत्र परिणाम अपेक्षित है, जो विशिष्ट अमन्ताणु संख्या (संघात) लायेगा है। केवल सूत्रगत रूप पूर्व परिणाम की निश्चयिपूर्वक नवीन सूत्रगत परिणाम बाह्यरूप बनने का कारण नहीं और केवल विशिष्ट अमन्त संख्या मी बाह्यरूप बनने में कारण नहीं किन्तु परिणाम (भेद) और उसके संख्या संघात दोनों ही स्कन्ध के बाह्यरूप बनने में कारण हैं।

अपि सूत्रगत बाह्यरूप पर से तो बाह्यरूप स्कन्ध का ही बोध होता है; तथापि यहाँ बाह्यरूप से समस्त इन्द्रियों का बाह्यरूप बोध विवक्षित है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होता है कि—सभी अतीन्द्रिय स्कन्धों के ऐन्द्रियक (इन्द्रियरहित) बनने में भेद और संघात दो ही हेतु

अपेक्षित हैं। पौद्गलिक परिणाम की अमर्यादित विचित्रता के कारण जैसे पहले के अतीन्द्रिय स्कन्ध भी पीछे से भेद तथा संघात रूप निमित्त से ऐन्द्रियक बन सकते हैं, वैसे ही स्थूल स्कन्ध भी सूक्ष्म बन जाते हैं। इतना ही नहीं, परिणाम की विचित्रता के कारण अधिक इन्द्रियों से ग्रहण किया जाने वाला स्कन्ध अल्प इन्द्रियग्राह्य बन जाता है। जैसे लवण, हिंसु आदि पदार्थ नेत्र, स्पर्शन, रसन और घ्राण इन चार इन्द्रियों से ग्रहण किये जा सकते हैं; पर वे ही जल में मिलकर गल जाने से सिर्फ रसन और घ्राण दो ही इन्द्रियों से ग्रहण हो सकते हैं।

प्र०—स्कन्ध के चाक्षुष बनने में दो कारण दिखाए, पर अचाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति के कारण क्यों नहीं दिखाए गए ?

उ०—छब्बीसवें सूत्र में सामान्य रूप से स्कन्ध मात्र की उत्पत्ति के तीन हेतुओं का कथन किया गया है। यहाँ तो सिर्फ विशेष स्कन्ध की उत्पत्ति के अर्थात् अचाक्षुष से चाक्षुष बनने के हेतुओं का विशेष कथन है। इसलिए उस सामान्य विधान के अनुसार अचाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति के हेतु तीन ही प्राप्त होते हैं। सारांश यह कि छब्बीसवें सूत्र के कथनानुसार भेद, संघात और भेद-संघात इन तीनों हेतुओं से अचाक्षुष स्कन्ध बनते हैं। २८।

✓ 'सत्' की व्याख्या—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । २९ ।

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् तदात्म्य है वही सत् कहलाता है।

सत् के स्वरूप के विषय में भिन्न भिन्न दर्शनों का मतभेद है। कोई दर्शन सम्पूर्ण सत् पदार्थ को (ब्रह्म को) केवल ध्रुव (नित्य ही) मानता

१ वेदान्त—औपनिषद् शास्त्रमत ।

है। कोई दर्शन सत् पदार्थ की निरन्तर शक्ति (मात्र उत्पाद-विनाश-शील) मानता है। कोई दर्शन चेतनतरण रूप सत् की तो केवल रूप (कूटस्थानिक) और प्रकृति धरण रूप सत् को परिणामितिक (निष्पानिक) मानता है। कोई दर्शन अनेक सत् पदार्थों में से परमाणु, फल, आत्म आदि कुछ सत् तत्त्वों को कूटस्थानिक और पर पट आदि कुछ सत् को मात्र उत्पाद-व्यवधील (व्यमित) मानता है। परंतु केन्द्रदर्शन का सत् के स्वयं से संबन्ध रखने वाला मन्वय उक्त सब मतों से भिन्न है और वही इस सूत्र में व्यक्तया गया है।

केन्द्रदर्शन का मानना है कि जो सत्—वस्तु है वह पूर्ण रूप से सिर्फ कूटस्थानिक या किंकि निष्पानिकविनाशी या उत्तम अणुका नाम कूटस्थानिक और अणुका नाम परिणामितिक अवस्था उत्पन्न कोई नाम तो मात्र तिक और कोई भाग मात्र अनिक नहीं हो सकता। इसके अन्तर्गत चारों ओर बैठना हो या जब अमूर्त हो या मूर्त रूप हो या अणुक तमी सत् करवाने वाली वस्तुएँ उत्पाद व्यय चार प्रीत्य रूप से भिन्न हैं।

हर एक वस्तु में दो अंश हैं एक अंश ऐसा है जो तीनों कालों में स्थिर है और दूसरा अंश तथा अशाक्य है। शाक्य अंश के कारण हर एक वस्तु प्रीत्यात्मक (स्थिर) और अशाक्य अंश के कारण उत्पाद-व्यवधील (व्यमित) करवाती है। इन दो अंशों में किसी एक की ओर दृष्टि आने और दूसरे की ओर न आने से वस्तु सिर्फ स्थिर या सिर्फ व्यमित रूप मात्र ही होती है। परन्तु दोनों अंशों की ओर दृष्टि देने से ही वस्तु का पूर्ण और अर्थात् स्वयं मात्र किंवा का शक्य है। इस सिद्ध होने के अन्तर्गत ही इस सूत्र में सत्—वस्तु का स्वयं प्रतिपादित किया गया है। ११।

विरोध का परिहार और परिणामिनित्यत्व का स्वरूप—

तद्भावाव्यय नित्यम् । ३० ।

जो उसके भाव से (अपनी जाति से) च्युत न हो वही नित्य है ।

पिछले सूत्र में कहा गया है कि एक ही वस्तु उत्पाद-व्यय-प्रौढ्यात्मक है अर्थात् स्थिरास्थिर—उभय रूप है; परन्तु इस पर प्रश्न होता है कि यह कैसे घट सकता है ? जो स्थिर है वही अस्थिर कैसे ? और जो अस्थिर है वही स्थिर कैसे ? एक ही वस्तु में स्थिरत्व, अस्थिरत्व दोनों अश शीत-उष्ण की तरह परस्पर विरुद्ध होने से एक ही समय में घट नहीं सकते । इसलिए सत् की उत्पाद-व्यय-प्रौढ्यात्मक व्याख्या क्या विरुद्ध नहीं है ? इस विरोध के परिहार के लिए जैनदर्शन सम्मत नित्यत्व का स्वरूप बतलाना ही इस सूत्र का उद्देश्य है ।

यदि कुछ अन्य दर्शनों की तरह जैनदर्शन भी वस्तु का स्वरूप ऐसा मानता कि 'किसी भी प्रकार से परिवर्तन को प्राप्त किए बिना ही वस्तु सदा एक रूप में अवस्थित रहती है' तो इस कूटस्थनित्य में नित्यत्व का सम्भव न होने के कारण एक ही वस्तु में स्थिरत्व, अस्थिरत्व । विरोध आता । इसी तरह अगर जैनदर्शन वस्तु को क्षणिक मात्र मानता, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को क्षण क्षण में उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली मान कर उसका कोई स्थायी आधार न मानता, तो भी उत्पाद-व्ययशील नित्यपरिणाम में नित्यत्व का सम्भव न होने के कारण उक्त विरोध आता । परन्तु जैनदर्शन किसी वस्तु को केवल कूटस्थनित्य या केवल परिणामिमात्र न मान कर परिणामिनित्य मानता है । इसलिए सभी तत्त्व अपनी अपनी जाति में स्थिर रहते हुए भी निमित्त के अनुसार परिवर्तन (उत्पाद-व्यय) प्राप्त करते रहते हैं । अतएव हरएक वस्तु में मूल जाति (द्रव्य) की अपेक्षा से त्रौढ्य और परिणाम की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय—इनके घटित होने में

कोई विशेष नहीं आता। जैन का परिणामिनिरूपणवाद साक्ष्य की तरह सिर्फ ब्रह्म (प्रकृति) तक ही सीमित नहीं है; किन्तु चेतनतत्त्व पर भी यह प्रतिष्ठित होता है।

सब तत्त्वों में व्यापक रूप से परिणामिनिरूपणवाद का स्वीकार करने के लिए साधकप्रमाण मुख्यतया अनुभव है। सूत्रम दृष्टि से वेदान्त पर कोई ऐसा तत्त्व अनुभव में नहीं आता जो सिर्फ अपरिणामी ही का मात्र परिमाणरूप हो। ब्रह्म आत्मन्तर सभी वस्तुएँ परिणामिनिरूपण ही मान्य होती हैं। अगर सभी वस्तुएँ अधिक मात्र हों तो प्रत्येक क्षण में नयी नयी वस्तु उत्पन्न तथा नष्ट होने के कारण, एवं उसका कोई स्थायी आधार न होने के कारण, उस साक्षिक परिणाम परम्परा में सन्तुष्टिकरण का क्रमा अनुभव न हो, अर्थात् पक्षे कभी बेसी हुई वस्तु को फिर से देखने पर जो 'यह वही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है वह किसी तरह न हो सकेगा; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के लिए जैसे उसकी विषयवस्तु का स्थिरत्व आवश्यक है वैसे ही दृष्ट आत्मा का स्थिरत्व भी आवश्यक है। इसी तरह अगर ब्रह्म या चेतन तत्त्व मात्र निर्विकार हो तो इन दोनों तत्त्व के मिश्रण रूप ब्रह्म में क्षण क्षण में दिखाई देनेवाली विविधता कभी उत्पन्न न हो। अतएव परिणामिनिरूपणवाद को जैनदर्शन युक्तिसंगत मानता है।

व्याख्यानन्तर में पूर्वोक्त तत्त्व के निरूपण का वर्णन—

“तद्भावाभ्यय नित्यम्”

तत्त्व तत्के भाव से स्थूल न होने के कारण नित्य है।

उत्पाद भय-प्रौढ्यात्मक हीना पापी परतुमात्र का स्वरूप है। बाप वस्तु तत्त्व कहलाता है। तत्त्व स्वरूप नित्य है; अर्थात् वह हीन पापियों में प्रकटा अवस्थित रहता है। ऐसा नहीं है कि किसी वस्तु में या परतुमात्र

में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य कभी हों और कभी न हों। प्रत्येक समय में उत्पादादि तीनों अंश अवश्य होते हैं, यही सत् का नित्यत्व है।

अपनी अपनी जाति को न छोड़ना यह सभी द्रव्यों का ध्रौव्य है और प्रत्येक समय में भिन्न भिन्न परिणामरूप से उत्पन्न और नष्ट होना यह उनका उत्पाद-व्यय है। ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय का चक्र द्रव्यमात्र में सदा पाया जाता है।

उस चक्र में से कभी कोई अंश लुप्त नहीं होता, यही इस सूत्र द्वारा बतलाया गया है। पूर्व सूत्र में ध्रौव्य का जो कथन है वह द्रव्य के अन्वयी—स्थायी अंश मात्र को लेकर और इस सूत्र में जो नित्यत्व का कथन है, वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों अंशों के अविच्छिन्नत्व को लेकर। यही पूर्व सूत्र में कथित ध्रौव्य और इस सूत्र में कथित नित्यत्व के बीच अन्तर है। ३०।

✓ अनेकान्त के स्वरूप का समर्थन—

**अर्पितानर्पितसिद्धेः । ३१ ।**

प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है, क्योंकि अर्पित—अर्पणा अर्थात् अपेक्षा से और अनर्पित—अनर्पणा अर्थात् अपेक्षान्तर से विरोधी स्वरूप सिद्ध होता है।

परस्पर विरुद्ध किन्तु प्रमाण सिद्ध धर्मों का समन्वय एक वस्तु में कैसे हो सकता है, तथा विद्यमान अनेक धर्मों में से कभी एक का और कभी दूसरे का प्रतिपादन क्यों होता है, यह दिखाना इस सूत्र का उद्देश्य है।

‘आत्मा सत् है’ इस प्रतीति या ठिकि में जो सत्त्व का भान होता है, वह मंत्र प्रकार से घटित नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो आत्मा,

चेतना आदि स्व-रूप की तरह पदार्थ पर-रूप से भी सत् सिद्ध हो; अर्थात् उसमें चेतना की तरह पदार्थ भी प्रवृत्तमान हो; जिससे उक्तका सिद्धि स्व-रूप सिद्ध ही न हो। सिद्धि स्व-रूप का अर्थ ही यह है कि वह स्व-रूप से सत् और पर-रूप से सत् नहीं अर्थात् असत् है। इस तरह अपेक्षा-विशेष से सत्त्व और अपेक्षान्तर से असत्त्व ये दोनों धर्म आत्म में एक होते हैं। जैसे सत्त्व असत्त्व जैसे ही निष्कल्प अनिष्कल्प धर्म भी उतमें सिद्ध हैं। इत्य (तामन्वय) दृष्टि से निष्कल्प और पर्वाय (विशेष) दृष्टि से अनिष्कल्प सिद्ध होता है। इसी तरह परस्पर विरुद्ध विज्ञान होने वाले परन्तु अपेक्षा भेद से सिद्ध ऐसे और भी एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मों का तामन्वय आत्मा आदि सब वस्तुओं में अभ्युचित है। इसविषय सभी पदाथ अनेक धर्मात्मक माने जाते हैं।

व्याख्यानतर-

“अपितानपितसिद्धेः”

अपेक्ष वस्तु अनेक प्रकार से व्यवहार्य है, क्योंकि अर्थात् अन्वयना से अर्थात् विवक्षा के अनुसार प्रथम किंवा अप्रथम भाव से व्यवहार की सिद्धि—उत्पत्ति होती है।

अपेक्षामेद से सिद्ध ऐसे अनेक धर्मों में से भी कभी किसी एक धर्म के द्वारा और कभी उसके विरुद्ध दूसरे धर्म के द्वारा वस्तु का व्यवहार होता है वह आध्यात्मिक या बाह्यिक नहीं है। क्योंकि विद्यमान सब धर्म भी एक साथ विद्यमान नहीं होते। प्रत्येकानुसार कभी एक की ही कभी दूसरे की विवक्षा होती है। जब किसकी विवक्षा हो तब व प्रथम और दूसरा अप्रथम होता है। जो धर्म का धर्मों के बड़ी उत्तम रूप का मोक्ष हो लक्ष्य है। इस धर्म और तामन्वय का के समान विवरण ही दिखाने के लिए आत्मा में तामन्वय से सिद्ध निष्कल्प के

विवक्षा की जाती है। उस समय उसका पर्यायदृष्टि से सिद्ध अनित्यत्व विवक्षित न होने के कारण गौण है, परन्तु कर्तृत्वकाल की अपेक्षा भोक्तृत्वकाल में आत्मा की अवस्था बदल जाती है। ऐसा कर्मकालीन और फलकालीन अवस्थाभेद दिखाने के लिए जब पर्यायदृष्टि सिद्ध अनित्यत्व का प्रतिपादन किया जाता है, तब द्रव्यदृष्टि से सिद्ध नित्यत्व प्रधान नहीं रहता। इस तरह विवक्षा और अविवक्षा के कारण कभी आत्मा को नित्य और कभी अनित्य कहा जाता है। जब दोनों धर्मों की विवक्षा एक साथ की जाती है, तब दोनों धर्मों का युगपत् प्रतिपादन कर सके ऐसा वाचक शब्द न होने के कारण आत्मा को अव्यक्तव्य कहा जाता है। विवक्षा, अविवक्षा और सहविवक्षा आश्रित उक्त तीन वाक्य रचनाओं के पारस्परिक विविध मिश्रण से और भी चार वाक्य रचनाएँ बनती हैं। जैसे—नित्या-नित्य, नित्य-अव्यक्तव्य, अनित्य-अव्यक्तव्य और नित्य-अनित्य-अव्यक्तव्य। इन सात वाक्यरचनाओं को सप्तमगी कहते हैं। इनमें पहले तीन वाक्य और तीन में भी दो वाक्य मूल हैं। जैसे भिन्न भिन्न दृष्टि से सिद्ध नित्यत्व और अनित्यत्व को लेकर विवक्षावश किसी एक वस्तु में सप्तमगी घटाई जा सकती है, वैसे और भी भिन्न भिन्न दृष्टिसिद्ध किन्तु परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले सत्त्व-असत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, वाच्यत्व-अवाच्यत्व आदि धर्मयुग्मों को लेकर सप्तमगी घटानी चाहिए। अतएव एक ही वस्तु अनेक धर्मात्मक और अनेक प्रकार के व्यवहार की विषय मानी गई है। ३१।

पौद्गलिक बन्ध के हेतु का कथन—

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्ध । ३२ ।

स्निग्धत्व और रूक्षत्व से बन्ध होता है।

पौद्गलिक स्कन्ध की उत्पत्ति उसके अवयवभूत परमाणु आदि के पारस्परिक संयोग मात्र से नहीं, होनी। इसके लिए संयोग के अलावा



और भी कुछ अपेक्षित है। यह दिखाना इस सूत्रका उद्देश्य है। जन्म-मरणोंके पारस्परिक सम्बन्धके उपरान्त उनमें स्निग्धत्व-विस्मयनापन, स्निग्धत्व-स्वप्नापन गुण का होना भी जल्दी है। जब स्निग्ध और स्वप्न अन्तर-आपसमें मिश्रित हैं तब उनका बन्ध—एकत्वपरिणाम होता है, इसी बन्ध से हृद्यगुण आदि स्निग्ध बनते हैं।

स्निग्ध स्वप्न अवस्थाओं का स्नेह ही प्रकृति का हो सकता है : संघट और विस्मय। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और स्वप्न का स्वप्न के साथ स्नेह होना संघट स्नेह है। स्निग्ध का स्वप्न के साथ संयोग होना विस्मय स्नेह है। ३२।

बन्ध के सामान्य विधान के अपवाद—

न बध्न्यगुणानाम् । ३३ ।

गुणसाम्ये सहस्रानाम् । ३४ ।

हृद्यधिकादिगुणानां तु । ३५ ।

बध्न्य गुण—बंध वाले स्निग्ध और स्वप्न अवस्थाओं का बन्ध नहीं होता।

समान बंध होने पर संघट अर्थात् स्निग्ध से स्निग्ध अवस्थाओं का तथा स्वप्न से स्वप्न अवस्थाओं का बन्ध नहीं होता।

ही बंध अधिकवाले आदि अवस्थाओं का ही बन्ध होता है।

प्रस्तुत सूत्रों में पहला सूत्र बन्ध का निषेध करता है। इसके अनुसार जिन परमाणुओं में स्निग्धत्व या स्वप्नत्व का बंध बध्न्य हो उन बध्न्य गुण परमाणुओं का पारस्परिक बन्ध नहीं हो सकता। इस निषेध से प्रकृत होता है कि मध्यम और उत्कृष्ट संस्कार वाले स्निग्ध स्वप्न सभी अवस्थाओं का पारस्परिक बन्ध हो सकता है परन्तु इसमें भी अपवाद है, जो अमुके सूत्र में बतलाया गया है। उसके अनुसार संघट अवस्था

जो समान अंश वाले हों उनका पारस्परिक बन्ध नहीं हो सकता । इससे समान अंश वाले स्निग्ध तथा रूक्ष परमाणुओं का स्कन्ध नहीं बनता । इस निषेध का भी फलित अर्थ यह निकलता है कि असमान गुणवाले सदृश अवयवों का बन्ध हो सकता है । इस फलित अर्थ का सकोच करके तीसरे सूत्र में सदृश अवयवों के असमान अंश की बन्धोपयोगी मर्यादा नियत कर दी गई है । तदनुसार असमान अंश वाले भी सदृश अवयवों में जब एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो अंश, तीन अंश, चार अंश आदि अधिक हों तभी उन दो सदृश अवयवों का बन्ध हो सकता है । अतएव अगर एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व की अपेक्षा दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व सिर्फ एक अंश अधिक हो तो उन दो सदृश अवयवों का बन्ध नहीं हो सकता ।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्रस्तुत तीनों सूत्रों का पाठ भेद नहीं है, पर अर्थभेद है । अर्थभेद में ये तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. जघन्यगुण परमाणु एक सख्यावाला हो, तब बन्ध का होना या न होना । २. पैंतीसवें सूत्र में आदिपद से तीन आदि सख्या लेना या नहीं । ३ पैंतीसवें सूत्र का बन्धविधान सिर्फ सदृश सदृश अवयवों के लिए मानना या नहीं ।

१. भाष्य और वृत्ति के अनुसार दोनों परमाणु जब जघन्य गुण वाले हों, तभी उनका बन्ध निषिद्ध है, अर्थात् एक परमाणु जघन्य गुण हो और दूसरा जघन्य गुण न हो तो भाष्य तथा वृत्ति के अनुसार उनका बन्ध होता है । परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार जघन्य गुण युक्त दो परमाणुओं के पारस्परिक बन्ध की तरह एक जघन्य-गुण परमाणु का दूसरे अजघन्य गुण परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता ।

२. भाष्य और वृत्ति के अनुसार पैंतीसवें सूत्र में आदिपद का तीन आदि सख्या अर्थ लिया जाता है । अतएव उसमें किसी एक अवयव से

दूधरे अवयव में त्रिसंख्या या सप्तत्य के अंश हो, तीन, चार या चार संख्या अक्षरों, अनन्त अधिक होने पर भी बन्ध माना जाता है; किन्तु एक अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता ! परन्तु सभी द्विसंख्य व्याख्याओं के अनुसार किन्तु दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है अर्थात् एक अंश की तरह तीन, चार या चार संख्या अक्षरों, अनन्त अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता !

१. पौतलमें सूत्र में प्राप्य और वृत्ति के अनुसार ही, तीन अक्षरों के अधिक होने पर जो बन्ध का विधान है वह लघु अवयवों में ही लागू पड़ता है; परन्तु द्विसंख्य व्याख्याओं में यह विधान लघु की तरह अलघु परम्यणुओं के बन्ध में भी लागू पड़ता है ।

इस अर्थ में के कारण दोनों परम्यणुओं में जो बन्ध निवर्तक शिबि-निवेश प्रसिद्ध होता है वह भागों के बीचों में दिखाना जाता है—

### प्राप्य-वृत्त्यनुसारी श्लोक

गुण-भवा	लघु	विलघु
१. अक्षर + अक्षर	नहीं	मही
२. अक्षर + एकाक्षर	मही	२
३. अक्षर + द्विअक्षर	२	२
४. अक्षर + त्रिअक्षर	२	२
५. अक्षर + चार अक्षर	मही	२
६. अक्षर + एकाक्षर अक्षर	मही	२
७. अक्षर + द्विअक्षर अक्षर	२	२
८. अक्षर + त्रिअक्षर अक्षर	२	२

## सर्वार्थसिद्धि आदि के अनुसार कोष्ठक

गुण-अग्र	सदृश	विसदृश
१ जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२ जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
३ जघन्य + द्वाधिक	नहीं	नहीं
४ जघन्य + त्रयादि अधिक	नहीं	नहीं
५ जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
६ जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७ जघन्येतर + द्वाधिक जघन्येतर	है	है
८ जघन्येतर + त्रयादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

स्निग्धत्व, रूक्षत्व दोनों स्पर्श विशेष हैं। ये अपनी अपनी जाति की अपेक्षा एक एक रूप होने पर भी परिणमन की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। तरतमता यहाँ तक होती है कि निकृष्ट स्निग्धत्व और निकृष्ट रूक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रूक्षत्व के बीच अनन्तानन्त अर्थों का अन्तर पाया जाता है। उदाहरणार्थ, बकरी और ऊँटनी के दूध के स्निग्धत्व का अन्तर। दोनों में स्निग्धत्व होता ही है, परन्तु एक में बहुत कम और दूसरे में बहुत अधिक। तरतमता वाले स्निग्धत्व और रूक्षत्व परिणामों में जो परिणाम सबसे निकृष्ट अर्थात् आविभाष्य हो वह जघन्य अग्र कहलाता है। जघन्य को छोड़कर बाकी के सभी जघन्येतर कहलाते हैं। जघन्येतर में मध्यम और उत्कृष्ट सख्या आ जाती है। जो स्निग्धत्व परिणाम सबसे अधिक हो वह उत्कृष्ट, और जघन्य तथा उत्कृष्ट के बीच सभी परिणाम मध्यम हैं। जघन्य स्निग्धत्व

की अपेक्षा उत्कृष्ट शिवालय अनन्तानन्त गुण अधिक होने से यदि कल्प्य शिवालय को एक अंश कहा जाय तो उत्कृष्ट शिवालय को अनन्तानन्त अंशपरिमित समझना चाहिए। दो तीन या चार संख्यात अंशसंख्यात, अनन्त और एक कम उत्कृष्ट तक के सभी अंश मध्यम समझने चाहिये।

यहाँ लक्षण का अर्थ है शिवाय का शिवाय के साथ या स्वयं का स्वयं के साथ संबंध होना और विच्छेद का अर्थ है शिवाय का स्वयं के साथ संबंध होना। एक अंश कल्प्य और उसके एक अधिक अर्थात् दो अंश एकत्रिक हैं। दो अंश अधिक ही एक द्वयधिक और तीन अंश अधिक ही त्रय त्र्यधिक। इसी तरह चार अंश अधिक होने पर चतुर्धिक मन्त्र अनन्तानन्त अधिक कहा जाता है। सम का मतलब सम संख्या से है। दोनों तरह अंशों की संख्या बराबर ही तब यह सम है। दो अंश कल्प्येतर का सम कल्प्येतर दो अंश है, दो अंश कल्प्येतर का एकत्रिक कल्प्येतर तीन अंश है। दो अंश कल्प्येतर का द्वयधिक कल्प्येतर चार अंश है। दो अंश कल्प्येतर का त्र्यधिक कल्प्येतर पाँच अंश है और चतुर्धिक कल्प्येतर छह अंश है। इसी तरह तीन आदि से अनन्तांश कल्प्येतर तक के सम एकत्रिक द्वयिक और त्र्यधिक अधिक कल्प्येतर का समझना चाहिए। १३-१५।

परिणाम का स्वरूप-

**बन्धे समाधिकी पारिणामिकी । १६ ।**

कल्प के समय सम और अधिक गुण, सम तथा हीन गुणके परिणाम बननेवाले होते हैं।

१ दिग्गमर परम्परा में "बन्धेप्रधिकी पारिणामिकी च" ऐसा एक पाठ है; तरुणार उक्तमें एक कथ का दूसरे तक को अपने स्वरूप में मिश्रण इव मयी है। शिफे अधिक का हीन को अपने स्वरूप में मिश्रण सेव्य प्रकृत ही रह है।

बन्ध का विधि और निषेध बतला देने पर प्रश्न होता है कि—  
जिन सदृश परमाणुओं का या विसदृश परमाणुओं का बन्ध होता है उनमें  
कौन किसको परिणत करता है ? उसका उत्तर यहाँ दिया गया है ।

समाश्रय स्थल में सदृश बंध तो होता ही नहीं, विसदृश होता है,  
जैसे—दो अंश स्निग्ध का दो अंश रूक्ष के साथ या तीन अंश स्निग्ध  
का तीन अंश रूक्ष के साथ । ऐसे स्थल में कोई एक सम दूसरे सम को  
अपने रूप में परिणत कर लेता है, अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के  
अनुसार कभी स्निग्धत्व ही रूक्षत्व को स्निग्धत्व रूप में बदल देता है  
और कभी रूक्षत्व स्निग्धत्व को रूक्षत्व रूप में बदल देता है । परंतु  
अधिकांश स्थल में अधिकांश ही हीनांश को अपने स्वरूप में बदल सकता  
है, जैसे—पचाश स्निग्धत्व तीन अंश स्निग्धत्व को अपने स्वरूप में परिणत  
करता है, अर्थात् तीन अंश स्निग्धत्व भी पाँच अंश स्निग्धत्व के सबन्ध  
से पाँच अंश परिमाण हो जाता है । इसी तरह पाँच अंश स्निग्धत्व तीन  
अंश रूक्षत्व को भी स्व-स्वरूप में मिला लेता है, अर्थात् रूक्षत्व स्निग्धत्व  
रूप में बदल जाता है । जब रूक्षत्व अधिक हो तब वह भी अपने से कम,  
स्निग्धत्व को अपने स्वरूप अर्थात् रूक्षत्व स्वरूप बना लेता है । ३६ ।

✓ द्रव्य का लक्षण—

गुणपर्यायवद् द्रव्यम् । ३७ ।

द्रव्य गुण-पर्याय वाला है ।

द्रव्य का उल्लेख पहले कई बार आ चुका है, इसलिए इसका  
लक्षण यहाँ बतलाया जाता है ।

जिसमें गुण और पर्याय हों वह द्रव्य कहलाता है । प्रत्येक द्रव्य  
अपने परिणामी स्वभाव के कारण समय समय में निमित्तानुसार भिन्न  
भिन्न रूप में परिणत होता रहता है, अर्थात् विविध परिणामों को प्राप्त

करता रहता है। द्रव्य में परिणाम जनन की जो शक्ति है वही उसका गुण कर्ममत्ता है और गुणकर्म्य परिणाम पर्याय कहलाता है। गुण कारण है और पर्याय फल है। एक द्रव्य में शक्ति-रूप अनन्त गुण हैं जो वस्तुतः अक्षयमूर्त द्रव्य से या परस्पर में अभिन्नान्य हैं। प्रत्येक गुण-शक्ति के निश्चिन्त मिश्रण समयों में होनेवाले वैकल्पिक पर्याय अनन्त हैं। द्रव्य और लक्ष्मी अंग भूत शक्तियों उत्पन्न तथा विनष्ट न होने के कारण निरवच्छिन्न अनादि अनन्त हैं; परन्तु सभी प्रकार प्रविष्टान् उत्पन्न तथा नष्ट होने करने के कारण अविच्छिन्न अविच्छिन्न अनादि शक्ति साम्य हैं और प्रवाह की अपेक्षा से पर्याय भी अनादि अनन्त हैं। कारणभूत एक शक्ति के द्वारा उप में होनेवाले वैकल्पिक पर्याय प्रवाह भी सम्बन्धीय है। द्रव्य में अनन्त शक्तियों से सम्बन्धित प्रवाह भी अनन्त ही एक ही साथ चलते रहते हैं। निश्चिन्त मिश्रण शक्तिजन्य विजातीय पदार्थ एक समय में एक द्रव्य में पाये जा सकते हैं; परन्तु एक शक्तिजन्य निश्चिन्त मिश्रण समयभङ्गी लक्ष्मीय पदार्थ एक द्रव्य में एक समय में नहीं पाये जा सकते।

आत्मा और पुरुष द्रव्य हैं; क्योंकि उनमें अनुक्रम से चेतना आदि तथा रूप आदि अनन्त गुण हैं और ज्ञान रहित रूप विविध रूप योग आदि तथा नील पीत आदि विविध अनन्त पर्याय हैं। आत्मा चेतनाशक्ति के द्वारा निश्चिन्त मिश्रण उपयोग रूप में और पुरुष रूपशक्ति के द्वारा निश्चिन्त मिश्रण नील पीत आदि रूप में परिणत होता रहता है। चेतना शक्ति आत्मद्रव्यसे और आत्मगत अन्य शक्तियों से भिन्ना नहीं की जा सकती। इसी तरह रूपशक्ति पुरुषद्रव्य से पुरुषगत अन्य शक्तियों से दृश्य नहीं हो सकती। ज्ञान रहित आदि निश्चिन्त मिश्रण समयभङ्गी विविध रूपयोगों के वैकल्पिक प्रवाह की कारणभूत एक चेतनाशक्ति है और उस शक्ति का कारणभूत पर्याय प्रवाह उपयोगात्मक है। पुरुष में भी कारणभूत रूपशक्ति आत्मगत नील पीत आदि विविध रूपयोगात्मक उप एक शक्ति का

कार्य है। आत्मा में उपयोगात्मक पर्याय प्रवाह की तरह सुख-दुःख वेदनात्मक पर्याय प्रवाह, प्रवृत्त्यात्मक पर्याय प्रवाह आदि अनन्त पर्याय प्रवाह एक साथ चलते रहते हैं। इसलिए उसमें चेतना की तरह उस उस सजातीय पर्याय प्रवाह की कारणभूत आनन्द, वीर्य आदि एक एक शक्ति के मानने से अनन्त शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। इसी तरह पुद्गल में भी रूपपर्याय प्रवाह की तरह गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त पर्याय प्रवाह सदा चलते रहते हैं। इसलिए प्रत्येक प्रवाह की कारणभूत एक एक शक्ति के मानने से उसमें रूपशक्ति की तरह गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। आत्मा में चेतना, आनन्द और वीर्य आदि शक्तियों के भिन्न भिन्न विविध पर्याय एक समय में पाये जा सकते हैं; परन्तु एक चेतना शक्ति के या एक आनन्द शक्ति के विविध उपयोग पर्याय या विविध वेदना पर्याय एक समय में नहीं पाये जा सकते, क्योंकि प्रत्येक शक्ति का एक समय में एक ही पर्याय व्यक्त होता है। इसी तरह पुद्गल में भी रूप, गन्ध आदि भिन्न भिन्न शक्तियों के भिन्न भिन्न पर्याय एक समय में होते हैं, परन्तु एक रूपशक्ति के नील, पीत आदि विविध पर्याय एक समय में नहीं होते। जैसे आत्मा और पुद्गल द्रव्य नित्य हैं वैसे उनकी चेतना आदि तथा रूप आदि शक्तियाँ भी नित्य हैं। परन्तु चेतना-जन्य उपयोग पर्याय या रूपशक्तिजन्य नील, पीत पर्याय नित्य नहीं हैं, किन्तु सदैव उत्पाद-विनाशशाली होने से व्यक्तिगत अनित्य है और उपयोग पर्याय प्रवाह तथा रूप पर्याय प्रवाह कैालिक होने से नित्य है।

अनन्त गुणों का अखण्ड समुदाय ही द्रव्य है; तथापि आत्मा के चेतना, आनन्द, चारित्र्य, वीर्य आदि परिमित गुण ही साधारण बुद्धि वाले छद्मस्य की कल्पना में आते हैं, सब गुण नहीं आते। इसी तरह पुद्गल के भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि कुछ ही गुण कल्पना में आते हैं।



नहीं। इसका कारण यह है कि आत्मा या पुद्गल इत्यादि के सब प्रकार के पर्यायप्रवाह विधिप्रदान के बिना जाने नहीं जा सकते। जो जो पर्याय-प्रवाह साधारण बुद्धि से जाने जा सकते हैं, उनके कारणभूत गुणों का व्यवहार किया जाता है; इसलिए ये गुण विकल्प्य हैं। आत्मा के चेतना, अज्ञान, चारित्र्य, शीर्ष आदि गुण विकल्प्य अर्थात् विचार व शक्ती के गोचर हैं और पुद्गल के रूप आदि गुण विकल्प्य हैं। शक्ती के सब अविकल्प्य हैं जो तिरक केवलगत्य ही हैं।

त्रैकालिक अज्ञान पर्यायों के एक एक प्रवाह की कारणभूत एक एक शक्ति (गुण) और ऐसी अज्ञान शक्तियों का समुदाय इत्यर्थ है; वह अज्ञान ही वेद लायक है। अभेददृष्टि से पर्याय अपने अपने कारणभूत गुणस्वरूप और गुण इत्यवस्थान होने से गुणपर्यायगत ही इत्यर्थ कहा जाता है।

इत्यर्थ में सब गुण एक से नहीं हैं। कुछ साधारण अर्थात् सब इन्द्रियों में पाये जाते जाते होते हैं जैसे अस्तिव्य, प्रवेद्यव्य, शेषव्य आदि और कुछ असाधारण अर्थात् एक एक इन्द्रिय में पाये जाने जाते होते हैं, जैसे चेतना कर आदि। असाधारण गुण और लक्षणव्य पर्याय के कारण ही अनेक इन्द्रिय एक दूसरे से भिन्न हैं।

पञ्चास्तित्त्वव्य अथर्मास्तित्त्वव्य और आत्मपञ्चास्तित्त्वव्य इन्द्रियों के गुण तथा पर्यायों का विचार भी इसी तरह कर लेना चाहिये। वरुं यह बात समस्त स्नेही चाहिये कि पुद्गलप्रत्यक्ष भूरी होने से उनके गुण गुस्ततु तथा पर्याय भी गुस्ततु करे जाते हैं। परन्तु वेच सब इन्द्रिय अमूर्त होने से उनके गुण और पर्याय अगुस्ततु करे जाते हैं। १७।

काल का विचार-

कालश्चेत्येके । ३८ ।

सोऽनन्तसमयः । ३९ ।

कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं ।

वह अनन्त समय (पर्याय) वाला है ।

पहले काल के वर्तना आदि अनेक पर्याय बतलाये गए हैं, परन्तु धर्मोस्तिकाय आदि की तरह उसमें द्रव्यत्व का विधान नहीं किया गया । इस लिए प्रश्न होता है कि क्या प्रथम विधान न करने के कारण काल द्रव्य नहीं है ? या वर्तना आदि पर्यायों का वर्णन करने के कारण काल द्रव्य है ? इन प्रश्नों का उत्तर यहाँ दिया जा रहा है ।

सूत्रकार का कहना है कि कोई आचार्य काल को द्रव्यरूप से मानते हैं । इस कथन से सूत्रकार का तात्पर्य यह जान पड़ता है कि वस्तुतः काल स्वतन्त्र द्रव्यरूप से सर्व सम्मत नहीं है ।

काल को अलग द्रव्य मानने वाले आचार्य के मत का निराकरण सूत्रकार ने नहीं किया, सिर्फ उसका वर्णन मात्र कर दिया है । इस वर्णन में सूत्रकार कहते हैं कि काल अनन्त पर्याय वाला है । वर्तना आदि

१ दिगम्बर परम्परा में "कालश्च" ऐसा सूत्र पाठ है । तदनुसार वे लोग काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं । प्रस्तुत सूत्र को एकदेशीय मत परक न मान कर वे सिद्धान्त रूप से ही काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाला सूत्रकार का तात्पर्य बतलाते हैं । जो काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते हैं और जो मानते हैं वे सब अपने अपने मन्तव्य की पुष्टि किस प्रकार करते हैं, काल का स्वरूप कैसा बतलाते हैं, इसमें और भी कितने मतभेद हैं इत्यादि बातों को साविशेष जानने के लिए देखो, हिन्दी चौथे कर्म ग्रंथ में काल विषयक परिशिष्ट पृ० १५७ ।

पर्याय तो पहले कहे जा चुके हैं। सम्यक्पर्याय भी काष्ठ के ही हैं। वर्तमान क्षम्येन सम्यक्पर्याय तो सिर्फ एक ही होता है, परन्तु भर्तृव्य अत्रागत समय के पक्षय अनन्त होते हैं। इसीसे काष्ठ को अनन्त समय बाध्य करा गया है। १८ १९।

✓ गुण का स्वरूप-

ब्रह्म्याभ्या निर्गुणा गुणा । ४० ।

जो ब्रह्म में उदा रहने वाले और गुण रहित हैं वे गुण हैं।

ब्रह्म के स्वभाव में गुण का कल्पन किया गया है, इसलिए उक्त स्वरूप यहाँ बतलाया गया है।

यद्यपि पर्याय भी ब्रह्म के ही आश्रित और निर्गुण हैं, तथापि वे उत्पाद-विनाश वाले होने से ब्रह्म में उदा नहीं रहते पर गुण तो नित्य होने के कारण उदा ही ब्रह्माश्रित हैं। यही गुण और पर्याय का अन्तर है।

ब्रह्म में उदा वर्तमान शक्तियों को पर्याय की जनक रूप में जानी जाती है वे ही गुण हैं। उन गुणों में फिर गुणान्तर या शक्यन्तर मानने से अनवरतता आती है इसलिए ब्रह्मनिष्ठ शक्तिकय गुण निर्गुण ही माने गए हैं। आत्मा के गुण पौरुषात्म्य, आत्मन्त, शीघ्र, अग्नि और पुद्गल के गुण रूप रस गन्ध स्पर्श आदि हैं।

परिणाम का स्वरूप-

सङ्गादाः परिणामाः । ४१ ।

उत्पन्न होने वाले स्वरूप में स्थित रह कर उत्पन्न तथा मत्र रोगा परिणाम है।

पहले कई जगह परिणाम का भी कथन आया है। अतः यहाँ उसका स्वरूप बतलाया जा रहा है।

बौद्ध लोग वस्तु मात्र को क्षणस्थायी और निरन्वयविनाशी मानते हैं। इसलिए उनके मतानुसार परिणाम का अर्थ उत्पन्न होकर सर्वथा नष्ट हो जाना अर्थात् नाश के बाद किसी तत्त्व का कायम न रहना फलित होता है। नैयायिक आदि भेदवादी दर्शन जो गुण और द्रव्य का एकान्त भेद मानते हैं, उनके मतानुसार सर्वथा अविकृत द्रव्य में गुणों का उत्पन्न तथा नष्ट होना ऐसा परिणाम का अर्थ फलित होता है। इन दोनों पक्षों के सामने परिणाम के स्वरूप के सम्बन्ध में जैनदर्शन का मन्तव्यभेद दिखाना ही इस सूत्र का उद्देश्य है।

कोई द्रव्य या कोई गुण ऐसा नहीं है जो सर्वथा अविकृत रह सके। विकृत अर्थात् अवस्थान्तरों को प्राप्त होते रहने पर भी कोई द्रव्य या कोई गुण अपनी मूल जाति-स्वभाव का त्याग नहीं करता। सारांश यह कि द्रव्य हो या गुण, सभी अपनी अपनी जाति का त्याग किये बिना ही प्रतिसमय निमित्तानुसार भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हैं। यही द्रव्यों का तथा गुणों का परिणाम है।

आत्मा चाहे मनुष्यरूप हो या पशुपक्षीरूप, पर उन भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहने पर भी उसमें आत्मत्व कायम रहता है। इसी तरह चाहे ज्ञानरूप साकार उपयोग हो या दर्शनरूप निराकार उपयोग, घट विषयक ज्ञान हो या पट विषयक, पर उन सब उपयोग पर्यायों में चेतनात्व कायम रहता है। चाहे द्यणुक अवस्था हो या त्र्यणुक आदि, पर पुद्गल उन अनेक अवस्थाओं में भी अपना पुद्गलत्व नहीं छोड़ता। इसी तरह शुक्लरूप बदल कर कृष्ण हो, या कृष्ण बदल कर पीत

हो तथापि उन विविध वर्णपर्यायों में रूपत्व उभाष वाच्य रहता है ।  
इसी तरह हरएक द्रव्य और उसके हरएक गुण के विषय में क्या केना  
चाहिए । ४१ ।

परिणाम के भेद तथा आशयविभाग—

अनादिरादिमांस । ४२ ।

रूपिष्वादिमान् । ४३ ।

योगोपयोगौ लंबिषु । ४४ ।

वह अनादि और आदिमान् दो प्रकारके हैं ।

कमी अनात् पुत्रक द्रव्यों में आदिमान् है ।

जीवों में योग और उपयोग आदिमान् हैं ।

जिसके अस्त की पूर्व कोटी जानी न जा सके वह अनादि और  
जिसके अस्त की पूर्व कोटी ज्ञात हो सके वह आदिमान् कहा जाता है ।  
अनादि और आदिमान् शब्द का उक्त अर्थ जो सामान्य रूप से सर्वत्र  
प्रतिष्ठ है; उसे मान लेने पर विविध परिणाम के आशय का विचार  
करते समय यही सिद्धान्त स्थिर रहता है कि द्रव्य चाहे स्त्री हो या  
सब द्रव्यों में अनादि और आदिमान् दोनों प्रकार  
जाता है । प्रकाश की अपेक्षा से अनादि और व्यक्ति  
मान् परिणाम सब में समान रूप से चयन का  
र्थ प्रस्तुत रूपों में तथा उनके माध्य तक में  
व्यवहृतवा नहीं गयी कदा कदा ? यह प्रश्न माध्य  
उदात्त है और अन्त में स्वीकार किया है कि  
तथा आदि... परिणाम दास्ये हैं ।

सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थों में तो सब द्रव्यों में दोनों प्रकार के परिणाम होने का स्पष्ट कथन है, और उसका समर्थन भी किया है कि द्रव्य—सामान्य की अपेक्षा से अनादि और पर्याय—विशेष की अपेक्षा से आदिमान् परिणाम समझना चाहिए ।

दिगम्बर व्याख्याकारों ने त्र्यालीस से चवालीस तक के तीन सूत्र सूत्रपाठ में न रख कर “तद्भाव परिणाम” इस सूत्र की व्याख्या में ही परिणाम के भेद और उनके आश्रय का कथन सम्पूर्णतया तथा स्पष्टतया किया है । इससे जान पड़ता है कि उनको भी परिणाम के आश्रयविभाग परक प्रस्तुत सूत्रों तथा उनके भाष्य में अर्थत्रुटि अथवा अस्पष्टता अवश्य मालूम हुई होगी । जिससे उन्होंने अपूर्णार्थक सूत्रों को पूर्ण करने की अपेक्षा अपने वक्तव्य को स्वतंत्र रूप से कहना ही उचित समझा ।

## छठा अध्याय

ज्ञान और भक्ति का निरूपण हो बुद्धि एवं भासव का निरूपण  
कम प्राप्त है ।

योग के बचन हुए भासवका स्वरूप-

अप्यथाकम्पनः कर्म योग । १ ।

म भासव । २ ।

काय, बचन और मन की क्रिया योग है ।

यही भासव अर्थात् कर्म का उपलब्ध करने वाला होने से भासव  
सबक है ।

अध्यात्मिकता के लक्ष्योपशम या शून्य से तथा पुद्गलों के व्यक्तमन से  
होनेवाला आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द—कम्पनव्यापार योग कहलाता है ।  
इसके आकम्पनमेव से तीन भेद हैं—अप्ययोग, बचनयोग और मनोयोग ।  
औद्योगिकतादि धारी वर्गोंके पुद्गलों के आकम्पन से जो योग प्रवर्तमान होता  
है वह काययोग है । मतिज्ञानावरण अन्ध-भ्रुवावरण आदि कर्म के  
लक्ष्योपशम से उत्पन्न आन्तरिक बाधस्थिति होने पर मायावर्गोंके आकम्पन  
से जो माया परिणाम के अभिभूत आत्मा का प्रदेश परिस्पन्द होता है वह  
काययोग है । नीहृत्स्व मतिज्ञानावरण के लक्ष्योपशम रूप आन्तरिक मनो-  
स्थिति होने पर मनोवर्गोंके आकम्पन से जो मतापरिणाम ॥ अभिभूत  
आत्मा का प्रदेशकम्पन होता है वह मनोयोग है ॥

उक्त तीनों प्रकार का योग ही भासव कहलाता है । योग को  
भासव करने का कारण यह है कि योग के द्वारा ही आत्मा में कर्म वर्गों  
का आकम्पन—कमलप ही उपलब्ध होता है । जैसे अन्धराय में बाल की

प्रवेश कराने वाले नाले आदि का मुख या द्वार आस्रव-वहन का निमित्त होने से आस्रव कहा जाता है, वैसे ही कर्मास्रव का निमित्त होने के कारण योग को आस्रव कहा जाता है । १, २ ।

योग के भेद और उनका कार्यभेद—

शुभ पुण्यस्य । ३ ।

अशुभ पापस्य । ४ ।

शुभयोग पुण्य का आस्रव—बन्धहेतु है ।

और अशुभयोग पापका आस्रव है ।

काययोग आदि तीनों योग शुभ भी हैं और अशुभ भी ।

योग के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है । शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है । कार्य—कर्मबन्ध की शुभाशुभता पर योग की शुभाशुभता अवलम्बित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से सभी योग अशुभ ही कहे जायेंगे, कोई शुभ कहा न जा सकेगा, क्योंकि शुभ योग भी आठवें आदि गुणस्थानों में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्ध का कारण होता है ।

१ तीसरे और चौथे नवरवाले दो सूत्रों के स्थान में 'शुभ पुण्यस्या-शुभ पापस्य' ऐसा एक ही सूत्र तीसरे नवर पर दिगम्बर ग्रन्थों में छपा है । परन्तु राजवार्तिकमें "तत सूत्रद्वयमनर्थकम्" ऐसा उल्लेख प्रस्तुत सूत्रों की चर्चा में मिलता है, देखो पृष्ठ २४८ वार्तिक ७ की टीका । इस उल्लेख से जान पड़ता है कि व्याख्याकारों ने दोनों सूत्र साथ लिखकर उन पर एक साथ ही व्याख्या की होगी और लिखने या छपानेवालों ने एक साथ सूत्र पाठ और साथ ही व्याख्या देखकर दोनों सूत्रों को अलग अलग न मानकर एक ही सूत्र समझा होगा और उनके ऊपर एक ही नवर लिख दिया होगा ।

२ इसके लिए देखो हिंदी चौथा कर्मग्रंथ—गुणस्थानों में बन्धविचार, तथा हिंदी दूसरा कर्मग्रंथ ।



हिंसा, चोरी अन्नदा आदि अधिका व्यापार अशुभ काययोग और  
रक्षा, दान, ब्रह्मचर्य पाठ्य आदि शुभ काययोग है। तस्य किन्तु तापस्य  
माष्य, मिष्या भाष्य कठोर माष्य आदि अशुभ वाग्योग और निष्य  
सह्य भाष्य सृष्टु तथा सन्म आदि भाष्य शुभ वाग्योग है। वृत्तों की  
दुर्गर्ह का तथा उनके बन्ध का विन्तन आदि करना अशुभ मनोयोग और  
वृत्तों की मन्मर्ह का विन्तन तथा उनका उत्कर्ष देखकर प्रसन्न होना आदि  
शुभ मनोयोग है।

शुभ योग का काय पुण्यप्रकृति का बन्ध और अशुभ योग का  
काय पाप प्रकृति का बन्ध है। देहा प्रस्तुत वृत्तों का विधान आवेक्षिक है  
क्योंकि संज्ञेय—कृपाय की मन्दता के समय होनेवाला योग शुभ और  
संज्ञेय की तीव्रता के समय होनेवाला याग अशुभ कर्त्तव्यता है। जैसे  
अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुणस्थानों में ज्ञानावरणीय आदि सभी  
पुण्य, पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध होता है, जैसे ही छोटे अग्नि गुण  
स्थानों में शुभयोग के समय भी सभी पुण्य पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध  
होता ही है। फिर शुभयोग का पुण्य के बन्धकारण रूप से और अशुभ  
योग का पाप के बन्धकारण रूप से अलग-अलग विधान कैसे संभव हो  
सकता है ? इच्छिय प्रस्तुत विधान की सुकल्पना अनुभागबन्ध की अपेक्षा  
से समझना चाहिए। शुभ योग की तीव्रता के समय पुण्य प्रकृतियों के  
अनुभाग—२१ की मात्रा अधिक और पाप प्रकृतियों के अनु-  
मात्रा हीन निष्पन्न होती है। शुभ योग अशुभ योग की व-  
समय पाप प्रकृतियों का अनुभाग और पुण्य  
अनुभागबन्ध अन्य होता है।  
अधिकमात्रा और अशुभयोगबन्ध अधिक मात्रा है  
मात्राबन्ध नाम कर " से पुण्य का अ-  
योग को बाध करता है



मात्रा और अशुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की हीन मात्रा विवक्षित नहीं है; क्योंकि लोक की तरह शास्त्र में भी प्रधानता से व्यवहार करने का नियम प्रसिद्ध है । ३, ४ ।

स्वामिभेद से योग का फलभेद—

**सकृपायाकृपाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः । ५ ।**

कषायसहित और कषायरहित आत्मा का योग अनुक्रम से साम्परायिक कर्म और ईर्यापथ कर्म का बन्धहेतु—आसन्न होता है ।

जिनमें क्रोध, लोभ आदि कषायों का उदय हो वह कषायसहित और जिनमें न हो वह कषायरहित हैं । पहले से दसवें गुणस्थान तक के सभी जीव न्यूनाधिक प्रमाण में सकृपाय हैं और ग्यारहवें आदि आगे के गुणस्थान वाले अकषाय हैं ।

आत्मा का सम्पराय—पराभव करनेवाला कर्म साम्परायिक कहलाता है । जैसे गीले चमड़े के ऊपर हवा द्वारा पड़ी हुई रज उसके साथ चिपक जाती है, वैसे योग द्वारा आकृष्ट होनेवाला जो कर्म कषायोदय के कारण आत्मा के साथ सबद्ध होकर स्थिति पा लेता है, वह साम्परायिक है । सूखी भीत के ऊपर लगे हुए लकड़ी के गोलों की तरह योग से आकृष्ट जो कर्म कषायोदय न होने के कारण आत्मा के साथ लग कर तुरन्त ही छूट जाता है वह ईर्यापथ कर्म कहलाता है । ईर्यापथ कर्म की स्थिति सिर्फ एक समय की मानी गई है ।

कषायोदय वाले आत्मा काययोग आदि तीन प्रकार के शुभ, अशुभ योग से जो कर्म बाधते हैं वह साम्परायिक हैं, अर्थात् कषाय की तीव्रता,

१. “प्राधान्येय व्यपदेशा भवन्ति” यह न्याय जैसे—जहां ब्राह्मणों की प्रधानता हो या सख्या अधिक हो, अन्य वर्णों के लोग होने पर भी वह गौव ब्राह्मणों का कहलाता है ।

मंदता के अनुसार अधिक मा कम रिपति बाध होता है; और क्यासम्भ  
 ह्यमाह्यम विपाक का कारण भी होता है। परन्तु क्यासमुक्त आत्मा तीनों  
 प्रकार के योग से जो कर्म बाधते हैं वह क्यास के अभाव के कारण न तो  
 विपाकजनक होता है और न एक समय से अधिक रिपति ही प्राप्त करता  
 है। ऐसे एक समय की स्थिति वाले कर्म को ईयापाधिक नाम देने का  
 कारण यह है कि वह कर्म क्यास के अभाव में सिर्फ ईया-गमनागमनादि  
 क्रिया के पथ द्वारा ही बाधा जाता है। वाराय यह कि तीनों प्रकार का  
 योग अभाव होने पर भी अगर क्यास न हो तो उपार्जित कर्म में स्थिति  
 का रस का बंध नहीं होता। स्थिति और रस दोनों का बंधकारण क्यास  
 ही है। अतएव क्यास ही संसार की अमली बह है। ५।

साध्याधिक कर्मात्मक के भेद-

अवतकपायेन्द्रियक्रियाः पञ्चपतुःपञ्चपञ्चविंशतिसस्या  
 पूर्वस्य भेदाः। ६।

पूर्व के अर्थात् दो में से पहले साध्याधिक कर्मात्मक के अवत  
 कपाय, इन्द्रिय और क्रिया रूप भेद है जो अनुक्रम से संख्या में पाँच  
 बार, पाँच और पचीस हैं।

किन देवताओं से साध्याधिक कर्म का जन्म होता है वे साम्याधिक  
 कर्म के आशय करती हैं। ऐसे आशय लक्षणाओं में ही पाँच का  
 लक्ष्य है। परन्तु पुनः किन आशयभेदों का जन्म है वे साम्याधिक  
 कर्मात्मक ही हैं क्योंकि वे क्यासमूलक हैं।

द्विषा अतएव श्रेय, अज्ञान और परिवार से पाँच आशय हैं किन्तु  
 वजन अर्थात् ७ क एव ८ से १२ तक है। श्रेय मान मात्र जीम  
 न बार क्यास है किन्तु विरोधबन्ध अर्थात् ८ एव १ में है।  
 इयान आदि पाँच इन्द्रियों का जन्म अर्थात् १ एव १ में आशुका

है। वही इन्द्रिय का धर्म उमकी राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति से है; क्योंकि सिर्फ स्वरूपमात्र से कोई इन्द्रिय कर्मबन्ध का कारण नहीं हो सकती और न इन्द्रियों की राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का कारण हो सकती है।

पचास क्रियाओं के नाम और उनके लक्षण इस प्रकार हैं १. मन्-वचक्रिया वह है जो देव, गुरु और शास्त्र की पूजाप्रतिपत्ति रूप होने से मन्मत्त्व को पोषक है। २. मिथ्यात्व क्रिया वह है जो मिथ्यात्व मोह-नाशकर्म के बल से होनेवाली सराग देव की स्तुति, उपासना आदि रूप है। ३ शरीर आदि द्वारा जाने, आने आदि में सक्रिय प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है। ४ लागी होकर भोगवृत्ति की ओर झुकना समादान क्रिया है। ५ ईर्यापयकर्म—एक सामयिक कर्म के बंधन या वेदन की कारणभूत क्रिया ईर्यापयक्रिया है।

१ दुष्टभाव युक्त होकर प्रयत्न करना अर्थात् किसी काम के लिए तत्पर होना कायिकी क्रिया है। २ हिंसाकारी साधनों को ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है। ३ क्रोध के आवेश से होनेवाली क्रिया प्रादोषिकी क्रिया है। ४ प्राणियों को सतानेवाली क्रिया पारितापनिकी क्रिया है। ५ प्राणियों को प्राणों से वियुक्त करने की क्रिया प्राणातिपातिकी क्रिया है।

१, रागवश होकर रमणीय रूप को देखने की वृत्ति दर्शनक्रिया है। २ प्रमादवश होकर स्पर्श करने लायक वस्तुओं के स्पर्शानुभव की वृत्ति स्पर्शनक्रिया है। ३ नये शब्दों को ब्रनाना प्रात्ययिकी क्रिया है। ४ स्त्री, पुरुष और पशुओं के जाने आने की जगह पर मल, मूत्र आदि त्यागना समन्तानुपातनक्रिया है। ५ अवलोकन और प्रमार्जन नहीं की हुई जगह पर शरीर आदि रखना अनाभोगक्रिया है।

१ पाँच इन्द्रियों, मन्-वचन-कायबल, उल्लासनि श्वास, और आयुः ये दश प्राण हैं।

१ जो किया दूसरे के करने की हो उसे स्वयं कर देना स्वप्रवृत्ति  
 है। २ पापकारी प्रवृत्ति के लिए अनुमति देना निवृत्तवृत्ति है। ३ दूसरे  
 ने जो पापकर्म किया हो उसे प्रवृत्त कर देना विचार किया है।  
 ४ प्रवृत्त करने की शक्ति न होने से शास्त्रोक्त आठों के विपरीत प्रवृत्त करना  
 आठोंवापादिकी अवस्था माननीय किया है। ५ पूर्णता और आच्छन्न से  
 व्याकृत विधि करने का अनाद्य अनवकाश किया है।

१ काटने पीटने और घात करने में स्वयं रत रहना और सुख  
 की वैधी प्रवृत्ति देखकर क्रोध होना आरम्भकिया है। २ जो किया परिश्रम  
 का नाश न होने के लिए की व्यय वह परिश्रमिक किया है। ३ ज्ञान दर्शन  
 आदि के विषय में सुखी की उगना मायाकिया है। ४ सिद्धाद्वि के अनुकूल  
 प्रवृत्ति करने करने में निरत मनुष्य की सूचीक करता है इत्यादि  
 कदकर प्रवृत्ता आदि ह्य और भी सिद्धात्त्व में दृष्ट करना सिद्धादर्शन  
 किया है। संवत्कालिक के प्रभाव के कारण पापव्यापार से निवृत्त न  
 होना अप्रवृत्तमान किया है।

पौत्र पौत्र कियाओं का एक श्रेष्ठ उक्त पौत्र पत्रकों में से सिद्ध  
 उदात्तकी किया साम्प्रदायिक कर्म का आस्त्य नहीं है और उक्त किया  
 कपावदेशि होने के कारण साम्प्रदायिक कर्म की सम्बन्ध है। यहाँ का  
 उक्त उक्त कियाओं को साम्प्रदायिक कर्मकर्म कहा है ता वाहुम्य की दृष्टि न  
 समझना चाहिए। कदापि ज्ञान, इन्द्रियप्रवृत्ति और उक्त कियाओं की  
 सम्बन्धकाला राश्रीय पर ही अवस्थित है; इत्यदि वस्तुतः राश्रीय-  
 कशाप ही साम्प्रदायिक कर्म का सम्बन्धकारण है तथापि कथाप से असंग भवत्  
 आदि का सम्बन्धकारण रूप से सूत्र में जो कथन किया है वह कथापकर्म  
 कौन कौन ही प्रवृत्ति व्यवहार में मुक्ततावा मन्त्र आती है और तब के  
 अनिवासी को कित किस प्रवृत्ति को मन्त्र की भाग पाग देना चाहिए  
 वह समझाने के लिए है। १।

बधकारण समान होने पर भी परिणामभेद से कर्मबन्ध में विशेषता—

**तीव्रमन्दज्ञाज्ञातभाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः । ७ ।**

तीव्रभाव, मद्मत्त्व, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरण के भेद से उसकी अर्थात् कर्मबन्ध की विशेषता होती है ।

प्राणातिपात, इन्द्रियव्यापार और सम्यक्त्वक्रिया आदि उक्त आसन्न-बधकारण समान होने पर भी तद्गजन्य कर्मबन्ध में किस किस कारण से विशेषता होती है यही इस सूत्र में दिखाया गया है ।

ब्राह्म बधकारण समान होने पर भी परिणाम की तीव्रता और मद्मत्ता के कारण कर्मबन्ध भिन्न भिन्न होता है । जैसे एक ही दृश्य को देखनेवाले दो व्यक्तियों में से मद् आसक्तिपूर्वक देखनेवाले की अपेक्षा तीव्र आसक्तिपूर्वक देखने वाला कर्म को तीव्र ही बांधता है । इरादापूर्वक प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है और बिना इरादे के कृत्य का हो जाना अज्ञातभाव है । ज्ञात और अज्ञात भाव में ब्राह्म व्यापार समान होने पर भी कर्मबन्ध में फर्क पड़ता है । जैसे एक व्यक्ति हरिण को हरिण समझ कर बाण से बाँध डालता है और दूसरा बाण चलाता तो है किसी निर्जीव निशान पर, किन्तु भूल से बीच में वह हरिण को बाँध डालता है । भूल से मारनेवाले की अपेक्षा समझ पूर्वक मारनेवाले का कर्मबन्ध उत्कट होता है । वीर्य-शक्तिविशेष भी कर्मबन्ध की विचित्रता का कारण होता है । जैसे—दान, सेवा आदि कोई शुभ काम हो या हिंसा, चोरी आदि अशुभ काम सभी शुभाशुभ कामों को बलवान् मनुष्य जिस आसानी और उत्साह से कर सकता है, निर्बल मनुष्य उन्हीं कामों को बड़ी कठिनता से कर पाता है, इसलिए बलवान् की अपेक्षा निर्बल का शुभाशुभ कर्मबन्ध मन्द ही होता है ।

जीवाजीव रूप अधिकरण के अनेक भेद बड़े जानेवाले हैं । उनकी विशेषता से भी कर्मकण्ड में विशेषता आती है । जैसे—हर्या, बोरी आदि अग्रिम और पर-रक्षण आदि अग्रम काम करने वाले दो मनुष्यों में से एक के पास अधिकरण—शक्त उप हो और दूसरे के पास मामूली हो तों मामूली शक्त वाले भी अपेक्षा उप शक्तधारी का कर्मकण्ड लीम होना सम्भव है, क्योंकि उप शक्त के सन्निधान से उसमें एक प्रकार का आशेष अधिक रहता है ।

यद्यपि वाञ्छ आसन्न की समानता होने पर भी जो कर्मकण्ड में अतमानता होती है उसके कारण रूप से कार्य अधिकरण आदि की विशेषता का कथन सूत्र में किया गया है तथापि कर्मकण्ड की विशेषता का लक्ष निमित्त का्याधिक परिणाम का तात्पर्य स्पष्ट स्पष्ट ही है । परन्तु सहानप्रवृत्ति और शक्ति की विशेषता कर्मकण्ड की विशेषता का कारण होती है वे भी का्याधिक परिणाम की विशेषता के द्वारा ही । एही तरह कर्मकण्ड की विशेषता में शक्त की विशेषता के निमित्तभाव का कथन भी का्याधिक परिणाम की तात्पर्यता के द्वारा ही समझना चाहिए । ७ ।

अधिकरण के दो भेद—

अधिकरण जीवाजीवा । ८ ।

आद्य संरम्भममारम्भारम्भयोगकृतकृतिष्ठानुमत  
कपायविद्युपैरिन्द्रियैस्त्रिभुक्तुभैकम् । ९ ।

निर्वर्तनानिषेपमयोगानिमगा द्विषतुद्विभिभेदा  
परम् । १० ।

अधिकरण जीव आर आजीव रूप है ।

आय- पहला जीवरूप अधिकरण त्रयशः सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ-भेद से तीन प्रकार का, योगभेद से तीन प्रकार का, कृत, कारित, अनुमत-भेद से तीन प्रकार का और त्रयायभेद से चार प्रकार का है।

पर अर्थात् अर्जावाधिकरण अनुक्रम में दो भेद, चार भेद, दो भेद और तीन भेद वाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग रूप हैं।

शुभ, अशुभ सभी कार्य जीव और अर्जाव के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। अकेला जीव या अकेला अर्जाव कुछ नहीं कर सकता। इसलिए जीव, अर्जाव दोनों अधिकरण अर्थात् कर्मग्रन्थ के साधन, उपकरण या शस्त्र कहलाते हैं। उक्त दोनों अधिकरण द्रव्य भाव रूप से दो दो प्रकार के हैं। जीव व्यक्ति या अर्जाव वस्तु द्रव्याधिकरण है, और जीवगत कपाय आदि परिणाम तथा छुरी आदि निर्जाव वस्तु की तीक्ष्णता रूप शक्ति आदि भावाधिकरण हैं। ८।

ससारी जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करते समय एक सौ माठ अवस्थाओं में से किसी न किसी अवस्था में अवश्य वर्तमान होता है। इसलिए वे अवस्थाएँ भावाधिकरण हैं, जैसे- क्रोधकृत कायसरम्भ, मानकृत कायसरम्भ, मायाकृत त्रायसरम्भ, लोभकृत कायसरम्भ ये चार, इसी तरह कृत पद के स्थान में कारित तथा अनुमतपद लगाने से क्रोधकारित काय-सरम्भ आदि चार, तथा क्रोध-अनुमत कायसरम्भ आदि चार इस प्रकार कुल बारह भेद होते हैं। इसी तरह काय के स्थान में वचन और मन पद लगाने से बारह बारह भेद होते हैं, जैसे क्रोधकृत वचनसरम्भ आदि तथा क्रोधकृत मन सरम्भ आदि। इन छत्तीस भेदों में संरम्भ पद के स्थान में समारम्भ और आरम्भ पद लगाने से छत्तीस छत्तीस और भी भेद होते हैं। इन सबको मिलाने से कुल १०८ भेद हो जाते हैं।

प्रमादी जीव का हिंसा आदि कार्यों के लिए प्रयत्न का आवेश सरम्भ कहलाता है, उसी कार्य के लिए साधनों को जुटाना समारम्भ और



अन्त में कार्य को करना आरम्भ कहा जाता है। अर्थात् कार्य की संकल्पनात्मक रूपम अवस्था से लेकर उत्पन्न प्रकृत रूप में पूरा कर देने तक तीन अवस्थाएँ होती हैं, जो अगुणम से चरम्म समारम्भ और आरम्भ कहा जाता है। योग के तन्त्र प्रक्रम पहले करे का चुके हैं। इत्य का मत्तव स्वरु करना, करित का मत्तव सुतरे से करना और अगुणत का मत्तव किती के कार्य में सम्मत् होता है। अथ, मान आदि पारी क्याप मत्तव है।

जब कोई छाया जीवजन आदि छुम या हिंसा आदि मत्तव पान से संकल्प रकता है तब मा लो बह अथ से वा मान आदि किती अन्म क्याप से प्रेरित होता है। क्यापधरित होकर मी कमी बह स्वरु करता है या सुतरे से करवाता है, अथवा सुतरे के काम में सम्मत् होता है। इसी तरह बह कमी उस काम के किए चाधिक, चाधिक और मानविक संरम्म समारम्भ या आरम्भ से युक्त कल्प्य होता है। ९।

परमाणु आदि मूर्त वस्तु, इत्य अर्थात्वाधिकरण है। जीव की शुभाशुभ प्रकृति में उपयोगी होनेवाला मूर्त इत्य किंत किंत अवस्था में वर्तमान पाया जा सकता है वह सब भाव अर्थात्वाधिकरण है। यों इत्य अर्थात्वाधिकरण के सुकव चार भेद कतम्प है। जैसे निर्वर्तना—रचना, निक्षेप—रचना संयोग—मिथुना और निरर्थ—प्रवर्तन। निर्वर्तना के मूल गुणनिर्वर्तना और उत्पन्नगुणनिर्वर्तना येमे दो भेद हैं। बुद्धक इत्य की जो औदारिक आदि शरीररूप रचना अन्तरात् ताभय रूप से जीव की शुभाशुभ प्रकृति में उपयोगी होती है वह मूलगुणनिर्वर्तना और बुद्धक इत्य की वा बहकी पञ्च आदि रूप परिणति बहिरात् ताभय रूप से जीव की शुभाशुभ प्रकृति में उपयोगी होती है वह उत्पन्नगुणनिर्वर्तना है।

निक्षेप के अन्तर्गतनिक्षेप बुद्धमात्रिकनिक्षेप सदलानिक्षेप और अन्तर्गतनिक्षेप येमे चार भेद हैं। प्रायवेत्तय किने बिना ही अर्थात्

बन्धही तरह देखे बिना ही किसी वस्तु को कहीं भी रख देना अप्रत्यवेक्षित-  
निक्षेप है। प्रत्यवेक्षण करने पर भी ठीक तरह से प्रमार्जन किये बिना ही  
वस्तु को जैसे तैसे रख देना दुष्प्रमार्जितनिक्षेप है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन  
किये बिना ही सहसा अर्थात् जल्दी से वस्तु को रखना सहसानिक्षेप है।  
उपयोग के बिना ही किसी वस्तु को कहीं रख देना अनाभोगनिक्षेप है।

संयोग के दो भेद हैं अन्न, जल आदि का संयोजन करना तथा  
अन्न, पात्र आदि उपकरणों का संयोजन करना—अनुक्रम से भक्तपान—  
संयोगाधिकरण और उपकरण संयोगाधिकरण है।

शरीर का, वचन का और मन का प्रवर्तन अनुक्रम से कावनिर्गम,  
वचननिर्गम और मनोनिर्गम रूप से तीन निर्गम हैं। १०।

आठ प्रकारों में से प्रत्येक सापरायिक कर्म के भिन्न भिन्न  
बन्धहेतुओं का कथन—

तत्प्रदोषनिह्वयमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्श-  
नावरणयो । ११ ।

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्य-  
सद्वेद्यस्य । १२ ।

भूतव्रत्यनुकम्पा दान सहासंयमादियोगः क्षान्ति  
शौचमिति सद्वेद्यस्य । १३ ।

केवलिश्रुतसङ्घर्षधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य । १४ ।

कषायोदयान्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य । १५ ।

बह्वारम्भपरिग्रहत्व च नारकस्थायुषः । १६ ।

माया तैर्यग्योनस्य । १७ ।

मत्पारम्परियहस्त स्वभावमार्तवाजस च मानुषस्य । १८ ।  
निःशीलप्रवृत्तस्य च सर्वेषाम् । १९ ।

मरुगस्यमस्यपमास्यमाकामनिर्जगबालतपांसि  
देवस्य । २० ।

यागवक्रता विसवादन चाशुभस्य नाम्ना । २१ ।  
विपरीतं शुभस्य । २२ ।

दर्शनविशुद्धिर्बिम्बसपञ्चता शीलवेषनतिचाराऽर्थात्  
ज्ञानोपयोगसवेगौ अक्षितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधि-  
वैयाहृत्यकरणमहदाचार्यबहुभुष्टप्रबन्धनमक्तिरावश्यका  
परिहाणिर्माणप्रमावना प्रपञ्चनवत्सलत्वमिति  
तीर्थकृत्वस्य । २३ ।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचै  
र्गोत्रस्य । २४ ।

तद्विपर्ययो नीचैवस्यनुत्सेकौ चोचरस्य । २५ ।

विभक्तकर्ममन्तरायस्य । २६ ।

उत्पद्यते निम्नं आत्मनः अन्तरात् आत्मानं और उपपद्यते ।  
कोनाकरण कर्म तथा दर्शनाकरण कर्म के सम्बन्धे—आत्मनः है ।

निम्न आत्मनः में पर आत्मा में वा लोगों अन्तर्गत में निम्न—निम्न  
मान बुद्धि, शीघ्र, ताप आत्मनः, वच और परिवेषन से अन्तर्गतमें  
कर्म के सम्बन्धे हैं ।

भूत-अनुकम्पा मति-अनुकम्पा दान उपाय लक्ष्मि शोच, शक्ति  
धीर शोच से शांतिवर्मीय कर्म के सम्बन्धे हैं ।

केवलज्ञानी, श्रुत, संघ, धर्म और देव का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बन्धहेतु है ।

स्वाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का बन्धहेतु है ।

बहुत आरम्भ और बहुत परिश्रम ये नरकायु के बन्धहेतु हैं ।

माया तिर्यच-आयु का बन्धहेतु है ।

अल्प आरम्भ, अल्प परिश्रम, स्वभाव की मृदुता और सरलता ये मनुष्य-आयु के बन्धहेतु हैं ।

शीलरहित और व्रतरहित होना तथा पूर्वोक्त अल्प आरम्भ आदि, सभी आयुओं के बन्धहेतु हैं ।

मरुगसयम, मयमासंयम, अकामनिर्जरा और ब्रालतप ये देवायु के बन्धहेतु हैं ।

१ दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस सूत्र का ऐसा अर्थ है कि निःशीलत्व और निर्भ्रतत्व ये दोनों नारक आदि तीन आयुओं के आत्मव है । और भोगभूमि में उत्पन्न मनुष्यों की अपेक्षा में निःशीलत्व और निर्भ्रतत्व ये दोनों देवायु के भी आत्मव हैं । इस अर्थ में देवायु के आत्मव का समावेश होता है, जिसका वर्णन भाष्य में नहीं आया, परन्तु इसी भाष्य की वृत्ति में वृत्तिकार ने विचारपूर्वक भाष्य की यह श्रुति जान करके इस बात की पूर्ति आगमानुसार कर लेने के लिये ही विद्वानों को सूचित किया है ।

२ दिगम्बर परम्परा में देवायु के प्रस्तुत सूत्र में इन आत्मवों के अलावा दूसरा एक और भी आत्मव गिनाया है, और उसके लिए इस सूत्र के बाद ही एक दूसरा "सम्यक्त्वं च" ऐसा अलग सूत्र है । इस परम्परा के अनुसार उक्त सूत्र का अर्थ ऐसा है कि सम्यक्त्व सौधर्म आदि कल्पचासी देवों की आयु का आत्मव है । भाष्य में यह बात नहीं है । फिर भी वृत्तिकार ने भाष्यवृत्ति में दूसरे कई आत्मव गिनाते हुए सम्यक्त्व को भी ले लिया है । ।

योग की शक्तता और विरिष्वाह ये अष्टम मायकर्म के बन्धहेतु हैं।  
विकीरित धर्मात् योग की शक्तता और अविरिष्वाह छुम उष्कर्म  
के बन्धहेतु हैं।

दर्शनविद्युदि, विनयसंपत्तया, शीघ्र और श्रुती में आत्यन्त अग्रगण्य,  
ज्ञान में सतत उपयोग तथा सतत संनैग, धृष्टि के अनुसार स्वाम और उप,  
संघ और साधु की समाधि और वैवाहृत्य करना, अविहित आचार्य, बहुभक्त  
तथा प्रवचन की शक्ति करना आबस्यक किया की न छोडना मोक्षकर्म  
की प्रशंसा और प्रवचनशुक्तस्य ये सब तीर्थकर मायकर्म के बन्धहेतु हैं।

परनिन्दा, आरम्भसंता, सरगुणी का आच्छादन और अवदुग्धी का  
प्रवचन ये नीच गोत्र के बन्धहेतु हैं।

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रसंता, आरम्भनिन्दा आदि तथा नम्रवृष्टि  
और मिथिममानता ये उच्च गोत्रकर्म के बन्धहेतु हैं।

दानादि में विप्र शाल्म्य अस्तवकर्म का बन्धहेतु है।

यहाँ से लेकर इस अध्याय के अन्त तक प्रत्येक मूख कर्मप्रवृष्टि के  
बन्धहेतुओं का उल्लेख वर्णन है। यद्यपि सब कर्मप्रवृष्टियों के बन्धहेतु  
सामान्य रूप से योग और कर्माय ही हैं, तथापि कथायवन्ध अनेक प्रकार  
की प्रवृष्टियों में से हीम कीन ही प्रवृष्टि निवृत्त कित कित कर्म के बन्ध का हतु  
हो सकती है, इसी बात की विभाम पूर्वक बतलाना प्रस्तुत प्ररूप का  
उद्देश्य है।

१ ध्यान, शान्ति और ज्ञान के साधनों पर हिय करना और रत्ना  
अर्थात् तरक्यान के निरूपण के समय कीर्ण अपने मन ही मन में तरक्यान  
गन्धर्वशीय और के प्रति टरकने वष्य के प्रति अथवा उल्लेख ताफनों  
दर्शनवर्त्तीय कर्मों के प्रति पच्छे रहते हैं, यही ताप्रदेश-ज्ञानप्रदेश  
के बन्धहेतुओं का करमता है। २ कीर किली से पूछ या ज्ञान का  
रूपकर ताया मां: तर हान तथा ज्ञान के ताफा प्राणे

पास होने पर भी कलुषित भाव से यह कहना कि मैं नहीं जानता अथवा मेरे पास वह वस्तु है ही नहीं, यह ज्ञाननिहव है। ३. ज्ञान अभ्यस्त और परिपक्व हो, तथा देने योग्य भी हो, फिर भी उसके अधिकारी ग्राहक के मिलने पर उसे न देने की कलुषित वृत्ति ही ज्ञानमात्सर्य है। ४. कलुषित भाव से ज्ञानप्राप्ति में किसी को बाधा पहुँचाना ही ज्ञानान्तराय है। ५. दूसरा कोई ज्ञान दे रहा हो, तब चाणी अथवा शरीर से उसका निषेध करना जानासादन है। ६ किसी ने उचित ही कहा हो, फिर भी अपनी उल्टी मति के कारण अशुक्त भासित होने से उलटा उसके दोष निकालना उपघात कहलाता है।

जब पूर्वाक्त प्रद्वेष, निहव आदि ज्ञान, जानी या उसके साधन आदि के साथ संबन्ध रखते हों, तब वे ज्ञानप्रद्वेष, ज्ञाननिहव आदि कहलाते हैं, और दर्शन-सामान्य बोध, दर्शनी अथवा दर्शन के साधन के साथ संबन्ध रखते हों, तब दर्शनप्रद्वेष, दर्शननिहव आदि रूप से समझना चाहिए।

प्र०—आसादन और उपघात में क्या अन्तर है ?

उ०—ज्ञान के विद्यमान होने पर भी उसकी विनय न करना, दूसरे के सामने उसे प्रकाशित न करना, उसके गुणों को न दरखाना आखादन है, और उपघात अर्थात् ज्ञान को ही अज्ञान मान कर उसे नष्ट करने का इरादा रखना, इन दोनों के बीच यही अन्तर है। ११।

१. बाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीड़ा का होना दुःख है।  
 २. किसी द्वितीय के संबन्ध के टूटने से चिन्ता और खेद होना शोक है। ३. अपमान से मन कलुषित होने के कारण असंतापेदनीय कर्म जो तीव्र सताप होता है वह ताप है। ४. गद्गद स्वर से आँसू गिराने के साथ रोना-पीटना व्याक्रन्दन है। ५. किसी के प्राण लेना वध है। ६. वियुक्त व्यक्ति

के गुणों का हमरण होने से जो कल्याणजनक फल होता है वह परिदेय फलत्वता है।

उक्त दुःख आदि छा भीर उन जैसे अन्य भी ताइन तर्कन आदि अनेक निमित्त जब अपने में दुःख में या होनी में ही पैदा किये जायें तब वे उत्पन्न करने वाले के आत्मावेदनीय कर्म के बन्धन बनते हैं।

प्र —अगर दुःख आदि पुरुषोत्तम निमित्त अपने में या दुःख में उत्पन्न करने से आत्मावेदनीय कर्म के बन्धक होते हैं; तो फिर शोक, उपवास, मठ तथा जैसे दुःख निवृत्त मी दुःखकारी होने से वे भी आत्मावेदनीय के बन्धक होन चाहिये, और यदि ऐसा हो तो उन मठ आदि निवृत्तों का अनुष्ठान करने की अपेक्षा उनका त्याग ही करना अधिक क्यों नहीं मान्य ज्ञाय ?

उ —उक्त दुःख आदि निमित्त जब शोक आदि आवेग के उत्पन्न हुए ही तभी आत्मन के कारण बनते हैं न किन्तु क्षमात्मक रीति से ही अर्थात् दुःखकारी होने मात्र से ही। तब स्वामी या तपस्वी के चाहे किन्तु कठोर मठ निवृत्तों का पाकन करने पर भी आत्मावेदनीय का बन्ध नहीं होता। इसके दो कारण हैं : पहला यह कि तब स्वामी चाहे जैसे कठोर मठ का पाकन करके दुःख उठाने पर वह शोक का जैसे ही दुःख किसी कुछ भाव से नहीं किन्तु तद्बुद्धि और तद्बुद्धि से प्रेरित हां कर ही दुःख उठता है। वह कठिन मठ धारण करता है पर चाहे किन्तु दुःख प्रसंग क्यों न आ जायें उनमें शोक संतप आदि क्लेश म हीने से वे प्रसंग भी उसके लिए बन्धक नहीं बनते। दूसरा कारण यह है कि कई बार तो जैसे स्वामियों की कठोरतम मठ निवृत्तों के पाकन करने में भी वास्तविक प्रवृत्तता का अनुभव होता है और इसी कारण वे प्रसंगों में तमको दुःख या शोक आदि संभव ही नहीं होते। वह तो प्रकृत ही है कि एक ही किम प्रसंगों में दुःख होता है उचित

प्रसंग में दूसरे को भी दुःख होता है, ऐसा नियम नहीं। इसलिए ऐसे नियम-व्रतों के पालन में भी मानसिक रति होने से उनके लिए वह दुःख रूप न होकर सुख रूप ही होता है। जैसे, कोई दयालु वैद्य चिर-पाह से किसी को दुःख देने में निमित्त होने पर भी करुणा वृत्ति से प्रेरित होने के कारण पापभागी नहीं होता, वैसे सासारिक दुःख दूर करने के लिए उसके ही उपायों को प्रसन्नता पूर्वक आजमाता हुआ त्यागी भी सद्वृत्ति के कारण पाप का बन्धक नहीं होता।

१ प्राणि-मात्र पर अनुकम्पा रखना ही भूतानुकम्पा है अर्थात् दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानने का भाव ही— अनुकम्पा है।

मातावेदनीय कर्म  
के बन्धहेतुओं  
का स्वरूप

२ व्रत्यनुकम्पा अर्थात् अल्पाग्र रूप से व्रतधारी गृहस्थ और सर्वांश रूप से व्रतधारी त्यागी इन दोनों पर विशेष प्रकार से अनुकम्पा रखना व्रत्यनुकम्पा है।

३. अपनी वस्तु दूसरों को नम्रभाव से अर्पण करना

दान है। ४ सरागसयमादि योग का अर्थ है सरागसयम, सयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतप इन सबों में यथोचित ध्यान देना। ससार की कारण रूप तृष्णा को दूर करने के लिए तत्पर होकर सयम स्वीकार कर लेने पर भी जब कि मन में राग के सस्कार क्षीण नहीं होते—तब वह सयम सरागसयम कहलाता है। आशिक सयम को स्वीकार करना मयमासयम है। अपनी इच्छा से नहीं, किन्तु परतन्त्रता से जो भोगों का त्याग किया जाता है, वह अकामनिर्जरा है। बाल अर्थात् यथार्थ ज्ञान से शून्य मिथ्यादृष्टि वालों का अग्निप्रवेश, जलपतन, गोचर आदि का भक्षण, अनशन आदि तप बालतप है। ५ शान्ति अर्थात् धर्मदृष्टि से क्रोधादि दोषों का शमन। ६ लोभवृत्ति और तत्समान दोषों का शमन ही शान्ति है। १३।



१ कैवली का अर्धवाह अर्थात् बुद्धि से कैवली के अन्तर्गत दोषों का प्रकट करना, जैसे सर्वज्ञता की संभाषना की स्वीकार न करना और कहा कि सर्वज्ञ हीकर भी उसने मोक्ष के उपाय उपाय न पता कर भिन्ना व्यापारण शक्य नहीं ऐसे दुग्ध उपाय क्यों बतलाए हैं ? इत्यादि । २ भूत का अर्धवाह अर्थात् धातु के मिथ्या दोषों का हेतुबुद्धि से बर्णन करना जैसे यह कहना कि यह शास्त्र अनपठ लोगों की प्राण्य भाषा में अथवा परिच्छेदों की अतिशय संक्षुब्ध आदि भाषा में उचित होने से दुग्ध है, अथवा इसमें विविध अथ नियम तथा प्राण्यवित आदि का अर्थ हीन एवं परैषान करने का अर्थ बर्णन है इत्यादि । ३ तापु, तापी आदि भाषिका अथ अर्धवाह अर्थात् मिथ्या दोष प्रकट करना अथ-अर्धवाह है । जैसे यह कहना कि तापु-योग अथ नियम आदि का अर्थ ज्ञेय उपाय है तापुत्व से समझ ही नहीं तथा उपाय कुछ अथवा परिषाम में नहीं निकलता । भाषकों के बारे में देना करना कि वे ज्ञान हान आदि अति प्रकृतिमा नहीं करते, और न पविष्टता की ही मानते हैं, इत्यादि । ४ जर्म का अर्धवाह अर्थात् आदिवा आदि महान् पदों के मिथ्या दोष बतलाना या यह कहना कि जर्म प्रत्यक्ष क्यों हीनता है ? और जो अर्थ नहीं हीनता उक्त अस्तित्व संभव ही कैसे ? तथा देना अर्थ कि आदिवा से अनुप्य-आदि अथवा तापु का पठन हुआ है, इत्यादि । ५ देवी का अर्धवाह अर्थात् उनकी निष्ठा करना जैसे यह कहना कि देव तो हैं ही नहीं और हो तो भी अर्थ ही है; क्योंकि वे शक्तिशाली होकर भी नहीं अथवा हम लोगों की महत्त्व क्यों नहीं करते; तथा अपने उपायियों का दुःख बूट क्यों नहीं करते ? इत्यादि । १४ ।

६ स्वयं कथा करना और दूसरों से भी कथा देना करना तथा कथा के बन्ध होकर अनेक दुग्ध प्रकृतिओं करना से सब अर्धवाहनीय

चारित्रमोहनीय  
कर्म के बन्धहेतुओं  
का स्वरूप

कर्म के बन्ध के कारण हैं। २. सत्य धर्मका उपहास करना, गरीब या दीन मनुष्य की हसी उढ़ाना, ठठ्टे-बाजी की आदत रखना आदि हास्य-वृत्तियाँ हास्य मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं। ३. विविध

क्रीड़ाओं में सलग्न रहना, व्रत-नियम आदि योग्य अंकुश में अरुचि रखना आदि रतिमोहनीय का आस्रव है। ४. दूसरों को त्रेचैन बनाना, किसी के आराम में विघ्न डालना, हलके आदमियों की सगति करना आदि अरतिमोहनीय के आस्रव हैं। ५. स्वयं शोकातुर रहना तथा दूसरों की शोक-वृत्ति को उत्तेजित करना आदि शोकमोहनीय के आस्रव हैं। ६ स्वयं डरना और दूसरों को डराना भयमोहनीय का आस्रव है। ७ हितकर क्रिया और हितकर आचरणसे घृणा करना आदि जुगुप्सा-मोहनीय का आस्रव है। ८-१० ठगने की आदत, परदोषदर्शन आदि स्त्री वेद के आस्रव हैं। स्त्री जाति के योग्य, पुरुष जाति के योग्य तथा नपुंसक जाति के योग्य संस्कारों का अभ्यास करना ये तीनों क्रमशः स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद के आस्रव हैं। १५।

१. प्राणियों को दुःख पहुँचे, ऐसी कपायपूर्वक प्रवृत्ति करना आरम्भ है। २ यह वस्तु मेरी है और मैं इसका मालिक हूँ ऐसा संकल्प रखना परिग्रह है। जत्र आरंभ और परिग्रह वृत्ति बहुत ही तीव्र हो, तथा हिंसा आदि क्रूर कामों में सतत प्रवृत्ति हो, दूसरे के घन का अपहरण किया जावे, अथवा भोगों में अत्यन्त आसक्ति बनी रहे, तत्र वे नस्कायु के आस्रव होते हैं। १६।

छलप्रपञ्च करना अथवा कुटिल भाव रखना माया है।  
उदाहरणार्थ—धर्मतत्त्व के उपदेश में धर्म के नाम से भिन्न बातों को

तिवचभासु के कर्म  
के कर्महेतुओं  
का स्वरूप

मित्यकर उनका स्वार्थ-बुद्धि से प्रचार करना तथा  
बीचन को धील से रू रखना आदि तब मात्रा  
करस्थती है, वही तिवच भासु का आस्व है। १७।

मनुष्य-भासु के  
कर्मव्यपके हेतुओं  
का स्वरूप

आरम-वृत्ति तथा परिग्रह-वृत्ति को कम  
रखना स्वभाव ने ही अथात् बिना कर्म-मुने मनु  
कता और नरकता का होना मनुष्यभासु का

आस्व है। १८।

नारक, निर्वच और मनुष्य इन तीनों भासुओं के जो पहल मित्र  
मित्र बचहेतु बरखए गए हैं, उनके अन्वया तानों अस्तुओं के सामान्य  
उक्त तीनों अस्तुओं वन्हेतु मी हैं। प्रकृत नृप में ठन्ही का कचन है।  
के सामान्य कर्म- वे बन्हेतु ब हैं। निःशील्य-शील से उचित होने  
हेतुओं का स्वरूप और निःप्रत्य-प्रती से उचित होना। १ अर्हिता  
कस्य आदि पाँच प्रकार निवर्तकोंके मत करते हैं। २ इन्ही प्रती की  
पुष्टि के लिए ही जो अन्वय उपपन्न पाठन किन्ने करते हैं उन्हें शील करते  
हैं जैसे तीन गुणप्रय और पार विद्याप्रय। इसी प्रकार उक्त प्रती के  
पाठनाम ही भी बीच लोम आदि का त्याग है उसे मी धील करते हैं।

प्रय का न होना निर्मलत्व एवं शील का न होना निष्प्री-  
यत्व है। १९।

१ हिता अनाप, पीरी आदि महान् बोग्यों से विरक्ति रूप संवम  
के होने का वार मी कचारों का कुछ अंश जब बाधी रहता है तब वह  
रेषामुद्रम के कारण संवम है। २ हिताविरति आदि मत जब अन्वय  
कर्महेतुओं का मी कारण विद्ये करने हैं तब संवम संवम है। ३ परा  
स्वरूप धीनता के कारण या अनुकरण के लिए अर्हितकर प्रवृत्ति  
अन्वया साधार आदि का त्याग अधम निग्रह है और ४ वाक्याव ठे

अर्थात् विवेक विना ही अभिप्रवेश, जलप्रवेश, पर्वत-प्रपात, विषभक्षण, अनशन आदि देहदमन करना बाल तप है । २० ।

१ योगवक्रता अर्थात् मन, वचन और काय की कुटिलता ।

अशुभ और शुभ कुटिलता का अर्थ है मोचना कुछ बोलना कुछ और नामकर्म के बन्ध- कर्ना कुछ । २. विसवादन अर्थात् अन्यथा प्रवृत्ति हनुआ का स्वरूप कर्ना अथवा दो स्नेहियों के बीच भेद डालना ।

ये दोनों अशुभनाम कर्म के आस्रव हैं ।

प्र०—इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उ०—स्व और पर की अपेक्षा से अन्तर समझना चाहिए । अपने ही धरे में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति भिन्न पड़े, तब योग-वक्रता और यदि दूसरे के विषय में वैसा हो तब विसवादन । जैसे कोई रास्ते जा रहा हो, उसे उलटा समझा कर 'ऐसे नहीं, पर ऐसे, इस प्रकार' मार्ग की ओर प्रवृत्त करना ।

ऊपर जो कहा है, उससे उलटा अर्थात् मन, वचन और काय की सरलता—प्रवृत्ति की एकरूपता, तथा सवादन अर्थात् दो के बीच भेद मिटाकर एकता करा देना अथवा उलटे रास्ते जाते हुए को अच्छे रास्ते लगा देना—ये दोनों शुभनाम कर्म के आस्रव हैं । २१, २२ ।

१ दर्शन विशुद्धि का अर्थ है धीतराग के रहे हुए तत्त्वों पर निर्मल और दृढ रुचि । २. ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधनों के

तीर्थंकर नामकर्म प्रति योग्य रीति ये बहुमान रखना विनयसपक्षता है ।

के बन्धहेतुओं ३ अहिंसा, सत्यादि मूलगुण रूप व्रत हैं और इन

का स्वरूप व्रतों के पालन में उपयोगी ऐसे जो अभिग्रह आदि

दूसरे नियम हैं वे शील हैं, इन दोनों के पालन में कुछ प्रमाद न करना—

यही शीलप्रतानतिचार है । ४ तत्त्वविषयक ज्ञान में सदा जागरित रहना—

यद् अमीक्ष्य शानीपयाग है । ८ सांख्यिक योग जो वास्तव में सुख के  
 बदले दुःख के ही साधन बनते हैं, उनसे बचते रहना अर्थात् कर्मों में  
 समन्वय में न पड़ना अमीक्ष्य समेग है । ९ बोधी भी छक्ति को बिना  
 छिपाये आह्वयान, अभयदान, ज्ञान दान आदि दानों को बिकेपूर्वक  
 देना यथाशक्ति त्याग है । १० कुछ भी छक्ति धुपाए बिना बिके  
 पूर्वक ११ दण्ड की सहनशीलता का अभ्यास करना—यद् यथाशक्ति उप  
 है । ८ चतुर्विध संघ और विरोध कर साधुओं को समाधि पहुँचाना  
 अर्थात् बैठा करना शिष्टते कि वे स्वस्थ रहे—उपसाधुसमाविहरण है ।  
 १ शीर्ष में गुप्ती यदि अठिनार्ह में आ पड़े उस समय योग्य धृति से  
 उठकर अठिनार्ह को हट करने का प्रयत्न ही वैयाधुत्वकर्म है ।  
 १ ११ १२, १३ अर्थात् आन्धाय बहुभुज और शाक इन चारों में  
 अन्न निष्ठा पूर्वक अनुयोग रक्षण—अर्थात् आचार्य बहुभुज, प्रवचन  
 नहीं है । १४ सामयिक आदि पद्माकरकों के अनुष्ठान का मन्त्र से  
 न छोड़ना—अपचरक्यपरिष्ठापि है । १५ अग्निमान छोड़ कर ज्ञानादि  
 साधु मार्ग को भी अकारण तथा बुरों को उत्तम उपदेश देकर  
 प्रभाव बढाना—मोक्षमार्गप्रभाषना है । १६ जैसे बछड़े पर घाम स्नेह  
 रन्ध्री दे, वैय ही साधुसिद्धि पर दिव्याम स्नेह राना—प्रवचनवात्सल्य  
 कदम्पना है । ११ ।

१ दुःखों की निम्ना करना वरनिन्दा है । निम्ना का अर्थ है  
 लथे या हटे होयों की तुर्बुद्धि से प्रकट करने की वृत्ति । २ अपनी ब्रह्मर  
 ३ नीरोगीय कर्म के  
 अर्थार्थी का स्वप्न  
 करना आत्मप्रतीता है । अर्थात् लथे या हटे गुणा  
 को प्रकट करने की वृत्ति प्रतीता है । ३ दुःखों  
 में यदि गुण ही, तो उन्हें छिपाया और उनके करने  
 का प्रयत्न करने का भी देना के अर्थ ७ करना दुःखों के लक्षणों का

अच्छादन है, तथा ४ अपने में गुण न होनेपर भी उनका प्रदर्शन करना—  
निज के असद्गुणों का उद्भावन कहलता है । २४ ।

१. अपने दोषों को देखना आत्मनिन्दा है । २. दूसरे के गुणों  
की सराहना परप्रशंसा है । ३. अपने दुर्गुणों को प्रकट करना असद्गुणो-  
द्भावन है । ४. अपने विद्यमान गुणों को छिपाना  
उच्चगोत्र कर्म के स्वगुणाच्छादन है । ५. पूज्य व्यक्तियों के प्रति नम्र-  
आदि में दूसरे से अधिकता होने पर भी उसके कारण गर्व न करना  
अनुत्सेक कहलता है । २५ ।

किसी को दान देने में या किसी को कुछ लोभ में अथवा किसी  
अन्तराय कर्म के के भोग, उपभोग आदि में बाधा डालना अथवा मन-  
आस्रवों का स्वरूप में वैसी वृत्ति लाना विघ्नकरण है । २६ व

ग्यारहवें से छबीसवें सूत्र तक सांपरायिक कर्म की प्रत्येक मूल  
प्रकृति के जो भिन्न भिन्न आस्रव कहे गए हैं, वे सब उपलक्षण मात्र हैं, अर्थात्  
सांपरायिक कर्मों के प्रत्येक मूल प्रकृति के गिनाए हुए आस्रवों के अलावा  
आस्रव के विषय दूसरे भी उसी तरह के उन प्रकृतियों के आस्रव न  
में विशेष वक्तव्य कहने पर भी स्वयं समझ लेने चाहिए । जैसे कि  
आलस्य, प्रमाद, मिथ्योपदेश आदि ज्ञानावरणीय अथवा दर्शनावरणीय  
के आस्रव रूप से नहीं गिनाए हैं, तथापि उन्हें उनके आस्रवों में गिन  
लेना चाहिए । इसी तरह वध, बन्धन, ताडन आदि तथा अशुभ प्रयोग  
आदि असाता वेदनीय के आस्रवों में नहीं गिनाए हैं, फिर भी उन्हें उसके  
आस्रव समझना ।

प्र०—प्रत्येक मूल प्रकृति के आस्रव भिन्न भिन्न बतलाए हैं, इससे  
यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ज्ञानप्रदोष आदि गिनाए गए आस्रव

तिर्क ज्ञानावरणीय आदि कम के ही बन्धक हैं अथवा ज्ञानावरणीय आदि के अथवा अन्य कमों के भी बन्धक हो सकते हैं ? यदि एक कम प्रकृति क आसन्न अन्य प्रकृति के भी बन्धक हो सकते हैं, तब प्रकृतिविभाग से आसन्नो का भ्रमण अलग बगन करना ही व्यर्थ है क्योंकि एक प्रकृति के आसन्न वृक्षी प्रकृति के भी तो आसन्न हैं ही। और अगर किसी एक प्रकृति के गिनाए हुए आसन्न एक उची प्रकृति के आसन्न हैं वृक्षी के नहीं, ऐसा माना जाय तब शास्त्र-नियम में विरोध आता है। शास्त्र नियम ऐसा है कि सामान्य रीति से आसु का छोड़ कर सभी उची प्रकृतियों का बन्ध एक मात्र होता है। इस नियम के अनुसार जब ज्ञानावरणीय का बन्ध होता है तब अन्य वरणीय आदि उची प्रकृतियों का भी होता है ऐसा मानना पड़ता है। आसन्न तो एक समय में एक एक कमप्रकृति का ही होता है किन्तु बन्ध तो एक समय में एक प्रकृति के भ्रमण वृक्षी अनियेची प्रकृतियों का भी होता है। अर्थात् अमुक आसन्न अमुक प्रकृति का ही बन्धक है वह पक्ष शास्त्रीय नियम से बाधित हो जाता है। अतः प्रकृतिविभाग से आसन्नो के विभाग करने का प्रयत्न क्या है ?

उ — वहाँ जहाँ आसन्नो का विभाग वरताया गया है वह अनुभाग अर्थात् रसबन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि किसी भी एक कर्मप्रकृति के आसन्न के लेकन के समय तब कर्म के भ्रमण वृक्षी भी कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है, वह शास्त्रीय नियम तिर्क प्रदेश बन्ध के बारे में ही पटाग्र चाहिए, न कि अनुभाग बन्ध के बारे में। अतः यह कि आसन्नो का विभाग प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से नहीं अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है। अतः एक साथ अनेक कर्मप्रकृतियों का प्रदेशबन्ध मान लेने के कारण पूर्वोक्त शास्त्रीय नियम में अडकन नहीं आती तथा प्रकृतिविभाग में गिनाए हुए आसन्न भी वेबक उन उन प्रकृतियों के

अनुभागबन्ध में भी निमित्त पड़ते हैं। इसलिए वहाँ जो आस्रवों का विभाग किया गया है, वह भी बाधित नहीं होता।

इस तरह व्यवस्था करने से पूर्वोक्त शास्त्रीय-नियम और प्रस्तुत आस्रवों का विभाग दोनों अबाधित बने रहते हैं। ऐसा होने पर भी इतना विशेष समझ लेना चाहिए कि अनुभागबन्ध का आश्रित करके जो आस्रव के विभाग का समर्थन किया गया है, वह भी दुःसंभव की अपेक्षा में ही। अर्थात् ज्ञानप्रदोष आदि आस्रवों के नेवन के समय ज्ञानावरणीय के अनुभाग का बन्ध मुख्यरूप से होता है, और उसी समय बँधने वाला इतर कर्म-प्रकृतियों के अनुभाग का गौण रूप से बन्ध होता है इतना समझ लेना चाहिए। ऐसा तो माना ही नहीं जा सकता कि एक समय में एक प्रकृति के ही अनुभाग का बन्ध होता है और दूसरी कर्मप्रकृतियों के अनुभाग का बन्ध होता ही नहीं। कारण यह है कि जिस समय जितनी कर्मप्रकृतियों का प्रदेशबन्ध योग द्वारा संभव है, उसी समय वषाय द्वारा उतनी ही प्रकृतियों का अनुभागबन्ध भी संभव है। इसलिए मुख्यरूप से अनुभागबन्ध की अपेक्षा को छोड़ कर आस्रव के विभाग का समर्थन अन्य प्रकार से ध्यान में नहीं आता। २६।



## सातवाँ अध्याय

ज्योतिष के आखरों में मृती पर अमुकस्या भीर दान में होनी सिद्धांत गये हैं। प्रत्यक्षत्वात् उन्हीं का विशेष ध्यान करने के लिए जैन परम्परा में मन्त्रपूर्व स्थान रखने वाले मृत और दान दोनों का विशेष निवृत्त हल अध्याय में किया जाता है।

✓ मृत का स्वरूप—

हिंसाऽनृतस्तेयाऽव्यग्रपरिग्रहेभ्यो विरतिर्ग्रहम् । १ ।

हिंसा, अव्यग्र चोरी मैथुन और परिग्रह से (मन, बचन, कर्म द्वारा) निवृत्त होना मृत है।

हिंसा अव्यग्र आदि दोषों का स्वरूप अपने कर्म आत्मा। दोषों को समस्त कर उनके त्याग की प्रतिज्ञा करने के बाद फिर से उनका उद्वेग न करना ही मृत है।

अहिंसा अन्य मृतों की अपेक्षा प्रधान होने से उसका प्रथम स्थान है। श्रेष्ठ की रक्षा के लिए जैसे सावधानी होती है, वैसे ही अन्य सभी मृत अहिंसा की रक्षा के लिए हैं; इसीसे अहिंसा की प्रधानता मानी गई है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति मृत के दो पक्ष हैं। इन दोनों के होने से ही वह पुनः जन्मता है। उत्कर्ष में प्रवृत्त होने के मृत का अर्थ है उसके क्लेशों असाध्यों से पहले निवृत्त हो जाना। यह अपने आप प्राप्त होता है। इतना उदात्त असाध्यों से निवृत्त होने के मृत का मतलब है उसके क्लेशों असाध्यों में मन बचन, और कर्म की प्रवृत्ति करना। वह भी स्वतःप्राप्त है। यद्यपि नहीं पर स्पष्ट रूप से शौचनिवृत्ति को ही मृत कहा

गया है, फिर भी उसमें सत्प्रवृत्ति का अंश आ ही जाता है। इसलिए यह समझना चाहिए कि व्रत सिर्फ निष्क्रियता नहीं है।

प्र०—रात्रिभोजनविरमण व्रत के नाम से प्रसिद्ध है, तो फिर उसका सूत्र में निर्देश क्यों नहीं किया गया ?

उ०—बहुत समय से रात्रिभोजनविरमण नामक भिन्न व्रत प्रसिद्ध है पर वास्तव में वह मूल व्रत नहीं है। यह तो मूल व्रत से निष्पन्न होनेवाला एक तरह का आवश्यक व्रत है। ऐसे और भी कई व्रत हैं, और कल्पना भी कर सकते हैं। किन्तु यहाँ तो मूल व्रत का ही निरूपण इष्ट है। मूलव्रत में से निष्पन्न होनेवाले अन्य अवान्तर व्रत तो उसके व्यापक निरूपण में आ ही जाते हैं। रात्रिभोजनविरमण अहिंसा व्रत में से निष्पन्न होनेवाले अनेक व्रतों में से एक व्रत है।

प्र०—अन्धकार में न देख सकने से होनेवाले जन्तु-नाश के कारण और दीपक जलाने से भी होनेवाले अनेक प्रकार के आरम्भ को दृष्टि में रख कर ही रात्रिभोजनविरमण को अहिंसा व्रत का अंग मानने में आता है पर यहाँ यह प्रश्न होता है कि जहाँ पर अन्धकार भी न हो, और दीपक से होनेवाले आरम्भ का प्रसंग भी न आवे ऐसे शीतप्रधान देश में, तथा जहाँ बिजली का प्रकाश सुलभ हो, वहाँ पर रात्रिभोजन और दिवा-भोजन इन दोनों में हिंसा की दृष्टि से क्या भेद है ?

उ०—उष्णप्रधान देश तथा पुराने ढग के दीपक आदि की व्यवस्था में साफ दीख पडनेवाली हिंसा की दृष्टि से ही रात्रिभोजन को दिन के भोजन की अपेक्षा अधिक हिंसावाला कहा है। यह बात स्वीकार कर लेने पर और साथ ही किसी खास परिस्थिति में दिन की अपेक्षा रात्रि में विशेष हिंसा वा प्रसंग न भी आता हो, इस कल्पना को समन्वित

स्नान होने पर भी साधारण समुदाय की दृष्टि से और ज्ञात कर ल्यागि  
 शीघ्र की दृष्टि से गणिमोचन से दिन का मोचन ही विशेष प्रसंखनीय है ।  
 इस मामला के कारण संक्षेप में निम्न प्रकार हैं—

१. आरोग्य की दृष्टि से विकली या अग्रयण भादि का प्रकाश मले  
 ही अच्छा हा, लेकिन यह सूर्य के प्रकाश केसा सार्थकिक, अक्षय तथा  
 आरोग्यकर नहीं । इसीकर अहाँ दोनों सम्य ही बहाँ समुदाय के लिए  
 आरोग्य की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश ही अधिक उपयोगी है ।

२. त्यागधर्म का मूल उद्देश्य में है इस दृष्टि से भी दिन की  
 अन्य सभी प्रवृत्तियों के साथ मोचन की प्रवृत्ति की समाप्त कर केन्द्र, तथा  
 संतोपपूजक राशि के समय जठर की विभ्रम होना ही योग्य है । इसके  
 मध्य भादि मित्रा आती है, और ब्रह्मचर्य प्राप्त में उद्यमता मिलती है  
 तथा फलस्वरूप आरोग्य की वृद्धि भी होती है ।

३. दिवसमोचन और रात्रिमोचन दोनों में से संतोप के विचार  
 से यदि एक को ही चुनना ही तब भी अथवा कुशल बुद्धि विस्तार  
 मोचन की तरफ ही लक्ष्यी । इस प्रकार आज तक के महान संतो का  
 जीवन-वृत्तिराज कर रहा है ।

आ ५ भेद—

देहसर्वतोऽणुमहती । २ ।

अप्य अंश में विरति अणुवत् और अकाश में विरति महामत् दे ।

प्रसिद्ध आगामिकादी दोषों से निवृत्त होता है । किन्तु इन सब  
 का त्याग एक हीसा नहीं होता और केसा रोगा विकार-रूप को दृष्टि से  
 त्याग्यकर्म दे । इसीकर बहाँ दिना आदि राशियों की बाढी या बहुत  
 नभी विवृत्तियों का मत्र था कर उनक संक्षेप में ही म्य दिव्य गय है ।

१. हिंसा आदि दोषों से मन, वचन, काय द्वारा हर तरह से छूट जाना—यह हिंसाविरमण ही महाव्रत है । और—

२. चाहे जितना हो, लेकिन किसी भी अंश में कम छूटना—ऐसा हिंसाविरमण अणुव्रत कहलाता है ।

✓ व्रतों की भावनाएँ—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च । ३ ।

उन व्रतों को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच पाँच भावनाएँ हैं ।

अत्यन्त सावधानी के साथ विशेष विशेष प्रकार की अनुकूल प्रवृत्तियों का सेवन न किया जाय, तो स्वीकार करने मात्र से ही व्रत आत्मा में नहीं उतर सकते । ग्रहण किये हुए व्रत जीवन में गहरे उतर सकें, इसीलिए प्रत्येक व्रत के अनुकूल पढने वाली थोड़ी बहुत प्रवृत्तियों स्थूल दृष्टि से विशेष रूप में गिनाई गई हैं, जो भावना के नाम से प्रसिद्ध हैं । यदि इन भावनाओं के अनुसार बराबर वर्ताव किया जाय, तो किए हुए व्रत उत्तम औषधि के समान प्रयत्नशील के लिए सुदर परिणामकारक सिद्ध होंगे । वे भावनाएँ क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

१. ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, और आलोकितपानभोजन—ये पाँच भावनाएँ अहिंसा व्रत की हैं ।

२. अनुवीचिमापण, क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, निर्मयता और हास्यप्रत्याख्यान—ये पाँच भावनाएँ सत्यव्रत की हैं ।

३. अनुवीचिअवग्रहयाचन, अभीक्ष्णअवग्रहयाचन, अवग्रहावधारण, साधर्मिक के पास से अवग्रहयाचन और अनुजापिनपानभोजन—ये पाँच भावनाएँ अचौर्यव्रत की हैं ।

४ स्त्री, पशु अथवा नर्पुंसक द्वारा सेवित ध्यान आदि का बर्जन रागपूर्वक स्त्रीकथा का बर्जन स्त्रियों की मनीहर इन्द्रियों के अत्यन्त क बर्जन पूर्व में किसे हुए रतिविग्रह के स्मरण का बर्जन और प्रसन्नकर मोहन का बर्जन ये पाँच भावनाएँ ब्रह्मचर्य की हैं ।

५ मन्दोह या अमन्दोह स्पर्श रस गन्ध, रूप रसाम्बु प तमसाव रक्षना ये पाँच भावनाएँ अपरिमह की हैं ।

१ स्व-पर की ज्ञेय न हो, इस प्रकार कर्तृपूर्वक ममन करने श्वात्मिति है । मन को अशुभ ध्यान से बचाकर शुभ ध्यान में लगाया- मनोगति है । बस्तु का गन्ध उठकर प्रथम य भावनाओं का कुम्भसा उपयोग इन तीन प्रकार की एष्या में होय न स्यो, इस बात का उपयोग रक्षना—एष्यात्मिति है । बस्तु को छोड़ते छोड़ते समय अत्यन्त ब प्रसन्न आदि द्वारा वर्तना-रक्षना—आशुन निक्षेपक तमिति है । खाने पीने की बस्तु को मस्तीभोगि देख-भ्रम का ही कैना और जेने के बाद भी देते ही अत्यन्त करके खाना वा पीना आत्योन्मिषपानमोहन है ।

२. विचारपूर्वक बोधना अनुशीलिमापन है । क्रोध, स्वप्न, मय तथा हास्य का त्याग करना—ये चमत्ता वाची की चार भावनाएँ हैं ।

१ सम्यक् विचार करके ही उपयोग के लिए आवश्यक अथवा- ध्यान की वाचना करना—अनुशीलिमापन है । राजा मुकुन्दवति, शम्भुतर—मिथही भी जमाद माँग कर स्त्री हो ऐसे साक्षर्यिक आदि अनेक प्रकार के स्वामी हो सकते हैं । उनमें से किन मित्र स्वामी के बाल से जो भी स्वप्न माँगने में विशेष औचित्य प्रतीत हो उनके बाल में वही स्वप्न माँगना तथा एक बार देने के बाद माक्षिक ने वापिस ले लिया हो फिर भी राग आदि के कारण ताल ज्वरता पड़े तो वह स्वप्न

उसके मालिक के पास से उमको फ़ेश न होने पावे, इस विचार से चार चार माग कर लेना अभीक्ष्णअवग्रहयाचन है। मालिक के पास से मागते समय ही अवग्रह का परिणाम निश्चित कर लेना—अवग्रहावधारण कहलाता है। अपने से पहले दूसरे किसी समान धर्मवाले ने कोई स्थान ले लिया हो, और उसी स्थान को उपयोग में लाने का प्रसंग आ पड़े, तो उस साधर्मिक के पास से ही स्थान माग लेना—साधर्मिक के पास से अवग्रह-याचन है। विधिपूर्वक अन्न पानादि लाने के बाद गुरु को दिखला कर उनकी अनुज्ञा ले कर ही उमको उपयोग में लाना—वह अनुज्ञापितपान-भोजन है।

४ ब्रह्मचारी पुरुष वा स्त्री का—अपने से विजातीय व्यक्ति द्वारा सेवित शयन व आसन का त्याग करना, त्रीपशुपण्डकसेवितशयनासनवर्जन है। ब्रह्मचारी का कामवर्धक व्रतें न करना—रागसयुक्त स्त्रीकथा वर्जन है। ब्रह्मचारी का अपने विजातीय व्यक्ति के कामोद्दीपक अंगों को न देखना—मनोद्वरेन्द्रियालोकवर्जन है। ब्रह्मचर्य स्वीकार करने से पहले जो भोग भोगे हों, उनका स्मरण न करना—वट पूर्व के रतिविलास के स्मरण का वर्जन है। कामोद्दीपक रसयुक्त खानपान का त्याग करना—प्रणीतरसभोजन वर्जन है।

५ राग पैदा करनेवाले स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर न ललचाना और द्वेष पैदा करनेवाले हों, तो रुष्ट न होना—वे कमश मनोज्ञामनोज्ञस्पर्शसमभाव एव मनोज्ञामनोज्ञरससमभाव आदि पाँच भावनाएँ हैं।

जैन धर्म त्यागलक्षी होने से जैन-सघ में महाव्रतधारी साधु का ही प्रथम स्थान है। यही कारण है यहाँ पर महाव्रत को लक्ष्य में रख कर साधु धर्म के अनुसार ही भावनाओं का वर्णन किया गया है। फिर भी ऐसा तो है ही कि—कोई भी व्रतधारी अपनी अपनी भूमिका के अनुसार

इनमें अक्षयविस्तार कर लके इच्छित् वेद्य अक्षय की परिस्थिति और  
आन्तरिक शोषता की ग्यान में रहकर—सिर्फ मृत की स्थिरता के पुत्र  
उत्पन्न के वे मन्त्रार्थ, संस्था तथा अर्थ में मन्त्रार्थ, बर्दाद तथा पारमार्थिक की  
का सकती है।

कई अन्य मान्यार्थ—

हिंसादिविहायुत्र चापायावयवर्क्षनम् । ४ ।

दुःखमेव वा । ५ ।

मैत्रीप्रमोदकासुख्यमाभ्यस्त्यानि मत्सुगुणाधिक्येऽहिन्य-  
भानाविनेयेषु । ६ ।

अगत्कल्पस्वभावौ च सवेगवैराग्यार्थम् । ७ ।

हिंसा आदि पाँच दोषों में पृथक् आपत्ति और पारमार्थिक अन्ति-  
म दर्शन करना ।

अथक-उक्त हिंसा आदि दोषों में दुःख ही है वेही मान्य  
करना ।

आत्मिक में मैत्री वृत्ति गुणाधिक्य में प्रमोद वृत्ति, दुःखी में  
कल्प वृत्ति और अह वैद्य अपना ही में मापत्य वृत्ति रहना ।

सवेग तथा वैराग्य के लिए अगत् के स्वभाव और अन्ति के  
स्वभाव का विचार करना ।

वित्तव्य त्याग किया जाने लकके दोषों का वास्तविक दूरान होने  
ने ही त्याग टिक सकता है । यही कारण है कि अहिंसा आदि मृतों की  
स्थिरता के लिये हिंसा आदि में उनके दोषों का दर्शन करना आवश्यक  
मान्य तथा है । यह दोषदर्शन नहीं पर ही लक के बताया गया है ।  
हिंसा अत्यन्त आदि के टिकने के जो वैदिक आपत्तिको अगत् को अगत्  
दूरानों को अनुभव करनी सकती है उनका ध्यान तथा त्याग करना -

यही ऐहिक दोषदर्शन है। तथा इन्हीं हिंसा आदि से जो पारलौकिक अनिष्ट की समाचना की जा सकती है, उसका खयाल रखना पारलौकिक दोषदर्शन है। इन दोनों तरह के दोषदर्शनों के संस्कारों को बढ़ाते रहना अहिंसा आदि व्रतों की भावनाएँ हैं।

पहले की तरह ही त्याज्य वृत्तियों में दुःख के दर्शन का अभ्यास किया हो, तभी उनका त्याग भलीभांति टिक सकता है। इसके लिए हिंसा आदि दोषों को दुःख रूप से मानने की वृत्ति के अभ्यास (दुःख-भावना) का यहाँ उपदेश दिया गया है। अहिंसादि व्रतों का धारक हिंसा आदि से अपने को होनवाले दुःख के समान दूसरों को भी उससे होनेवाले दुःख की कल्पना करे—यही दुःख भावना है। और यह भावना इन व्रतों के स्थिरीकरण में उपयोगी भी है।

मैत्री, प्रमोद आदि चार भावनाएँ तो किसी सद्गुण के अभ्यास के लिए ज्यादा से ज्यादा उपयोगी होने से अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता में विशेष उपयोगी हैं ही। इसी विचार से यहाँ पर इन चार भावनाओं का विषय अमुक अश में तो अलग अलग ही है। क्योंकि जिस विषय में इन भावनाओं का अभ्यास किया जायगा, वास्तविक परिणाम भी वैसा ही आयगा। इसीलिए इन भावनाओं के साथ इनका विषय भी अलग अलग कहा है।

१ प्राणि-मात्र के साथ मैत्री वृत्ति हो तभी प्रत्येक प्राणी के प्रति अहिंसक तथा सत्यवादी के रूप में रहकर वर्ताव किया जा सकता है। अतः मैत्री का विषय प्राणिमात्र है। मैत्री का अर्थ है दूसरे में अपनेपन की बुद्धि, और इसीलिए अपने समान ही दूसरे को दुःखी न करने की वृत्ति अथवा इच्छा।

२ कई बार मनुष्य को अपने से बड़े हुए को देखकर ईर्ष्या होती है। जयवक्त्र इस वृत्ति का नाश नहीं हो जाता, तब तक अहिंसा, सत्य आदि



दिक ही नहीं सकते। इसीलिए ईर्ष्या के विरुद्ध प्रमोद गुण को मानना करने को कहा गया है। प्रमोद अर्थात् अपने से अधिक गुणवान् के प्रति आदर करना तथा उसके उत्कर्ष को देखकर लुब्ध होना। इस भावना का विरुद्ध विरुद्ध अधिक गुणवान् ही है। क्योंकि उसके प्रति ही ईर्ष्या—असूया आदि दुष्टियों का संभव है।

३ किसी को पीछा पाठे देखकर भी यदि अनुकम्पा का भाव पैदा न हो तो अहिंसा आदि मठ कमी भी निभ नहीं सकते इस लिए कस्मा की भावना को आवश्यक माना गया है। इस भावना का विरुद्ध विरुद्ध से पीछित दुर्गती प्राणी है क्योंकि अनुकम्पा तथा मदद की अपेक्षा दुर्गती हीन व अनाथ को ही पसंदी है।

४ सर्वदा और सर्वत्र विरुद्ध प्रवृत्तियुक्त भावनाएँ ही साधक नहीं होतीं कई बार अहिंसा आदि मठों को विरुद्ध करने के लिए विरुद्ध उत्पन्न भाव ही कारण कर्म उपयोगी होता है। इसी कारण से मायस्त्व भावना का उपदेश किया गया है। मायस्त्व का अर्थ है उपेक्षा वा उद्वेगता। जब विचकित्त संस्कारहीन अथवा किसी तरह की भी उद्वेग प्रकृत करने का अयोग्य पात्र मिल जाय और यदि उसे सुधारने के सभी प्रयत्नों का परिणाम अकार्य हो जाय ही दिखाई पड़े तब ऐसे व्यक्ति के प्रति उद्वेग भाव उत्पन्न ही अर्थात् है। अतः मायस्त्व भावना का विरुद्ध अर्थात्—अयोग्य पात्र इत्यादि ही है।

संवेग तथा वैराग्य न हो तो अहिंसा आदि मठ संभव ही नहीं हो सकते। अतः इस मठ के अन्वयात् ही संवेग और वैराग्य तो पहले आवश्यक हैं। संवेग दायका वैराग्य का बीजकल्पन अमृतत्वभाव तथा सगीरत्वभाव के विस्तार से होता है इसीलिए इन दोनों के स्वभाव के विस्तार का साधनरूप में वहाँ उपदेश किया है।

प्राणिमात्र थोड़े बहुत दुःख का अनुभव तो करते ही रहते हैं। जीवन सर्वथा विनश्वर है, और दूसरी वस्तुएँ भी कोई नहीं टहरती। इस तरह के जगत्स्वभाव के चिन्तन में से ही सभार के प्रति मोह दूर हो कर उससे भय—सवेग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शरीर के अस्थिर, अशुचि और असारता के स्वभावचिन्तन में से ही वाह्याभ्यन्तर विघर्षों की अनासक्ति—वैराग्य उदित होता है। ४-७।

हिंसा का स्वरूप—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा । ८ ।

प्रमत्त योग से होनेवाला प्राण वध हिंसा है।

अहिंसा आदि जिन पाँच व्रतों का निरूपण पहले किया है, उनको भली भाँति समझने और जीवन में उतारने के लिए विरोधी दोषों का स्वरूप यथार्थ रूप से समझना जरूरी है। अतः इन पाँच दोषों के निरूपण का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। उनमें से प्रथम दोष—हिंसा की व्याख्या इस सूत्र में की गई है।

हिंसा की व्याख्या दो अंशों द्वारा पूरी की गई है। पहिला अंश है—प्रमत्तयोग अर्थात् रागद्वेषयुक्त अथवा असावधान प्रवृत्ति, और दूसरा है—प्राणवध। पहला अंश कारण रूप में और दूसरा कार्य रूप में है। इसका फलित अर्थ यह है कि जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो वह हिंसा है।

प्र०—किसी के प्राण लेना या किसी को दुःख देना हिंसा है। हिंसा का यह अर्थ सब के द्वारा जाने जा सकने योग्य और बहुत प्रसिद्ध भी है। फिर भी इस अर्थ में प्रमत्तयोग अंश के जोड़ने का क्या कारण है ?

उ०—जब तक मनुष्य-समाज के विचार और व्यवहार में उच्च सत्कार का प्रवेश नहीं होता, तब तक मनुष्य-समाज और अन्य प्राणियों

के बीच जीवन्-व्यवहार में प्राप्त अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु यही भी ही तरह अर्थात्कृत संसार के मनुष्य की मानसिक वृत्तियों से प्रेरित होकर अपने या अपने-अपने जीवन् ही आचरण-प्रणालियों के निमित्त अपना जीवन की व्यवस्था-प्रणालियों के बिना ही दूसरे के प्राण जैसे हैं। मानव-समाज की हिता-मत्र इत प्रारम्भिक दशा में जब एकाग्र मनुष्य के विचार में हिता के स्वप्न के बारे में अग्रगण्य होती है, तब वह प्रचलित हिता की अर्थात् प्राण नाश की होयस्व अन्तर्गता है। और दूसरे के प्राण न होने को कष्ट है। एक तरह हिता जैसी प्रथा के पुण्य संस्कार और दूसरी तरह अहिता की नवीन भावना का उदय—इन दोनों के बीच समझ होते तब अहिता-वृत्तियों की ओर से हिता-निषेधक के सामने किन्तु ही प्रथम अपने आप बड़े होने लगते हैं, और वे उसके सामने एक जैसे होते हैं। वे प्रथम लक्ष्य में हीन हैं—

१ अहिता के पक्षपाती भी जीवन् धारण तो करते ही हैं और यह जीवन् किसी न किसी तरह की हिता किन्तु किन्तु निमित्त अपने-अपने होने से जीवन् के बाले उनकी तरह से जो हिता होती है वह हिता होय में आ सकती है या नहीं ?

२ मूल और अज्ञान का जब एक मनुष्य-वृत्ति में अपना अन्तर्गत न हो अथवा तब एक अहिता के पक्षपातियों के हृदय से अपने-अपने या मूल से किसी के प्राणनाश का होना तो समझ ही है अतः ऐसा प्राणनाश हिता वाप में आया या नहीं ?

३ किन्तु धार अहिता-वृत्तियों का अर्थ किसी को बचाने या उसके दुःख-अपमय पहुँचाने का प्रयत्न करना है परन्तु परिणाम उल्टा ही निकलता है अर्थात् बचाने-बचाने के प्राण बड़े करते हैं। ऐसी स्थिति में वह प्राणनाश हिता वाप में आया या नहीं ?

ऐसे प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनके उत्तर देते समय हिंसा और अहिंसा के स्वरूप की विचारणा गम्भीर बन जाती है। फलतः हिंसा और अहिंसा का अर्थ विशाल हो जाता है। किसी के प्राण लेना या बहुत हुआ तो उसके निमित्त किसी को दुःख देना—ऐसा जो हिंसा का अर्थ समझा जाता या तथा किसी के प्राण न लेना और उसके निमित्त किसी को दुःख न देना ऐसा जो अहिंसा का अर्थ समझा जाता या—उसके स्थान में अहिंसा के विचारकों ने सूक्ष्मता से विचार करके निश्चय किया कि सिर्फ किसी के प्राण लेना या किसी को दुःख देना—इसमें हिंसा दोष है ही, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्राणवध या दुःख देने के साथ ही उसके पीछे वैसा करनेवाले की भावना क्या है, उसका विचार करके ही हिंसा की सदोपता या निर्दोषता का निर्णय किया जा सकता है। वह भावना अर्थात् राग द्वेष की विविध ऊर्मियाँ तथा असावधानता जिसको गान्धीय परिभाषा में प्रमाद कहते हैं, ऐसी अशुभ अथवा क्षुद्र भावना से ही यदि प्राणनाश हुआ हो, या दुःख दिया हो, तो वही हिंसा है, और वही हिंसा दोष रूप भी है। ऐसी भावना के बिना यदि प्राणनाश हुआ हो, या दुःख दिया हो तो वह देखने में भले ही हिंसा कहलाए, लेकिन दोषकोटि में नहीं आ सकती। इस तरह हिंसक समाज में अहिंसा के संस्कार के फैलने और उसके कारण विचारविक्रम के होने से दोषरूप हिंसा की व्याख्या के लिए सिर्फ 'प्राणनाश' इतना ही अर्थ पर्याप्त नहीं हो सका, इसीलिए उसमें 'प्रमत्त योग' जैसे महत्त्व के अंग की वृद्धि की गई।

प्र०—हिंसा की इस व्याख्या पर से यह प्रश्न होता है कि यदि प्रमत्तयोग के बिना ही प्राणवध हो जाय, तब उसे हिंसा कहे या नहीं ? इसी तरह यदि प्राणवध तो न हुआ हो, लेकिन प्रमत्तयोग हो, तब उसे भी हिंसा गिनें या नहीं ? यदि इन दोनों स्थलों में हिंसा गिनी जाय तो

वह दिशा प्रमत्तयोगजनित प्राणबन्ध रूप दिशा की काटि की ही होगी, या उसके निम्न पक्षर की ?

उ — शिष्ट प्राणबन्ध स्खल होने से इत्य दिशा तो है ही जब कि शिष्ट प्रमत्तयोग सूक्ष्म होने से अदृश्य है । इन दोनों में इत्यत्र अदृश्य रूप अन्तर के अन्तर्गत एक और ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण अन्तर है, और उसके ऊपर ही दिशा की सदोपता या अदोपता का आधार भी है । देखने में मझे ही प्राणनाश दिशा हो फिर भी वह दोषरूप ही है ऐसा एकान्त नहीं, क्योंकि उसकी दोषरूपता स्वाधीन नहीं है । दिशा की सदोपता दिशक की मानना पर अवलम्बित है । अतः वह पक्षी है । आत्मा स्वयं अक्षय हो तभी उसके से होन वाला प्राणबन्ध दृश्य होगा, और यदि आत्मा वैसी न हो तो वह प्राणबन्ध भी दोषरूप नहीं होगा । इतीन्द्रिय शास्त्रीय परिभाषा में ऐसी दिशा का द्रव्य दिशा अथवा आध्यात्मिक दिशा कहा गया है । द्रव्यदिशा अथवा आध्यात्मिक दिशा का अर्थ इतना ही है कि उसकी दोषरूपता अभावित नहीं है । इसके विपरीत प्रमत्तयोग रूप का सूक्ष्म अथवा वह रूप ही दोष रूप है जिससे उसके दोषरूपता स्वाधीन है । अर्थात् उसकी दोषरूपता स्खल प्राणनाश या शिष्टी इत्यदि रूप पर अवलम्बित नहीं है । स्खल प्राणनाश न हुआ ही शिष्टी की दृष्टि में न पहुँचाया हो बल्कि प्राणनाश करने वा हुनर देने का प्रयत्न होने पर उसके हुनर का अवन बह गया ही या उतरी गुण ही पट्टक गया हो फिर भी यदि उसके पीछे आत्मा अज्ञान हो तो वह नम पक्षीय रूप रूप ही गिना जायगा । वही कारण है ऐसी आत्मा को शास्त्रीय परिभाषा में आध्यात्मिक अथवा निश्चय दिशा कहा है । नान दिशा अथवा निश्चय दिशा का अर्थ इतना ही है कि उसकी दोषरूपता स्वाधीन होने से तीनों बातों में अभावित रहती है । शिष्ट प्रमत्तयोग का शिष्ट प्राणबन्ध-इत्यदि-रूप (अलग अलग) गिना मान लेने

और दोनों की दोषरूपता का तारतम्य पूर्वोक्त रीति से जान लेने के बाद इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों प्रकार की हिंसाएँ प्रमत्तयोग जनित प्राणवध रूप हिंसा की कोटि की ही हैं या भिन्न प्रकार की हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मले ही स्थूल अँख न देख सके, लेकिन तात्त्विक रीति से तो सिर्फ प्रमत्तयोग ही प्रमत्तयोग जनित प्राणनाश की कोटि की हिंसा है, और सिर्फ प्राणनाश ऐसी हिंसा नहीं है जो उक्त कोटि में आ सके।

प्र०—पूर्वोक्त कथन के अनुसार यदि प्रमत्तयोग ही हिंसा की दोषरूपता का मूल बीज हो, तब तो हिंसा की व्याख्या में इतना ही कहना काफी होगा कि प्रमत्तयोग हिंसा है। यदि यह दलील सत्य हो, तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से होता है कि फिर हिंसा की व्याख्या में 'प्राणनाश' को स्थान देने का कारण क्या है ?

उ०—तात्त्विक रीति से तो प्रमत्तयोग ही हिंसा है। लेकिन समुदाय द्वारा एकदम और बहुत अंशों में उसका त्याग करना शक्य नहीं। इसके विपरीत सिर्फ प्राणवध स्थूल होने पर भी उसका त्याग सामुदायिक जीवनहित के लिए वाञ्छनीय है, और यह बहुत अंशों में शक्य भी है। प्रमत्तयोग न भी छूटा हो, लेकिन स्थूल प्राणवधवृत्ति के कम हो जाने से भी बहुधा सामुदायिक जीवन में सुख-शान्ति रह सकती है। अहिंसा के विकास क्रम के अनुसार भी पहले स्थूल प्राणनाश का त्याग और बाद में धीरे धीरे प्रमत्तयोग का त्याग समुदाय में संभव होता है। इसीसे आध्यात्मिक विकास में साधकरूप से प्रमत्तयोग रूप हिंसा का ही त्याग इष्ट होने पर भी सामुदायिक जीवन की दृष्टि से हिंसा के स्वरूप के अन्तर्गत स्थूल प्राणनाश को स्थान दिया गया है। तथा उसके त्याग को भी अहिंसा कोटि में रखा है।

प्र — वह तो समझ लिया कि शास्त्रकार न भिसको हिंसा करे है उससे निवृत्त हीना ही आहिंसा है । पर वह फलव्याहारे कि ऐसी आहिंसा का मत लेनेवाले के सिने जीवन मनागे के वास्तो क्या क्या कर्तव्य अनिवार्य है ?

उ — १ जीवन को शांता फनाते जाना और उत्तर्क आवश्यकताओं को कम करते रहना ।

२ मानवी वृत्ति में अज्ञान को कितनी ही गुणवृद्ध से जीवन कान का मो पुण्याय के अनुसार स्थान है ही । इसलिये प्रतिष्ठान सावधान रहना और कहीं भूल न हो जाय इस बात का ध्यान में रहना और यदि भूल हो जाय तां वह ध्या से ओक्षण न हो सके ऐसी दृष्टि को बना लेना ।

३ आवश्यकताओं को कम कर देने आर सावधान रहने का कल्प रहने पर भी विच के जो अस्तसी दोष हैं जैसे लूस जीवन की पुष्पा और उसके अरथ पैदा होनेवाले जो कुरे राग हैपादि दोष हैं उन्हें कम करने का उद्यत प्रयाग करना ।

■ — ऊपर जो हिंसा की शोपक्यता क्यव्याह दे उसका क्या स्वरूप है ?

उ — कितने विच की श्रीमन्त्रता फने और कटोरता पैदा हो, तथा लूस जीवन की पुष्पा बडे कही हिंसा की शोपक्यता है । और कितने उच्च कटोरता न बड़े एवं लहस प्रेवमय वृत्ति य अंतर्मुख जीवन में बरा ही भी लसस्य न पाईने तप मसे ही लेकने में हिंसा दो कंठिन उत्तरी परी अशोपक्यता है ।

असत् बोलना अनृत—असत्य है ।

यद्यपि सूत्र में असत् कथन को असत्य कहा है, तथापि उसका भाव विशाल होने से उसमें असत्-चिन्तन, असत्-आचरण इन सभी का समावेश हो जाता है । इसीलिए असत्-चिन्तन, असत्-भाषण और असत्-आचरण—ये सभी असत्य दोष में आ जाते हैं । जैसे आर्हंसा की व्याख्या में 'प्रमत्तयोग' विशेषण लगाया है, वैसे ही असत्य तथा अदत्तादानादि वाकी के दोषों की व्याख्या में भी इस विशेषण को समझ लेना चाहिए । इसीसे प्रमत्तयोग पूर्वक जो असत् कथन है वह असत्य है, यह असत्य दोष का फलित अर्थ होता है ।

'असत्' शब्द के मुख्य दो अर्थ करने से यहाँ काम चल जाता है—

१. जो वस्तु अस्तित्व रखती हो उसका त्रिकुल निषेध करना, अथवा निषेध न भी करे, लेकिन जिस रूप में वस्तु हो, उसको उस रूप में न कह कर अन्यथा कथन करना—वह असत् है ।

२ गार्हित—असत् अर्थात् जो सत्य होने पर भी दूसरे को पीडा पहुँचावे, ऐसे दुर्भावयुक्त हो, तो वह असत् है ।

पहले अर्थ के अनुसार पास में पूँजी होने पर भी जब लेनदार माँगी, तब कह देना कि कुछ भी नहीं है—यह असत्य है । इसी प्रकार पास में पूँजी है—यह स्वीकार कर लेने पर भी लेनदार सफल न हो सके इस तरह का वयान देना—यह भी असत्य है ।

१ अब्रह्म में 'प्रमत्तयोग' विशेषण नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि यह दोष अप्रमत्त दशा में सभव ही नहीं है । इसीलिए तो ब्रह्मचर्य को निरपवाद कहा है । विशेष खुलासे के लिए देखो गुजराती में 'जैन दृष्टि ब्रह्मचर्य' नामक निबन्ध ।



दुसरे अर्थ के अनुसार किसी भी अनपढ़ या नासमझ को नीचा दिखाने के लिए कबना ऐसे ढंग से कि जिससे उसे दुःख पहुँचे, कृत होने पर भी 'अनपढ़' वा 'नासमझ' ऐसा बचन कहना भी उचित है।

अपराध के उक्त अर्थ पर से साथ शत्रुपारी के लिए निम्न अर्थ प्रसिद्ध होते हैं

१ प्रमत्तयोग का त्याग करना ।

२ मन, बचन और काय की प्रवृत्ति में एकस्यता रखना ।

३ कृत होने पर भी दुर्मौख से अग्नि न चिन्तना, न बोधना और न करना । १ ।

श्रीरी का स्वस्म-

अदत्तादान स्तेयम् । १० ।

द्विग्न दिये केना—बह स्तेय अर्थात् श्रीरी है ।

अपि वस्तु पर किसी दुसरे की माझिणी हो, मझे ही बह वस्तु लुप्त सम्पन्न या विच्छिन्न मूल्य रहित हो पर उसके माझिक की अज्ञान के बिना श्रीरुं दुष्टि से ग्रहण करने को स्तेय करते हैं ।

इस व्याख्या पर से अशौच शत्रुपारी के लिए निम्न अर्थ प्रसिद्ध होते हैं :

१ किसी भी वस्तु की तरफ लक्षणा करनेवाली वृत्ति को दाना ।

२ जब तक सम्पन्नाने की आवश्यक न छूटे, तब तक अपने सम्पन्न की वस्तु व्यापारक अपने आप ही प्राप्त करना और दुसरे की बेटी वस्तु को अज्ञान के बिना लेने का विचार तक न करना । २ ।

अज्ञान का स्वरूप-

भेषुनममदा । ११ ।

भेषुन प्रवृत्ति—अज्ञान है ।

मैथुन का अर्थ मिथुन की प्रवृत्ति है। 'मिथुन' शब्द सामान्य रूप से 'स्त्री और पुरुष का 'जोड़ा' के अर्थ में प्रसिद्ध है। फिर भी इसका अर्थ जरा विस्तृत करने की जरूरत है। जोड़ा स्त्री-पुरुष का, पुरुष-पुरुष का, या स्त्री-स्त्री का हो सकता है। और वह सजातीय-मनुष्य आदि एक जाति का, अथवा विजातीय-मनुष्य, पशु आदि भिन्न भिन्न जाति का भी हो सकता है। ऐसे जोड़े की काम राग के आवेश से उत्पन्न मानसिक, वाचिक अथवा कायिक कोई भी प्रवृत्ति मैथुन अर्थात् अब्रह्म कहलाती है।

प्र—जहाँ पर जोड़ा न हो, और स्त्री या पुरुष में से कोई एक ही व्यक्ति कामराग के आवेश में जड़ वस्तु के आलम्बन से अथवा अपने हस्त आदि अवयवों द्वारा मिथ्या आचार का सेवन करे, तो ऐसी चेष्टा को ऊपर की व्याख्या के अनुसार क्या मैथुन कह सकते हैं ?

उ०—हाँ, अवश्य। क्योंकि मैथुन का असली भावार्थ तो काम-रागजनित कोई भी चेष्टा ही है। यह अर्थ तो किसी एक व्यक्ति की वैसी दुश्चेष्टाओं में भी लागू हो सकता है। अतः उसमें भी मैथुन का दोष है ही।

प्र०—मैथुन को अब्रह्म कहा गया है, उसका क्या कारण है ?

उ०—जो ब्रह्म न हो वह अब्रह्म है। ब्रह्म का अर्थ है जिसके आलन और अनुसरण से सद्गुणों की वृद्धि हो। जिस ओर जाने से सद्गुणों की वृद्धि न हो, बल्कि दोषों का ही पोषण हो—वह अब्रह्म है। मैथुन प्रवृत्ति एक ऐसी प्रवृत्ति है कि उसमें पड़ते ही सारे दोषों का पोषण और सद्गुणों का हास शुरू हो जाता है। इसीलिए मैथुन को अब्रह्म कहा गया है। ११।

परिग्रह का स्वरूप—

मूर्च्छा परिग्रह. ११२।

मूर्च्छा ही परिग्रह है ।

मूर्च्छा का अर्थ व्यासक्ति है । बहुत छोटी बड़ी, अन्ध, खेतन अन्ध या अन्तरिक चारों ओर और कदाचित् न भी ही तौ मी ठसने बंध जाना, अर्थात् टलछे समन में विवेक को बैठना परिग्रह है ।

प्र — हिंसा से परिग्रह एक के पाँच दोषों का स्वल्प उग्र से देखने से मिला मात्स्य पद्धति है पर सत्सत्ता से विचार करने पर ठसने भेद कास भेद नहीं बीकता । कारण यह है कि इन पाँच दोषों के दोषस्वता का आधार सिर्फ राग द्वेष और मोह है । तथा राग द्वेष और मोह ही हिंसा आदि क्रतियों का अहर है और इसी से ये क्रतियाँ दण्ड करभती हैं । यदि यह कमजोर हो, तब राग-द्वेष आदि ही दोष के हटना करना ही कष्टी होता । फिर दोष के हिंसा आदि पाँच का म्यूनाधिक भेदों का वर्जन किस लिए किया जाता है ।

उ — निश्चयसे कोई भी प्रवृत्ति राग द्वेष आदि के कारण ही होती है । अतः मुख्यस्व से राग द्वेष आदि ही दोष हैं, और इन दोषों से मिला होना ही एक मुख्य मत है । ऐसा होने पर मी जब राग, द्वेष आदि के त्याग का उपदेश होना हो तब उनसे होनेवाली प्रवृत्तियों की समझाकर ही उन प्रवृत्तियों तथा उनके प्रेरक राग द्वेष आदि के त्याग करने को कह सकते हैं । स्वल्प दृष्टिको लोको के लिए वृत्तय कम अपार्य लोको राग द्वेषादि के त्याग का उपदेश शक्य नहीं है । राग-द्वेष से पैदा होनेवाली अलोक्य प्रवृत्तियों में से हिंसा अत्याज आदि मुख्य हैं । और ये प्रवृत्तियाँ ही मुख्यस्व से आध्यात्मिक या लौकिक जीवन को कुदरे हासती हैं । अर्थात् हिंसा आदि प्रवृत्तियों की पाँच मार्गों में विमिश्रित करके पाँच दोषों का वजा मिला गया है ।

दोषों की इस संकल्प में समय समय पर और देख भेद से परिग्रह होता आता है और होता रहेगा; फिर भी संकल्प और लक्ष्य मात्र

के मोह में न पड़ कर खास तौर से इतना समझ लेना चाहिए कि इन प्रवृत्तियों के द्वारा राग, द्वेष और मोह रूप दोषों का त्याग करना ही सूचित किया है। इसी कारण हिंसा आदि पाँच दोषों में कौनसा दोष प्रधान है, किसका पहले त्याग करना चाहिए और किसका बाद में यह सवाल ही नहीं रहता। हिंसा दोष की विशाल व्याख्या में असत्य आदि सभी दोष समा जाते हैं। इसी तरह असत्य या चोरी आदि किसी भी दोष की विशाल व्याख्या में बाकी के सब दोष समा जाते हैं। यही कारण है कि अहिंसा को मुख्य धर्म मानने वाले हिंसदोष में असत्यादि सब दोषों को समा लेते हैं, और सिर्फ हिंसा के त्याग में ही दूसरे सभी दोषों का त्याग भी समझते हैं, तथा सत्य को परम धर्म मानने वाले असत्य में बाकी के सब दोषों को घटा कर सिर्फ असत्य के त्याग में ही सब दोषों का त्याग समझते हैं। इसी प्रकार सतोष, ब्रह्मचर्य आदि को मुख्य धर्म मानने वाले भी करते हैं। १२।

यथार्थरूप में व्रती बनने की प्राथमिक योग्यता—

### नि शल्यो व्रती । १३ ।

शतय रहित ही व्रती हो सकता है।

अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के लेने मात्र से कोई सच्चा व्रती नहीं बन सकता। सच्चा व्रती होने के लिए छोटी से छोटी और सबसे पहली एक ही शर्त है। वह शर्त यह है कि 'शल्य' का त्याग करना। संक्षेपतः शल्य तीन हैं— १. दम्भ—कपट, ढोंग अथवा ठगने की वृत्ति, २. निदान—भोगों की लालसा, ३. मिथ्यादर्शन—सत्य पर श्रद्धा न लाना अथवा असत्य का आग्रह। ये तीनों मानसिक दोष हैं। जब तक ये रहते हैं, मन और शरीर दोनों को कुरेद डालते हैं, और आत्मा कभी

स्वल्प नहीं रह सकता। इसलिये अल्पयुक्त आत्मा किसी कारण से अन्न के भी ले, लेकिन वह उनके पाचन में एकत्र नहीं बन सकता। जैसे शरीर के किसी भाग में खोंटा या बैठी ही बूसरी खोई तब तो वह वस्तु तुमसे तो वह शरीर और मन की अस्वल्प बना जा सकती है, और आत्मा को किसी भी अन्न में एकत्र नहीं होने देती; जैसे ही उक्त मानसिक दोष भी उन्हीं प्रकार की व्यवस्था पैदा करते हैं। इसलिये उनका त्याग अती बनने के लिये प्रथम अर्त के रूप में एकत्रा गया है। १४।

अती के भेद—

अगार्यनगारश्च । १४ ।

अती के अगारी—यहल्य और अनगार—त्यागी अत दो भेद समक है।

प्रत्येक अन्नकारी की योग्यता एकत्री नहीं होती। इसलिये योग्यता के कारण के अनुसार अन्नोप में अती के यहाँ दो भेद बतल्यय यद हैं—  
१ अगारी २ अनगार। अगार अर को कहते हैं। अन्नकार अर के साथ संकल्प हो वह अनगारी है। अगारी अर्थात् यहल्य। अन्नकार अर के साथ संकल्प न हो उसे अनगार अर्थात् त्यागी मुनि कहते हैं।

अपि अगारी और अनगार इन दोनों शब्दों का सीधा अर्थ अर में बलना या न बलना ही है। लेकिन यहाँ तो इनका तात्पर्य कैना है और यद यद कि विषयवृत्ता करने का अर्थ—अगारी तथा जो विषयवृत्ता से मुक्त हो—यद अनगार। इस तात्पर्य के लेने से परिभार्य पर निश्चयना है कि अन्न पर में बलना हुआ भी विषयवृत्ता से मुक्त हो तो वह अनगार ही है। तथा अन्न पर अन्नकार अन्न में जा सके, लेकिन विषयवृत्ता से मुक्त हो तो यद अगारी ही है। अगारीय और

अनगारपन की सच्ची एव मुख्य कसौटी एक यही है, तथा उसके आधार पर ही यहाँ व्रती के दो भेद किये गए हैं ।

प्र०—यदि विषयवृष्णा के होने से अगारी होता है, तो फिर उसे व्रती कैसे कह सकते हैं ?

उ०—स्थूल दृष्टि से । जैसे कोई आदमी अपने घर आदि किसी अनियत स्थान में ही रहता है और फिर भी वह अमुक शहर में रहता है—वैसे व्यवहार अपेक्षाविशेष से करते हैं, इसी तरह विषयवृष्णा के रहने पर भी अल्पाङ्ग में व्रत का सन्न्ध होने के कारण उसे व्रती भी कह सकते हैं । १४।

### अगारी व्रती का वर्णन

अणुव्रतोऽगारी । १५ ।

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोग-  
परिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च । १६ ।

मारणान्तिकीं सलेखनां जोषिता । १७ ।

अणुव्रतधारी अगारी व्रती कहलाता है ।

वह व्रती दिग्विरति, देशविरति अनर्थदण्डविरति, सामायिक, पौष-धोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण, और अतिथिसंविभाग इन व्रतों से भी सपन्न होता है ।

तथा वह मारणान्तिक संलेखना का भी आराधक होता है ।

जो अहिंसा आदि व्रतों को संपूर्ण रूप से स्वीकार करने में समर्थ न हो, फिर भी त्यागवृत्ति युक्त हो, तो वह गृहस्थ मर्यादा में रहकर अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार इन व्रतों को अस्पाश में स्वीकार करता है । ऐसा गृहस्थ अणुव्रतधारी भावक कहलाता है ।

संपूर्ण रूप से स्वीकार किये जाने वाले ज्यों को महाशक्त कहते हैं। उनके स्वीकार की प्रतिष्ठा में संपूर्णता के कारण, शास्त्रमय नहीं रहता था। परन्तु जब ज्यों को अस्वाभाव में स्वीकार किया जाता है, उस अस्वाभाव की विविधता के होने से छद्मिपयक प्रतिष्ठा भी अनेक रूप में प्रकट-प्रकटा की जाती है। ऐसा होने पर भी एक एक अशुभ की विविधता में न जाकर सूत्रकार ने सामान्य धीरे से एहस्य के अहिता आदि ज्यों का एक एक अशुभ के रूप में वर्णन किया है। ऐसे अशुभ पौंच हैं, जो सूत्रमूल अथात् साग के प्रथम स्तम्भरूप होने से मूलमूल वा मूलमूल कहलाते हैं। इन मूलमूलों की रक्षा पुष्टि अथवा शुद्धि के निमित्त एहस्य सूत्रों में अनेक मत स्वीकार करता है; जो उच्छरगुण वा उच्छरगुण के नाम से प्रतिष्ठित हैं। ऐसे उच्छरगुण यहाँ विशेष में सात बतल्यप हैं। तथा एहस्य इती जीवन के अन्तिम समय में जो एक मत केने के सिद्ध

१ सामान्यता मगवान महावीर की समय परंपरा में अशुभों की पौंच संख्या, उनके नाम, तथा क्रम में कुछ भी अन्तर नहीं है। हाँ, दिग्गम परम्परा में ब्रह्मने ही आचार्यों ने उच्छरगुण के स्वाग को छठे अशुभ के रूप में गिनाया है। परन्तु उच्छरगुण रूप में अनेक रूप अथवा के ज्यों के बारे में प्राचीन तथा नवीन अनेक परम्परों हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में द्विचिरमय के बाद उपमीगपरिमील परिवामभव को न गिनाकर देहाविरमभव को गिनाया है। जब कि आचार्यों में द्विचिरमय के बाद उपमीगपरिमोगपरिमय मत गिनाया है। तथा देहाविरमभव सामयिक मत के बाद गिना है। ऐसे क्रम भेद के रहते भी जो तीन मत गुणवत् के रूप में और चार मत विचारवत् के रूप में समझे जाते हैं उनमें कुछ भी अन्तर नहीं होता ज्ञान। उच्छरगुणों के विषय में दिग्गम परंपरा में विभिन्न विभिन्न सांख्यिक परम्परों ब्रह्मने में आती हैं। कुण्डल, उमास्वातीय, समन्ताद्र स्वामी कार्तिकेय, त्रिनेत्र और वसुन्धरी—इन आचार्यों की विभिन्न विभिन्न साम्यवत् हैं। इस मतभेद में कहीं नाम का, कहीं क्रम का, कहीं संख्या का और कहीं पर अवधिकार का

प्रेरित होता है, वह संलेखना के नाम से प्रसिद्ध है। उसका भी यहाँ निर्देश है। इन सभी व्रतों का स्वरूप संक्षेप में निम्न प्रकार है

१ छोटे बड़े प्रत्येक जीव की मानसिक, वाचिक, कायिक हिंसा का पूर्णतया त्याग न हो सकने के कारण अपनी निश्चित पाँच अणुव्रत की हुई गृहस्थमर्यादा, जितनी हिंसा से निभ सके उससे अधिक हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत है।

२-५. इसी तरह असत्य, चोरी, कामाचार और परिग्रह का अपनी परिस्थिति के अनुसार मर्यादित त्याग करना क्रमशः सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अणुव्रत हैं।

६ अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर हरतरह के तीन गुणव्रत अधर्म कार्य से निवृत्ति धारण करना दिग्विरति व्रत है।

७. सर्वदा के लिए दिशा का परिमाण निश्चित कर लेने के बाद भी उसमें से प्रयोजन के अनुसार समय समय पर क्षेत्र का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर अधर्म कार्य से सर्वथा निवृत्त होना देशविरति व्रत है।

८ अपने भोगरूप प्रयोजन के लिए होने वाले अधर्म व्यापार के अलावा बाकी के शून्य अधर्म व्यापार से निवृत्त होना, अर्थात् कोई निरर्थक प्रवृत्ति न करना अनर्थदण्डविरति व्रत है।

मेद है। यह सब खुलासा जानने के लिए बाबू जुगलकिशोर जी मुख्तार की 'जैनाचार्यों का शासन-मेद' नामक पुस्तक, पृ० २१ से आगे अवश्य पढ़नी चाहिए। प्रकाशक—जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, हीरावाग, बम्बई।



\* अन्न का अभिप्राय लेकर अथात् अमुक समय तक अर्धम प्रकृति का त्याग करके धर्मप्रकृति में स्थिर होने का अन्वय प्राप्त करना सामायिक मत है ।

१ अन्नमी अन्नदर्शी, पूर्वमा या हृत्परी कोर्ष भी विधि में उपवास धारण करके और सत्र तरह की शरीर विभूषा का त्याग करके धर्म अंगार में उत्तर रहना पौषधोपवास मत है ।

११ जिसमें अधिक अर्धम उन्मत्त हो—ऐसे ज्ञान-पान गहन कपडा, बर्तन आदि का त्याग करके अस्य अर्धम वाष्पि वस्तुओं का भी भाग के लिए परिमाण बाधना उपमोगपरिमोगपरिमाय मत है ।

१२ न्याय से उपार्जित और जो स्वयं सके ऐसी ज्ञान-पान आदि के योग्य वस्तुओं का इस रीति से शुद्ध मरिचिमान पूर्वक सुपात्र की दान देना जिससे कि उभय पक्ष को सम पङ्क्तये अतिधितविमान मत है ।

कषाय का अन्त करने के लिए उसके निर्वाहक और पोषक कारणों को धरते हुए कषाय को मन्त्र बनाना— संछेन्नमा है । यह संछेन्नमा मत बर्तमान शरीर का अन्त होने तक किया जाता है । अतः इतने मारणान्तिक संछेन्नमा करते हैं । संछेन्नमा मत को पदस्य मी अन्नानुष शरीरकर करके उत्तम संपूर्वस्य से पाञ्चन करते हैं । शरीरिभ्य उन्ने इत म का आराधक कहा है ।

प्र —सुच्छेन्नमा मत की धारण करनेवाला अन्यान आदि का शरीर का अन्त करता है यह तो आत्महत्या हुई । तथा आत्महत्या से स्वर्ग ही है तब फिर इतको मत मानकर त्यागधर्म में स्थान देना क्यों तक उचित है ?

उ —जैसे ही देखने में शुक्ल ही या प्राणनाथ—वर रहने माने ही वह मत दिना की कीर्ति में गई, भा लकेगा । अर्थात् दिना म

स्वरूप तो राग, द्वेष तथा मोह की वृत्ति से ही बनता है। सलेखना व्रत में प्राणनाश है, पर वह राग, द्वेष तथा मोह के न होने के कारण हिंसा की कोटि में नहीं आता, उल्टा निर्मोहत्व और वीतरागत्व साधने की भावना में से ही यह व्रत पैदा होता है और इस भावना की सिद्धि के प्रयत्न के कारण ही यह व्रत पूर्ण बनता है। इसलिए यह हिंसा नहीं है, बल्कि शुभध्यान अथवा शुद्धध्यान की कोटि में रखने योग्य होने से इसको स्वागधर्म में स्थान प्राप्त है।

प्र०—कमलपूजा, भैरवजप, जलसमाधि आदि अनेक तरह से जैनैतर पन्थों में प्राणनाश करने की और उनको धर्म मानने की प्रथाएँ चालू थीं, और हैं, उनमें और सलेखना की प्रथा में क्या अन्तर है ?

उ०—प्राणनाश की स्थूल दृष्टि से भले ही ये समान दीखें, लेकिन भेद तो उनके पीछे रही हुई भावना में ही हो सकता है। कमलपूजा चण्डैरह के पीछे कोई भौतिक आशा या दूसरा प्रलोभन न हो और सिर्फ भक्ति का आवेश या अर्पण की वृत्ति हो ऐसी स्थिति में और वैसे ही आवेश या प्रलोभन से रहित सलेखना की स्थिति में अगर फर्क कहा जा सकता है, तो यही कि भिन्न भिन्न तत्त्वज्ञान पर अवलम्बित भिन्न भिन्न उपासनाओं में रही हुई भावनाओं का। जैन उपासना का ध्येय उसके तत्त्वज्ञान के अनुसार परार्पण या परप्रसन्नता नहीं है, परन्तु आत्मशोधन मात्र है। पुराने समय से चली आती हुई धर्म्य प्राणनाश की विविध प्रथाओं का उसी ध्येय की दृष्टि से सशोधित रूप जो कि जैन संप्रदाय में प्रचलित है, सलेखना व्रत है। इसी कारण सलेखना व्रत का विधान खास सयोगों में किया गया है।

जब जीवन का अन्त निश्चित रूप से समीप मालूम पड़े, धर्म और आवश्यक कर्तव्यों का नाश होता हो, इसी प्रकार जब कि किसी

का भी दुर्घ्यान न हो ऐसी स्थिति में ही यह अर्थ निश्चय माना गया है । १५-१७ ।

सम्यग्दर्शन के अतिचार—

अज्ञात्कारुष्याविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रश्रयासस्तथाः  
सम्यग्दृष्टेरतिचाराः । १८ ।

अज्ञात्कारुष्या विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रश्रया और अन्यदृष्टितत्त्वानुसंधान के पाँच अतिचार हैं ।

ऐसे स्वप्न किन्तु कि कोई भी स्वीकार किया हुआ गुण स्थिति हो जाता है और धीरे धीरे हास की प्राप्ति हो कर नष्ट हो जाता है, उन स्वप्नों को ही अतिचार करते हैं ।

सम्यक्त्व ही चारित्र्य धर्म का मूल आधार है । उसकी छद्मि पर ही चारित्र्य की छद्मि अवलम्बित है । इसलिये किन्तु सम्यक्त्व की छद्मि में चित्र पहुँचने की सम्भावना है ऐसे अतिचारों का यहाँ पाँच प्रकारों में वर्णन किया है वे निम्नानुसार हैं :

१. आर्हत प्रवचन की दृष्टि स्वीकार करने के बाद उसमें वर्णित अनेक धर्म और अतीन्द्रिय पदार्थों (जो सिर्फ केवलज्ञानगम्य तथा आगमगम्य हों) के विषय में अज्ञान करना कि 'वे ऐसे होंगे या नहीं ?' यह अज्ञानातिचार है । लक्ष्य और उत्पूर्वक परीक्षा का जैन तत्त्वज्ञान में पूर्वतया स्थान होने पर भी यहाँ भी अज्ञान को अतिचार रूप से वर्णित है । इसका तात्पर्य इतना ही है कि तर्कवाद के पार के पदार्थों को तर्क दृष्टि से कहने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए । ऐसा करने से तापक सिर्फ अज्ञानगम्य प्रदेश को बुद्धिगम्य न कर सकेगा जिससे अन्त में वह बुद्धिगम्य प्रदेश को भी छोड़ बैठेगा । अतः किन्तु तापना के विचार में बाधा आती हो ऐसी अज्ञान ही अतिचार रूप में वर्णित है ।

२. ऐहिक और पारलौकिक विषयों की अभिलाषा करना ही काक्षा है। यदि ऐसी काक्षा होगी, तो साधक गुणदोष का विचार किये बिना ही जग चाहे अपने सिद्धान्त को छोड़ देगा, इसीलिए उसको अतिचार दोष कहा गया है।

३. जहाँ भी मतभेद या विचारभेद का प्रसंग उपस्थित हो, वहाँ पर अपने आप कुछ भी निर्णय न करके सिर्फ मतिमन्दता के कारण यह सोचना कि 'यह बात भी ठीक है और वह बात भी ठीक हो सकती है'। इस प्रकार बुद्धि की अस्थिरता ही विचित्रिक्ता है। बुद्धि की ऐसी अस्थिरता साधक को किसी एक तत्त्व पर कभी भी स्थिर नहीं रहने देती; इसीलिए यह अतिचार है।

४-५ जिसकी दृष्टि मिथ्या हो, उसकी प्रशंसा करना या उससे परिचय करना ये अनुक्रम से मिथ्यादृष्टिप्रशंसा और मिथ्यादृष्टिसत्त्व नामक अतिचार हैं। भ्रान्तदृष्टि रूप दोष से युक्त व्यक्तियों में भी कई बार विचार, त्याग आदि गुण पाये जा सकते हैं। गुण और दोष का भेद किये बिना ही उन गुणों से आकृष्ट हो कर जैसे व्यक्ति की प्रशंसा करने अथवा उससे परिचय करने से अविवेकी साधक का सिद्धान्त से स्वलित होने का डर रहता है। इसीसे अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टि सत्त्व को अतिचार माना है। मध्यस्थता और विवेकपूर्वक गुण को गुण और दोष को दोष समझने वाले साधक के लिए भी उक्त प्रकार के प्रशंसा और सत्त्व हानिकारक होते ही हैं ऐसा एकान्त नहीं है।

उक्त पाँच अतिचार व्रती श्रावक और साधु दोनों के लिए समान हैं, क्योंकि सम्यक्त्व दोनों का साधारण धर्म है। १८।

व्रत और शील के अतिचारों की संख्या और अनुक्रम से उनका वर्णन—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् । १९।

ध धधधच्छाषिच्छेद्राऽतिमारारोपणाऽन्यपान  
निरोधा । २० ।

मिथ्योपद्रवहारहस्याभ्याख्यानकृत्लेखक्रियान्वासा  
पहारसाकारमन्त्रभेदा । २१ ।

स्तेनप्रयोगसदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक  
मानोन्मानप्रतिरूप कृष्यवहारा । २२ ।

परविवाहकरणेस्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमना  
ऽनङ्गकर्मजातीवकामाभिनिषेधा । २३ ।

क्षेत्रभास्तुहिरण्यसुवर्णघनघा-यदाभीदामकुम्पप्रमा-  
णातिक्रमा । २४ ।

उर्ध्वविस्तिर्यग्भ्यतिक्रमक्षेत्रबुद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि । २५ ।  
आनयनप्रेष्यप्रयोगश्चन्द्ररूपानुपातपुद्गलक्षेपा । २६ ।

कन्दर्पकौस्तुभ्यमौख्याऽसभीक्ष्याधिकरणोप  
मोगाधिकृतानि । २७ ।

योगदुष्प्रणिधानाऽनादरस्मृत्यनुपस्थापनाभि । २८ ।  
अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमावितोत्सर्गादाननिषेपसंस्कारोपक्रम

णाऽनादरस्मृत्यनुपस्थापनाभि । २९ ।

सचित्तसपदसमिधामिषबहुष्यकाहाराः । ३० ।

सचित्तनिषेपविधानपरभ्यपदेष्टमात्सयकालाति  
क्रमाः । ३१ ।

जीविषमरणार्थसार्धमेत्रानुरागसुखानुष-धनिदानकर  
णानि । ३२ ।

व्रतों और शीलों में पाँच पाँच अतिचार हैं। वे अनुक्रम से इस प्रकार हैं—

बन्ध, वय, छविच्छेद, अतिभार का आरोपण और अन्न-पान का निरोध ये पाँच अतिचार प्रथम अणुव्रत के हैं।

मिथ्योपदेश, रहस्याभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये पाँच अतिचार दूसरे अणुव्रत के हैं।

स्तेनप्रयोग, स्तेन-आहतादान, विरुद्ध राज्य का अतिक्रम, हीन-अधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच तीसरे अणुव्रत के अतिचार हैं।

परविवाहकरण, इत्वरपारिग्रहीतागमन, अपरिग्रहीतागमन, अनङ्गक्रीडा और तीव्रकामाभिनिवेश ये पाँच अतिचार चौथे अणुव्रत के हैं।

क्षेत्र और वस्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दासी-दास के प्रमाण का अतिक्रम, एव कुम्भ के प्रमाण का अतिक्रम ये पाँच अतिचार पाँचवें अणुव्रत के हैं।

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान ये पाँच अतिचार छठे दिग्विरति व्रत के हैं।

आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप ये पाँच अतिचार सातवें देशविरति व्रत के हैं।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौख्य, असमीक्ष्य-अधिकरण और उपभोग का अधिकत्व ये पाँच अतिचार आठवें अनर्थदण्डविरमण व्रत के हैं।

कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृति का अनुपस्थापन ये पाँच अतिचार सामायिकव्रत के हैं।

अप्रत्यवेक्षित और अप्रमादित में उत्सर्ग अप्रत्यवेक्षित और अप्रमादित में आह्वान-निषेध अप्रत्यवेक्षित और अप्रमादित तस्त्वार का उपक्रम अन्तार और स्मृति का अनुपस्थापन ये पौंच अतिचार पौंच ऋत के हैं ।

सचित आहार सचितसंबद्ध आहार, सचितसंमिध आहार, अभियव आहार और दुष्पक आहार ये पौंच अतिचार भोगोपभोग ऋत के हैं ।

सचित में निषेध सचितपिधान, परम्पपवद्य मात्सर्व और अस्मृति-क्रम ये पौंच अतिचार अतिपिसंबिम्पगऋत के हैं ।

वीविताशसा मरणाशसा, मित्रानुराग सुखानुदम्ब और निदानकरण ये मरणास्तिक संकेतना के पौंच अतिचार हैं ।

जो निबम अज्ञा और ज्ञान पूर्वक स्वीकार किया जाता है, उसे ऋत कहते हैं । इस अर्थ के अनुसार आयक के बारह ऋत ऋत शब्द में आ ऋत हैं फिर भी यहाँ ऋत और शीक इन दो शब्दों का प्रयोग करके यह सूचित किया गया है कि चारित्र्य धर्म के मूल नियम अहिंसा सत्य आदि पौंच हैं; और द्विद्वरमम आदि शस्त्री के नियम तो इन मूल नियमों की पुष्टि के लिए ही हैं । हर एक ऋत और शीक के जो पौंच पौंच अतिचार गिन्याए हैं, वे मध्यम दृष्टि से समझने चाहिए; क्योंकि लक्ष्य दृष्टि से तो इससे कम भी अस्मृत किसे का सकते हैं एवं निष्कार दृष्टि से पौंच से अधिक भी करे जा सकते हैं ।

चारित्र्य का मूलतत्त्व है रागद्वेष आदि विकारों का अन्वय उपकर समन्वय का परिशील्य करना । चारित्र्य के इस मूल स्वस्म भी सिद्ध करने के लिये अहिंसा सत्य आदि जो जो नियम व्यावहारिक जीवन में उतारे जाते हैं, वे सभी चारित्र्य कहलाते हैं । व्यावहारिक धीनन देश, काल आदि की परिस्थिति तथा मनुष्य बुद्धि की संस्कारिता के अनुसार बनता है

अतः उक्त परिस्थिति और सत्कारिता में परिवर्तन होने के साथ ही जीवन व्यवहार भी बदलता रहता है। यही कारण है कि चारित्र का मूल स्वरूप एक होने पर भी उसके पोषक रूप से स्वीकार किये जाने वाले नियमों की संख्या तथा स्वरूप में परिवर्तन होना अनिवार्य है। इसीलिए श्रावक के व्रत, नियम भी अनेक तरह से भिन्न रूप में शास्त्रों में मिलते हैं और भविष्य में भी परिवर्तन होता ही रहेगा। इतने पर भी यहाँ ग्रन्थकार ने श्रावक धर्म के तैरह ही भेद मानकर उनमें से ग्रन्थके के अतिचारों का कथन किया है। जो क्रमशः निम्न प्रकार से हैं—

१. किसी भी प्राणी को अपने इष्ट स्थान में जाते हुए रोकना या बाँधना—बन्ध है। डंडा या चाबुक आदि से प्रहार करना वध है।

अहिंसाव्रत के  
अतिचार

२. कान, नाक, चमड़ी आदि अवयवों का भेदन या छेदन—छविच्छेद है। ४. मनुष्य या पशु आदि

पर उसकी शक्ति से ज्यादा बोझ लादना—अतिभार-आरोपण है। ५. किसी के खानपान में रुकावट डालना—यह अन्नपान का निरोध है। किसी भी प्रयोजन के बिना व्रतधारी गृहस्थ इन दोषों को कदापि सेवन न करे, ऐसा उत्सर्ग मार्ग है, परन्तु घर-गृहस्थी का कार्य आ पढ़ने पर विशेष प्रयोजन के कारण यदि इनका सेवन करना ही पड़े, तब भी कौमल भाव से ही काम लेना चाहिए। १९, २०।

१. सच्चा झूठा समझाकर किसी को उलटे रास्ते डालना मिथ्या उपदेश है। २. राग में आकर विनोद के लिए किसी पति, पत्नी को अथवा तथा अन्य स्नेहियों को अलग कर देना, अथवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोप करना—रहस्याभ्याख्यान है। ३. मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पट्टी करना तथा खोटा सिक्का चलाना आदि कूटलेखकिया है। ४. कोई

सत्यव्रत के  
अतिचार



अथोपर रसकर भूषण वा, तो उतकी मूष कर काम उठाकर घोड़ी या बहुत अथोपर को हजम कर खाना—ज्यासापहार है । ५ आपस में प्रीति हूट याव इस लखाल से एक दूसरे की पुगली खाना, या किसी की गुल बात को प्रकट कर देना—साक्षरमजमेद है । २१ ।

१ किसी की चोरी करने के लिए स्वयं प्रेरित करना, या बूझने के द्वारा प्रेरणा दिखाना अथवा ऐसे कार्य में सम्मत् होना—स्तेनप्रयोग है ।

जल्लेखरत के अतिचार २ निजी प्रेरणा या सम्मति के बिना कोई चोरी करके कुछ भी खया हो, उसे ले लेना स्तेन-अग्रहणान है ।

३ मिस-मिन्न राज्य बस्तुओं के अग्रयत-निर्यात पर कुछ करकेन लगा देते हैं अथवा उन पर कर आदि की व्यवस्था कर देते हैं, राज्य के ऐसे नियमों का उल्लंघन करना विषयराज्यातिक्रम है । ४ म्यूना धिक माप, बौट वा तराजू आदि से छेन देस करना हीनाधिक मानोम्मान है । ५ अठसी के बढके बनावडी वस्तु को बचाना—प्रतिस्मकम्भवसर करणता है । २२ ।

१ निजी सति के उपरांत कन्यादान के फल की इच्छा से अथवा स्नेह सवन्ध से बूझने की संतति का विनाह कर देना—परविबाहकरम है ।

ब्रह्मचर्य मृत के अतिचार २ किसी बूझने ने अतुक समय तक देना या बेठी साधारण की की स्वीकार किया ही तो ठीकी काजबधि में ठक जी का भोग करना इत्तरपरिणी

सागमन है । ३ जसा हो अितक पति विदेश गया हो ऐसी की हो अथवा कोई अनाप हो या बी किसी पुस्य के कब्जे में न ही ठसका उपभोग करना—अपरिषीतागमन है । ४ अस्वाग्नाधिक रीति से बी

१ इसके बारे में विशेष ज्ञाक्या के लिए देखा जैन हरिए ब्रह्मचर्य-मो विचार नाम का गुजराती निरन्ध ।

सृष्टिविरोध काम का सेवन अनङ्गक्रीड़ा है। ५. चार चार उर्दीपन करके विविध प्रकार से कामक्रीड़ा करना तीव्रकामाभिलाष है। २३।

१. जो जमीन खेती-चाड़ी के लायक हो वह क्षेत्र और जो रहने योग्य हो वह वास्तु; इन दोनों का प्रमाण निश्चित करने के बाद लोभ में आकर उनकी मर्यादा का अतिक्रमण करना क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम है। २. घड़े हुए या बिना घड़े हुए चाँदी और सोने दोनों का व्रत लेते समय जो प्रमाण निश्चित किया हो, उसका उल्लंघन करना हिरण्यसुवर्ण-प्रमाणातिक्रम है। ३. गाय, भैंस आदि पशुरूप धन और गेहूँ बाजरी आदि धान्य के स्वीकृत प्रमाण का उल्लंघन करना धनधान्य-प्रमाणातिक्रम है। ४. नौकर, चाकर आदि कर्मचारी सत्रन्धी प्रमाण का अतिक्रमण करना दासीदास-प्रमाणातिक्रम है। ५. अनेक प्रकार के बर्तनों और वस्त्रों का प्रमाण निश्चित करने के बाद उनका अतिक्रमण करना कुप्यप्रमाणातिक्रम है। २४।

१. वृक्ष, पर्वत आदि पर चढ़ने की उँचाई का प्रमाण निश्चित करने के बाद लोभ आदि विकार के कारण प्रमाण की मर्यादा का भंग करना ऊर्ध्वव्यतिक्रम है। २, ३ इसी तरह नीचे जाने तथा तिरछा जाने का प्रमाण निश्चित करके उसका मोहवश भङ्ग कर देना अनुक्रम से अधोव्यतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम हैं। ४. भिन्न भिन्न दिशाओं का भिन्न भिन्न प्रमाण स्वीकार करने के बाद कम प्रमाण वाली दिशा में मुख्य प्रसंग आ पढ़ने पर दूसरी दिशा के स्वीकृत प्रमाण में से अमुक भाग घटाकर इष्ट दिशा के प्रमाण में वृद्धि कर लेना क्षेत्रवृद्धि है। ५. प्रत्येक नियम के पालन का आधार स्मृति पर है, ऐसा जान कर भी प्रमाद या मोह के कारण नियम के स्वरूप या उसकी मर्यादा को भूल जाना स्मृत्यन्तर्धान है। २५।

दिग्विरमण व्रत  
के अतिचार

१ अितने प्रदेश का नियम किया हो उसके बाहर वस्तु की आवश्यकता पडने पर स्वयं न जाकर संदेश आदि द्वारा दूसरे से उठ वस्तु को मँगवा लेना आनयन प्रयोग है । २ जगह संवन्धी स्वीकृत मर्यादा के बाहर काम पडने पर स्वयं न जाना और देखाबकशिक मत् के अतिचार न दूसरे से ही उठ वस्तु को मँगवाना किन्तु नौकर आदि को आज्ञा दे कर वहाँ बेटे-बिछप क्रम कर

लेना प्रेष्यप्रयोग है । ३ स्वीकृत मर्यादा के बाहर स्थित व्यक्ति को बल कर काम करना हो तब खोली आदि शब्द द्वारा उसे पास आने के लिए सावधान करना शब्दानुपात है । ४ किसी तरह का शब्द न कर के ठिकं आकृति आदि कतला कर दूसरे को अपने पास आने के लिए सावधान करना क्मानुपात है । ५ ककड, डेढा आदि फेंक कर किसी को अपने पास आने के लिए सूचना देना—पुद्रकक्षेप है । २६ ।

१ रागवश असभ्य भाषण तथा परिहास आदि करना कर्म है । २ परिहास व अनिष्ट भाषण के अतिरिक्त मोंड मैठी शारीरिक दुखेष्टार्थ करना कौतुक्य है । ३ निर्भयता से अनयवेदकभिरमल मत् के अतिचार सकय रहित एक बहुत बकबाद करना मौख्य है । ४ अपनी आवश्यकता का विचार किने बिना ही

अनेक प्रकार के लाज्य उपकरण दूसरे को उसके काम के सिने दिया करना असमीक्ष्यधिकरण है । ५ अपनी आवश्यकता से अधिक मत्, आनूपय सेस पम्हन आदि रत्ता उपयोगाधिकरण है । २७ ।

१ हाथ पैर आदि अंगों को स्पर्श और चुपी तरह से चम्बते रहना वायुप्रतिषेध है । २. शब्दसंस्कार रहित तथा अर्थ रहित एवं शानिकरक माया बोलना वचनदुष्प्रतिषेध है । ३ श्लेष ब्रौह आदि विचारों के बरा होकर चिन्तन आदि मनोव्यापार करण मनोदुष्प्रतिषेध है । ३

४. सामायिक में उत्साह का न होना अर्थात् समय होने पर भी प्रवृत्त न होना अथवा ज्यों त्यों करके प्रवृत्ति करना अनादर है। ५. एकाग्रता का अभाव अर्थात् चित्त के अव्यवस्थित होने से सामायिक की स्मृति का न रहना स्मृति का अनुपस्थापन है। २८।

१ कोई जीव है या नहीं, ऐसा आँखों से बिना देखे, एवं कोमल उपकरण से प्रमार्जन किये बिना ही जहाँ तहाँ मल, मूत्र, श्लेष्म आदि का त्याग करना यह अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित में पौषव व्रत के अतिचार उत्सर्ग है। २. इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किये बिना ही लकड़ी, चौकी आदि वस्तुओं को लेना व रखना अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदाननिक्षेप है। ३. प्रत्यवेक्षण एवं प्रमार्जन किये बिना ही सयारा-बिछौना करना या आसन बिछाना अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित संस्तार का उपक्रम है। ४. पौषघ में उत्साहरहित ज्यों त्यों करके प्रवृत्ति करना अनादर है। ५. पौषघ कत्र और कैसे करना या न करना, एवं किया है या नहीं इत्यादि का स्मरण न रहना स्मृत्यनुपस्थापन है। २९।

१ किसी भी तरह की वनस्पति आदि सचेतन पदार्थ का आहार करना सचित्त आहार है। २. कठिन बीज या गुठली आदि सचेतन पदार्थ से युक्त त्रेर या आम आदि पके हुए फलों को खाना सचित्तसबद्ध आहार है। ३. तिल, खसखस आदि सचित्त वस्तु से मिश्रित लड्डू आदि का भोजन अथवा चॉटी, कुथु आदि से मिश्रित वस्तु को खाना सचित्तसंमिश्रण आहार है। ४. किसी भी किस्म के एक मादक द्रव्य का सेवन करना अथवा विविध द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न मद्य आदि रस का सेवन करना अभिषव आहार है। ५. अषपके या ठीक न पके हुए को खाना दुष्पक आहार है। ३०।

१ ज्ञान-दान की देने योग्य वस्तु को क्रम में न भा लके ऐसी बना देने की बुद्धि से किसी लोचन वस्तु में रक्त देना लभित्तिरोप है।

अतिपिष्टविमत्त  
प्रत के अतिचार

२. इसी प्रकार देय वस्तु को लोचन वस्तु से ढाँक देना लभित्तिरोप है। १ अपनी देय वस्तु को यह लोचने की है' ऐसा कह कर उसके दान से अपने

आपकी मनपूर्वक बना केना परम्पदेष्ट है। ४ दान हितें हुए भी बाहर न रक्तना अथवा लोचने के दानगुण की हर्षणा से दान देने के लिए तैयार, होना— मात्सर्य है। ५ किसी को कुछ देना न पडे इत आशय से मिश्र का समक न होने पर भी ला-पी केना कासातिक्रम है। ११।

१ पूजा लकार आदि विमृति देखकर उनके मन्त्रण में आकर जीवन को चाहना लभित्तिरोप है। २ सेवा, लकार आदि करने के

लोचनना प्रत के  
अतिचार

लिए किसी को पाठ आते न देखकर लोचने के करण मुख को चाहना मरणाशीला है। ३ मिश्रों पर वा मिश्रगुण पुष्पदि पर लोच-बन्धन रक्तना मिश्रगुण

है। ४ अनुमूल लुप्तों का स्मरण करके लोचने वाचा बनाना लुप्तानुप्राण है। लप व लोच का बरसा किसी भी तरह के योग के रूप में चाहना निदानकरण है।

ऊपर जो अतिचार कहे गए हैं, उन लमी का यदि लानभूलकर अथवा बकता से सेवन किया जाय लप लों से लत न लल्लन रूप होकर अनापार कल्लमर्देगे और यदि भूक से ललाषलानी के कारण सेवन किये जायें- लप से अतिचार होंगे। १२।

दान का वर्णन—

अनुग्रहार्थं स्वस्वात्सिद्धिर्गो दानम् । १३ । /

## विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः । ३४ ।

अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है ।

विधि, देयवस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता से दान की विशेषता है ।

दानधर्म जीवन के समग्र सद्गुणों का मूल है, अतः उसका विकास पारमार्थिक दृष्टि से अन्य सद्गुणों के उत्कर्ष का आधार है, और व्यवहार दृष्टि से मानवी व्यवस्था के सामजस्य का आधार है ।

दान का मतलब है न्यायपूर्वक प्राप्त हुई वस्तु का दूसरे के लिए अर्पण करना । यह अर्पण करने वाले कर्ता और स्वीकार करने वाले दोनों का उपकारक होना चाहिए । अर्पण करने वाले का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु पर से उसकी ममता हट जाय, और इस तरह उसे सन्तोष और समभाव की प्राप्ति हो । स्वीकार करने वाले का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसकी जीवनयात्रा में मदद मिले, और परिणाम-स्वरूप उसके सद्गुणों का विकास हो ।

सभी दान, दानरूप से एक जैसे होने पर भी उनके फल में तरतमभाव रहता है । यह तरतमभाव दानधर्म की विशेषता के कारण होता है । और यह विशेषता मुख्यतया दानधर्म के चार अङ्गों की विशेषता के अनुसार होती है । इन चार अङ्गों की विशेषता निम्न प्रकार वर्णन की गई है ।

विधि की विशेषता में देश, काल का औचित्य  
१. विधि की विशेषता और लेने वाले के सिद्धान्त को बाधा न पहुँचे ऐसी कल्पनीय वस्तु का अर्पण, इत्यादि बातों का समावेश होता है ।

द्रव्य की विशेषता में दी जाने वाली वस्तु के गुणों का समावेश होता है । जिस वस्तु का दान किया जावे, वह लेने वाले पात्र की

२ प्रथम की विशेषता जीवनायात्रा में योग्य हो कर परिणामदायक उसके निम्न गुणविकास में निमित्त बननेवासी होनी चाहिए ।

दाता की विशेषता में लेने वाले पात्र के प्रति-व्यस्य का होना उक्तरी तत्क विरस्कार या अज्ञान का न होना, तथा दान देते समय का बाद में विषाद न करना, इत्यादि दाता के गुणों का समावेश होता है ।

४ पात्र की विशेषता दान लेने वाले का सत्पुरुषार्थ के लिए ही आगरुक रहना पात्र की विशेषता है । ३३, ३४ ।

## आठवाँ अध्याय

आत्म के वर्णन के प्रसंग में व्रत और दान का वर्णन करके अत्र बन्धतत्त्व का वर्णन किया जाता है ।

बन्धहेतुओं का निर्देश—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोग बन्धहेतव । १ ।

(मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्ध के हेतु हैं ।

बन्ध के स्वरूप का वर्णन अगले सूत्र में किया जाने वाला है । यहाँ तो उसके हेतुओं का ही निर्देश है । बन्ध के हेतुओं की संख्या के बारे में तीन परंपराएँ देखने में आती हैं । एक परंपरा के अनुसार कषाय और योग ये दोनों ही बन्धहेतु हैं । दूसरी परंपरा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्धहेतुओं की है । तीसरी परंपरा उक्त चार हेतुओं में प्रमाद को बढ़ाकर पाँच बन्धहेतुओं का वर्णन करती है ।) इस तरह से संख्या और उसके कारण नामों में भेद रहने पर भी (तात्त्विक दृष्टि से इन परंपराओं में कोई भेद नहीं है ।) प्रमाद एक तरह का असयम ही तो है, अतः वह अविरति या कषाय के अन्तर्गत ही है, इसी दृष्टि से कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों में सिर्फ चार बन्धहेतु कहे गए हैं ।) (व्यारीकी से देखने पर मिथ्यात्व और असयम ये दोनों कषाय के स्वरूप से अलग नहीं पड़ते, अतः कषाय और योग इन दोनों को ही बन्धहेतु गिनाना प्राप्त होता है ।)

प्र०—यदि सचमुच ऐसा ही है, तब प्रश्न होता है कि उक्त संख्या-भेद की विभिन्न परंपराओं का आधार क्या है ?



उ — फोर् भी कर्मकण्य हो, उक्त समय उसमें क्याउ से क्याउ  
 किन पार अंशों का निर्माण होता है, उनके अलग अलग कारण रूप से  
 क्याय और योग से होने ही हैं, क्योंकि प्रकृति एवं प्रवेश रूप अंशों का  
 निर्माण तो योग से होता है, और स्थिति एवं अनुमागरूप अंशों का  
 निर्माण क्याय से होता है ।) इस प्रकार एक ही कर्म में उत्पन्न होने वाले  
 उक्त पार अंशों के कारणों का विच्छेदन करने के (विचार से शास्त्र में  
 क्याय और योग इन दो बन्धहेतुओं का कथन किया गया है) और  
 आध्यात्मिक विच्छेद की पड़ना उतार वाली भूमिका स्वल्प गुणस्थानों में  
 होने वाली कर्म प्रकृतियों के उत्तममात्र के कारण की बतलाने के लिए  
 सिध्दात्त, अविद्यते क्याय और योग इन पार बन्धहेतुओं का कथन किया  
 गया है । जिस गुणस्थान में उक्त पार में से कितने अधिक बन्धहेतु होंगे  
 उक्त गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी उतना ही अधिक होगा, और  
 अतः वर से बन्धहेतु कम होंगे वहाँ पर कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी कम  
 ही होगा ।) इस तरह सिध्दात्त आदि पार हेतुओं के कथन की परंपरा  
 अलग अलग गुणस्थानों में उत्तममात्र का प्राप्त होने वाले कर्मकण्य के  
 कारण का बतलाना करने के लिए है; और क्याय एवं योग इन दो हेतुओं  
 के कथन की परंपरा किसी भी एक ही कर्म में संघटित पार अंशों के  
 कारण का वृत्तकारण करने के लिए है । पाँच बन्धहेतुओं की परंपरा का  
 आक्षेप या पार की परंपरा से किसी प्रकार भी मिला नहीं है, और यदि ही  
 भी तो वह इतना ही कि अज्ञान विघ्नो की बन्धहेतुओं का विचार से  
 जान कराने के लिये ।

बन्धहेतुओं की व्याख्या—

सिध्दात्त का अर्थ है सिध्दाहर्षण को उन्मयहर्षण से उच्छेद होता  
 है । तत्पर्यन्त—बन्ध का तात्त्विक अज्ञान होने से विपरीतहर्षण से उत्पन्न

का फलित होता है । पहला वस्तुविषयक यथार्थ श्रद्धान मिथ्यात्व का अभाव और दूसरा वस्तु का अयथार्थ श्रद्धान ।

पहले और दूसरे में फर्क इतना ही है कि पहला त्रिलकुल मूढ दशा में भी हो सकता है, जबकि दूसरा विचारदशा में ही होता है । विचारशक्ति का विकास होने पर भी जब अभिनिवेश के कारण किसी एक ही दृष्टि को पकड़ लिया जाता है, तब विचारदशा के रहने पर भी अतत्त्व में पक्षपात होने से वह दृष्टि मिथ्यादर्शन कहलाती है; यह उपदेशजन्य होने से अभिगृहीत कही जाती है । जब विचारदशा जागरित न हुई हो, तब अनादिकालीन आवरण के भार के कारण सिर्फ मूढता होती है, उस समय जैसे तत्त्व का श्रद्धान नहीं होता, वैसे अतत्त्व का भी श्रद्धान नहीं होता, इस दशा में सिर्फ मूढता होने से तत्त्व का अश्रद्धान कह सकते हैं । वह नैसर्गिक-उपदेशानिरपेक्ष होने से अनभिगृहीत कहा गया है । दृष्टि या पन्थ सबन्धी जितने भी ऐकान्तिक कदाप्रा हैं, वे सभी अभिगृहीत मिथ्यादर्शन हैं, जो कि मनुष्य जैसी विकसित जाति में हो सकते हैं, और दूसरा अनभिगृहीत तो कीट, पतंग आदि जैसी मूर्छित चेतना वाली जातियों में ही सम्भव है ।

( अविरति अर्थात् दोषों से विरत न होना । प्रमाद का मतलब है आत्मविस्मरण अर्थात् कुशल कार्यों में आदर न रखना, अविरति, प्रमाद कर्तव्य, अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना ।

कषाय, योग कषाय अर्थात् सभभाव की मर्यादा का तोड़ना । योग का अर्थ है मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति ।

छठे अध्याय में वर्णित तत्प्रदोष आदि बन्धहेतुओं और यहाँ पर त्रतलाये हुए मिथ्यात्व आदि बन्धहेतुओं में अन्तर इतना ही है कि तत्प्रदोषादि प्रत्येक कर्म के खास खास बन्धहेतु होने से विशेषरूप हैं, जबकि मिथ्यात्व आदि तो समस्त कर्मों के समान बन्धहेतु होने से सामान्य हैं ।

मिथ्यात्व से लेकर शोक तक के पाँचों हेतुओं में से जहाँ पूर्व-पूर्व के सम्बन्ध होंगे वहाँ उसके बाद के भी सभी होंगे ऐसा नियम है जैसे कि मिथ्यात्व के होने पर अनिश्चिति आदि चार और अनिश्चिति के होने पर प्रसव आदि बाधों के तीन सम्भव होंगे। परन्तु जब उत्तर होगा, तब पूर्व सम्बन्ध ही और न भी हो जैसे अनिश्चिति के होने पर पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व होगा, परन्तु दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अनिश्चिति के होने पर भी मिथ्यात्व नहीं रहता। इसी तरह दूसरे में भी समझ लेना चाहिए। १।)

बन्ध का स्वप्न-

सकामत्वात्कीच कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादपे । ७ ।

स षष्ठ । ३ ।

प्रयास के संकल्प से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों का प्राप्ति करता है।

यह मन्त्र कहलिया है।

पुद्गल की वर्णनाएँ—(प्रकार) अनेक हैं। उनमें से जो कर्मभाएँ कमलन परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं जीव उन्हें को प्रयत्न करके निज व्यासमपदेशों के साथ विच्छिन्न रूप से जीव देता है, अर्थात् स्वप्न से जीव समूर्ण होने पर भी अनादिप्रकार से कर्मसंकल्प प्राप्त होने से मूर्तन ही ज्ञान के कारण मूर्त कर्मपुद्गलों का प्रयत्न करता है। जिस हीनक वसी द्वारा तैल को प्रयत्न करके अपनी उन्नतता के उठे व्याज रूप में परिणत कर लेता है; जैसे ही जीव व्यासविज्ञ विचार से जीव पुद्गलों को प्रयत्न करके उन्हें कर्मरूप में परिणत कर लेता है। व्यासमपदेशों के साथ कर्मरूप परिणत को प्राप्त पुद्गलों का यह संकल्प ही मन्त्र कहलिया है।

१. जिसके द्वारा ज्ञान-विशेषबोध का आवरण हो वह ज्ञानावरण ।
२. जिसके द्वारा दर्शन—सामान्यबोध का आवरण हो वह दर्शनावरण ।
३. जिससे सुख या दुःख का अनुभव हो वह वेदनीय । ४. जिससे आत्मा मोह को प्राप्त हो वह मोहनीय । ५. जिससे भव धारण हो वह आयुष्क । ६. जिससे विभिन्न गति, जाति आदि की प्राप्ति हो वह नाम । ७. जिससे ऊँचपन या नीचपन मिले वह गोत्र । ८. जिससे देने, लेने आदि में विघ्न पड़े वह अन्तराय ।

कर्म के विविध स्वभावों को संक्षिप्त दृष्टि से पूर्वोक्त आठ भागों में बाँट देने पर भी विस्तृतरुचि जिज्ञासुओं के लिए मध्यम मार्ग का अवलम्बन करके उक्त आठ के पुनः दूसरे प्रकार वर्णन किये हैं, जो उत्तरप्रकृति के भेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं । ऐसे उत्तरप्रकृति भेद ९७ हैं, वे मूलप्रकृति के क्रम से आगे क्रमशः दर्साये गए हैं । ५ ।

उत्तरप्रकृति भेदों की संख्या और नामनिर्देश—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथा-  
क्रमम् । ६ ।

मत्यादीनाम् । ७ ।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला-  
प्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च । ८ ।

सद्वये । ९ ।

मन्दता आदि रूप में प्रकृतमन्त्र करनेवाली विशेषताएँ नैवर्ती हैं, ऐसी विशेषता ही अनुभावबन्ध है। ४ प्रहय किये जाने पर मित्र मित्र स्वभाव में परिणत होने वाली कर्मपुद्गलाधि स्वभावानुसार अमुक अमुक परिमाण में बँट जाती है—यह परिमाणविभाग ही प्रदेशबन्ध कहलाता है।)

एक के इन चार प्रकारों में से पहल्य और अन्तिम दोनों योग के आश्रित हैं क्योंकि योग के उत्तमभाव पर ही प्रकृति और प्रदेश रूप का उत्तमभाव अवलम्बित है। दूसरा और तीसरा प्रकार कर्मा के आश्रित है कारण यह कि कर्मा की शक्ति, मन्दता पर ही स्विकृति और अनुभाव बन्ध की अधिकता या अल्पता अवलम्बित है। ४।

मूलप्रकृति भेदों का नाम निर्येध-

आद्यो ज्ञानदर्शनानवरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनाम  
गोत्रान्तरायाः । ५ ।

पहल्य भवात् प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय, मोहनीय आयुष्क, नाम मोह और अन्तराध रूप है।

अप्यवसाय विशेष से भीव द्वारा एक ही बार में प्रहय की हुई कर्मपुद्गलाधि में एक ही साथ आभवताविक शक्ति की विविधता के अनुसार अनेक स्वभावों का निर्माण होता है। ये स्वभाव अदृश्य हैं फिर भी उनका परियजन तिरुँ उनके कार्य अर्थात् प्रमाण को देख कर सकते हैं। एक वा अनेक जीवों पर होने वाले कर्म के अतक्य प्रमाण अनुभव में आते हैं। इन प्रमाणों के उत्पादक स्वभाव भी वास्तव में अलक्ष्यता ही हैं। ऐसा होने पर भी मोह में कर्माकारण करके उन सभी को आठ भागों में बाँट दिया गया है। यही मूलप्रकृतिबन्ध कहलाता है। इन्हीं आठ मूलप्रकृति भेदों का निर्येध यहाँ किया है; जैसे ज्ञानावरण दर्शनानवरण वेदनीय मोहनीय आयुष्क नाम गोत्र और अन्तराध)

१. जिसके द्वारा ज्ञान—विशेषबोध का आवरण हो वह ज्ञानावरण ।
२. जिसके द्वारा दर्शन—सामान्यबोध का आवरण हो वह दर्शनावरण ।
३. जिससे सुख या दुःख का अनुभव हो वह वेदनीय । ४. जिससे आत्मा मोह को प्राप्त हो वह मोहनीय । ५. जिससे भव धारण हो वह आयुष्क । ६. जिससे विशिष्ट गति, जाति आदि की प्राप्ति हो वह नाम । ७. जिससे ऊँचपन या नीचपन मिले वह गोत्र । ८. जिससे देने, लेने आदि में विघ्न पड़े वह अन्तराय । )

कर्म के विविध स्वभावों को सक्षिप्त दृष्टि से पूर्वोक्त आठ मार्गों में बाँट देने पर भी विस्तृतरुचि जिज्ञासुओं के लिए मध्यम मार्ग का अवलम्बन करके उन आठ के पुनः दूमरे प्रकार वर्णन किये हैं, जो उत्तरप्रकृति के भेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं । ऐसे उत्तरप्रकृति भेद ९७ हैं, वे मूलप्रकृति के क्रम से आगे क्रमशः दर्साये गए हैं । ५ ।

उत्तरप्रकृति भेदों की संख्या और नामनिर्देश—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथा-  
क्रमम् । ६ ।

मत्यादीनाम् । ७ ।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला-  
प्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च । ८ ।

मदसद्वद्ये । ९ ।

दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रि-  
द्विषोडशनवभेदा. सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषाय-  
नोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणस-  
ज्वलनविकल्पाश्चैकश क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्य-  
रतिशोकभयजुगप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा । १० ।

नारकतैयम्योनमानुपदैवानि । ११ ।

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिमाणवधनमङ्गतसम्यानसहन  
नस्पश्रुंगसग धवणानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोरघो-  
ताङ्गामभिहायोगतय प्रत्येकशरीरत्रसमुभगमुस्वरङ्गुम  
मृह्मपयाश्रुभिरादेयशासि सेसगणि तीथकृत्त्रं च । १० ।  
उचैर्नाचैष । १३ ।

दानादीनाम् । १४ ।

आठ मूत्रप्रवृत्तियों के अनुक्रम से पाँच नय हो अगस्त, चार  
व्याधीन दो और पाच मद्र हैं ।

सर्वे भक्ति पाँच-ज्ञानों के व्यवहार ही पाँच ज्ञानावरोह हैं ।

बभ्रुर्दर्शन, भ्रमभ्रुर्दर्शन भ्रमभिरुचन और केकभ्रुर्दर्शन इन चारों  
के व्यवहार; तथा निद्रा निद्रामिद्रा प्रसक्त प्रसक्तप्रसक्त और स्वान-  
श्रुति से पाँच दनीय व नय दक्षनावरोहीय हैं ।

प्रसक्त—सुखवेदनीय और अप्रसक्त—सुखवेदनीय से हो वेद  
नीय हैं ।

रघनमोह चारिबमोह, कयापचदनीय और नोकयापवेदनीय इन  
के अनुक्रम से तीन, दो लोम्ब और मय भिद हैं, जेठे—सम्पत्त्व,  
मिष्वात्त्व, तदुभय—सम्पत्त्वमिष्वात्त्व से तीन दर्शनमादनीय । कयाप  
और नोकयाप से सा चारिबमोहनाय हैं । जिनमें से श्रेय मान मया  
और स्वोम व प्रसेक अनश्रुतनुचरणी अनश्रुतान्यन प्रयाफयाग और संग  
सज रूप में चार चार प्रहार के होते व लोम्ब भेद कयापचारिबमोहनाय व  
कने हैं तथा हासन गति अगति पाँच मय पुण्यमा स्निह पुण्यवेद  
आर मनुजको ने नय नोकयापचारिबमोहनीय हैं ।

नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव ये चार आयु हैं ।

गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, सघात, सस्यान, सहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुफल्यु, उपघात, परघात, आतप, उद्द्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, और प्रतिपक्ष सहित अर्थात् साधारण और प्रत्येक, स्थावर और त्रम, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, वादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयज्ञ और यज्ञ, एव तीर्थकरत्व त्रयास्त्रीस प्रकार नामकर्म हैं ।

उच्च और नीच ऐसे दो प्रकार गोत्रकर्म के होते हैं ।

दान आदि के पाँच अन्तराय हैं ।

१ मति आदि पाँच ज्ञान और चक्षुर्दर्शन आदि चार दर्शनों का वर्णन किया जा चुका है, उनमें से प्रत्येक को आवरण करनेवाले स्वभाव से युक्त कर्म अनुक्रम से मतिज्ञानावरण, श्रुत-ज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण इस तरह ये पाँच ज्ञानावरण हैं, तथा चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार दर्शनावरण हैं । उक्त चार के उपरांत अन्य भी पाँच दर्शनावरण हैं, जो निम्न प्रकार हैं—जिस कर्म के उदय से सुखपूर्वक जाग सके ऐसी निद्रा आवे तो वह निद्रावेदनीय दर्शनावरण है । २. जिस के उदय से निद्रा से जागना अत्यन्त दुष्कर हो वह निद्रानिद्रा-वेदनीय दर्शनावरण है । ३ जिस कर्म के उदय से बैठे बैठे या खड़े खड़े ही नींद आ जावे वह प्रचलावेदनीय है । ४. जिस कर्म के उदय से



पछले-पछले ही नींद आ जाय वह प्रबलप्रबलवेदनीय है । ५ जिस कर्म के उदय से जागरित अवस्था में सोचे हुए काम को निश्चायता में करने का ही सामर्थ्य प्रकृत हो जाय वह स्थानपति है इस निश्चय में सदा प्रकृत से कहीं अनेकगुण अधिक बल प्रकृत होता है । ७, ८ ।

वेदनीय कर्म की  
दो प्रकृतियाँ

१ जिसके उदय से प्राणी को सुख का अनुभव हो वह सातावेदनीय, और २ जिसके उदय से प्राणी को दुःख का अनुभव हो वह असातावेदनीय । ९ ।

१ जिसके उदय से तर्कों के यथार्थ स्वरूप की वधि न हो वह मिथ्यात्वमोहनीय । २ जिसके उदय समय में यथार्थता की वधि या अशक्ति न होकर रोम्यवमान स्थिति रहे वह मिथ्यमोहनीय । ३ जिसका उदय तारिकक वधि का निमित्त होकर भी औपचारिक वा-साविकमय शरीर तत्त्ववधि का प्रतिबन्ध करता है वह तन्मयत्वमोहनीय है ।)

चरित्रमोहनीय के पञ्चीत प्रकार—

श्लेष मान माया और लोभ ये कषाय के चार मुख्य प्रकार हैं । प्रत्येक की तीव्रता के अन्तर्गत ही इष्टि से उनके चार चार प्रकार बतलाये गए हैं । श्री कर्म उक्त श्लेष आदि चार कषायों की इतना अधिक तीव्र बना देता है जिसके कारण जीव को अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करना पड़े वह कर्म अनुक्रम से अमंगलानुबन्धी श्लेष मान माया और लोभ कदमता है । जिस कर्म के उदय से आरिमाय को प्राप्त कषाय तिष्ठे इतनी ही तीव्र हो को कि विपत्ति का ही प्रतिबन्ध कर लखे वे अपरायणत्वनाशरज श्लेष, मान माया और लोभ कहलाते हैं । जिसका विषाद देशविधि वा प्रतिबन्ध न

करके सिर्फ सर्वविरति का ही प्रतिबन्ध करे, वे प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। जिनके विपाक की तीव्रता सर्वविरति का प्रतिबन्ध तो न कर सके, लेकिन उसमें स्खलन और मालिन्य ही पैदा कर सके, वे सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।

१. हास्य की उत्पादक प्रकृतिवाला कर्म हास्यमोहनीय है। २-३. कहीं प्रीति और कहीं अप्रीति को पैदा करने वाले कर्म अनुक्रम से रतिमोहनीय और अरतिमोहनीय कहलाते हैं। ४. भयनव नोकषाय शीलता का जनक भयमोहनीय ५ शोकशीलता का जनक शोकमोहनीय और, ६. घृणाशीलता का जनक जुगुप्सामोहनीय कहलाता है। ७ छैनभाव के विकार को पैदा करने वाला लीवेद। ८. पौरुषभाव के विकार को पैदा करने वाला पुरुषवेद और ९. नपुंसकभाव के विकार का उत्पादक कर्म नपुंसकवेद कहलाता है। ये नव ही ख्य कषाय के सहचारी एव उद्दीपक होने से नोकषाय कहलाते हैं। १०।

आयुष्कर्म के चार प्रकार

जिसके उदय से देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक गति का जीवन त्रिताना पडता है, वे अनुक्रम से देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक के आयुष्य हैं। ११।

नाम कर्म की त्रयालीस प्रकृतियाँ—

—विविध नाम—

१ सुख, दुःख भोगने के योग्य पर्यायविशेष स्वरूप देवादि चार गतिओं को प्राप्त कराने वाला कर्म गति है। २. एकेन्द्रियत्व से लेकर पंचेन्द्रियत्व तक समान परिणाम को अनुभव कराने वाला कर्म जाति। ३. औदारिक आदि शरीर प्राप्त कराने वाला कर्म शरीर। ४. शरीरगत अङ्गों और उपाङ्गों का निमित्तभूत कर्म अङ्गोपाङ्गनाम। ५-६ प्रथम गृहीत औदारिक आदि

पुत्रसौ के साथ नवीन ग्रहण क्रिये करने वाले पुत्रसौ का भी कर्म संबन्ध  
 क्यता है वह कथन है और बहपुत्रसौ को शरीर के नानाविध आकारों  
 में व्यवस्थित करने वाले कर्म संघात है । ७-८ अल्पिग्रह की विधि  
 रचना रूप सदनन और शरीर की विविध आकृतियों का त्रिमित  
 कर्म सत्वान । ९ १२ शरीर गत श्वेत आदि पाँच वर्ण, सुखि आदि  
 दो गन्ध तिष्ठ आदि पाँच रस शीत आदि आठ स्पर्श— इनके निवामक  
 कर्म अतुकर्म से वर्जनाम गन्धनाम, रसनाम और स्पर्शनाम । ११ विद्य  
 दाय अन्त्यन्तर गमन के समय जीवको आकाश प्रदेश की ओरों के अनुसार  
 यमन करने वाले कर्म आनुपूर्वीनाम । १४ प्रघस्त और अप्रघस्त गमन  
 का नियामक कर्म विहायोगतिनाम है । ये चौदह पिण्डप्रकृतियों कहलती  
 हैं इनके अवागतर मेह भी होते हैं, इतीन्द्रि हत प्रकार नामकरण है ।

### विविध नाम कर्म प्रकृतियों—

१, २ कित्त कर्म के उदय से स्वतन्त्रमात्र से गमन करने की  
 शक्ति प्राप्त हो वह क्तनाम, और इससे उक्त्य कित्तके  
 उदय से बेसी शक्ति न हो वह त्याकरनाम । १, ४ कित्तके  
 उदय से जीवों के चर्मचक्षु गोचर बाहर शरीर  
 प्राप्ति हो वह बाह्य, इसके विपरीत कित्तके चर्मचक्षु के अगोचर सूक्ष्म  
 शरीर की प्राप्ति हो वह सूक्ष्म । ५ ६ कित्तके उदय से प्राणी स्वरोच्य  
 पर्वाप्ति पूर्ण करे वह पर्वाप्त, इससे उक्त्य कित्तके उदय से स्वरोच्य  
 पर्वाप्ति पूर्ण न कर सके वह अपर्वाप्त । ७ ८ कित्तके उदय से जीव  
 को मित्र-मित्र शरीर की प्राप्ति हो वह मित्रक, और कित्तके उदय से  
 अनन्त जीवों का एक ही साधारण शरीर हो वह साधारण । ९, १०  
 कित्तके उदय से हठी शीत आदि स्थिर अवयव प्राप्त हो वह स्थिर  
 और कित्तके उदय से चिह्न आदि अस्थिर अवयव प्राप्त हो वह अस्थिर ।

११, १२. जिसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव प्रशस्त हों वह शुभ और जिससे नाभिके नीचे के अवयव अप्रशस्त हों वह अशुभ । १३, १४. जिसके उदय से जीवका स्वर श्रोता को प्रीति उत्पन्न करे वह सुस्वर और जिससे श्रोता को अप्रीति उत्पन्न करे वह दुस्वर । १५, १६. जिसके उदय से कोई उपकार न करने पर भी सबके मन को प्रिय लगे वह सुमग और जिसके उदय से उपकार करने पर भी सब को प्रिय न लगे वह दुर्मग । १७, १८. जिसके उदय से वचन बहुमान्य हो वह आदेय और जिसके उदय से वैसा न हो वह अनादेय । १९, २०. जिसके उदय से दुनिया में यश व कीर्ति प्राप्त हो वह यश कीर्ति और जिसके उदय से यश व कीर्ति प्राप्त न हो वह अयश कीर्ति कहलाता है ।

१. जिसके उदय से शरीर गुरु या लघु परिणाम को न पाकर अगुरुलघु रूप से परिणत होता है वह कर्म अगुरुलघु । २. प्रतिजिहा, चौरदन्त, रसौली आदि उपघातकारी अवयवों को प्राप्त कराने वाला कर्म उपघात । ३. दर्शन या वाणी से दूसरे को निष्प्रभ कर दे ऐसी दशा प्राप्त कराने वाला कर्म पराघात ।

आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ ४. स्वास लेने, छोड़ने की शक्ति का नियामक स्वासोच्छ्वास । ५, ६. अनुष्ण शरीर में उष्ण प्रकाश का नियामक कर्म आतप और शीत प्रकाश का नियामक कर्म उद्योत । ७. शरीर में अङ्ग-प्रत्यङ्गों को यथोचित स्थान में व्यवस्थित करने वाला निर्माण । ८. धर्म, तीर्थ प्रवर्तन की शक्ति अर्पित करने वाला कर्म तीर्थकर है । १२ ।

गोत्र कर्म की प्रतिष्ठा प्राप्त हो ऐसे कुल में जन्म दिलाने दो प्रकृतियाँ वाला कर्म उच्चगोत्र और शक्ति रहने पर भी प्रतिष्ठा न मिल सके ऐसे कुल में जन्मदाता कर्म नीचगोत्र कहलाता है । १३ ।

जो कर्म कुछ भी देने, लेने एक बार या बार बार भोगने और  
 सामर्थ्य में अन्तराय—विषम कष्ट कर देते हैं वे कर्मराज  
 अन्तराय कर्म की  
 पाँच प्रकृतियों  
 नामान्तराय, लभमान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय  
 और वीर्यान्तराय कर्म कहलाते हैं । १४ ।

स्थितिवृत्त का वर्णन—

आदिसात्त्विसृष्ट्यामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटी-  
 कोट्य परा स्थिति । १५ ।

सप्तसिद्धिनीयस्य । १६ ।

नामगोत्रयोर्विंशति । १७ ।

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाभ्यायुष्कस्य । १८ ।

अपरा द्वादशसुहृता वेदनीयस्य । १९ ।

नामगोत्रयोरष्टौ । २० ।

श्रेयाणामन्तर्मुहूर्तम् । २१ ।

पहली तीन प्रकृतियों अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय  
 तथा अन्तराय—इन चार की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटी कोटी सागरोपम  
 प्रमाण है ।

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटीकोटी सागरोपम प्रमाण है ।<sup>१</sup>

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटी कोटी सागरोपम  
 प्रमाण है ।

आयुष्क की उत्कृष्ट स्थिति त्रिंशत् सागरोपम प्रमाण है ।

वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति बारह सुहृत् प्रमाण है ।

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति आठ सुहृत् प्रमाण है ।

ब्रह्मी के पाँच अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय और आयुष्य की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

प्रत्येक कर्म की जो उत्कृष्ट स्थिति दरसाई गई है, उसके अविकारी मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सभी पंचेन्द्रिय जीव होते हैं; जघन्य स्थिति के अविकारी भिन्न भिन्न होते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छहों की जघन्य स्थिति सूक्ष्मसपराय नामक दसवें गुणस्थान में समव है। मोहनीय की जघन्य स्थिति नौवें अनिवृत्तित्रादरसपराय नामक गुणस्थान में समव है। और आयुष्य की जघन्य स्थिति सख्यात-वर्षजीवी तिर्यच और मनुष्य में समव है। मध्यमस्थिति के असख्यात प्रकार होते हैं और उनके अविकारी भी काषायिक परिणाम के तारतम्य के अनुसार असख्यात होते हैं। १५-२१।

✓ अनुभावबन्ध का वर्णन-

विपाकोऽनुभावः । २२ ।

स यथानाम । २३ ।

ततश्च निर्जरा । २४ ।

विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति ही अनुभाव कहलाती है।

अनुभाव भिन्न भिन्न कर्म की प्रकृति अथवा स्वभाव के अनुसार वेदन किया जाता है।

उससे अर्थात् वेदन से निर्जरा होती है।

बन्धनकाल में उसके कारणभूत काषायिक अव्यवसाय के तीव्र-मन्द अनुभाव और उसके बन्ध का पृथक्करण के अनुसार प्रत्येक कर्म में तीव्र-मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है यह फल देने का सामर्थ्य ही अनुभाव है और उसका निर्माण ही अनुभावबन्ध है।

अनुभाव अवसर आने पर ही फल देता है, परन्तु इस बारे में इतना ज्ञान केन्द्र चाहिए कि प्रत्येक अनुभाव-पक्षप्रद शक्ति स्वयं मिले फल में निष्ठ हो, उर्ध्व कर्म के स्वभाव अर्थात् प्रकृति के अनुसार ही फल देती है, हृत्वे कर्म के स्वभावा नुसार नहीं। उदाहरणार्थ ज्ञानावरण कर्म का अनुभाव उच्च कर्म के स्वभावानुसार ही तीव्र या मन्द फल उत्पन्न करता है अर्थात् वह ज्ञान को आवृत्त करने का ही काम करता है; लेकिन दर्शनावरण बेहतीक आदि अन्य कर्म के स्वभावानुसार फल नहीं देता; चारांध यह है कि वह न तो दर्शनशक्ति को आवृत्त करता है और न सुख दुःख के अनुभव आदि-कार्य को ही उत्पन्न करता है। इसी तरह दर्शनावरण का अनुभाव दर्शन शक्ति को तीव्र या मन्द रूप से आवृत्त करता है, लेकिन ज्ञान के आवरण-वन आदि अन्य कर्मों के कर्मों को नहीं करता।

कर्म के स्वभावानुसार विपाक के अनुभावकर्म का निवम मी मूलप्रकृतियों में ही जागू होता है उच्च प्रकृतियों में नहीं। करण यह है कि किसी भी कर्म की एक उत्तरप्रकृति यह में अप्यवसाय के रूप में उर्ध्व कर्म की हृत्वी उत्तरप्रकृति के रूप में वहक उच्छयी है जिससे पहली का अनुभाव परिवर्तित उत्तरप्रकृति के स्वभावानुसार तीव्र या मन्द फल प्रदान करता है। जैसे—मतिज्ञानावरण जब सुखज्ञानावरण आदि उच्चतम उत्तरप्रकृति के रूप में संक्रमण करता है तब मतिज्ञानावरण का अनुभाव मी सुखज्ञानावरण आदि के स्वभावानुसार ही सुखद्वय वा अशुचि आदि ज्ञान को आवृत्त करने का काम करता है। लेकिन उत्तरप्रकृतियों में किसी ही ऐसी हैं, जो सम्बन्धी होने पर भी परस्पर संक्रमण नहीं करती; जैसे—दर्शनमोह और चारित्रमोह इनमें से दर्शनमोह चारित्रमोह के रूप में अन्यत्र चारित्रमोह दर्शनमोह के रूप में संक्रमण नहीं करता। इसी

तरह नारकआयुष्क तिर्यनआयुष्क के रूप में अथवा किसी अन्य आयुष्क के रूप में भी सक्रमण नहीं करता ।

प्रकृतिसंक्रम की तरह ही बन्धकालीन रस और स्थिति में भी बाद में अध्यवसाय के कारण से परिवर्तन हो सकता है, तीव्ररस मन्द और मन्दरस तीव्र बन सकता है । इसी प्रकार स्थिति भी उत्कृष्ट से जघन्य और जघन्य से उत्कृष्ट बन सकती है ।

अनुभाव के अनुसार कर्म का तीव्र या मन्द फल का वेदन हो जाने पर वह कर्म आत्मप्रदेशों से अलग पड़ जाता है, अर्थात् फिर सलग्न नहीं रहता । यही कर्मनिवृत्ति-निर्जरा कहलाती फलोदय के बाद है । कर्म की निर्जरा जैसे उसके फल वेदन से होती मुक्त कर्म की दशा है, वैसे बहुधा तप से भी होती है । तप के बल से अनुभावानुसार फलोदय के पहले ही कर्म आत्मप्रदेशों से अलग पड़ सकते हैं । यह ब्रात सूत्र में 'च' शब्द रखकर सूचित की गई है । २२-२४ ।

### प्रदेशबन्ध का वर्णन-

नामप्रत्यया सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढ-  
स्थिता सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः । २५ ।

कर्म (प्रकृति) के कारणभूत सूक्ष्म, एकक्षेत्र को अवगाहन करके रहे हुए तथा अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गल योगविशेष से सभी ओर से सभी आत्मप्रदेशों में बन्ध को प्राप्त होते हैं ।

प्रदेशबन्ध यह एक प्रकार का संबन्ध है, और उस संबन्ध के कर्मस्कन्ध और आत्मा ये दो आधार हैं । अत इनके बारे में जो आठ प्रश्न पैदा होते हैं, उन्हीं का उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है । वे प्रश्न इस प्रकार हैं—



१. जब कर्मस्वरूपों का वृत्त होता है, तब उनमें से क्या बनता है ? अर्थात् उनमें निर्माण क्या होता है ? २. इन स्वरूपों का ऊँचे, नीचे या तिरछे किन् आत्मप्रदेशों द्वारा ग्रहण होता है ? ३. सभी स्वरूपों का कर्मवृत्त समान होता है, या अलग-अलग ? यदि अलग-अलग होता है तो वह किस कारण से ? ४. वे कर्मस्वरूप स्वच्छ होते हैं या दूषित ? ५. और प्रदेशवाले क्षेत्र में रहे हुए कर्मस्वरूपों का ही अक्षयप्रदेश के साथ वृत्त होता है या उसके सिवाय क्षेत्र में रहे हुए का भी ? ६. वे वृत्त के समान गतिशील होते हैं या स्थितिशील ? ७. उन कर्मस्वरूपों का संतुल्य आत्म-प्रदेशों में वृत्त होता है या कुछ एक आत्मप्रदेशों में ? ८. वे कर्मस्वरूप संख्यात, अतंसख्यात अनन्त या अनन्तोन्मत्त में से किन्ने प्रदेश करते होते हैं ?

इन आठों प्रश्नों के जवाब से सूत्र में दिये हुए उत्तर निम्न प्रकार हैं—

१. आत्मप्रदेशों के साथ बँधने वाले पुद्गलस्वरूपों में कर्मवृत्त अर्थात् स्थानांतरण आदि प्रकृतियों बनती हैं; साथ-साथ यह कि वे ही स्वरूपों से उन प्रकृतियों का निम्नान होता है। इतिहास उन स्वरूपों को सभी प्रकृतियों का कारण कहा है। २. ऊँचे, नीचे और तिरछे इत तब सभी दिशाओं में रहे हुए आत्मप्रदेशों के द्वारा कर्मस्वरूपों का ग्रहण होता है, किसी एक ही दिशा में रहे हुए आत्मप्रदेशों के द्वारा नहीं। ३. सभी स्वरूपों के कर्मवृत्त के अलग-अलग होने का कारण यह है कि सभी के मन एक वाचिक और काविक योग—व्यापार समान नहीं होते यही कारण है कि योग के तत्त्वमस्य के अनुसार प्रदेशवृत्त में भी तत्त्वमस्य का जाता है। ४. कर्मवृत्त पुद्गलस्वरूप स्वच्छ—बाहर नहीं होते, परन्तु सूक्ष्म ही होते हैं, वे ही सूक्ष्मस्वरूपों का ही कर्मवृत्त में से ग्रहण होता है। ५. अक्षयप्रदेश के क्षेत्र में ही रहे हुए कर्मस्वरूपों का वृत्त होता है

उसके बाहर के क्षेत्र में रहे हुये का नहीं। ६. सिर्फ स्थिर होने से ही बन्ध होता है, क्योंकि गतिशील स्कन्ध अस्थिर होने से बन्ध को प्राप्त नहीं होते। ७. प्रत्येक कर्म के अनन्त स्कन्धों का सभी आत्मप्रदेशों में बन्ध होता है। ८. बँधने वाले प्रत्येक कर्मयोग स्कन्ध अनन्तानन्त परमाणुओं के ही बने होते हैं, कोई भी संख्यात, असंख्यात या अनन्त परमाणुओं का बना हुआ नहीं होता। २५।

पुण्य और पाप प्रकृतियों का विभाग—

सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभाद्युर्नामगोत्राणि  
पुण्यम् । २६ ।

सातावेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति, पुरुष, वेद, शुभ-  
आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र—इतनी प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं, बाकी  
की सभी प्रकृतियाँ पाप रूप है।


जिन जिन कर्मों का बन्ध होता है, उन सभी का विपाक केवल  
शुभ या अशुभ ही नहीं होता, बल्कि अध्यवसाय रूप कारण की शुभाशुभता  
के निमित्त से वे शुभाशुभ दोनों प्रकार के निर्मित होते हैं। शुभ अन्व-  
वसाय के निर्मित विपाक शुभ—इष्ट होता है और अशुभ अध्यवसाय को  
निर्मित विपाक अशुभ—अनिष्ट होता है। जिस परिणाम में संकेश  
जितना ही कम होगा, वह परिणाम उतना ही अधिक शुभ और जिस  
परिणाम में संकेश जितना अधिक होगा, वह परिणाम उतना ही अशुभ  
होगा। कोई भी एक परिणाम ऐसा नहीं, जिसको सिर्फ शुभ या अशुभ  
कहा जा सके। हर एक परिणाम शुभ, अशुभ अथवा उभय रूप होने पर  
भी उसमें जो शुभत्व अशुभत्व का व्यवहार किया जाता है, वह गौण-  
मुख्यभाव की अपेक्षा से समझना चाहिए, इसीलिए जिस शुभ

पुण्य प्रकृतियों में छुम अनुभाग बँधता है उठी परिणाम से पाप प्रकृतियों में अछुम अनुभाग भी बँधता है। इसके विपरीत जिस परिणाम से अछुम अनुभाग बँधता है, उठी परिणाम से पुण्य प्रकृतियों में छुम अनुभाग भी बँधता है। अन्तर इतना ही है, जैसे प्रकृत्य छुम परिणाम से होने का अछुम अनुभाग प्रकृत्य होता है और अछुम अनुभाग निकट्य होता है, वैसे ही प्रकृत्य अछुम परिणाम से बँधने का अछुम अनुभाग प्रकृत्य होता है और छुम अनुभाग निकट्य होता है।

छातावेदमीय, मनुष्यायुक्त देवायुक्त विर्यय आयुक्त, मनुष्य मति, देवमति, पंचेन्द्रियमति; औद्यारिक, वैदिक, आहारक, तेजस काम्य—के पाँच शरीर; औद्यारिक-अगोपांग, वैदिक-अंगोपांग, पुण्य रूप से प्रकृत्य  
 ४२ प्रकृतियों आहारक-अगोपांग सम्बन्धुरस संस्वान, कर्ममनायक संस्वन प्रकृत्य बर्क, गन्ध रस, स्पर्श; मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी अयुक्त्यु, परम्पत उच्छ्वात आतप उच्छ्वात, प्रकृत्य विद्या-वेगति कस, बाहर, पर्वत, प्रत्येक, स्थिर, छुम सुमय, सुस्व, आर्य, पञ्च कर्ति निर्मापनाम, लीयकरनाम और उच्छ्वात ।

१ विवेचन में गिनार गई ४२ पुण्य प्रकृतियों कर्मप्रकृति, नव तत्त्व आदि अनेक प्रकृतियों में प्रकृत्य हैं। विवेचनीय प्रकृतियों में भी वे ही प्रकृतियों पुण्य रूप से प्रकृत्य हैं। प्रकृत्य सूत्र में पुण्यरूप निर्देश की गई सम्बन्ध, हास्य, रति और पुरुषवेद से चार प्रकृतियों दूतरे किसी प्रकृत्य में पुण्यरूप से बर्नन नहीं की गई।

उन चार प्रकृतियों को पुण्यरूप धानने का अर्थ मत्तविद्योय बहुत प्राचीन है, ऐसा मात्तम पदका है। क्योंकि प्रकृत्य सूत्र में उपर्युक्त इनके उच्छ्वात के उपर्युक्त प्राप्ताधिकार ने भी मत्तमेर को इतलाने का भी कारिकाएँ ही हैं और जिन्ना है कि इत मत्तम्य का उच्छ्वात संयज्ञान का विच्छेद होने से हमें मात्तम नहीं पडता; ही, औरह पूर्ववर्ती जामते हीगे।

पाँच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नव नोकषाय, नारकायुष्क, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पहले सहनन को छोड़ कर बाकी के पाँच सहनन—अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, पाप रूप से प्रसिद्ध कीलिका और सेवार्त, पहले सस्थान को छोड़ कर ८२ प्रकृतियों बाकी के पाँच सस्थान—न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुड; अप्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, नारकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, उपघातनाम, अप्रशस्त विहायोगति, स्यावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्मग, दु स्वर, अनादेय, अयद्य कीर्ति, नीचगोचर और पाँच अन्तराय । २० ' 

## नववाँ अध्याय

भाटवे अर्थात् में बन्ध का बन्धन किया गया है, अब इस अर्थात् में संवर का निरूपण किया जायगा।

संवर का स्वल्प—

आत्मनिरोध संवर । १।

आत्मर का निरोध ही संवर है।

मित्त निमित्त से कम बँधते हैं, बर आत्मर है। आत्मर की व्याख्या परस की जा चुकी है, उस व्याख्या का निरोध अर्थात् प्रतिबन्ध अर्थात् ही संवर कहल्यता है। आत्मर के ४२ भेद पहले गिनार का पुके हैं; उनका मित्तने-मित्तने अर्थमें निरोध हागा, उतने-उतने अर्थ में संवर कहल्यता। आत्माभिक विज्ञानका अर्थ ही आत्मनिरोध के विज्ञान के अर्थात् है; अत्रा एषो एवी आत्मनिरोध बटल्य जायगा एवी एवी गुणरमान की भी वृद्धि होगी।

संवर के उपाय

न गुप्तिमितिघर्मानुप्रेक्षापरीषद्भयस्वारिभ्रः । २।

१ मित्त गुणरमान में मित्तार, अधिका आरि वार ऐश्यों में मे मित्त मित्त ऐश्यों का संवर हा और उनके काल में मित्त मित्त कर्म प्रकृतियों का बन्ध संवर हा उन देवुओं और तत्त्व्य कम प्रकृतियों के बन्ध का विच्छेद ही हा उन गुणरमान में उतर के गुणरमान का संवर है; अर्थात् पूर्व-पूर्ववर्ती गुणरमान के आत्मर का तत्त्व्यरमान का अर्थ हा उतर उतरवर्ती गुणरमान का संवर है। इनके मित्त देवो वृत्ते कर्मरमान में बन्धरमान और भीका कर्मरमान (गया ५१-५४) गया प्रकृत्य वृत्त की मर्त्यामिति।

तपसा निर्जरा च । ३ ।

यह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीपहजय और चारित्र से होता है ।

तप से संवर और निर्जरा होती है ।

सामान्यतः संवर का स्वरूप एक ही है, फिर भी प्रकारान्त से उसके अनेक भेद बतलाये गए हैं । संक्षेपतः इसके ७ उपाय और विस्तार से ६९ गिनाये गए हैं । भेदों की यह गणना धार्मिक आचार्यों के विधानों पर अवलम्बित है ।

जैसे तप संवर का उपाय है, वैसे ही निर्जरा का भी प्रमुख कारण है । सामान्यतया तप अभ्युदय—लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है, फिर भी यह जानने योग्य है कि वह निश्रेयस—आध्यात्मिक सुख का भी साधन होता है, क्योंकि तप एक होने पर भी उसके पीछे रही हुई भावनाके भेद के कारण वह सक्राम और निष्काम इस तरह दो प्रकार का हो जाता है । सक्राम अभ्युदय का साधक होता है और निष्काम श्रेयस का । २, ३ ।

६

गुप्ति का स्वरूप—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । ४ ।

योगों का भली प्रकार निग्रह करना गुप्ति है ।

कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया तथा योग का सभी तरह निग्रह गुप्ति नहीं है; किन्तु प्रशस्त निग्रह ही गुप्ति होकर संवर का उपाय बनता है । प्रशस्त निग्रह का अर्थ है सोचसमझ कर तथा श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया गया अर्थात् बुद्धि और श्रद्धापूर्वक मन, वचन, और काय को उन्मार्ग से रोकना और सन्मार्ग में लगाना । योग के

संक्षेप में तीन भेद होने से निग्रह रूप गुण के भी तीन भेद होते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

१. किसी भी चीज के लेने व रखने में अपना बैठने उठने व चलने आदि में कर्तव्य-अकर्तव्य का विवरण हो ऐसे दार्शनिक ज्ञानपर का नियमन करना ही कायगुण है। २. सोचने के प्रत्येक प्रसंग पर या तो बचन का नियमन करना या प्रसंग पाकर मौन धारण कर देना बचनगुण है। ३. कुछ संकल्प एवं अल्पे-दूरे मिथित संकल्प का त्याग करना और अल्पे संकल्प का सेवन करना ही मनोगुण है।

समितिके भेद

ईर्ष्यामापैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समित्तय ॥५॥

सम्बन्ध— ईर्ष्या सम्बन्ध माया सम्बन्ध एषणा सम्बन्ध आदान निक्षेप और उत्सर्ग उत्सर्ग के पाँच समित्तियों हैं।

१. सभी समित्तियों विवेकपुञ्ज प्रकृतिक्रम होने से संघर्ष का उपाय बनती हैं। वे पाँची समित्तियों इस प्रकार हैं—

१. किसी भी वस्तु को लेना न हो इसलिए वाञ्छनी पूर्वक वाञ्छना ही ईर्ष्यासमिति है। २. तब हितकारी परिमित और संदेह रहित बोधना मायासमिति है। ३. जीवन यात्रा में आवश्यक हो ऐसे निर्दोष साधनों को छुड़ाने के लिए वाञ्छनी पूर्वक प्रकृति करना एष्यासमिति है। ४. वस्तुमय की मन्वीमांति देनाकर एवं प्रमादित करके देना वा रखना आदाननिक्षेपसमिति है। ५. चहों वस्तु न ही ऐसे प्रवेद्य में देनाकर एवं प्रमादित करके ही अनुपयोगी वस्तुओं की वाञ्छना उत्सर्गसमिति है।

प्र — गुण और समिति में क्या अन्तर है ?

उ०—गुप्ति में असक्रिया का निषेध मुख्य है और समिति में सक्रिया का प्रवर्तन मुख्य है। ५।

धर्म के भेद—

**उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसयमतपस्त्यागा-  
किञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः । ६ ।**

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दस प्रकार के उत्तम धर्म हैं।

क्षमा आदि गुणों को जीवन में उतारने से ही क्रोध आदि दोषों का अभाव सिद्ध हो सकता है, इसीलिए इन गुणों को सवर का प्रमुख कारण बतलाया है। क्षमा आदि दस धर्म जब अहिंसा, सत्य आदि मूल गुणों और स्थान, आहार शुद्धि आदि उत्तर गुणों के प्रकर्ष से युक्त होता है तभी यतिधर्म बनता है, अन्यथा नहीं। अभिप्राय यह है कि अहिंसा आदि मूल गुणों या उसके उत्तर गुणों के प्रकर्ष से रहित यदि क्षमा आदि गुण हों, तो भले ही वे सामान्य धर्म कहलावें पर यतिधर्म की कोटि में नहीं रखे जा सकते। वे दस धर्म निम्न प्रकार हैं—

१. क्षमा का मतलब है सहनशीलता रखना अर्थात् क्रोध को पैदा न होने देना और उत्पन्न हुये क्रोध को विवेकबल से, नम्रता से निष्फल बना डालना। क्षमा की साधना के लिए पाँच उपाय बतलाये गए हैं—जैसे अपने में क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन करना, क्रोधवृत्ति के दोषों का विचार करना, बालस्वभाव का विचार करना, अपने द्वारा किये कर्म के परिणाम का विचार करना और क्षमा के गुणों का चिन्तन करना।

(क) कोई क्रोध करे, तब उसके कारण को अपने में ढूँढना, यदि दूसरे के क्रोध का कारण अपने में दृष्टिगोचर हो तो ऐसा विचारना कि भूल



तो मेरी ही है, इसमें दूसरे का करना तो सच है। और कहावित् अपने में दूसरे के श्रेय का कारण नकर न आता हो, तब ऐसा सोचना चाहिए कि यह बेचारा बेसमझी से मेरी भ्रष्ट निष्ठावृत्ता है—वही अपने श्रेय के निमित्त के होने देने या न होने का चिन्तन है।

(ख) जिसे श्रेय आता है वह विप्रमम्यतिबुद्ध होने से आशेष में आकर दूसरे के साथ शत्रुता बाँधता है; फिर उसे मरणा वा मुकदान पहुँचाता है और ऐसा करने से अपने अविद्यात्म का श्रेय करता है, शत्रुदि मनर्ष का चिन्तन ही श्रेयवृत्ति के दोषों का चिन्तन कहा जाता है।

(ग) कोई अपनी पीठ पीछे निम्ना करे तो ऐसा चिन्तन करना कि शत्रु—बेसमझ लोगों का यह स्वभाव ही है, इसमें बात ही क्या है? उन्मत्त अभि है जो बेचारा पीछे से गाँधी देता है; सामने तो नहीं आता वही खुशी की बात है। जब कोई सामने आ कर गाँधी देता ही, तब ऐसा सोचना कि शत्रु लोगों की तो यह बात ही है जो अपने स्वभाव के अनुसार ऐसा करते हैं इसके ब्यवा तो कुछ नहीं करते; सामने आकर गाँधी ही बैठे हैं पर प्रहार तो नहीं करते; वह भी तो काम ही है। इसी तरह यदि कोई प्रहार करे, तब प्राणमुक्त न करने के बरके में उपकर मानना और यदि कोई प्राणमुक्त करे तब पर्यग्रह न कर लकने के कारण काम मानकर प्रवृत्त हया का चिन्तन करना। इस प्रकार से स्त्री स्त्री अभिष्ट कठिनाइयों आने ल्यों ल्यों विशेष उपायों और विवेकवृत्ति का विकास करके उपरिपत कठिनाइयों को सरल बनाना ही वास्तव्यमय का चिन्तन है।

(घ) कोई श्रेय करे तब यह सोचना कि इस प्रसंग में दूसरा तो सिर्फ निमित्तमात्र है, वास्तव में यह प्रसंग मेरे अपने ही पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है। यदि अपने किये कर्मों का चिन्तन है।

(८) कोई क्रोध करे तब ऐसा सोचना कि 'क्षमा धारण करने से चित्त की स्वस्थता रहती है, बदला लेने या सामना करने में व्यय होने वाली शक्ति को बचा कर उसका उपयोग सन्मार्ग में किया जा सकता है' यही क्षमा के गुणों का चिन्तन है।

२. चित्त में मृदुता और बाह्य व्यवहार में भी नम्रवृत्ति का होना मार्दव है। इस गुण की सिद्धि के लिए जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य—बढ़प्पन, विज्ञान—बुद्धि, श्रुत—शास्त्र, लाभ—प्राप्ति, वीर्य—शक्ति इनके बारे में अपने बढ़प्पन में आकर गर्व से न फूलना और उलटा इन वस्तुओं की धिनधरता का विचार करके चित्त में से अभिमान के काँटे को निकाल फेंकना। ३. भाव की विशुद्धि अर्थात् विचार, भाषण और वर्ताव की एकता ही आर्जव है; इसकी प्राप्ति के लिए कुटिलता के दोषों का विचार करना चाहिए। ४. धर्म के साधन तथा शरीर तक में भी आसक्ति न रखना ऐसी निर्लोभता को शौच कहते हैं। ५. सत्पुरुषों के लिए जो हितकारी हो ऐसा यथार्थ वचन ही सत्य है। भाषासमिति और सत्य में कुछ फर्क बतलाया गया है, वह यह है कि हरएक मनुष्य के साथ सभाषण-व्यवहार में विवेक रखना तो भाषासमिति है और अपने समशील साधु पुरुषों के साथ सभाषणव्यवहार में हित, मित और यथार्थ वचन का उपयोग करना सत्य नामक यतिधर्म है। ६. मन, वचन और देह का नियमन करना अर्थात् विचार, वाणी और गति, स्थिति आदि में यतना का अभ्यास करना संयम कहलाता है। ७. मलिन वृत्तियों को निर्मूल करने

१ सयम के सत्रह प्रकार प्रसिद्ध हैं, जो कि भिन्न भिन्न रूप में पाये जाते हैं पँच इन्द्रियोका निग्रह, पँच अत्रतों का त्याग, चार कषार्यों का जय तथा मन वचन और काय की विरति। इसी तरह पँच स्थावर, ओर चार त्रस—इन नव के विषय में नव सयम, प्रेक्ष्यसयम, उपेक्ष्य सयम, अपहृत्यसयम, प्रनृज्यसयम, कायसयम, वाक्सयम, मनःसयम और उपकरणसयम ये कुल सत्रह हुए।

के निमित्त अपेक्षित ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जो आत्ममदमन किया जाता है वह तैर है। ८ पात्र को जानादि सदगुणों का प्रदान करना तथा है। ९ किसी भाव वस्तु में ममत्वबुद्धि न रहना आर्कियम्ब है। १ पुरिमों को हटाने के लिए जानादि सदगुणों का अभ्यास करना एवं गुण की अपेक्षितता के संकन के लिए ब्रह्म—गुरुकुल में जाय—इसना ब्रह्मचर्य है। इसके परिष्कार के लिए अतिशय उपकारक कितने ही गुण हैं, जैसे—आकर्षक स्वर्ण रत्न यन्त्र रूप शम्भ और शरीर संस्कार आदि में न केवल ही प्रकाश तावते अभ्यासके तीखे रूप में चतुष्टय महात्म्य की कौन साकार्य गिनाह है, उनका विशेष रूप से अभ्यास करना। ६।

अनुपेक्षा के मेद—

अनित्याद्वरणसस्यारैकत्वादन्यस्वाद्भुविस्वांनिसवरनिर्जरा  
लोकबोधिदुर्लभमर्मास्व्यातत्वानुचिन्तनमनुपेक्षा। ७।

अनित्य अचर्य लैतार, एकत्व अन्वय अद्युधि आसक, तैर निजरा लोक, बोधिदुर्लभम्ब और ब्रह्म का स्वास्वयातत्व—इसका अनुचिन्तन ही अनुपेक्षा है।

१ इनका वर्णन ही अभ्यास क सूत्र १९,२ में है। इसके उपर्यंत अनेक व्यवस्थितों द्वारा अलग अलग पीठियों से आचरण किये जानेवाले तप जैन परंपरा में प्रसिद्ध हैं। जैसे—वचमप्य और वज्रमप्य से हो; चान्द्रापना कमप्यरत्नी, रात्रावली और मुक्तवल्ली से तीन; शुकक और महा इन प्रकार का तिहवित्रीप्रित, क्ततमिषक, अहमपमिषक, नवमपमिषा द्यदयमिषा से चार प्रतिभार्य; शुक और महा से दो सर्वलभ्य; भद्रोत्तर आशाम्ब-वर्ष मान; एवं चारह भिद्युपतिभार्य—इत्यादि। इनके विचार वर्णन के लिए १० आशाम्ब-वर्ष का भीतरीयजसहोदरि।

२ गुरु—आचार्य पौष प्रकार के यज्ञभए हैं अथवा, रिगाधार्य भुज-भ, भुजभुरेता आशाम्ब-वर्षाधक। जो प्रकाश देण है वह

अनुप्रेक्षा का अर्थ गहन चिन्तन है। जो चिन्तन तार्किक और गहरा होगा उसके द्वारा रागद्वेष आदि वृत्तियों का होना रुक जाता है; इसीलिए ऐसे चिन्तन का सवर के उपाय रूप में वर्णन किया है।

जिन विषयों का चिन्तन जीवनशुद्धि में विशेष उपयोगी हो सकता, ऐसे चारह विषयों को चुनकर उनके विविध चिन्तन को ही चारह अनुप्रेक्षाओं के रूप में गिनाया है। अनुप्रेक्षा को भावना भी कहते हैं। अनुप्रेक्षाएँ निम्न प्रकार हैं—

1. किसी भी प्राप्त वस्तु के वियोग होने से दुःख न हो इसलिए वैसी सभी वस्तुओं में आसक्ति का घटाना आवश्यक है। अनित्यानुप्रेक्षा और इसके घटाने के लिए ही शरीर और घरबार आदि वस्तुएँ एव उनके सम्बन्ध में नित्यत्व और स्थिरत्व का चिन्तन ही अनित्यानुप्रेक्षा है।

एक मात्र शुद्ध धर्म को ही जीवन का शरणभूत स्वीकार करने के लिए उसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं से ममत्व को हटाना जरूरी है। इसके हटाने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि जैसे 2. अक्षरानुप्रेक्षा सिंह के पंजे में पड़े हुए हिरन को कोई भी शरण नहीं, वैसे ही आधि (मानसिक रोग) व्याधि (शरीर का रोग) और उपाधि से ग्रस्त में भी सर्वदा के लिए अशरण हूँ, यही अशरणानुप्रेक्षा है।

संसारतृष्णा के त्याग करने के लिए सांसारिक वस्तुओं में निर्वेद-उदासीनता की साधना जरूरी है और इसीलिए ऐसी वस्तुओं से मन

प्रवाजक, जो वस्तुमात्र की अनुज्ञा प्रदान करे वह दिगाचार्य, जो आत्म का प्रथम पाठ पढाये वह श्रुतोद्देश, जो स्थिर परिचय कराने के लिए आगम का विशेष प्रवचन करता है वह श्रुतसमुद्देश और जो आत्माय के उत्सर्ग और अपवाद का गहन्य वनलाता है वह आत्मागर्भवाचक है।

इतने के लिए इस प्रकार चिन्तन करना कि  
 २. सत्त्वानुप्रेषा अनादि जन्म-मरण चक्र में न तो कोई स्वप्न है न परमन; क्योंकि प्रत्येक के साथ हर तरह के संभव जन्म जन्मस्थलों में भुके हैं। इसी तरह राग द्वेष और मोह से संतप्त प्राणी विपश्चिन्ता करके एक दूसरे की हड़बड़ करने की नीति से अलग-अलग दुःखों का अनुभव करते हैं। यह संसार हर्ष विषाद सुख-दुःख आदि दुःखों का उपम और उच्चम ही अन्तम है इस प्रकार का चिन्तन ही संसारानुप्रेषा है।

मोह की प्राप्ति के निमित्त रागद्वेष के प्रसंगों में निर्वेदाता बनना आवश्यक है। अतः स्वप्न के प्रति होने वाले राग और परमन प्रति होने वाले द्वेष को दूर करने के लिए ऐसा सोच  
 ४ एकत्वानुप्रेषा कि मैं अकेला ही जन्मता, मरता हूँ, तथा अकेला अपने बोधे हुए कर्म बीजों के द्वारा दुःख-दुःख आदि दुःखों का अनुभव करता। वास्तव में कोई मेरे दुःख-दुःख का कर्ता नहीं है' यही एकत्वानुप्रेषा।

अनुभव मोहावेश से शरीर और अन्त बस्तुओं की ह्रास-वृद्धि अपनी ह्रास-वृद्धि की भावने की भ्रम करके अलग-अलग कृतम्य का भ्रम बनाता है ऐसी स्थिति के निपटारे शरीर आदि अ  
 ६ अन्तस्वानुप्रेषा बस्तुओं में अपने मन के अन्तस्त्व को दूर का आवश्यक है। इसीलिए हम दोनों के गुण-धर्मों की मिश्रता का चिन्तन करना कि शरीर तो स्थूल, आदि और अन्त सुक्ष्म तथा सूक्ष्म और सूक्ष्म आदि और अन्त सूक्ष्म अन्त हूँ इस प्रकार का चिन्तन अन्तस्वानुप्रेषा है।

तबसे अधिक सूक्ष्मस्वरूप शरीर ही है अतः उस पर ही मूढ़ता का  
 के लिए ऐसा सोचना कि शरीर स्वयं अग्रिम  
 ७ अग्रिमस्वानुप्रेषा अग्रिम में से ही मैदा हुआ है अग्रिम बस्तुओं

इसका पोषण हुआ है, अशुचि का स्थान है और अशुचि परंपरा का कारणभूत है, यही अशुचित्वानुपेक्षा है।

इन्द्रियों के भोगों की आसक्ति घटाने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के भोग संबन्धी राग में से उत्पन्न होनेवाले अनिष्ट आस्रवानुपेक्षा परिणामों का चिन्तन करना आस्रवानुपेक्षा है।

सर्ववृत्ति के द्वारों को बंद करने के लिए सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तन करना सवयानुपेक्षा है।

कर्म के बन्धनों को नष्ट करने की वृत्ति को दृढ़ करने के लिए उसके विविध विपाकों का चिन्तन करना कि दुःख के प्रसंग दो तरह के होते हैं, एक तो इच्छा और सञ्ज्ञान प्रयत्न के बिना प्राप्त हुआ; जैसे—पशु, पक्षी और बहरे, गूँगे आदि दुःखप्रधान जन्म तथा वारिसे में मिली हुई गरीबी; दूसरा प्रसंग है उद्देश्य से सञ्ज्ञान प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया हुआ, जैसे—तप और त्याग के कारण प्राप्त किया हुआ, जैसे—तप और त्याग के कारण से प्राप्त हुई गरीबी और शारीरिक कृशता आदि। पहले में वृत्ति का समाधान न होने से वह अशुचि का कारण होकर अकुशल परिणामदायक बनता है; और दूसरी तो सद्वृत्तिजनित होने से उसका परिणाम कुशल ही होता है। अतः अज्ञानक प्राप्त हुए कठक विपाकों में समाधान वृत्ति को साधना तथा बहो शक्य हो वहाँ तप और त्याग द्वारा कुशल परिणाम की प्राप्ति हो इस प्रकार सचित कर्मों को भोग लेना यही श्रेयस्कर है, ऐसा चिन्तन निर्जयानुपेक्षा है।

१० लोकानुपेक्षा

—तत्त्वज्ञान की विशुद्धि के निमित्त विषय के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना लोकानुपेक्षा है।

प्रातः कृए मोक्षमार्ग में अवसन्नमात्र की साधना के लिए ऐसा  
 ११ बोधिदुर्लभ-  
 त्वानुपेक्षा  
 सोचना कि 'अनादि प्रपञ्च बाह्य में विविध दुःखों के  
 प्रवाह में भ्रष्टे हुए और मोह आदि कर्मों के तीव्र  
 आघातों को सहन करते हुए भीव की मुद्रा हरि और  
 शुद्ध चरित्र प्राप्त होना दुर्लभ है वही बोधिदुर्लभत्वानुपेक्षा है।

धर्ममार्ग से व्युत्पन्न न होने और उसके अनुष्ठान में स्थिरता करने  
 के लिए ऐसा चिन्तन करना कि जिसके द्वारा संपूर्ण प्राणियों का कल्याण  
 हो सकता है, ऐसे सर्वगुणसम्पन्न धर्म का सत्यपुण्य  
 १२ धर्मस्वाक्यता-  
 त्वानुपेक्षा  
 ने उपदेश किया है वह कितना बड़ा सौभाग्य है वही  
 धर्मस्वाक्यतात्वानुपेक्षा है।

परीक्षाओं का पर्वण-

मार्गाऽप्यधननिर्भरार्थं धेरिसोढक्या परीषदाः । ८ ।

धुत्पिपासाशीतोष्णदक्षमक्षकनाम्न्यारतिक्रीचर्य-  
 निपघातग्याक्रोश्वषयाचनासामरोगसुखस्पर्शमल

सत्कारपुरस्कारप्रश्लाणानादर्शनानि । ९ ।

सूक्ष्मसपगपच्छस्रस्थवीतरागयोश्चतुर्दश । १० ।

पञ्चदश जिने । ११ ।

पादरसपराये मर्षे । १२ ।

ज्ञानावरणे प्रश्लाणाने । १३ ।

१ सभी श्रेयसपर, दिगम्बर पुस्तकी में 'य' उदा हुआ देखें साथ ही  
 परम्पु वह शीघ्र शब्द में 'य' के लक्षण के कारण व्याकरणविद्वान् धारि-  
 माय है, अतः व्याकरण के अनुसार 'परितोढक्याः' वही सच शब्द है।  
 २ के देखें, तिब्बतीय ११११८८ तथा पाणिनीय ८।१।११५ ।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ । १४ ।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनामत्कार-  
पुरस्काराः । १५ ।

वेदनीये शेषा । १६ ।

एकादयो भाज्या युगपदैकौनविंशतेः । १७ ।

मार्ग से च्युत न होने और कर्मों के क्षयार्थ जो सद्गन करने योग्य हों वे परीषद् हैं ।

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्चा, निषद्या, घट्या, आक्रोश, वष, याचना, अलाम, रोग, तृणस्पर्श, मेल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन—इनके परीषद्, इस प्रकार कुल बाईस परीषद् हैं ।

सूक्ष्मसंपराय और छद्मस्थवीतराग में चौदह परीषद् सभव हैं ।

जिन भगवान में ग्यारह सभव हैं ।

वादरसपराय में सभी अर्थात् बाईस ही सभव है ।

जानावरण रूप निमित्त से प्रज्ञा और अज्ञान परीषद् होते हैं ।

दर्शनमोह और अन्तराय कर्म से क्रमशः अदर्शन और अलाम परीषद् होते हैं ।

चारित्रमोह से नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषद् होते हैं ।

ब्राह्मी के सभी वेदनीय से होते हैं ।

एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर १९ तक परीषद् विकल्प से संभव हैं ।



संवर के उपाय रूप में परीपहों का बंधन करते समय सूत्रकार ने किन पाँच प्रकारों का निरूपण किया है, वे ये हैं—परीपहों का अक्षय, उनकी संख्या, अधिकारी भेद से उनका विभाग उनके कार्यों का निर्देश तथा एक साथ एक क्षण में संभव परीपहों की संख्या। हर एक भूरा पर विशेष विचार अनुक्रम से निम्न अनुसार हैं—

अक्षयकर किए हुए समझा में स्थिर रहने और कमबन्धनों के  
 किनाधार्य जो जो स्थिति सम्भाव्य पूर्वक सहन करने योग्य है  
 उते परीपह करते हैं। ८।

यद्यपि परीपह संशेष में कम और विस्तार में अधिक भी कल्पित  
 किए एवं गिनाए जा सकते हैं तथापि साग को विकल्पित  
 करने के लिए जो सात कस्ती हैं वे ही वास्तव परीपह रूप  
 में गिनाये गए हैं जैसे—

१२ सुषा और सुषा की चारों केशी भी वेदना हो, फिर भी  
 अक्षयकर की हुई मर्यादा के विरुद्ध आहार, जब न उते हुए सम्भाव्य  
 पूर्वक ऐसी वेदनाओं की सहन करना कर्मणः सुषा और पिपासा  
 परीपह हैं। ३-४ टंड और मरुती से चारों चिठना ही कष्ट होता हो  
 तो भी उसके निवारणार्थ अक्षय्य केशी भी कस्तु का सेवन किने किना  
 ही सम्भाव्यपूर्वक उन वेदनाओं को सहन कर केना अनुक्रम से घीत  
 और उष्ण परीपह हैं। ५ बौत मन्धर आदि कस्तुओं का उपचार होने पर  
 सिद्ध न होते हुए उते सम्भाव्य पूर्वक सहन कर केना दृष्टमद्यपरिपह  
 है। ६ मगता को सम्भाव्य पूर्वक सहन करना मेघापरिपह है। ७ अर्था-  
 कार किने हुए मार्ग में अनेक कष्टिनारथों के धरण आदि का प्रबंध आ

१ इस परिपह के विषय में श्वेताश्वर, दिगंबर बौद्धों उपरान्तों में लक्षण  
 मतभेद है; इसी मतभेद के कारण श्वेताश्वर और दिगंबर ऐसे नाम लगे हैं।

पढ़ने पर उस समय अरुचि को न लाते हुए धैर्यपूर्वक उसमें रस लेना अरतिपरीषह है। ८. साधक पुरुष या स्त्री का अपनी साधना में विजातीय आकर्षण से न ललचाना स्त्रीपरीषह है। ९. स्वीकार किये हुए धर्मजीवन को पुष्ट रखने के लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानों में विहार और किसी भी एक स्थान में नियतवास स्वीकार न करना चर्यापरीषह है। १०. साधना के अनुकूल एकान्त जगह में मर्यादित समय तक आसन लगाकर बैठे हुए ऊपर यदि भय का प्रसंग आ पड़े तो उसे अकम्पितभाव से जीतना अथवा आसन से च्युत न होना निष्ठापरीषह है। ११. कोमल या कठिन, ऊँची या नीची जैसी भी सहजभाव से मिले वैसी जगह में समभाव पूर्वक शयन करना शय्यापरीषह है। १२. कोई पास आकर कठोर या अप्रिय कहे तब भी उसे सकारवत् समझ लेना आक्रोशपरीषह है। १३. कोई ताडन, तर्जन करे फिर भी उसे सेवा ही मानना वधपरीषह है। १४. दीनभाष या अभिमान न रखते हुए सिर्फ धर्मयात्रा के निर्वाहार्थ याचकवृत्ति स्वीकार करना याचनापरीषह है। १५. यात्रना करने पर पर भी यदि अभीष्ट वस्तु न मिले तो प्राप्ति की बजाय अप्राप्ति को ही सच्चा तप मानकर उसमें संतोष रखना

श्वेतांबरशास्त्र विशिष्ट साधकों के लिए सर्वथा नग्नत्व को स्वीकार करके भी अन्य साधकों के लिए मर्यादित वस्त्रपात्र की आज्ञा देते हैं, और वैसी आज्ञाके अनुसार अमूर्छित भावसे वस्त्रपात्र रखने वाले को भी वे साधु मानते हैं, जब कि दिगंबर शास्त्र मुनिनामधारक सभी साधकों के लिए एक सरीखा ऐकान्तिक नग्नत्व का विधान करते हैं। नग्नत्व को अचेतकपरीषह भी कहते हैं। आधुनिक शैक्षिक विद्वान् वस्त्रपात्र धारण करने वाली श्वेतांबरिय मत की परंपरा में भगवान् पार्श्वनाथ की सर्वत्र परंपरा का मूल देखते हैं, और सर्वथा नग्नत्व को रखने की दिगंबर परंपरा में भगवान् महावीर की अवस्त्र परंपरा का मूल देखते हैं।

संकर के उपाय रूप में परीपहों का बचन करते समय सूत्रकार न किन पाँच प्रकारों का निरूपण किया है वे ये हैं—परीपहों का बचन, उनकी संख्या आधिकारी भेद से उनका विभाग, उनके कार्यों का निर्देश तथा एक साथ एक जीव में संभव परीपहों की संख्या। हर एक सूत्र पर विशेष विचार अनुक्रम से निम्न अनुसार है—

अङ्गीकार किए हुए सममार्ग में स्थिर रहने और कमजोरियों के विनाशाय जो भी स्थिति समभव पूर्वक सहन करने योग्य है उसे परीपह करते हैं। ८।

यद्यपि परीपह संक्षेप में कम और विस्तार में अधिक भी कल्पित किए एवं गिनाए जा सकते हैं, तथापि अलग को विकल्पित करने के लिए जो सात कल्पनी हैं वे ही वास्तव परीपह ध्यान में गिनाये गए हैं जैसे—

१ १ सुषा और एवा की चारों कैंटी भी बेदना हो, फिर भी अङ्गीकार की हुए मर्मांदा के विरुद्ध आहार, जल व छेत्ते हुए समभव पूर्वक ऐसी बेदमांसी को सहन करना समस्त। सुषा और विपत्ता परीपह हैं। १४ टंड और गरमी से चारों फिटना ही कष्ट होता ही तो भी उसके निवारणार्थ अल्पत्व चिन्ती भी कल्पु का सेवन किये बिना ही समभवपूर्वक उन बेदमांसी को सहना कर सेना अनुक्रम से घीठ और उष्ण परीपह हैं। ५ बौत अथवा आदि अनुभवी का उपहास होने पर तिष्ठ न होने हुए उसे समभव पूर्वक सहना कर सेना दृग्मत्तपर्यपह है। ६ नम्रता को समभव पूर्वक सहय करना नेमत्तपर्यपह है। ७ अंग्रि वार किये हुए मार्ग में अनेक कठिनारथों के कारण अर्धय या सर्वय का

१ इन परीपह के विषय में बहोतवार, विगौर होने से उत्पन्न में लक्षण मन्त्र है; इनी अन्तर क कारण विगौर और विगौर से न भाग बने हैं।

पढ़ने पर उस समय अरुचि को न लते हुए धैर्यपूर्वक उसमें रस लेना अरतिपरीषद है। ८. साधक पुरुष या स्त्री का अपनी साधना में विजातीय आकर्षण से न ललचाना स्त्रीपरीषद है। ९. स्वीकार किये हुए धर्मजीवन को पुष्ट रखने के लिए असग होकर भिन्न-भिन्न स्थानों में विहार और किसी भी एक स्थान में नियतवास स्वीकार न करना चर्यापरीषद है। १०. साधना के अनुकूल एकान्त जगह में मर्यादित समय तक आसन लगाकर बैठे हुए ऊपर यदि भय का प्रसंग आ पड़े तो उसे अकम्पितभाव से जीतना अथवा आसन से च्युत न होना निष्ठापरीषद है। ११. कोमल या कठिन, ऊँची या नीची जैसी भी सहजभाव से मिले वैसी जगह में समभाव पूर्वक शयन करना शय्यापरीषद है। १२. कोई पास आकर कठोर या अप्रिय कहे तब भी उसे सन्कारवत् समझ लेना आक्रोशपरीषद है। १३. कोई ताड़न, तर्जन करे फिर भी उसे सेवा ही मानना वषपरीषद है। १४. दैनिभाव या अभिमान न रखते हुए सिर्फ धर्मयात्रा के निर्वाहार्थ याचकवृत्ति स्वीकार करना याचनापरीषद है। १५. याचना करने पर पर भी यदि अभीष्ट वस्तु न मिले तो प्राप्ति की बजाय अप्राप्ति को ही सच्चा तप मानकर उसमें संतोष रखना

श्वेतांबरशास्त्र विशिष्ट साधकों के लिए सर्वथा नग्नत्व को स्वीकार कस्के भी अन्य साधकों के लिए मर्यादित वस्त्रपात्र की आज्ञा देते हैं, और वैसी आज्ञाके अनुसार अमूर्च्छित भावसे वस्त्रपात्र रखने वाले को भी वे साधु मानते हैं, जब कि दिगंबर शास्त्र मुनिनामधारक सभी साधकों के लिए एक सरीखा ऐकान्तिक नग्नत्व का विधान करते हैं। नग्नत्व को अचेलकपरीषद भी कहते हैं। आधुनिक शोक्क-विद्वान्, वस्त्रपात्र धारण करने वाली श्वेतांबरिय मत की परंपरा में भगवान् पार्वनाथ की सबसे परंपरा का मूल देखते हैं, और सर्वथा नग्नत्व को रखने की दिगंबर परंपरा में भगवान् महावीर की अवस्त्र परंपरा का मूल देखते हैं।

व्ययम परीक्ष है। १६ किसी भी रोग से व्याकुल न होकर समान  
 पूरक ठोके रहना रोगपरिषद है। १७ लयारे में वा अत्यन्त दुःख  
 आदि की दक्षिणा अथवा कटोरता अनुभव हा तो मृदुसप्त्या के लेवन  
 सर्वज्ञा उदात्त रक्षना सुगुणपरिषद है। १८ चाहे कितना साधारण  
 मूत्र हो फिर भी ठोके उर्ध्व न पाना और स्नान आदि संस्कारों  
 को न चाहना गणपरिषद है। १९ चाहे कितना भी उत्कृष्ट भिक्षे  
 फिर भी ठोके न पूजना और उत्कृष्ट न मिष्ठाने पर शिवा न होना  
 उत्कृष्टपुरस्कार परिषद है। २० प्रज्ञा—ब्रह्मपरिषदी बुद्धि हो तो उत्कृष्ट  
 गर्भ न करना और न होने पर वैध न करना प्रज्ञापरिषद है। २१ विद्विष  
 शास्त्रज्ञान से गर्हित न होना और ठोके अभाव में आत्मब्रह्मज्ञाना न  
 स्नाना ज्ञानपरिषद है अथवा इसे अज्ञानपरिषद भी कहते हैं। २२ गुरु  
 और अतीन्द्रिय पदायों का दान न होने से स्वीकार किया हुआ स  
 निष्क प्रतीत होने पर विवेक से अज्ञा बनाये रखना और एही स्थिति में  
 प्रसन्न रहना अज्ञानपरिषद है। ९।

चित्तमें संपराध—छोमक्याव की श्रुत ॥ कम लभापना हा वन  
 वरमसंपराध नामक गुणस्थान में और उपस्थान्दमीह तथा स्त्रीपमोह नामक  
 गुणस्थानों में बीरह ही फीवह संभव है वे वे हैं—  
 अचिकीपी भेद से सुषा, विपासा धीत, उष्ण रंजमणक, चर्म प्रज्ञा  
 विमग्न अज्ञान अज्ञान क्षय्या वन रोग, सुगुणपरिषद, मूल  
 काकी के अठ संभव नहीं है। इतका फलन यह है कि ये मोहजन्य हैं  
 केकिन स्परहमें और बाह्यमें गुणस्थानों में मोहोदय का अभाव है। क्यदि  
 रहमें गुणस्थान में मोह है पर यह इच्छा अन्य है कि न होने केता ही र।  
 इतीन्द्रिय इव गुणस्थान में भी मोहजन्य आठ परिषदों के संभव का उद्भव  
 न करके तिर्र बीरह का ही संभव है देता उद्भव किया गया है।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में केवल ग्यारह ही परीपह समझ हैं, जैसे—क्षुधा, पिपासा, शक्ति, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, बध, रोग, तृणस्पर्श और मल । बाकी के ग्यारह घातिकर्मजन्य होने से उस कर्म का ही अभाव होने से वे उक्त गुणस्थानों में समझ नहीं ।

त्रिसमें सपराय—कपाय का शब्द अर्थात् विशेष रूप में समझ हो, ऐसे शब्दसपराय नामक नौवें गुणस्थान में बाईस ही परीपह होते हैं । इसका कारण यह है कि परीपहों के कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं । नौवें गुणस्थान में बाईस के समझ का कथन करने से उसके पहले के छठे आदि गुणस्थानों में उतने ही परीपह समझ हैं, यह स्वतः फलित हो जाता है । १०-१२ ।

१. इन दो गुणस्थानों में परीपहों के बारे में दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायों के बीच मतभेद है । यह मतभेद सर्वज्ञ से कवलाहार मानने और न मानने के मतभेद के कारण है । इसीलिए दिगंबर व्याख्याग्रन्थ "एकादश जिने" इस रूप में इस सूत्र को मान कर भी इसकी व्याख्या तोड़-मरोट कर करते हुए प्रतीत होते हैं । व्याख्या एक नहीं, बल्कि दो की गई है, तथा वे दोनों संप्रदायों के तीव्र मतभेद के बाद की ही हैं ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है । पहली व्याख्या के अनुसार ऐसा अर्थ किया जाता है कि जिन—सर्वज्ञ में क्षुधा आदि ग्यारह परीपह (वेदनीय कर्मजन्य) हैं, लेकिन मोह न होने से वे क्षुधा आदि वेदना रूप न होने के कारण सिर्फ उपचार से द्रव्य परीपह हैं । दूसरी व्याख्या के अनुसार 'न' शब्द का अव्याहार करके ऐसा अर्थ किया जाता है कि जिनमें वेदनीय कर्म होने पर भी तदाधिस' क्षुधा आदि ग्यारह परीपह मोह के अभाव के कारण बाधा रूप न होने से हैं ही नहीं ।

० दिगंबर व्याख्या ग्रन्थ इस जगह शब्दसपराय शब्द को मंत्रा' रूप में मानकर विशेषण रूप में मानते हैं, जिस पर से वे छठे आदि चार गुणस्थानों का अर्थ फलित करते हैं ।

परीपहों के कारण कुछ धार कम माने गए हैं। उनमें से ज्ञाना-  
 चरम प्रेक्षा और अज्ञान इन दो परीपहों का निमित्त है; अन्तर्गमकर्म  
 मन्त्रात्मपरीपह का कारण है; मोह में से 'दर्शनमोह'  
 कारणों का निर्देश अहंजन का और चारित्र्यमोह नामत्व, अस्थि, जी-  
 पिनपिपा, अग्रमोह याचना सात्त्विक—इन सात परीपहों का कारण है,  
 वैदनीय कम ऊपर गिनाये गए सर्वज्ञ में सम्मिलित ग्यारह परीपहों का  
 कारण है। १३-१६।

बारह परीपहों में एक समय में परस्पर बियोजी अनेक परीपह  
 हैं जैसे—धीत उष्ण च्वा घृष्णा और निपिपा—इनमें से पहले दो  
 एक साथ एक जीव और पिछले तीन एक साथ संभव ही नहीं हैं।  
 में संभ्रम्य परीपहों धीत होया तब उष्ण और उष्ण होया तब धीत  
 की संभ्रम्य संभव ही नहीं। इसी तरह च्वा, घृष्णा और निपिपा  
 में से भी एक समय में एक ही हो सकता है। इसीविध उष्ण पौषों में  
 से एक समय में किन्हीं भी दो की संभव और तीन को असंभव मानकर  
 एक आरामा में एक साथ अधिक से अधिक १९ परीपह संभव  
 कहाए गए हैं। १७।

चारित्र्य क मोह—

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविष्णुद्विष्टात्मसपराय  
 यथास्मात्तानि चारित्र्यम् । १८ ।

सामायिक छेदोपस्थापन परिहारविष्णुद्विष्टात्मसपराय और यथा-  
 स्मात् यह पाँच प्रकार का चारित्र्य है।

॥ अस्तकर्मणी बुद्धि किंतनी भी कर्मों न हो, वह परिमित हान  
 क कर्मत्व ज्ञानाचरण के आश्रित है अतः प्रज्ञात्परीपह को ज्ञानाचरणकर्म ही  
 समझना चाहिए।

आत्मिक शुद्धदशा में स्थिर रहने का प्रयत्न करना ही चारित्र्य है। परिणाम शुद्धि के तरतम भाव की अपेक्षा से चारित्र के सामायिक आदि उपर्युक्त पाँच विभाग किए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—

समभाव में स्थित रहने के लिए सपूर्ण अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिकचारित्र है। छेदोपस्थान आदि वाकी के चार चारित्र सामायिक रूप तो हैं ही इतने पर भी कितनी ही १ सामायिक चारित्र आचार और गुण की विशेषताओं के कारण इन चारों का सामायिक से भिन्न रूप में वर्णन किया गया है। इत्वरिक—कुछ समय के लिए अथवा यावत्कथिक—सपूर्ण जीवन के लिए जो पहले पहल मुनि दीक्षा ली जाती है—वह सामायिक है।

प्रथम दीक्षा लेने के बाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर विशेष शुद्धि के निमित्त जो जीवनपर्यंत पुनः दीक्षा ली जाती है, एवं प्रथम ली हुई दीक्षा में दोषापत्ति आने से उसका छेद करके फिर नये सिरे से जो दीक्षा का आरोपण किया जाता है वह छेदोपस्थापन चारित्र है। जिसमें से पहला निरतिच्चार और दूसरा सातिचार छेदोपस्थापन कहलाता है।

जिसमें खास विशिष्ट प्रकार के तप प्रधान ३ परिहारविशुद्धि चारित्र आचार का पालन किया जाता है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है।

जिसमें क्रोध आदि कपायों का तो उदय नहीं होता, सिर्फ लोभ का अंश अतिसूक्ष्म रूप में रहता है, वह सूक्ष्मसपराय चारित्र है।



५. याम्यम्यम धारिण  
 जिसमें किसी भी कथाय का उद्देश्य किसी  
 ही रक्षा यह वैवाहिकता अथवा शीतल  
 धारिण है।

उप का बचन-

अनशुनाबमौर्द्यवृत्तिपरिसम्प्यानरसपरित्यागविषिक्त  
 श्रय्यासनकायक्लेशा बाह्य तपः । १९ ।  
 प्रायश्चित्तविनयवैयाघ्रयस्वाध्यायभ्युस्मर्गाध्यानान्यु  
 क्तम् । २० ।

अनशन अकर्मोदय वृत्तिपरित्याग, रसपरित्याग विषिक्त श्रय्या  
 सन और अकर्मोदय यह बाह्य तप है ।

प्रायश्चित्त विनय वैयाघ्रय स्वाध्याय, भ्युत्सग और ध्यान यह  
 आन्तरिक तप है ।

अतन्त्राद्यो को धीम करने तथा समुचित व्याख्यात्मिक रूप की  
 शक्तियों के लिए शरीर इन्द्रिय और मन का जिन जिन उपचारों से उपचार  
 किया है वे सभी तप हैं । तप के अर्थ और आन्तरिक होने दो  
 अर्थ हैं । जिसमें धार्मिक क्रिया की प्रधानता होती है तथा जो ब्रह्म  
 प्रयत्नों की अपेक्षा कुछ होने से दूसरों को हीन लगे वह तप है ।  
 इसके विपरीत जिसमें मानविक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो मुख्य-  
 रूप से ब्रह्म प्रयत्नों की अपेक्षा न रक्षा के कारण दूसरों को न हीन  
 लगे वह आन्तरिक तप है । बाह्य तप शूल और ज्यों द्वारा कृत होने  
 पर भी कृष्ण महर्षि आन्तरिक तप की पुष्टि में उपयोगी होने की इच्छा  
 से ही माना गया है । इस बाह्य और आन्तरिक तप के वर्गीकरण में  
 अन्तः शूल और शूल आध्यात्मिक विषयों का समावेश ही कृत है ।

१ इसके अन्तर्गत और उपान्यास ये नाम भी मिलते हैं ।

१. मर्यादित समय तक या जीवन के अन्त तक सभी प्रकार के आहार का त्याग करना—अनशन है। इनमें पहला इस्वरिक और दूसरा यावत्कथिक समझना चाहिए। २. अपनी जितनी भूख बाध तप हो उससे कम आहार करना—अवमौदर्य—जनोदर्य है। ३. विविध वस्तुओं के लालच को कम करना—वृत्तिसंक्षेप है। ४. घी, दूध आदि तथा मद्य, मधु, मक्खन आदि विकारकारक रस का त्याग करना—रसपरित्याग है। ५. बाधारहित एकान्त स्थान में रहना—विविक-ग्रह्यासनसलीनता है। ६. ठंड, गरमी या विविध आसनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना कायक्लेश है।

१. धारण किये हुए व्रत में प्रमादजनित दोषों का किससे शोचन किया जा सके वह प्रायश्चित्त है। २. ज्ञान आदि सद्गुणों में बहुमान रखना विनय है। ३. योग्य साधनों को कुटा कर आभ्यन्तर तप अथवा अपने आपको काम में लगाकर सेवाशुश्रूषा करना वैयावृत्त्य है। विनय और वैयावृत्त्य में इतना ही अन्तर है कि विनय तो मानसिक धर्म है और वैयावृत्त्य शारीरिक धर्म है। ४. ज्ञान प्राप्ति के लिए विविध प्रकार का अभ्यास करना स्वाध्याय है। ५. अहंता और ममता का त्याग करना व्युत्सर्ग है। ६. चित्त के विश्रेषों का त्याग करना ध्यान है। १९, २०।

प्रायश्चित्त आदि तपों के भेदों की संख्या—

**नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रम प्राग्व्यानात् । २१ ।**

ध्यान से पहले के आभ्यन्तर तपों के अनुक्रम से नव, चार, दस, पाँच और दो भेद हैं।

ध्यान का विचार विस्तृत होने से उसे अन्त में रखकर उसके पहले के प्रायश्चित्त आदि पाँच आभ्यन्तर तपों के भेदों की संख्या ही यहाँ बतलाई गई है। २१।

प्रायश्चित्त के भेद—

आश्लोचनाप्रतिष्ठापणतदुभयविशेषकन्युत्सर्गवपदहेदपरि  
हारोपस्थापनानि । २२ ।

आश्लोचना, प्रतिष्ठापण, तदुभय विशेष न्युत्सर्ग, वप हेद, परिहार और उपस्थापन यह नव प्रकार का प्रायश्चित्त है ।

होप—दूस के होपन करने के अनेक प्रकार हैं, वे सभी प्रायश्चित्त हैं । उनके यहाँ संक्षेप में नव भेद यह प्रकार हैं—१ गुह के वपन होपमात्र से अपनी मूल प्रकृति करना आश्लोचना है । २ हो गुह मूल का अनुत्थापन करके उसके निवृत्त होना और नई मूल म हो इसके लिए उपाधान यज्ञ प्रतिष्ठापण है । ३ उक्त आश्लोचना और प्रतिष्ठापण दोनों साथ करना तदुभय अर्थात् मिश्र है । ४ स्नानरत स्नान वस्तु यदि अकस्मन्तीय भा ज्ञान और पीछे से माहूम पड़े तो उसके उपाधान करना विशेष है । ५ प्रकृत्यापूर्वक शरीर और वचन के अपराधों को क्षुब्ध देना न्युत्सर्ग है । ६ अनशय आदि वस्तु वप करना वप है । ७ होप के अनुत्थापन दिवस पक्ष मास वा वर्ष की प्रकृत्या यज्ञ हेतु हेतु है । ८ होपमात्र आदि को उसके होप के अनुत्थापन पक्ष, मास अथवा पर्यन्त किसी क्रिम का उत्सर्ग न रख कर कुछे परिहारना—परिहार है । ९ आहिता, सप्त ब्रह्मचर्य आदि महाप्रायश्चित्तों के मंग हो जाने से फिर एक से ही उन महाप्रायश्चित्तों का आश्लोचना करना—उपस्थापन है । ११ ।

१ परिहार और उपस्थापन इन दोनों के स्थान में मूल, अनपस्थापन, प्रायश्चित्त से त्रिम प्रायश्चित्त होने से बहुत से प्रायश्चित्तों में एक प्रायश्चित्तों का जन्म है । वे प्रत्येक प्रायश्चित्त किन् किन् और कैसे कैसे दोनों पर जन्म होते हैं, उनका विचार एतद्विषय व्यवहार, जीतकस्पृह्य आदि प्रायश्चित्त प्रबन्धनों से जानना चाहिए ।

## विनय के भेद-

## ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः । २३ ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार ये विनय के चार प्रकार हैं ।

विनय वस्तुतः गुणरूप से एक ही है, फिर भी उसके ये भेद सिर्फ विषय की दृष्टि से ही किये गए हैं ।

विनय के विषय को मुख्य रूप से यहाँ चार भागों में बाँटा गया है; जैसे- १. ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास चालू रखना और भूलना नहीं यह ज्ञान का असली विनय है । २. तत्त्व की यथार्थप्रतीति स्वरूप सम्यग्दर्शन से चालित न होना, उसमें होने वाली शङ्काओं का सशोधन करके निःशंक भाव की साधना करना दर्शनविनय है । ३. सामायिक आदि पूर्वोक्त किसी भी चारित्र में चित्त का समाधान रखना चारित्रविनय है । ४. जो कोई सदगुणों में अपने से श्रेष्ठ हो उसके प्रति अनेक प्रकार से योग्य व्यवहार करना, जैसे- उसके सामने जाना, उसके आने पर उठ कर खड़ा हो जाना, आसन देना, वन्दन करना इत्यादि उपचारविनय है । २३ ।

## वैयावृत्य के भेद-

## आचार्योपाध्यायतपस्वीशैक्षकग्लानगणकुलसधुसामनोज्ञानाम् । २४ ।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, सध, साधु और समनोञ्ज इस तरह दस प्रकार का वैयावृत्य है ।

वैयावृत्य सेवारूप होने से दस प्रकार के सेव्य-सेवायोग्य पात्रों के होने के कारण उसके भी दस प्रकार किये गए हैं । वे इस प्रकार हैं- १. मुख्य रूप से जिसका कार्य व्रत और आचार ग्रहण कराने का हो- वह आचार्य

हे । २ मुख्य रूप से भिन्न कार्य भुक्तान्यास करने का हो-बहु उपाध्यय  
 है । ३ जो महान् और उग्र तप करने वाला ही-बहु तपस्वी है ।  
 ४ जो नववीक्षित होकर शिक्षण प्राप्त करने का उम्मीदवार हो-बहु शैशु है ।  
 ५ योग आदि से शीघ्र हो-बहु स्थान है । ६ जुदे जुदे आप्तार्थों के शिष्य  
 रूप शत्रु यदि परस्पर सहायायी होने से समान वाचना वाले हों तो उनका  
 समुदाय ही गण है । ७ एक ही वीक्षाचार्य का शिष्य परिवार-कुल  
 कदम्बता है । ८ धर्म का अनुयायी शत्रु है, इसके शत्रु शत्रु, प्रत्येक  
 और आधिक्य के चार भेद हैं । ९ जो प्रथमा वापी हो उसे शत्रु कहते  
 हैं । १० ज्ञान आदि गुणों में समान हो बहु समनोद्ध-समान शील  
 हैं । २४ ।

स्वाध्याय के भेद-

वाचनाप्रच्छन्नानुप्रेषाम्नायधर्मोपदेशाः । २५ ।

वाचना प्रच्छन्ना अनुप्रेषा आत्माय और धर्मोपदेश ये चोच  
 स्वाध्याय के भेद हैं ।

ज्ञान प्राप्त करने का उसे निश्चयक विद्या और परिपक्व बनाने का  
 एवं उक्त प्रकार का प्रथम ये सभी स्वाध्याय में व्याप्य हैं अतः उनके  
 बड़ा पाठ भेद अभ्यासशीली के क्रमानुसार कतकथि गए हैं । वे इस प्रकार  
 हैं- १ छन्द या अर्थ का परलभ पाठ केन्द्र-वाचना है । २ शंका दूर  
 करने भयवा विरोध निघम के लिए पृच्छना-प्रच्छना है । ३ छन्द  
 पाठ या उक्त अर्थ का सम से चिन्तन करण-अनुप्रेषा है । ४ शीर्षी  
 दूर पस्तु के उच्चारण का शुद्धिपूर्वक पुनरावर्तन करण-आत्माय अर्थात्  
 परावृत्त है । ५ अती कुरी वस्तु का रहस्य समझाना अथवा धर्म का  
 बताना कर्ता धर्मोपदेश है । २ ।

ध्यानार्थ के भेद-

वासाभ्यन्तरोपप्यो । २६ ।

ब्राह्म और आभ्यन्तर उपधि का त्याग ऐसा दो तरह का व्युत्सर्ग है।

वास्तव में अहंत्व-ममत्व की निवृत्ति रूप त्याग एक ही है, फिर भी त्यागने की वस्तु ब्राह्म और आभ्यन्तर ऐसे दो प्रकार की है। इसीसे उसके—व्युत्सर्ग या त्याग के दो प्रकार माने गए हैं। वह इस प्रकार हैं—  
१ धन, धान्य, मकान, क्षेत्र आदि ब्राह्म वस्तुओं से ममता हटा लेना ब्राह्मोपधि व्युत्सर्ग है और २ शरीर पर से ममता हटाना एव काषायिक विकारों में तन्मयता का त्याग करना—आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है। २६।

✓ ध्यान का वर्णन—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । २७ ।

आ मुहूर्तात् । २८ ।

उत्तम सहनन वाले का एक विषय में अन्त करण की वृत्ति का स्थापन—ध्यान है।

वह मुहूर्त तक अर्थात् अन्तर्मुहूर्त पर्यंत रहता है।

यहाँ ध्यान से सन्नध रखने वाली अधिकारी, स्वरूप और काल का परिमाण ये तीन बातें बतलाई गई हैं।

छ प्रकार के सहनेनों—शारीरिक घटनों में वैज्रर्षभनाराच, अर्ध-वर्ज्रर्षभनाराच और नाराच ये तीन उत्तम गिने जाते हैं। जो उत्तम सहनन वाला होता है वही ध्यान का अधिकारी है, क्योंकि अधिकारी ध्यान करने में आवश्यक मानसिक बल के लिए जितना

१. दिगम्बर ग्रन्थों में तीन उत्तम सहनन वाले को ही ध्यान का अधिकारी माना है, लेकिन भाष्य और उसकी वृत्ति प्रयम के दो सहनन वाले को ध्यान का स्वामी मानने के पक्ष में हैं।

२ इसकी जानकारी के लिए देखो अ० ८, सू० १२।

धारीरिक सब धारिए, उत्तम संभव उक्त तीन सहनन वाले धारी में है धारी के तीन सहनन वाले में नहीं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि मानसिक सब का एक मुख्य आधार धारी ही है, और धारी सब धारीरिक लक्षण पर निर्भर है अतः उत्तम सहनन वाले के सिवाय वृद्ध ध्यान का अधिकारी नहीं है। अतः ही धारीरिक लक्षण कमजोर होगा, मानसिक सब भी उतना ही कम होगा, अतः ही सब अतः ही कम होगा अतः ही स्थिरता भी उतनी ही कम होगी। इसलिये कमजोर धारीरिक लक्षण— अनुत्तम सहनन वाला प्रवृत्त या किसी भी विषय में अतः ही एकप्रकार का सब लक्षण है यह इतनी कम होती है कि उत्तरी गणना ही ध्यान में नहीं हो सकती।

सामान्य रूप से ध्यान में एक ध्यान में वृद्ध, ध्यान में तीव्र ऐसे अनेक विषयों को सम्बन्धन करके प्रवृत्त हुए ध्यानधारा मित्र मित्र दिशाओं में से बढ़ती हुई ध्यान के बीच स्थित दीपकितता की लक्षण— अतः ही होती है। ऐसी ध्यानधारा— विन्ध्य को विशेष प्रकृत के ध्यान धारी के सब विषयों से दूर कर किसी भी एक ही सब विषय में स्थिर रचना अर्थात् ध्यानधारा को अनेक विषयधामिनी बनाने से रोक कर एक विषयधामिनी बना देना ही ध्यान है। ध्यान का यह लक्षण अतः ही— ध्यानधारा में ही संभव है अतः ही ऐसी ध्यान धारणें ध्यान धारणें लक्षण लक्षण होता है।

सर्वज्ञान प्राप्त होने के बाद अर्थात् तेरहवें और सोरहवें गुणधारी में भी ध्यान स्वीकार किया है तभी पर उत्तम लक्षण मित्र प्रकार का है। तेरहवें गुणधारा के अन्त में जब मानसिक धारिक और धारिक धारण के निरोध या कम शुरू होता है तब ध्यान धारिक धारण निरोध के बाद ध्यान धारिक धारण के अस्तित्व के समय में ध्यानधाराप्रतिपाती ध्यान का तीव्र ध्यान धारण माना गया है और सोरहवें गुणधारा की धारणें

अयोगिन की दशा में शैलेशीकरण के समय में समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नाम का चौथा शुद्धध्यान माना है। ये दोनों ध्यान उक्त दशाओं में चित्तव्यापार न होने से छद्मस्थ की तरह एकाग्रचित्तानिरोध रूप तो हैं ही नहीं; अतः उक्त दशाओं में ध्यान को घटाने के लिये सूत्र में कथित प्रसिद्ध अर्थ के उपरान्त ध्यान शब्द का अर्थ विशेष विस्तृत किया गया है; और यह कि केवल कायिक स्थूल व्यापार को रोकने का प्रयत्न भी ध्यान है, और आत्मप्रदेशों की निष्प्रकम्पता भी ध्यान है।

फिर भी ध्यान के बारे में एक प्रश्न रहता है कि तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ से योगनिरोध का क्रम शुरू होता है, तब तक की अवस्था में अर्थात् सर्वज्ञ हो कर जीवन व्यतीत करने की स्थिति में क्या वास्तव में कोई ध्यान होना है? और यदि होता है तो कौनसा होता है? इसका उत्तर दो तरह से मिलता है। १. विहरमाण सर्वज्ञ की दशा में ध्यानान्तरिका कह कर उसमें अध्यानित्व ही मान करके कोई ध्यान स्वीकार नहीं किया गया है। २. सर्वज्ञ दशा में मन, वचन और शरीर के व्यापार सप्तन्धी सुहृद प्रयत्न को ही ध्यान रूप में मान लिया गया है।

उपर्युक्त एक ध्यान ज्यादा से ज्यादा अन्त-काल का परिमाण भ्रूहूर्त तक ही टिक सकता है, उसके बाद उसे टिकाना कठिन है, अतः उसका कालपरिमाण अन्तर्भ्रूहूर्त माना गया है।

कितनेक श्वास-उच्छ्वास को विलकुल रोक रखना ही ध्यान मानते हैं, तथा अन्य कुछ मात्रा से काल की गणना करने को ही ध्यान

१. 'अ, इ' आदि एक एक ह्रस्व स्वर के बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय को एक मात्रा कहते हैं। व्यञ्जन जब स्वरहीन बोल जाया है, तब उसमें अर्धमात्रा जितना समय लगता है। मात्रा या अर्धमात्रा परिमित समय को जान लेने का अभ्यास करके कोई उसी के अनुसार अन्य क्रियाओं के समय का भी माप करने लगे कि अमुक काम में इतनी मात्राएँ हुईं। यही मात्रा से काल की गणना कहलानी है।



मानते हैं। परन्तु जैन परंपरा में इस कथन को स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि उसका अर्थ है कि यदि संपूर्णतया शास-सम्प्राप्त बंद किया जाए तब तो जन्तु में शरीर ही नहीं दिख सकता। इसलिए मन्थ वा मन्थन भी शास का संचार तो व्याप्तवस्था में रहता ही है। इसी प्रकार जब कोई प्राणी से अन्न का माप करेगा तब तो उसका मन गिनती के काम में अनेक क्रियाओं के करने में लगा जाने के कारण एकाम्बु के बहने व्यक्त-सुख ही मानना होगा। वही कारण है कि विषय प्राप्त और उससे अधिक समन तक ज्ञान के दिखने की औकम्यवस्था भी जैन परंपरा को प्राप्त नहीं इसका कारण उसमें यह वक्तव्य है कि अधिक ज्ञाने समन तक ज्ञान पावने से इन्द्रियों के उपसृष्ट का संभव है अतः ज्ञान को अन्तर्मुख से व्याप्त बढ़ाना कठिन है। एक विषय एक अहीयन अथवा समन तक ज्ञान किया—इस कथन का अभिप्राय इतना ही है कि उतने समय तक ज्ञान का प्रवाह चलता रहा अर्थात् कितनी भी एक आसंबन का एकवार ज्ञान करके, फिर उसी आसंबन का कुछ क्वात्पर से या दूसरे ही आसंबन का ज्ञान किया जाय है, और पुनरपि इसी तरह ज्ञाने भी ज्ञान किया जाय तो वह ज्ञानप्रवाह बंद जाता है। वह अन्तर्मुख का काव्यरिमाव अहम्भ के ज्ञान का समस्तता चाहिए। सर्वज्ञ के ज्ञान का काव्यरिमाव तो अधिक भी हो सकता है; क्योंकि मन जपन और शरीर के प्रवृत्तिविरुद्ध सुदृढ प्रयत्न को अधिक समन तक भी सर्वज्ञ संभव कर सकता है।

किस आसंबन पर ज्ञान व्यस्तता है वह आसंबन तेषूच इत्य रूप न हो कर उसका एक देश—कोई एक पदार्थ होता है; क्योंकि इत्य का विस्तार उसके कितनी न कितनी पर्याय द्वारा ही शक्य समता है। २७ २८।

ज्ञान के मेध—

आर्तगैश्रधर्मशुद्धानि । २७ ।

पर मोक्षहेतु । ३० ।

आर्त, रौद्र, धर्म और शूद्र ये ध्यान के चार प्रकार हैं ।

उनमें से अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं ।

उक्त चार ध्यानों में आर्त और रौद्र ये दो ससार के कारण होने से दुर्घ्यान हैं और हेय अर्थात् त्याज्य हैं । धर्म और शूद्र ये दो मोक्ष के कारण होने से मुध्यान हैं और उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य माने गये हैं । २९, ३० ।

आर्तध्यान का निरूपण—

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिमम-  
न्वाहारः । ३१ ।

वेदनायाश्च । ३२ ।

विपरीत मनोज्ञानाम् । ३३ ।

निदान च । ३४ ।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसयतानाम् । ३५ ।

अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए सतत चिन्ता करना प्रथम आर्तध्यान है ।

दुःख के भा पडने पर उसके दूर करने की सतत चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है ।

प्रिय वस्तु के वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है ।

प्राप्त न हुई वस्तु की प्राप्ति के लिए सकल्प करना या सतत चिन्ता करना चौथा आर्तध्यान है ।

वह आर्तध्यान अविरत, देशसयत और प्रमत्त सयत इन चार गुण-  
ध्यानों में ही समाहित है ।

यहाँ आर्तम्भान के भेद और उसके स्वामी इन द्वा शक्तों का निरूपण है। अर्ति का अर्थ है पीडा या दुःख; उत्तम से भी उत्पन्न हो-बद अर्त है। दुःख की उत्पत्ति के मुख्य चार कारण हैं-अनिष्ट वस्तु का संयोग, इष्ट वस्तु का विभोग, प्रतिकूल वेदना और भोग की साक्षता। इन कारणों पर से ही आर्तम्भान के चार प्रकार किये गए हैं। १ जब अनिष्ट वस्तु का संयोग हो, तब तबूत दुःख स व्याकुल हुआ आत्मा उसे दूर करने के लिए अर्थस्य वह वस्तु अपने पास से कब तक दूर हो इसी के लिए उसे सतत चिन्ता किया करता है यही अनिष्टसयोग आर्तम्भान है। २ उक्त वीक्ष्य किरी ३इ वस्तु के खले जाने पर उत्तमी प्राप्ति के निमित्त सतत चिन्ता करना इष्टविभोग-आर्तम्भान है। ३ जैसे ही शारीरिक या मानसिक पीडा होने पर उसे दूर करने की व्याकुलता में चिन्ता करना येमचिन्ता-आर्तम्भान है और ४ भोगों की लालसा की उत्पत्त्या के कारण अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का तीव्र संकल्प निदान आर्तम्भान है।

प्रथम के चार गुणस्वान् देशविरत और प्रमत्तवत् इन कुछ का गुणस्थानों में उक्त प्यान संभव है। इनमें भी श्वन्ती विद्येवद्य है कि प्रमत्तवत् गुणस्वान् में निदान के अन्वया तीन ही आर्तम्भान हो सकते हैं। ११-१५।

### शैवम्भान का निरूपण-

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसुरक्षणेभ्यो रौद्रमभिरतदेक्ष  
भिरतयोः । १६ ।

हिंसा अत्याज, चोरी और विषमरक्षण के लिए सतत चिन्ता-शैवम्भान है यह अभिरत और देशविरत में संभव है।

प्रसूत त्त में शैवम्भान के भेद और उसके स्वामियों का वर्णन है। शैवम्भान के चार भेद उसके कारणों पर से आर्तम्भान की तरह ही

विभाजित किये गए हैं। जिसका चित्त क्रूर व कठोर हो वह रुद्र, और ऐसे आत्मा का ध्यान—रौद्र है। हिंसा करने, छूट चोलने, चोरी करने और प्राप्त विषयों को सभाल कर रखने की वृत्ति में से क्रूरता व कठोरता पैदा होती है, इन्हीं के कारण से जो सतत चिन्ता हुआ करती है वह अनुक्रम से हिंसानुबन्धी, अनृतानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है। इस ध्यान के स्वामी पहले पॉन गुणध्यान वाले होते हैं। ३६।

### धर्मध्यान का निरूपण—

आज्ञाऽप्रायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तमय-  
तस्य ॥ ३७ ॥

उपशान्तक्षीणकपाययोश्च । ३८ ।

आज्ञा, अप्राय, विपाक और संस्थान इन का विचारणा के निमित्त एकाग्र मनोवृत्ति का करना धर्मध्यान है, यह अप्रमत्त संयत के हो सकता है।

वह धर्मध्यान उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानों में भी सम्भव है।

धर्मध्यान के भेद और उसके स्वामियों का यहाँ निर्देश है।

१. वीतराग तथा सर्वज्ञ पुरुष की क्या आज्ञा है? और कैसी होनी चाहिए? इसकी परीक्षा करके वैसी आज्ञा का पता लगाने के लिए मनोयोग

देना—वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। २. दोषों के स्वरूप

योग और उनसे छुटकारा कैसे हो इसके विचारार्थ, मनोयोग देना—

अप्रायविचय धर्मध्यान है। ३. अनुभव में आने वाले विपाकों में से कौन-कौन सा विपाक किस किस धर्म का कारण है —

का अमुक विपाक समझ है इनके विचारार्थ मनोयोग समाना—दिगाक-  
विषय धर्मप्यान है। ४ श्लोक के स्वरूप का विचार करने में मनोयोग  
देना—सत्यानविनव धर्मप्यान है।

धर्मप्यान के स्वामिनों के बारे में श्वेताम्बर और दिगम्बर मतों  
की परंपरा एक ही नहीं है। श्वेताम्बरीय ग्रन्थों के अनुसार उक्त ही  
सूत्रों में निर्दिष्ट सातवें आठवें और बारहवें गुणस्थानों में तथा  
स्वामी इस कथन पर से सूचित आठवें आदि बीस के तीन गुणस्थानों  
में अर्थात् सातवें से केवल बारहवें तक के छहों गुणस्थानों में धर्मप्यान  
संभव है। दिगम्बर परंपरा चौथे से सातवें तक के चार गुणस्थानों में  
ही धर्मप्यान की सम्भावना स्वीकार करती है। उतकी यह दृष्टि है कि  
सम्प्रदाय की श्रेणी के आरम्भ के पूर्व तक ही धर्मप्यान संभव है और  
श्रेणी का आरंभ आठवें गुणस्थान से होने के कारण आठवें आदि में यह  
प्यान किसी प्रकार भी संभव नहीं। १७, १८।

धर्मप्यान का निरूपण—

शुद्धे चाद्य पूर्वविद । १९ ।

पर केशलिनः । ४० ।

पृथक्त्वेकस्थपितर्कस्यस्मक्रियाप्रतिपातिभ्युपरतक्रिया  
निवृत्तीनि । ४१ ।

१ 'पूर्वविदः' यह अंश प्रकृत सूत्र का ही है और इतना सूत्र अस्म  
नहीं, ऐसा माध्य के टीकाकार बतलाते हैं। दिगम्बर परंपरा में भी इस  
अंश को सूत्र रूप में अलग ज्ञान नहीं दिया गया। अतः यहाँ भी बैठे ही  
रहता है। फिर भी माध्य पर से स्पष्ट माध्यम होता है कि 'पूर्वविदः' यह  
अलग ही सूत्र है।

तत्र्येककाययोगायोगानाम् । ४२ ।

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे । ४३ ।

अविचारं द्वितीयम् । ४४ ।

वितर्कं श्रुतम् । ४५ ।

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसक्रान्ति । ४६ ।

उपशान्तमोह और क्षीणमोह में पहले के दो शुद्ध्यान सम्भव हैं । पहले दोनों शुद्ध्यान पूर्वधर के होते हैं ।

बाद के दो केवली के होते हैं ।

पृथक्त्ववितर्क, एकचवितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रिया-निवृत्ति ये चार शुद्ध्यान हैं ।

वह—शुद्ध्यान अनुक्रम से तीन योगवाले, किसी एक योग वाले, काययोग वाले और योगरहित को होता है ।

पहले के दो, एक आश्रयवाले एव सवितर्क होते हैं ।

इनमें से पहला सविचार है, दूसरा अविचार है ।

वितर्क अर्थात् श्रुत ।

विचार अर्थात् अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति ।

प्रस्तुत वर्णन में शुद्ध्यान से सन्नघ रखने वाली स्वामी, भेद और स्वरूप—ये तीन बातें हैं ।

स्वामी का कथन यहाँ दो प्रकार से किया गया है; एक तो गुणस्थान की दृष्टि से और दूसरा योग की दृष्टि से ।

१ प्रस्तुत स्थल में 'अविचार' ऐसा रूप ही अधिकतर देखा जाता है, तो भी यहाँ सूत्र और विवेचन में ह्रस्व 'वि' का प्रयोग करके एकता रखी गई है ।

गुणस्थान की दृष्टि से सुद्रव्यान के चार भेदों में से पहले के दो भेदों के स्वामी स्वारहर्षे और बारहर्षे गुणस्थानवाले ही होते हैं जो कि पूर्वपर भी हैं। पूर्वपर इत विशेषण से सामान्यतया यह समझना चाहिए कि जो पूर्वपर न हो पर स्वारह आदि भर्षों का धारक हो उसके तो स्वारहर्षे-बारहर्षे गुणस्थान में सुद्र न होकर अमप्यान ही होगा। इत सामान्य विधान का एक अपवाद भी है और वह यह कि पूर्वपर न हो ऐसी आत्माओं—जैसे मापद्रुम मन्त्री आदि के भी सुद्रव्यान संभव है। सुद्रव्यान क वाणी के दो भर्षों के स्वामी विद्व केवर्षी अर्थात् जेठर्षे और बारहर्षे गुणस्थान वाले ही होते हैं।

श्रेय की दृष्टि से तीन वाग वाक्य ही चार में से पहले सुद्रव्या का स्वामी होता है। उन वाक्य और वाक्य में से किसी भी एक ही श्रेय वाक्य सुद्रव्यान के दूसरे भेद का स्वामी होता है। इसी प्रकार चौथे भेद का स्वामी सिक काययोग शास्त्र और चौथे भेद का स्वामी एक मात्र अयोगी ही होता है।

सुद्रव्यान के भी अन्व प्यानों की तरह चार भेद किय गये हैं जो कि इतके चार पाव भी कह सकते हैं। उनके चार नाम इस तरह हैं—१ शृणुत्ववितर्क-निश्चार २ एवत्यक्तिक-निर्दिष्टान मद्र ३ गृहमन्त्रिणाप्रतिपार्त्ता ४ व्युपरतकिवा निवृत्ति—समुत्पन्न किनागिहृति।

प्रथम के दो सुद्रव्याओं का भाव्य एक दे भवान् टा रोगों का भारभ पूषतानधारी आत्मा द्वारा होता है। इसी से ये दोनों ज्ञान पितर्क—अनुज्ञा लभित हैं। दोनों में वितर्क का लक्ष्य होने पर भी दूसरा देवत्व भी है और वह यह कि पहले में शृणुत्व—भेद है जब कि दूसरे में एवत्य—सभेद है; इसी तरह पहले में निश्चार—अन्व दे जब कि दूसरे

में विचार नहीं है। इसी कारण से इन दोनों ध्यानों के नाम क्रमशः पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्क अविचार ऐसे रखे गए हैं।

जब कोई ध्यान करने वाला पूर्वघर हो, तब पूर्वगत श्रुत के आधार पर, और जब पूर्वघर न हो तब अपने में सभावित श्रुत के आधार पर किसी भी परमाणु आदि जड़ या आत्मरूप, पृथक्त्ववितर्क-सविचार चेतन—ऐसे एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक आदि विविध नयों के द्वारा भेदप्रधान चिन्तन करता है और यथासंभव श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य रूप अर्थ पर से दूसरे द्रव्य रूप अर्थ पर या एक द्रव्य रूप अर्थ पर से पर्याय रूप अन्य अर्थ पर अथवा एक पर्याय रूप अर्थ पर से अन्य पर्याय रूप अर्थ पर या एक पर्याय रूप अर्थ पर से अन्य द्रव्य रूप अर्थ पर चिन्तन के लिए प्रवृत्त होता है, इसी तरह अर्थ पर से शब्द पर और शब्द पर से अर्थ पर चिन्तनार्थ प्रवृत्ति करता है, तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोड़कर अन्य योग का अवलंबन ग्रहण करता है तब यह ध्यान पृथक्त्ववितर्कसविचार कहलाता है। कारण यह है कि इसमें वितर्क—श्रुतज्ञान का प्रयत्न लेकर किसी भी एक द्रव्य में उसके पर्यायों का भेद—पृथक्त्ववितर्क विविध दृष्टियों से चिन्तन किया जाता है और श्रुतज्ञान को अवलंबित करके एक अर्थ पर, एक शब्द पर से दूसरे शब्द पर, अर्थ पर से शब्द पर, शब्द पर से अर्थ पर तथा एक योग पर से दूसरे योग पर सक्रम—संचार करता पढ़ता है।

उक्त कथा के विपरीत जब कोई ध्यान करने वाला अपने में सभावित श्रुत के आधार पर किसी भी एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर एकत्व—अभेदप्रधान चिन्तन करता है और मन आदि तीन



एकत्ववितर्क-  
अविचार

योगों में से किसी भी एक ही योग पर अटल रह कर  
शब्द और अर्थ के निन्ता एवं भिन्न-भिन्न योगों में

वितर्क-अविचार कहलाता है। कारण यह कि इसमें वितर्क—भ्रुतज्ञान  
का अवलंबन होने पर भी एकत्व—अमेद का प्रधानतया चिन्तन रहता  
है और अर्थ शब्द अथवा योगों का परिवर्तन नहीं होता।

उक्त दोनों में से पहले मेदप्रधान का अभ्यास दृढ हो जाने के बाद  
ही दूसरे अमेदप्रधान ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। जैसे समस्त  
शरीर में व्याप्त सर्पादि के अहर को मन्त्र आदि उपायों से सिर्फ एक की  
रूप में व्यक्त स्थापित किया जाता है वैसे ही सारे जगत में भिन्न-भिन्न  
विषयों में अस्विरूप से मूढकृते हुए मन को ध्यान के द्वारा किसी भी एक  
विषय पर अग्रसर स्थिर किया जाता है। स्थिरता के दृढ हो जाने पर जैसे  
बहुत से ईषन के निकाल देने और बच हुए बोध से ईषन के दुस्मा  
देने से अपना सभी ईषन के द्वारा देने से अग्नि कुछ जाती है वैसे ही  
उपर्युक्त क्रम से एक विषय पर स्थिरता प्राप्त होते ही अन्त में मन भी  
सर्वथा शान्त हो जाता है। अतएव उसकी शंभुलता दृढ़कर वह निश्चिन्त  
बन जाता है और परिणाम यह होता है कि ज्ञान के लक्ष्य आचरणों के  
विलय हो जाने पर लक्ष्यता प्रकट होती है।

अब सबसे मगधान योगनियोज के क्रम में अन्ततः सूक्ष्मशरीर योग

१ यह क्रम ऐसे गाना जाता है—सूक्ष्मकाय भाग के आधर से बचन  
और मन के सूक्ष्म योग को सूक्ष्म बनाना जाता है, उसके बाद बचन और  
मन - सूक्ष्म योग को अवलंबित करके शरीर का सूक्ष्म योग सूक्ष्म बनाना  
जाता है। फिर शरीर के सूक्ष्म योग को अवलंबित करके बचन और मन के  
सूक्ष्म योग का नियोज किया जाता है और अन्त में सूक्ष्मशरीर योग का  
भी नियोज किया जाता है।

का आश्रय लेकर दूसरे तार्का के योगों को रोक देते हैं तब वह सूक्ष्म-  
 क्रियाप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। कारण यह कि उसमें  
 सूक्ष्मत्रियाप्रति-  
 पाती ध्यान  
 ध्यास उच्छ्वास के समान सूक्ष्मक्रिया ही बाकी रह जाती है,  
 और उसमें से पतन होना भी सम्भव नहीं है।

जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी वन्द हो जाती  
 हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकप हो जाते हैं तब वह समुच्छिन्नक्रिया-  
 निवृत्ति ध्यान कहलाता है। कारण यह कि इसमें  
 समुच्छिन्नक्रिया-  
 निवृत्ति ध्यान  
 स्थूल या सूक्ष्म किसी किस्म की भी मानसिक, वाचिक,  
 कायिक क्रिया ही नहीं होती और वह स्थिति बाद  
 में जाती भी नहीं। इस चतुर्थ ध्यान के प्रभाव से सर्व आन्तव और  
 बन्ध का निरोध होकर शेष सर्वकर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता  
 है। तीसरे और चौथे शुद्ध ध्यान में किसी किस्म के भी श्रुतजान का  
 आलम्बन नहीं होता, अतः वे दोनों अनालम्बन भी कहलाते हैं। १९-४६।

सम्यग्दृष्टियों की कर्मनिर्जरा का तरतमभाव—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षप-  
 कोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशो-  
 ऽसंख्येयगुणनिर्जरा । ४७ ।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धवियोजक, दर्शनमोहक्षपक,  
 उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये दस अनुक्रम से  
 असंख्येयगुण निर्जरा वाले होते हैं।

सर्व कर्मबन्धनों का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है, और उनका  
 अशत क्षय निर्जरा है। इस प्रकार दोनों के लक्षणों पर विचार करने  
 से स्पष्ट हो जाता है कि निर्जरा मोक्ष का पर्वगामी शक्य है।

में मोक्षद्वारा का प्रतिपादन मुख्य होने से उठती विष्णुकुल अहमृत निर्बल का विचार कदा भी नहीं उपयुक्त है। इस लिए यद्यपि सतार्थ ब्रह्म आत्म्याओं में कर्मनिर्बल का कम पात्र रहता है तो भी यहाँ किर्त विविध आत्माओं की ही कर्मनिर्बल के कम का विचार किया गया है। वे विविध आत्म्याएँ अर्थात् माक्षाभिन्नात्म आत्माएँ हैं। अतः ही मोक्षानि-मुक्तता सम्पत्ति की प्राप्ति से ही शुरू हो जाती है और वह अन्त-अवस्था में पूरी हो जाती है। अहमृति की प्राप्ति से लेकर सर्वज्ञता तक मोक्षानिमुक्तता के इस विभाग किये गए हैं इनमें पूर्व-पूर्व की अनेक उत्तर-उत्तर विभाग में परिणाम की विद्युति लक्षित होती है। परिणाम की विद्युति अतः ही अधिक होगी उठती ही कर्मनिर्बल की विद्युति होती है। अतः प्रथम-प्रथम की अवस्था में अतः ही कर्मनिर्बल होती है उठती अनेक उत्तर-उत्तर की अवस्था में परिणाम विद्युति की विद्युति के कारण कर्मनिर्बल की अहमृतात्मनी बढ़ती ही जाती है इस प्रकार बढ़ते बढ़ते अन्त में सर्वज्ञ-अवस्था में निर्बल का प्रमाण लक्षित अधिक हो जाता है। कर्मनिर्बल के प्रस्तुत लक्षणमात्र में लक्ष्य कम निर्बल सम्पत्ति की और लक्ष्य अधिक लक्ष्य की होती है। इन इस अवस्थाओं का स्वल्प नीचे लिखे अनुसार है—

१ अन्त अवस्था में अहमृतात्म इत कर लक्षण का अतिरिक्त होता है—वह सम्पत्ति। २ अन्त में अहमृतात्मनाश्रय कथा के लक्षो-पक्ष से अहमृतात्म में विद्युति—स्वाम प्रकट होता है—वह भाव। ३ अन्त में अहमृतात्मनाश्रय कथा के लक्षोपक्ष से लक्षोपक्ष में विद्युति प्रकट होती है—यह विद्युति। ४ अन्त में अहमृतात्मनाश्रय कथा के लक्ष्य करने योग्य विद्युति प्रकट होती है—वह अहमृतात्मनाश्रय। ५ अन्त में अहमृतात्म की लक्ष्य करने योग्य विद्युति प्रकट होती है—वह अहमृतात्मनाश्रय।

- जिस अवस्था में मोह की शेष प्रकृतियों का उपशम चालू हो वह उपशमक है । ७ जिसमें उपशम पूर्ण हो चुका हो वह उपशान्तमोह है । ८ जिसमें मोह की शेष प्रकृतियों का क्षय चालू हो वह क्षपक है । ९ जिसमें क्षय पूर्ण सिद्ध हो चुका हो वह क्षीणमोह है । १०. जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो चुकी हो वह जिन है ।

### निर्ग्रन्थ के भेद—

## पुलाक, वक्रुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक, पाँच प्रकार के निर्ग्रन्था । ४८ ।

पुलाक, वक्रुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ हैं ।

निर्ग्रन्थ शब्द का तात्त्विक—निश्चयनय सिद्ध अर्थ अलग है, और व्यावहारिक—साप्रदायिक अर्थ अलग है । इन दोनों अर्थों के एकीकरण को ही यहाँ निर्ग्रन्थ सामान्य मानकर उसी के पाँच वर्ग करके पाँच भेद दरसाये गए हैं । निर्ग्रन्थ वह जिसमें रागद्वेष की गँठ बिल्कुल ही न रहे । यही निर्ग्रन्थ शब्द का तात्त्विक अर्थ है । और जो अपूर्ण होने पर भी उक्त तात्त्विक निर्ग्रन्थता का उम्मीदवार हो अर्थात् भाविष्य में वैसी स्थिति प्राप्त करना चाहता हो वह व्यावहारिक निर्ग्रन्थ है । पाँच भेदों में से प्रथम तीन व्यावहारिक और बाकी दो तात्त्विक हैं । इन पाँच भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

१ मूलगुण तथा उत्तरगुण-में परिपूर्णता प्राप्त न करते भी वीतराग प्रणीत आगम से कभी अस्थिर न होनेवाला पुलाक निर्ग्रन्थ है । २. जो शरीर और उपकरण के सस्कारों का अनुसरण करता हो, सिद्धि तथा कीर्ति चाहता हो, सुखशील हो, अविविक्त—ससग परिवार वाला और छेद—चारित्र पर्याय की हानि तथा शत्रुल अतिचार दोषों से युक्त हो वह वक्रुश है । ३. कुशील के दो भेदों में से जो इन्द्रियों का वशवर्ती

होने से किसी तरह की उत्तरगुणों की विद्यमाना करने के साथ प्रवृत्ति करता हो वह प्रतिषेधना कुशील है और जो तीन कषाय के कमी तथा न होकर किंचि मन्द कषाय के कषाधिक बशीभूत ही काय वह कषाय कुशील है । ४ जिसमें सर्वज्ञता न होने पर भी रागद्वेष का अत्यन्त अभाव हो और अमृतमुहूर्त मिलने समय के बाद ही सर्वज्ञता प्रकट होनेवाली हो वह निर्मन्थ है । ५ जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो चुकी हो वह स्नातक है । ४८।

आठ बाणों द्वारा निर्मन्थों की विशेष विचारणा—

सुपमभुतप्रतिषेधनातीर्षलिङ्गसेष्योपपातस्नानविकल्पत  
साध्या ॥ ४९ ॥

सुपम भुत प्रतिषेधना तीर्ष लिङ्ग सेष्या उपपात और स्नान के भेद से ये निर्मन्थ विचारने योग्य हैं ।

पहले जिन पांच निर्मन्थों का वर्णन किया गया है उनका विशेष स्वल्प बानने के लिए यहाँ आठ बाणों को लेकर हरएक का पांच निर्मन्थों के साथ फिटाना-फिटाना संबंध है वही विचार किया गया है; जैसे—

तामायिक आदि पांच संयमों में से तामायिक और क्लोपस्ना-पनीय—इन दो संयमों में पुष्पक बहुष और प्रतिषेधनाकुशील के तीन

निर्मन्थ होते हैं; कषायकुशील उक्त दो और परिहार विच्छिन्नि १ संयम तथा सूक्ष्म संपराय—इन चार संयमों में वर्तमान होता है । निर्मन्थ और स्नातक ये दोनों एक मास म्याकनात संयममाले होते हैं ।

पुष्पक बहुष और प्रतिषेधनाकुशील इन तीनों का उत्कृष्ट कुतपूर्व दद्यपूर्व और कषायकुशील एवं निर्मन्थ का उत्कृष्ट भुत चतुदश २ भुत पूर्व होता है; अगम्य भूत पुष्पक का आधार वस्तु और बहुष

१ इन मास का एक गौरे पूर्व में नीगरा प्रकरण है वही यहाँ केना चाहिए ।

कुशील एव निर्ग्रन्थ का अष्ट प्रवचन माता (पाँच समिति और तीन गुप्ति) प्रमाण होता है; स्नातक सर्वश होने से श्रुत रहित ही होता है ।

पुलाक पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण इन छहों में से किसी भी व्रत का दूसरे के दबाव या बलात्कार के कारण खंडन करने वाला होता है । कितने ही आचार्य पुलाक को चतुर्थ व्रत का ही

३ प्रतिसेवना (विराधना) विराधक मानते हैं । बकुश दो प्रकार के होते हैं— उपकरणबकुश और शरीरबकुश । जो उपकरण में आसक्त होने के कारण नाना तरह के कीमती और अनेक विशेषता युक्त उपकरण चाहता है तथा सग्रह करता है और नित्य ही उनका संस्कार— सजावट करता रहता है वह उपकरणबकुश है । जो शरीर में आसक्त होने के कारण उसकी शोभा के निमित्त उसका संस्कार करता रहता है वह शरीरबकुश है । प्रतिसेवनाकुशील भूलगुणों की विराधना न करके उत्तरगुणों की कुछ विराधना करता है । कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इनके तो विराधना होती ही नहीं ।

पाँचों निर्ग्रन्थ सभी तीर्थियों के शासन में होते हैं । किन्हीं का मानना है कि पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये ४ तीर्थ (शासन) तीन तीर्थ में नित्य होते हैं और बाकी के कषायकुशील आदि तीर्थ में भी होते हैं और अतीर्थ में भी ।

लिङ्ग (चिह्न) द्रव्य और भाव ऐसे दो प्रकार का होता है । चारिभ्रगुण भावलिङ्ग है और विशिष्ट वेश आदि बाह्यस्वरूप ५ लिङ्ग द्रव्यलिङ्ग है । पाँचों निर्ग्रन्थों में भावलिङ्ग अवश्य होता है; परन्तु द्रव्यलिङ्ग तो सब में हो भी सकता है और नहीं भी ।

पुलाक में पिछली तेजः, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ होती हैं । बकुश और प्रतिसेवनाकुशील में छहों लेश्याएँ होती हैं । कषायकुशील

६ संख्या यदि परिहारविद्युद्धि पारिज बाध हो तब तब वेग आदि ठक र्जन केपाएँ होती हैं और यदि सूक्ष्म उपराय पारिज बाध हो तब एक द्युद्ध ही होती है। निम्न्य और स्नातक में एक छद्म ही होती है। पर स्नातक में जो अयोगी होता है वह अक्षेप्य ही होता है।

पुस्तक आदि चार निम्न्यों का अपर्य उपपाठ लौघर्मकस्य में पत्नोत्पन्नपुस्तक स्थिति वाले क्षेत्रों में होता है। पुस्तक का उपपाठ महत्तरकस्य में शीत सागरोपम की स्थिति में होता है।

७ उपपाठ (उत्पादितान) बहुधा आर प्रतिवेचना कुशील का उपपाठ आर्य और अत्युत् कस्य में शीत सागरोपम की स्थिति में होता है। कदाबहुधा और निर्मय्य का उपपाठ लौघर्मविधि विनान में शीत सागरोपम की स्थिति में होता है। स्नातक का तो निर्वाय है।

क्याय का निमह तथा योग का निमह ही संवम है। संवम समी का लक्ष्य एक समान नहीं हो सकता क्याय और योग के निमह निमह तारतम्य के अनुसार ही संवम में भी तरतम

८ रवान (संवम के रवान-प्रकार) मान होता है। कम से कम जो निमह संवमकोटि में गिना जाता है, वहाँ से ऊपर सपूय निमहस्य संवम तक निमह की लीपता, महता की विविधता के कारण संवम क अक्षेपात्प्रकार होते हैं। वे लघु प्रकार (मेह) लपमत्त्वान कस्यते हैं। इनमें महोत्क क्याय का लक्षण ही लक्षण हो, वहाँ तक के लपमत्त्वान क्यायनिमित्तक और उनके बाद के विरु. योगनिमित्तक समझने चाहिए। माय के लक्ष्य विशेष हा जागे पर भी विधिति प्राप्त होती है उसे अक्षेप्य लपमत्त्वान समझना चाहिए। जैसे जैसे पूर-पूर्ववर्ती संवमरवा. होगा जैसे जैसे

१ दिग्बर द्रव्य चार केरवाओं का कचन करते हैं।

० दिग्बर द्रव्य ही सागरीयम की स्थिति का उद्देश्य करत है।

कापायिक परिणति विशेष और जैसे जैसे ऊपर का संयमस्थान होगा, वैसे वैसे कापायिक भाव भी कम होगा, इसीलिए ऊपर-ऊपर के संयमस्थानों का मतलब अधिक से अधिक विशुद्धि वाले स्थान समझना चाहिए। और भिन्न योग निमित्तक संयमस्थानों में निष्कणायत्व रूप विशुद्धि समान होने पर भी जैसे-जैसे योगनिरोध न्यूनाधिक होता है, वैसे-वैसे स्थिरता भी न्यूनाधिक होती है, योगनिरोध की विविधता के कारण स्थिरता भी विविध प्रकार की होती है अर्थात् केवल योगनिमित्तक संयमस्थान भी असंख्यात प्रकार के बनते हैं। अन्तिम संयमस्थान जिसमें परम प्रकृष्ट विशुद्धि और परम प्रकृष्ट स्थिरता होती है—ऐसा तो एक ही हो सकता है।

उक्त प्रकार के संयमस्थानों में से सत्रमे जघन्यस्थान पुलाक और कषायकुशील के होते हैं। ये दोनों असंख्यात संयमस्थानों तक साथ ही बढ़ते जाते हैं, उसके बाद पुलाक रुक जाता है, परन्तु कषायकुशील थकेला ही उसके बाद भी असंख्यात स्थानों तक चढ़ता जाता है। तत्पश्चात् असंख्यात संयमस्थानों तक कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश एक साथ बढ़ते जाते हैं, उसके बाद बकुश रुक जाता है, उसके बाद असंख्यात स्थानों तक चढ़ करके प्रतिसेवनाकुशील भी रुक जाता है और तत्पश्चात् असंख्यात स्थानों तक चढ़ कर कषायकुशील रुक जाता है। तदनन्तर अषषाय अर्थात् केवल योगनिमित्तक संयमस्थान आते हैं, जिन्हें निर्ग्रन्थ प्राप्त करता है, वह भी उसी प्रकार असंख्यात स्थानों का सेवन करके रुक जाता है। सबके बाद एक ही अन्तिम सर्वोपरि, विशुद्ध और स्थिर संयम आता है, जिसका सेवन करके स्नातक निर्वाण प्राप्त करता है। उक्त स्थान असंख्यात होने पर भी उनमें से प्रत्येक में पूर्ण की अपेक्षा बाद के स्थान की श्रद्धि अनन्तानन्त गुणी मानी गई है। ४९।



## दसवाँ अध्याय

नौवें अध्याय में संहर और निर्हर का निरूपण हो चुका था अन्तिम मोक्षतरंग का निरूपण ही इस अध्याय में किया गया है।

केवल्य की उत्पत्ति के हेतु—

मोहध्यायाच्छानदर्शनावरणान्तरायस्रयाच्च केवलम् । १ ।

मोह के छय से और ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय क छय से केवल्य प्रकट होता है।

मोक्ष प्राप्त होने से पहले केवल्य-उपयोग (सबकत्व सर्वशक्ति) की उत्पत्ति कैलाशासन में अनिवार्य मानी गई है। इसीलिए मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते समय केवल्य-उपयोग किस कारणात् से उद्भूत होता है यह बात नहीं पहले ही बतलाने की गई है। प्रतिबन्धक कर्म के नाश हो जाने से वह सब अंतरा के निराकरण हो जाने के कारण केवल्य-उपयोग का आविर्भाव होता है। वे प्रतिबन्धक कर्म पार हैं किन्तु वे प्रथम मूढ़ ही छीप होना है और वहमन्तर अन्तर्गृह्यत बाद ही काशी के ज्ञानावरणात्, दृष्टान्तरणीय और अन्तराय इन तीनों कर्मों का छय होता है। मोह सबसे अधिक बलवान है अतः उसके नाश के बाद ही अन्य कर्मों का नाश घटव होता है। केवल्य-उपयोग का अस्तकव दे सामान्य और विशेष-दोनों प्रकार का संपूर्ण बीच। वही स्थिति सबकत्व और सर्वशक्ति की है। २।

कर्म के आरब्धितक छय के कारण और नाश का स्वरूप—

ब-पहस्वमावनिर्हराभ्याम् । ७ ।

कृत्स्नकर्मस्रयो मोक्षः । ३ ।

बन्धहेतुओं के अभाव और निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है ।

✓ सपूर्ण कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है ।

एक बार बँधा हुआ कर्म कभी न कभी तो क्षय को प्राप्त होता ही है, पर वैसे कर्म का बँधन फिर संभव हो अथवा उस किस्म का कोई कर्म अभी शेष हो तो ऐसी स्थिति में कर्म का आत्यन्तिक क्षय हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । आत्यन्तिक क्षय का अर्थ है पूर्ववद् कर्म का और नवीन कर्म के बँधने की योग्यता का अभाव । मोक्ष की स्थिति कर्म के आत्यन्तिक क्षय के बिना कदापि संभव नहीं, इसीलिए ऐसे आत्यन्तिक क्षय के कारण यहाँ बतलाए हैं । वे दो हैं बन्धहेतुओं का अभाव और निर्जरा । बन्धहेतुओं का अभाव हो जाने से नवीनकर्म बँधने से रुक जाते हैं, और पहले बँधे हुए कर्मों का निर्जरा से अभाव होता है । बन्धहेतु मिथ्यादर्शन आदि पाँच हैं, जिनका कथन पहले किया जा चुका है । उनका यथायोग्य स्वर द्वारा अभाव हो सकता है और तप, ध्यान आदि द्वारा निर्जरा भी सिद्ध होती है ।

मोहनीय आदि पूर्वोक्त चार कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से वातरागत्व और सर्वशत्रुत्व प्रकट होते हैं, ऐसा होने पर भी उस समय वेदनीय आदि चार कर्म ब्रह्म ही विरल रूप में शेष रहते हैं, जिससे मोक्ष नहीं होता । इसीलिए तो इन शेष रहे हुए विरल कर्मों का क्षय भी आवश्यक है । जब यह क्षय होता है, तभी सपूर्ण कर्मों का अभाव होकर जन्म-मरण का चक्र बन्द पड जाता है । यही मोक्ष है । २, ३ ।

अन्य कारणों का कथन—

औपशमिकादिभ्रमव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः । ४ ।

ध्यायिकसम्बन्ध, ध्यायिकज्ञान ध्यायिकदखान और सिद्धत्व के सिवाय औपशमिक आदि भावों तथा मन्वत्त्व के अभाव से मोक्ष प्रकट होता है।

पौष्टिक कर्म के आस्थान्तिक नाश की तरह उद्योग कर्म के साथ सापेक्ष ऐसे कितने ही भावों का नाश भी मोक्षप्राप्ति के परम आवश्यक होता है। इसीसे यहाँ वैश्व भावों के नाश का मोक्ष के कारण स्पष्ट है। ऐसे भाव मुख्य चार हैं औपशमिक, सायोपशमिक मौदरिक और पारिणामिक। औपशमिक आदि परके तीन प्रकार के तो हर एक भाव सर्वथा नष्ट होते ही हैं, पर पारिणामिकभाव के बारे में वह एकान्त नहीं है। पारिणामिक भावों में से सिर्फ मन्वत्त्व का ही नाश होता है, दूसरों का नहीं। क्योंकि जीवत्व अस्तित्व आदि दूसरे सभी पारिणामिक भाव मोक्ष अवस्था में भी रहते हैं। ध्यायिकभाव कर्मसापेक्ष है वहीं, फिर भी उक्त अभाव मोक्ष में नहीं होता। यही कलकलने के क्रिये रूप में ध्यायिक सम्यक्त्व आदि भावों के अतिरिक्त दूसरे भावों के नाश को मोक्ष का अनिवार्य कष्ट है। यद्यपि रूप में ध्यायिकवीर्य ध्यायिकपारिणामिक और ध्यायिकबुद्धि आदि भावों का वर्जन ध्यायिकसम्बन्ध आदि की तरह नहीं किन्तु तो भी सिद्धत्व के अर्थ में इन सभी भावों का समावेश कर देने के कारण इन भावों का वर्जन भी समस्त केना चाहिए। ४।

मुक्तवीर्य का मोक्ष के बाद ही प्राप्त होने का अर्थ—

तदनन्तरमूर्ध्ने गच्छत्या लोकान्तात् । ५ ।

संपूर्ण कर्मों का क्षय होने के बाद प्राप्त ही मुक्तवीर्य लोक का अन्त तक केना जाता है। ५।

संपूर्ण कर्म और तदाश्रित औपशमिक आदि भावों का नाश होते ही प्राप्त एक साथ एक समय में तीन कर्म होते हैं। शरीर का नियोग उद्भयमान गति और लोकान्त-प्राप्ति। ५।

सिन्धुमान गति के हेतु—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च  
तद्गति । ६ ।

पूर्व प्रयोग से, सग के अभाव से, बन्धन टूटने से और वैसी गति के परिणाम से मुक्तजीव ऊँचा जाता है ।

जीव कर्मों से छूटते ही फौरन गति करता है, स्थिर नहीं रहता । गति भी ऊँची और वह भी लोक के अन्त तक ही होती है, उसके आगे नहीं—ऐसी शास्त्रीय मान्यता है । यहाँ प्रश्न उठता है कि कर्म या शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों की मदद के बिना अमूर्त जीव गति कैसे कर सकता है ? और करता है तो ऊर्ध्वगति ही क्यों, अधोगति या तिरछी गति क्यों नहीं ? इन प्रश्नों के उत्तर यहाँ दिये गए हैं ।

जीवद्रव्य स्वभाव से ही पुद्गलद्रव्य की तरह गतिशील है । दोनों में अन्तर इतना ही है कि पुद्गल स्वभाव से अधोगतिशील और जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगतिशील है । जब जीव गति न करे अथवा नीची या तिरछी दिशा में गति करे, तब ऐसा समझना चाहिए कि वह अन्य प्रतिबन्धक द्रव्य के सग के कारण या के बन्धन के कारण ही ऐसा होता है । ऐसा द्रव्य कर्म है । जब कर्मसग छूटा और उसके बन्धन टूटे तब कोई प्रतिबन्धक तो रहता ही नहीं, अतः मुक्तजीव को अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करने का प्रसंग मिलता है । इस प्रसंग में पूर्वप्रयोग निमित्त बनता है अर्थात् उसीके निमित्त से मुक्तजीव ऊर्ध्वगति करता है । पूर्वप्रयोग का मतलब है पूर्वबद्ध कर्म के छूट जाने के बाद भी उससे प्राप्त वेग-आवेश । जैसे कुम्हार से ढंढे द्वारा घूमा हुआ चाक ढंढे और हाथ के हटा लेने के बाद भी पहले मिले हुए वेग के बल से वेगानुसार घूमता रहता है, वैसे ही कर्मयुक्त जीव भी पूर्व कर्म से प्राप्त आवेश के कारण अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति ही

करता है। इसका उर्ध्वगति स्रोत के अन्त से आगे नहीं जाती इसका कारण यह है कि वहाँ प्रमास्तिकाय का अभाव ही है। प्रतिबन्धक कर्म-द्रव्य का दृष्ट जाने से जीव का उर्ध्वगति केते मुक्त हो जाती है। इस बात को समझाने के लिए तुम्हें का और एरंड के बीज का उदाहरण दिया गया है। अनेक सपों से युक्त तुम्हा पानी में पड़ा रहता है परन्तु सपों के हटते ही वह स्वभाव से पानी के ऊपर तैर आता है। ओछ-छली में रहा हुआ एरंड बीज पानी के दूरते ही ऊटक कर ऊपर ऊठता है इसी तरह कर्म बन्धन का दूर होते ही जीव भी उर्ध्वगामी बनता है। ६।

बारह बाँटों द्वारा सिद्धों की विशेष विचारणा—

क्षेत्रकालमसिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगा  
हना सरसस्थास्यबहुत्वत साध्याः। ७।

क्षेत्र काळ गति किङ्ग तीर्थ चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित ज्ञान अवगाहना अन्तर संख्या अल्प-बहुत्व इन बारह बाँटों द्वारा सिद्ध सिद्धों का विचार करना चाहिये।

सिद्ध सिद्धों का स्वल्प विशेष रूप से जानने के लिए वहाँ बारह बाँटों का निर्देश किया गया है। इनमें से प्रत्येक बात के आचार पर सिद्धों के स्वल्प का विचार करना है। कथपि सिद्ध हुए सभी जीवों में गति किङ्ग आदि तात्त्विक मावों के न रहने से कोई ज्ञात प्रकार का भेद नहीं रहता; फिर भी भूतलक्ष्य की दृष्टि से उनमें जो भेद की कल्पना और विचार कर सकते हैं। वहाँ क्षेत्र आदि विन्न बारह बाँटों को लेकर विचारणा करनी है उनमें से प्रत्येक के बारे में वचार्थम्ब सूत्र और वर्तमान दृष्टि का ज्ञान करके ही विचारणा करनी चाहिये। जो विन्न अनुसार है—

वर्तमान भाव की दृष्टि से सभी के सिद्ध होने का स्थान एक ही सिद्धक्षेत्र अर्थात् आत्मप्रदेश या आकाशप्रदेश है। भूत भाव की दृष्टि से इनके सिद्ध होने का स्थान एक नहीं है, क्योंकि जन्म दृष्टि से पद्रह में से भिन्न भिन्न कर्मभूमियों में से कितनेक सिद्ध होते हैं और महरण दृष्टि से समग्र मानुषक्षेत्र में से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

१ क्षेत्र-स्थान  
व जगद्

वर्तमान दृष्टि में सिद्ध होने का कोई लौकिक कालचक्र नहीं, क्योंकि एक ही समय में सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से जन्म का अपेक्षा से अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी तथा अनवसर्पिणी, अनुत्सर्पिणी में जन्मे हुए सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार महरण की अपेक्षा से उक्त सभी काल में सिद्ध होते हैं।

२ काल—अवसर्पिणी  
आदि लौकिक काल

वर्तमान दृष्टि से सिद्ध गति में ही सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से यदि अन्तिम भाव को लेकर विचार करें तो मनुष्यगति में से और अन्तिम से पहले के भाव को लेकर विचार करें, तब तो चारों गतियों में से सिद्ध हो सकते हैं।

३ गति

लिङ्ग वेद और चिह्न को कहते हैं। पहले अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अवेद ही सिद्ध होते हैं। भूतदृष्टि से स्त्री, पुरुष, नपुंसक इन तीनों वेदों में से सिद्ध बन सकते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अलिङ्ग ही सिद्ध होते हैं, भूतदृष्टि से यदि भावलिङ्ग अर्थात् आन्तरिक योग्यता को लेकर विचार करें तो स्वलिङ्ग—त्रीतरागता से ही सिद्ध होते हैं, और द्रव्यलिङ्ग को लेकर विचार करें तो त्वलिङ्ग—जैनलिङ्ग, परलिङ्ग—जैनेतर पन्थ का लिङ्ग और गृहस्थलिङ्ग इन तीनों लिङ्गों में सिद्ध हो सकते हैं।

४ लिङ्ग

कोई तार्किक रूप में और कोई अतीथक्य रूप में सिद्ध होते हैं।  
 ५ तीर्थ अतीर्थकर में कोई तीर्थ प्राप्त हो तब और कोई तीर्थ प्राप्त  
 न हो तब भी सिद्ध होते हैं।

वर्तमान दृष्टि से सिद्ध होने वाले न तो चारित्री ही होते हैं और न  
 अचारित्री। भूतदृष्टि से यदि अन्तिम समय को लें तब तो असाक्ष्यातचारित्री  
 ही सिद्ध होते हैं और उसके पहले समय को लें तो तीन  
 ६ चारित्र्य चार तथा पाँच चारित्र्यों से सिद्ध होत हैं। सामाजिक  
 सूक्ष्मसंप्रदाय और यथाकथात ये तीन अथवा छेदोपस्थापनीय सूक्ष्मसंप्रदाय  
 और असाक्ष्यात ये तीन सामाजिक परिदृष्टिकृष्टि सूक्ष्मसंप्रदाय और  
 यथाकथात ये चार; एक सामाजिक छेदोपस्थापनीय परिदृष्टिकृष्टि सूक्ष्म-  
 संप्रदाय और यथाकथात ये पाँच चारित्र्य समझने चाहिए।

प्रत्येकबोधित और बुद्धबोधित दोनों सिद्ध होते हैं। जो किसी के  
 उपदेश बिना अपनी ज्ञान-शक्ति से ही बोध पाकर सिद्ध होते हैं ऐसे  
 स्वबुद्ध हो प्रकार के हैं—एक तो अरिहत और  
 ७ प्रत्येकबुद्धबोधित अर्थात् प्रत्येकबोधित  
 और बुद्धबोधित दूसरे अरिहत से भिन्न जो कि किसी प्रकार का  
 निमित्त से वैराग्य और ज्ञान पाकर सिद्ध होते हैं।  
 ये दोनों प्रत्येकबोधित कहलाते हैं। जो दूसरे  
 ज्ञानी से उपदेश पाकर सिद्ध बनते हैं वे बुद्धबोधित हैं। इनमें भी कोई  
 तो दूसरे को बोध प्राप्त करनेवाले होते हैं और कोई सिर्फ आराम-काम्य  
 साधक होते हैं।

वर्तमान दृष्टि से सिर्फ केवलज्ञान वाले ही सिद्ध होते हैं। भूतदृष्टि  
 से हो तीन चार ज्ञानवाले भी सिद्ध होते हैं। जो अर्थात् मति और

श्रुत, तीन अर्थात् मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत,  
 ८ ज्ञान और मन पर्याय, चार अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और  
 मनःपर्याय ।

जघन्य अगुलपृथक्त्वहीन सात हाथ और उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष के  
 ऊपर वनुपपृथक्त्व जितनी अवगाहना में से सिद्ध  
 ९. अवगाहना—ऊँचाई हो सकते हैं, वह तो भूतदृष्टि से कहा है ।  
 वर्तमान दृष्टि से कहना हो तो, जिस अवगाहना में से सिद्ध हुआ हो  
 उसीकी दो तृतीयांश अवगाहना कहनी चाहिए ।

किसी एक के सिद्ध बनने के बाद तुरन्त ही जब दूसरा सिद्ध होता  
 है तो उसे निरन्तर सिद्ध कहते हैं । जघन्य दो समय और उत्कृष्ट आठ  
 समय तक निरन्तर सिद्धि चालू रहती है । जब किसी की  
 १० अन्तर-व्यवधान सिद्धि के बाद अमुक समय बीत जाने पर सिद्ध होता है, तब  
 वह सान्तर सिद्ध कहलाता है । दोनों के बीच की सिद्धि  
 का अन्तर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छ मास का होता है ।

११ सख्या एक समय में जघन्य एक और उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध  
 होते हैं ।

क्षेत्र आदि जिन ग्यारह बातों को लेकर विचार किया गया है  
 उनमें से हर एक के बारे में समाव्य भेदों की परस्पर में न्यूनाधिकता का  
 विचार करना यही अल्पबहुत्व विचारणा है । जैसे—  
 १२ अल्पबहुत्व-न्यूनाधिकता क्षेत्रसिद्ध में सहरण सिद्ध की अपेक्षा जन्मसिद्ध सख्यात  
 गुणाधिक होते हैं । एव ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे थोड़े  
 होते हैं, अधोलोक सिद्ध उनसे सख्यातगुणाधिक और तिर्यग्लोक सिद्ध



उनसे भी लक्ष्मण गुणाधिक होते हैं। समुद्रसिद्ध सबसे छोटे होते हैं और शीपसिद्ध उनसे लक्ष्मण गुणाधिक होते हैं। इसी तरह काळ आदि प्रत्येक वात को लेकर भी अल्पमदुग्ध का विचार किया गया है जो कि विद्यमान विशानुओं को मूल प्रश्नों में से ज्ञान देना चाहिए। ७ ।

दिल्ली विश्वेश्वर महित

तत्त्वार्थ सूत्र

ममाप्त

तत्त्वार्थसूत्र

का

पारिभाषिक शब्द-कोष



# तत्त्वार्थसूत्र

का

## पारिभाषिक शब्द-कोष

अ

अकपाय २१७  
अकामनिर्जरा २२७, २३१, २३४  
अकाल मृत्यु ११३  
अक्षिप्रयाही २४  
अगारी (अणुव्रती) २६०-२६५  
अगुरुलघु (नामकर्म) २८७, २९१, २९८  
अगुरुलघु (गुण) १८३  
अग्निकुमार १८३  
अग्निमाणव (इन्द्र) १३९  
अग्निशिख (इन्द्र) १३९  
अङ्ग (श्रुत) ३७, ३३२  
अङ्ग प्रविष्ट ३६  
अङ्ग बाह्य ३६  
अङ्गोपाङ्ग (नामकर्म) २८७, २८९  
अचक्षुर्दर्शन ७७  
अचक्षुर्दर्शनावरण २८६, २८७  
अचौक्ष १८६  
अचौर्यव्रत  
—को पाँच मावनाएँ २८३, २४४

अच्युत (स्वर्ग) १४४, १५०, १६०  
अच्युत (इन्द्र) १४०  
अजीव १६४, १६५  
अजीवकाय १६४  
अजीवाधिकरण २२४  
अज्ञातभाव २२१  
अज्ञान ४९ देखो, त्रिपर्ययज्ञान  
अज्ञान (परीषह) ३११, ३१४  
अञ्जना (नरकभूमि) १२०  
अणु १६९, १८९, १९०  
अणुव्रत २६२, २४३  
अणुव्रतधारी २६१  
अण्डज ९९  
अतिकाय (इन्द्र) १४०, १८५  
अतिचार २६६, २७६  
अतिथिसविभाग (व्रत) २६१, २६४ २७०  
अतिपुरुष (देव) १४५  
अतिभारारोपण २६९, २७१  
अतिरूप १४६  
अतिसर्ग २७७

अयास्यात् ११८	वेत्तो, अयास्यात्	अनर्पणा १९७	१९८
अपचापान २५६		अनर्पित १९७	
अपदान (परिपह) १११	११४	अनवकांक्ष क्रिया २२	
अधर्म (अस्तिकार्य) १६४-१७		अनवस्थित (अवधि) ४१	
१७१ १७८, १७९	२०८	अनसन ११८	११९
अपह्णारक (बेव) १४६		अनाकार (उपयोग) ७६	
अधिकरण ११	२२२ २२३	अनाचार २०६	
अधिगम ६	११	अनाहर २६९	२७५
अधोगति १४५		अनादि २१२	२१३
अधोभाग (श्लोक) ११८		अनादिभाव १	५
अधोश्लोक ११८		अनादेय (नामकर्म) २८७	२९१
अधोश्लोकसिद्ध १४९			
अधोव्यतिक्रम २६	२७३	अनानुगासिक (अवधि) ४१	
अधुन २५		अनाभोग २२४, २२५	
अनगार (अती) २६	२६१	अनाभाग क्रिया २१	
अनन्ताक्षर्य (अतिचार) २६९	२७३	अनाहारक (जीव) ९४	
		—स्थिति का कामना ९५	
अनन्त १७१		अनिच्छवावग्रह २४	वेत्तो अनिच्छित्
अनन्ताणुक १	४	अनिच्छत्वरूप (सम्मान) १८७	
अनन्तानन्ताणुक १०४		अन्तिम १९९	
अनन्तानुबन्धिमिथोक्त १३५	१३६	अनिम्य अक्षरार्थ १९९	
		अभियानुग्रह १ १ २ ७	
अनन्तानुबन्धी २८३	२८८	अनिन्वित (बेव) १४५	
अनपवसना (अभ्रमृत्सु) ११४		अनिम्निय (मन) २१	२१
अनपवर्तनीय (आयु) ११३	११४	—का विषय धृष्ट है ८१	
अनभिगृहीत (मिथ्यादर्शन) २८१		अनिवृत्ति वादग्रसंपराय (शुभन्धान)	१ १
अनवच्छेदिसति २६१	२६३ २६		
	२७४	अनिधित (अवग्रह) २४	

अनिष्ट मयोग (आर्तध्यान) ३०८

अनीक १३८

अनुकम्पा ६, २३१

अनुक्तावग्रह २५

अनुचिन्तन ३०६

अनुज्ञापितपान भोजन २८६, २४८

अनुत्तर १८८

अनुत्तरविमान १५०

के देवों का विशेषत्व १५८

—के देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति १६०

अनुत्सेक (निरभिमानता) २३७

अनुपस्थापन २६९, २७०

अनुप्रेक्षा (भावना) ३०१, ३०७

३२२

—के चारह भेद हैं ३०६

अनुभाग २१६, २३८, २८०

अनुभाव देवों अनुभाव बन्ध

—देवों में १५८

अनुभावबन्ध २८३, २८४, २९३,

२९८

अनुमत २२३, २२८

अनुवीचि अवग्रह याचन २८३, २८८

अनुश्रेणि ८९

अनृत २५५

अनृतानुबन्धी (रात्रध्यान) ३२०

अनेकान्त १९७

अन्तर १२, १४, ३४६

—की अपेक्षा में सिद्धों का विचार

३८९

अन्तराय (कर्म) २२६, २४२, २८४,

२८७, २९९

—के बन्ध हेतु २२८

—की व्याख्या २८५

—के पाँच भेद २८७

—की उत्कृष्ट स्थिति २९७

—से अलाभ परीषह होता है ३११

अन्तरालागति ८९, १०६

—के दो प्रकार ऋजु और चक्र ११

—का कालमान ९३

—में कर्मों का ग्रहण ९५

अन्तर्द्वीप १३४, १३५

अन्तर्धान २६८

अन्तर्मुहूर्त १५, ३२५, ३२६

—जघन्य, गध्यम, उत्कृष्ट १५

अन्त्यद्रव्य (परमाणु) १८९

अन्नपान निरोध २६९, २७१

अन्यत्वानुप्रेक्षा ३०६, ३०८

अन्यदृष्टि प्रशंसा (अतिचार) २६६,

२६७

अपरत्व १८३

अपराजित (स्वर्ग) १८४

—में उत्कृष्ट स्थिति १६०

अपरिगृहीतागमन २६९, २७२

अपरिग्रह व्रत

—की पाँच भावनाएँ २४४

अपरिग्रहाणुवत् २६३  
 - के प्रतिहार २६९  
 अपयाप्य (नामकम्) २८७ २९०-  
 २९  
 अपवतना (अकारमृत्यु) ११३  
 अपवर्तनीय (आयु) ११३  
 - सांपन्न होती है ११४  
 अपवाद ३ ७  
 अपान (उच्छ्वास वायु) १८१  
 अपाय १ ६  
 अपायविषय (धर्मध्यान) २१९  
 अपार्धपुद्गल परावर्त १५ वल्लो  
 पुद्गल परावर्त  
 अपूर्वकरण ७  
 अप्रतिघात ?  
 अप्रतिरूप (इन्द्र) १४  
 अप्रतिष्ठान (नरकवास) १२१  
 अप्रत्यक्षित-अप्रमादित  
 -आधान निक्षेप २०० २७  
 उत्पन्न २७ २७५  
 -सन्तारोपकम् २७ २७५  
 अप्रत्यक्षित निक्षेप २२४ २२५  
 अप्रत्याख्यात (कपाय) २ ६ २८८  
 अप्रत्याख्यात क्रिया २२  
 अप्रतीकार १४१  
 अप्रावकरी (नेत्र और मन) ३२  
 अप्रमह २५६ २ ७  
 अप्रमाण २३६

अभिव्यक्त ६८ \*  
 अभिगृहीत (मिथ्या वचन) २८१  
 अभिनिबोध २  
 अभिमान (दोषों में) १५३  
 अभिपथ आहार १७ २७३  
 अभिष्ण अवग्रह वाचन २६१ २७५  
 अभ्युदय १ १  
 अभ्यनस्क ७८  
 अभितगति (इन्द्र) १४  
 अभितवाहन (इन्द्र) १४  
 अभूर्तत्व ३३३  
 अब (वेद्य) १२४  
 अम्बरीष (वेद्य) १२४  
 अयन १४८  
 अयशाक्षीति (नामकम्) २८७  
 २ १,२  
 अरति (माहनीय) २८९ २१८  
 -के वाच्य २३३  
 अरति परीयह ३११ ३१३  
 अरिष्ट लोकान्तिक १५६  
 अरुण (लोकान्तिक) १ ६  
 अस्पी  
 -इन्द्र चार है १६६  
 अस्फित्व १६०  
 -धर्मास्तिकायाधि चार प्रथा-  
 का साधर्म्य है १६६  
 अथ २६ ३३१  
 अथावग्रह २

— व्यावहारिक और नैश्चयिक ३३

अर्धनाराच (सहनन) २९९

अर्धमात्रा ३२५

अर्धवज्रर्धभनाराच (सहनन)

२९३, ३२३

अर्पणा १९७, १९८

अर्पित १९७

अर्हद्भक्ति २०८, २३६

अलाभ परीपह ३११, ३१३

अलोकाकाश १७७

अल्प (अवग्रह) २३

अल्प बहुत्व १६, ३४६

—की अपेक्षा से मिद्धोका विचार

३८९

अवक्तव्य १९९

अवगाह १७८, २७२

अवगाहना ३४६

—की अपेक्षा से मिद्धोका विचार

३४९

अवग्रह २२

—के भेद २३

—आदि का विषय २६

—के अवान्तर भेद २८

अवग्रह याचन २८३ २४५

अवग्रहावधारण २४३ २४५

अवदा २६६

अवधि ३८९

अवधिज्ञान ३१

—के दो भेद भवप्रत्यय और—  
गुण प्रत्यय ३८

—का साधारण कारण ३९

—के छह भेद ४०

—और मन पर्ययज्ञान का अन्तर  
४३

—का विषय ४४ ४५

—का विषय देवों में १५१

अवधिज्ञानावरण २८७

अवधिदर्शन ७७

अवधि दर्शनावरण २८६ २८७

अवमौढर्य (तप) ३१८

अवयव १७०

अवर्णवाल २२७

अवसर्पिणी ३४७

अवस्थित (अवधि भेद) ४१

अवस्थितत्व १६७

अवाय (मतिज्ञान) २२

—के भेद २३

अविकल्प २०८

अविग्रहा ८९

अविचार ३३१

आविरत ३२८

आविरति २७९ २८०, २८१

अविसवाद २२८

अव्यय १९५

अव्यावाध (लोकान्तिक) १५६

अग्रत



असुरजानुश्रद्धा १ ६ ३ ७  
 अशुभित्वानुश्रद्धा १ ६, ३ ८  
 अशुभ (नामकर्म) २८७ २ १ २ ९  
 —के बन्धहेतु २२८  
 अशुभयोग  
 —पाप का आवरण है २१५  
 —का स्वरूप २१५  
 —हिसाबि व्यापार २१६  
 —मीन है २१६  
 —क कार्य २१६  
 अशाक (बैव) १४६  
 अष्टाश्रमिक (प्रतिमा) १ ६  
 असत् २५५  
 असत्य २५५  
 असत्पुरुणाद्भावन २ ८ १०  
 असद्वच २२५ २८५  
 असमीत्याधिकरण २६९ ७४  
 असम्पत्तान १  
 असर्ग १  
 असेविषय  
 अर्थावतत्त्व ६  
 अक्षयम ६  
 अर्गात्यय १६९  
 अराहृगव ३६५  
 अगतापदनीय १ २८ २  
 अगतापदनीय  
 १ ६ ७ १ ६  
 अर्गदम्भ ६

असुर ११६ ११७  
 असुरकुमार १४३  
 —का चिन्ह १४५  
 असुरेन्द्र १ ८  
 अस्तिकाव १६४ १६९  
 —प्रवेश प्रथमस्य १६४  
 —बर्मादि चार अवीच है १ ८  
 —बीच १६९  
 अस्तेपाणुव्रत २६१  
 —के अतिचार २६९  
 अस्थिर (नामकर्म) २८७ ९  
 २९  
 अहमिन्द्र १ १५५  
 अहिंसा  
 —की प्रधानता २४  
 का विकास २४९ ५७  
 —गारी के नियम कर्त्तव्य २५१  
 २५५  
 —भाषणार्थ २४३  
 अहिंसाणुव्रत २६३  
 —क अतिचार २६ २७१  
 आ  
 आकाश (आत्मकाय) ११८ १६८  
 २ ८  
 —आत्मप्रतिबिम्ब है १ १  
 नित्य अर्थावत आत्मयो है १६९  
 —तक अज्ञान १६८  
 —निर्माण १६८

- व अनन्त प्रदेश है १६९  
 वाधार है १७२  
 -वा कार्य द्वारा लक्षण १७०  
 हो दिग्द्रव्य है १८०  
 आकाशग (देव) १४६  
 आकिचन्य ३०३ ३०६  
 आक्रन्दन २२६, २२९  
 आक्रोशपरीपह ३१७ ३१३  
 आगम ३०७  
 आचाम्ल (तप) ३०६  
 आचार वस्तु ३३८  
 आचार्य  
 भक्ति २२८, २३८  
 की ब्यावृत्त्य ३०१  
 अज्ञाविचय (धर्मध्यान) ३०९  
 अज्ञाव्यापादिकी (क्रिया) २००  
 आतप १८८, २८७, २९८  
 आत्मनिन्द्रा २२८, २३७  
 आत्मपरिणाम २२७  
 आत्मप्रशम्ना २२८, २३६  
 आत्मरक्षक १३९  
 आत्मा ६८  
 -कूटस्थ नित्य (साख्यवेदान्त) ६८  
 ---एकान्तनित्य (नैयायिक,  
 वैशेषिक, मीमांसक) ६८  
 -एकांत क्षणिक (बौद्ध) ६८  
 ---परिणामिनित्य (चैन) ६९  
 - के पर्याय मुक्तदुःखादि ६९  
 -के पान भाव ६९  
 -का परिमाण १७२  
 -नित्य अनित्य आदि १९८, १९९  
 -मत अनन १९८  
 -गुण और पर्यायवाला कौन? २०६  
 -के गुण २१०  
 -के परिणाम का विचार २११  
 आदान निक्षेपण समिति  
 -की व्याख्या २४८, ३०२  
 आदित्य (लोकान्तिक) १५६  
 आदिमान २१०, २१२  
 आदेय (नामकर्म) २८७, २८९, २९८  
 आधिकरणिकी (क्रिया) २१९  
 आध्यात्मिक ४९  
 आनत (स्वर्ग) १८८, १५०  
 -की उत्कृष्ट स्थिति १६०  
 आनयन प्रयोग (अतिचार) २६९,  
 २७४  
 आनुगामिक (अवधिज्ञान) ४०  
 आनुपूर्वी (नामकर्म) २८७, २९०  
 आभियोग्य १३८  
 आभ्यन्तर (तप) ३१८  
 -के मदों का निरूपण ३१९  
 आभ्यन्तरोपधिब्युत्सर्ग ३ २३  
 आम्नाय ३००  
 आम्नायार्थ वाचक ३०७  
 आयु ११२, ११५, ११६  
 -के दो प्रकार ११३

आयुष्क (कर्म) २८४ २८५

—के चार भेद २८७

—की उत्कृष्ट स्थिति ० २

—की अवन्त स्थिति २९३

आरणा (स्वर्ग) १४४ १

—की उत्कृष्ट स्थिति १६

आरम्भ २२३ २३३ २३३

आत्मक्रिया २२

आर्षव (धर्म) ३ ३ ३

आर्ष (ध्यान) ३२७ ३२८

—के चार प्रकार ३२७ ३२८

—के अधिकारी ३२७

आर्य १२८

—उह प्रकार के १३३

आर्य वेद्य १३४

—माडे पञ्चीस है १३८

आर्य स्वल्प

—दुःखादि को न्यायवर्तनक वर्ध  
पर और जैन के आध्यात्मिक म  
तुलना ७

आलोचित पास आक्रम २४३ २८४

आलोचना (तप) ३२

आयुष्कपरिहायि २३६

अयान १८८

आध्यात्मिक ३

आत्मिक ६

आत्मिक ८

आत्मिक ८ १ २३८ ३

५ ८ मर ३

आलोचना ३ ६ ३ ९

आहार १४

—वेदों में १५३

आहारक (शरीर) १ १ २-

३ ८-१ २९८

आहारकसंघि १ ७

आहार हान २३६

आहारक (वेद्य) १४९

इ

इत्थत्यकप (संस्थान) १८७

इत्थरपरिगृहीतागमन २६९ २७२

इन्द्र १३९

इन्द्रिय २१ ८

—की संख्या ८१

—इन्द्रिय और भावेन्द्रिय ८२

—का प्राप्तिक्रम ८२

—के नाम ६

—का विषय ८३

—की एक ही वस्तु म प्रवृत्ति क  
उभके उदाहरण ३३

—का विषय (वेदों में) १५१

इन्द्रिययोग आत्मिक्याम २२८

इ

इन्द्रियधर्म २१७ २१८

इन्द्रियधर्मिक्या २१९ २ ७

इन्द्रियमिति २३ ३ २

इन्द्रिय (इन्द्र) १४

इन्द्र २

—के भेद २३

उ

- उक्ताचग्रह २५  
 उच्चगोत्र (कर्म) २८७, २९१, २९८  
 —के बन्ध हेतु २२८  
 —के बन्ध हेतुआकी व्याख्या २३७  
 उच्छ्वास  
 —देवों में १५३  
 —नामकम २८७  
 उत्कृष्ट (परिणाम) २०४  
 उत्तम पुरुष ११४  
 उत्तरकुरु १२८  
 उत्तरगुण २६२, ३३७  
 उत्तरगुणनिर्वर्तना २०४  
 उत्तरप्रकृति २८५, २९४  
 उत्तरव्रत (स्नान है) २६०  
 उत्पत्ति ३३३  
 उत्पाट १९३  
 उत्सर्ग (मार्ग) ३०७  
 उत्सर्गसमिति ३००  
 उत्सर्पिण ३४७  
 उदधिकुमार १४३  
 उद्द्योत (पुद्गल परिणाम)  
 १८३, १८८  
 उद्द्योत (नामकर्म) २८७, २९१  
 २९८  
 उपकरण चकुश (निर्ग्रन्थ) ३३९  
 उपकरण संयोगाधिकरण २०५

- उपकरणेन्द्रिय २८, ८०  
 उपकार १७८  
 उपक्रम ११८  
 उपग्रह १७८  
 उपघात २२६, २२९  
 —और जामादन का अन्तर २२९  
 उपघात (नामकर्म) २८७, २९१, २९८  
 उपचार (चिन्तय) ३०१  
 उपचार श्रुत ३८  
 उपधि ३०३  
 उपपात ९९  
 —देवों का १५८  
 उपपातजन्म ९७  
 —के अधिकारी जीय ९९  
 उपभाग १०७  
 उपभोगपरिभागपरिमाण (व्रत)  
 १६१, २६२  
 —के अतिचार २७०  
 उपभोगाधिकत्व (अतिचार)  
 २६९-२७४  
 उपभोगान्तराय २९२  
 उपयोग ७३, ७४  
 —(बोध) का कारण ७४  
 —की मुख्यता ७४  
 —की तीनों कालों में उपलब्धि  
 ७४  
 —के भेद ७५

—आकार और अनाकार ७४  
 उपयोग दाशि ७६ देखो उपयोग  
 उपयोगेन्द्रिय ८१  
 उपशमक (अभ्यन्तृष्टि) ११५  
 ११७

उपशांत कथाय ३२९  
 उपशास्तमोह (गुणस्थान) ११४  
 उपशांतमोह (अभ्यन्तृष्टि) ११५  
 ११७  
 उपस्थापन (प्रायश्चित्त) ३२  
 उपाध्याय  
 —की वैयाकृत्य १२१

उरग  
 —पीच भूमिगत गमन ३२५  
 उष्ण कपर्दी १८५  
 उष्ण परीपह ३११ ३१५

ऊ

ऊर्ध्वगति १८५  
 ऊर्ध्वशोक ११  
 ऊर्ध्वशोकसिद्ध १८५  
 ऊर्ध्वपतिस्रम (अतिचार) १९  
 ७३

शु

शुभुमान १९  
 —वा इतना नाम इपुमनि ९३  
 —वा वाक्यमान ९३  
 शुभुमति (घान) ४७  
 शुभुमत्र (नय) ६ ८१

—स पर्यावाधिक नय का आरम्भ—  
 १४

ज्ञानु (काठ) १४८  
 ज्ञापिवादि (वेध) १४५

ए

एकस्य ३१ ३३  
 एकस्ववितर्क (शुक्ल प्यान) १३१  
 एकस्य वितर्क निर्विचार १३७  
 एकस्व वितर्क अविचार १३३ १३४  
 एकत्वानुपेक्षा १ ६ १ ८  
 एकविध (अवमहावि) २४  
 एकामविज्ञता निराध ३२  
 एकान्त अविक्रता ६९  
 एकस्त्रिध नामकम २९९  
 एवमूतनय ६ ६३ ६५  
 एवमा समिति २४१ ८४ ३ २  
 एकेन्द्रिय भाष ८१  
 —गविषी भारि पीच ८७

ठे

थेराचत वर्ष १ ८  
 थेराचत स्वग १४४ १८  
 —में उक्तष्ट स्थिति १ ९  
 थद्वय (मय) १ ५

ओ

ओरकटिक (एकस्वविभाग) ११८  
 ओद्विक भाष १७ ७, १८४  
 —के २२ में १८ ७

औदारिक (शरीर) १००, १०२,

१७६ १७७

—सेन्द्रिय और सावयव है १०८

—जन्मसिद्ध ही है १०९

—पादगलिक है १८१

औदारिक (शरीर नामकर्म)

२९८

औदारिक (अंगोपाग) (नामकर्म)

२९८

औपपानिक १८०

औपशमिक भाव ६७, ६९, ३१४

—के दो भेद ६७

—के भेदों की व्याख्या ७१

क

कटुक १८५

कठिन १८५

कदम्बक (देव) १४६

कनकावली (तप) ३०६

कन्दर्प (अतिचार) २६९, २७४

कमलपूजा २६५

करुणावृत्ति २४६, २४७

कर्म

—के बन्धहेतुओं का निर्देश २७२

—के बन्ध के प्रकार २८२

—की आठ मूल प्रकृतियाँ २८४

—की उत्तर प्रकृतियाँ २८५

—की पुण्य और पाप प्रकृतियाँ

२९७

—के आत्यन्तिक क्षय के दो कारण

३४३

कर्मबन्ध

—में विशेषता २२१

कर्मभूमि १२८

—की व्याख्या १३४

—का निर्देश १३४

कर्मयोग ८९

कर्मस्कन्ध २९५

कर्मेन्द्रिय ८१

—पाँच हैं ८१

कल्प स्वर्ग १३८, १५५

कल्पातीत (स्वर्ग) १३८

कल्पोपपन्न १३८, १५०

कवलाहार ३१५

कषाय २१७, २१८, २७९, २१५

—चार हैं २१८, २९०

—से स्थिति और

बन्ध होता है २८०, २८४

कषाय कुशील (निर्ग्रन्थ) ३३८

—में चार समय होते हैं ३३१

—में श्रुतका कथन ३३८

—क विराचना नहीं होती ३३१

कषायचात्रि मोहनीय २८६

कषायमोहनीय

—के बन्ध कारण २३२

कषायवेदनीय

—के १६ भेद २८६

कांक्षा (अतिथार) ७६ २६७

कादम्ब (द्वेष) १४६

कापिष्ठ (स्वर्ग) १४३

कामसुख १४

कायकसेवा (तप) ११७ ११९

कायगुप्ति ३ २

कायदुष्प्रविधान ६९ ७४

कायमिसर्ग २७५

कायप्रवीक्षण १४१

—एक म्यग प्रभाषण आदि श्री

१४१ २१४

काययोग १४

कायस्थिति १७

कायस्वभाष २४६

कायिकीक्रिया २१

कारित ३ २ ४

काकष्य १५६

कामज (दार्ढ्य) १ १ ७ १७

२९८

—प्रतिपान रक्ति है ७ ४

—वा वाच मर्षा १ ५

क म्वादी १

—मगारी जीवो क म्प्य १ ८

—निवृत्तमोह है १ ७

—निवृत्त और लाघव म्प्य ५१

—कमिज और इविम म्प्य

१

—न म्प्य म्प्य म्प्य म्प्य

१७६

—अतीश्रय और पौदुमतिक है  
१८१

कर्मण्ययाग ९ २१

—निग्रहपति में ९

काल (इन्द्र) १४

काल (देष) १४६

काल (द्रव्य) १६७

—उत्तराण मनुष्यमात्र में १४१

—वा विभाग ग्यातिष्को पर निर्भर

१४८

—नीन वर्तमान आदि १४६

—मन्वेद असुख्येद बतन् १४८

—क तत्त्वत्प होन न मतमेव

१६५

—का कार्य हाग म्प्य १८७

—किमी के मन में द्रव्य है १ ९

—स्वतन् द्रव्य नहीं ७

—के कर्मगत आदि पर्वो २ ९

—की मपेता से मित्रो का विचार

१४७

कासा जप १८

काशाधिक्य (अतिथार) १७ २७६

कामाक्षि (समुद्र) १२

विघ्न

—इन्द्र १४

—देष १४३ १२५

—देष न दम प्रसार १४७

किष्करीणम (इन्द्र) १४६

किष्करीण

-उद्भ १४०

—देव १४३ १४५

—देव के दम प्रकार १४५

किपुरुषोत्तम (देव) १४५

किल्बिषिक (देव) १३९

कीलिका (सहनन) २९९

कुप्यप्रमाणातिक्रम (अतिचार)  
२६०, २७३

कुञ्ज (संस्थान) २०९

कुल

—का भेद ३०५

—की वैयावृत्य ३०१ ३२०

कुशील (निर्ग्रन्थ)

—के दो भेद ३३८

कूटलेख क्रिया (अतिचार) २६०,  
२७१

कूटस्थनित्य १९५

—आत्मा ६८

कूटस्थ नित्यता ६९

कूष्माण्ड देव १४६

कृत २२३, २२४

केवल ३४२

केवल ज्ञान ४४, ४६

—का विषय ४४, ४६

केवलज्ञानावरण २८७

केवलज्ञानी २२७

—का अवर्णवाद २३२

केवलदर्शन ७७

केवलदर्शनावरण २८६, २८७

केवलि समुदात १७५

केवली ३३०

केवल्य ३८०

कौत्कुच्य (अतिचार) २६९, २७४

क्रिया १८३

—पञ्चम है २६९

क्रोध (कषाय) २१८

क्रोधप्रत्याख्यान २४३

क्षपक (सम्यग्दृष्टि) ३३५, ३३७

क्षमा ३०३

क्षय ३४२, ३६३

क्षान्ति २२६, २३१

क्षायिक चारित्र्य ३४४

क्षायिक ज्ञान ३४४

क्षायिक दर्शन ३४४

क्षायिक भाव ६७, ६९

—के नौ भेद ६८, ७१

क्षायिक वीर्य ३४४

क्षायिक सम्यक्त्व ३४४

क्षायिक सुख ३४४

क्षायोपशमिकभाव (मिश्र) ६७, ६९

—के अठारह भेद ६८, ७१

क्षिप्रग्राही २४

क्षीण कषाय ३२९

क्षीण मोह ३१४, ३३५, ३३७

क्षुद्रसर्वतोभद्र (तप) ३०६



शुद्धा परीपह ३११ ३१२

शुद्धकर्तृसिद्ध विकीकृत (नय) १ ६

शुद्ध १२ १४४

—की व्याख्या २३

—की स्पर्शन का भव १४

—को अपेक्षासे सिद्धों का विचार

३४७

क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिशय (भक्ति  
कार) १६

—की व्याख्या २७३

क्षेत्रचूर्ण (भक्तिकार) २९९

—की व्याख्या २७३

क्षेत्रसिद्ध १४

ख

खट्वा २२) १५

खट्वा १४६

खट्ट १८८

ख काण्ड १

ग

गण

—का वैधान्य १२१

गति ३४६

—जीव की

—देवा की १५

—नामरस

की अपेक्षा से सिद्धों का विचार

३४

—जीव और पुद्गल को ११

गतिस्थिति

—का असाक्ष्य भाग्य जीव की

पुद्गल १७९

गन्ध

—को है १८५

—नामरस २८७ २९

गर्भतोय (श्लोकान्तिक) १५८

—का स्वप्न १७६

गर्भद्रव्य ७

—के अधिकारी जीव ५१

गाम्घर्ष १७९

—के हाथ प्रचार १५५

गति यशस

—हाथ १८

—हैव १४६

गीतरति

—हैव १८

—हैव १४६

गुण २ ६ २१

—साधारण और असाधारण २

गुणरस और अगुणरस २ ८

—की पर्याय का अर्थ १

—में असाधारण नहीं होता २१

गुणप्रत्यय (अर्थविज्ञान)

क स्वामी ३८

—तीर्थरस का ६१

गुणस्थान २८० ३००

गुग्नि ३०१

—के तीन भेद ३०२

—और ममिति में अन्तर ३०३

गुरु

—ग्रह १४६

—स्पर्श १८५

—के पाँच प्रकार ३०६

गुरुकुल ३०६

गृहस्थलिंग ३४७

गोत्र ( कर्म ) २८४, २८५

—के दो भेद २८७

—की स्थिति २९२

गोमूत्रिका ( वक्रगति ) ९३

ग्रह १४४

—की ऊँचाई १४६-१४७

ग्लान ३२१, ३२२

त्रैवेयक (स्वर्ग) १४४

—का स्थान १५०

—की स्थिति १६०

घ

घन १८७

घनघात ११८, १२१

घनाम्बु ११७

घनादधि ११८, १२१

घर्मा (नरक) १२०

घातन (नरक) १२१

घातिकर्म ३१५

घ्राण ८१

च

चक्रवर्त्ती ११४

चक्षु ८१

चक्षुदर्शन ७७

चक्षुदर्शनावरण २८६, २८७

चतुरणुक १७४

चतुरिन्द्रिय ८१

—जीव ८७

—नामकर्म २९०

चतुर्दशपूर्व ३३८

चतुर्दशपूर्वधर १००

चतुर्निकाय १३७, १३८

चतुर्निकायिक (देव) २२८

—प्रत्येक के इन्द्रादि दस-दस अवा-  
न्तर भेद १३८

चन्द्र १४४

—ज्योतिष्को का इन्द्र १४०

—की ऊँचाई १४६

चन्द्रमस १४३

चमर (इन्द्र) १३९

—की स्थिति १५९

चम्पक १४६

चरज्योतिष्क १४७

चरमद्रेह ११४

देखो उत्तम पुरुष

चर्यापरीषद् ३११, ३१३

चाक्षुष १९१

चान्द्रायण (तप) ३०६

वारिध २७ ३ १ ३२७

—याँच हूँ ३१५

—ही छपेला से सिद्धों का बिचार ३४८

—ही विनय ३२१

वारिध मोह } २८६  
वारिधमोहनीय }

—के २५ प्रकार २८६

—के दो भेद कर्ण्य और मो कर्ण्य २८१

—से सात परीपह होते हैं ३११

—के बावहेतु २९७

विन्ता १

वेतनाशक्ति १ १

बोटी २५१

बीस (बेस) १४१

बौद्धिक १८८

छ

छद्मस्थ १२४ ३२९

छद्मस्थवतिराग

—के १४ परीपह ३११

छबिछेद (अतिचार) ९९ २७१

छाया १ ३

—के दो प्रकार १८८

छद् ( प्रायाश्रित ) १२

छरोरत्नापन } (वारिध)

छरोरत्नापनीय } ३१९ ३२७

—विचार और नापिचार

३१

—समय में तीन निर्णय ३१८

छ

अगस्त्यभाष २४९

अम्बुदीप १२७ १२८

—में सात अक्ष १२८ १३

—में छह वर्णपर १२८ ११

—का परिमाण १२९

—के मध्य में मेघ पर्वत है १२९

अगस्त्य ७१

—वीनदृष्टि के अनुसार १६५

अक्षय्य २ १

अक्षय्येतर २ १

अक्षय्य ९९ ९७

—के तीन प्रकार ९९ ९७

—और धोति का भेद ९८

अक्षय्यसिद्ध १४९

अक्षय्य (स्वर्ग) १४४

—में उत्कृष्ट स्थिति १६

अरायु ९९

अरायुज ९९

असकाम्य (इन्द्र) ११९

अक्षय्य (इन्द्र) ११

अक्षय्यसुख (काण्ड) १२

अक्षय्यसुख (बेस) १४१

अक्षय्यमाधि २६७

आति २११

आति नामकमे २८७ २८९ ३

—नर १ ५

जिन ३३५

—में ११ परीषद् है ३११

—की परिभाषा ३३७

जीव ७६, १६५, २८२

—मोक्षाभिमुख ५०

—ससाराभिमुख ५०, ७३

—के पाँच भाव ६७ (देखो भाव)

—के असख्यात प्रदेश हैं १६९

—की स्थिति २७२

—असख्यातप्रदेश वाले लोकाकाश में अनन्त जीव कैसे समा सकते हैं—१७७

—का कार्य द्वारा लक्षण १८२

जीवत्व ६८

जीवतत्त्व

—का आधारक्षेत्र १७५

—प्रदीप की तरह सकोच विकाश शील है १७६

जीवद्रव्य

—व्यक्तिरूप से अनन्त है १६८  
१७०

—के न्यूनाधिक परिमाण का ममाधान १७६

—अमूर्त भी मूर्तवत्ससारावस्था में १७६

—स्वभाव से ऊर्ध्व गतिशील है ३४५

—क्रियाशील है १६८

—अस्तिकाय और प्रदेशप्रचयरूप है १६९

जीवराशि ७७

—के दो भेद, ससारी और मुक्त ७८

जीवास्तिकाय १६६

—नित्य, अवस्थित, अरूपी १६६

जीवित १८२

जीविताशंसा (भतिचार) २७०,  
२७६

जुगुप्सा ( मोहनीय) २८६, २८९

—के बन्ध कारण २३३

जैन दर्शन

—के अनुसार सभी पदार्थ परिणामि नित्य हैं ६८ १९५

—में ही धर्मास्तिकाय और अवर्मास्तिकाय माने गये हैं १६५

—आत्मद्रव्य को एक व्यक्तिरूप या निष्क्रिय नहीं मानता १६८

—में आत्मा का मध्यम परिमाण है १७४

जैनलिंग ३४७

जोष ( देव) १४६

ज्ञातभाव २२१

ज्ञान

—गोच है १६

—का विषय ४४

—एक साथ शक्ति रूप में कितने

- उपभोग ता एक ही ४७
- द्वयसंज्ञान के साथ मति आदि के होने न होने में मतभेद ४८
- में विपर्यय और उसका हेतु ४८
- की ब्रह्मता का मूल सिद्धांत दर्शन ४९
- की विनय ३२१
- की अपेक्षा से चिह्नों का विचार = ३४८

ज्ञानदान २१६

ज्ञानावरण } २३७ २८४ २८५  
 ज्ञानावरणीय } २९९ ३४७

- के बन्धहेतु २९४
- के नाश भेद २८६
- की स्थिति २९२ २९३
- से प्रज्ञा और ब्रह्मज्ञान परीचय ३११

ज्ञानेन्द्रिय ८१

- स्पर्शनादि पाँच हैं ८१

ज्ञानोत्पत्तिक्रम

- अवग्रहादि का सहेतुक है  
 मा निर्हेतुक २२

ज्ञानोपघाग २१८ २१९

ज्यातिष्य १३७ १४७

- में भिन्न पीतलेख्या १३७
- के पाँच भेद १३८
- मनुष्यलोक में मित्यनति घीब है १४४

- के द्वारा काल का विभाग किया जाता है १४४
- मनुष्य लोक के बाहर स्थिर १४४
- का स्वान और जैबाई १४
- का विद्यु १४७
- का अमय १४७
- की सख्या १४७
- के विमानों को उठाने का  
 वेद १४७
- की स्थिति १९९
- त

लल १८९

लक्ष्य ७

- बीबादि ती हैं ७
- का मतक्य ८
- की उपपत्ति ८
- के जानने के उपाय ११
- के जानने के किञ्च सीमाता<sup>म</sup>  
 द्वार १२

तत्त्वार्थ ५

तत्त्वज्ञोष (ज्ञान वक्षान का द्वेष)  
 २२६

- बादि बन्धहेतु २८१

तथाक्यात ३१८

वेकते तथाक्यात

तथागति परिव्याम ३४५

तद्भाष ११५, २१०

तनुवात ११८

—आकाश पर प्रतिष्ठित है १२१

तप २२८, २३६, ३०१, ३०३, ३२०

३२०

—के दो भेद सकाम और निष्काम

३०१

—घर्म की व्याख्या ३०५

—ने नाना भेद ३०६

—का वर्णन ३१८

—के बाह्य छह भेद ३१८

—के आभ्यन्तर छह भेद ३१८

—की परिभाषा ३१८

तपस्वी ३२१, ३२२

तमस (अन्धकार) १८८

तमः प्रभा ११७

—नाम क्या है १२०

—विवरण के लिये देखो धूमप्रभा

ताप २२६, २२९

तारा १४४

—की ऊँचाई १४६

—की उत्कृष्ट स्थिति १६३

तालपिशाच (देव) १४६

तनू (रस) १८५

तिस्छीगति ३४५

तिर्यग्योनि १२७, १५८

तिर्यग्लोकसिद्ध ३४९

तिर्यग्व्यतिक्रम (अतिचार) २६९,

तिर्यच १२८, १५५

—की कायस्थिति और भवस्थिति

१३५

—आयु के वन्व हेतु २२७

—आयु २८७, २८९

—... (नामकर्म) २९८

—गति (नामकर्म) २९९

आनुपूर्वी (नामकर्म) २९९

तीर्थ ३४६

—की अपेक्षा से सिद्धों का विचार

३४८

तीर्थकर | ११४

तीर्थकर | १२५

तीर्थकरत्व २८७

तीर्थकरनाम (कर्म) २९८

—के वन्वहेतु २२८

तीव्रकामाभिनिवेश (अतिचार)

२६९, २७३

तुम्बुरव (देव) १४५

तुम्बरु (देव) १४६

तुषित (लोकान्तिक) १५६

—का स्थान १५६

तूष्णीक देव १४६

तृणस्पर्शपरीषद् ३११, ३१४

तृषा परीषद् ३११, ३१२

तैजस (शारीर) १००

देखो कार्मण

स्याग २२८, २३६ ३ ५

—कर्म ३ ३

ब्रह्म (जीव) ७८ ७९

—के भेद ७९

—के दो प्रकार कर्मिणस और  
पतिमस ८

ब्रह्म (नाम कर्म) २८७ २  
२८

ब्रह्मत्व ७९

ब्रह्मब्रह्मक (नामकर्म कीपिण्ड  
प्रकृतियों) २९

ब्रह्मनाड़ी १ ४

ब्राह्मिणस (बेबजाति) १३९

ब्रीह्मिण्य (नामकर्म) २९९

ब्रह्मणुक (स्कन्ध) १७४

बीन्मियजीव ८१

—की गणना ८७

द

दशमशाक परीपह ३११ ३१२

दक्षिणाथ १५८

दक्षिणार्थापति १५८

दम्भ (शास्त्र) २५

दर्शनक्रिया २१९

दशममोह

दशममोहनीय

—के बन्धहेतु २२७

—के तीन भेद २८६

—के अर्थन परीपहहोमी ३११

दर्शनमोह क्षयक ३१५ ३१६

दर्शनविनय ३११

दर्शनविद्युक्ति २२८ २३५

दर्शनावरण } (कर्म) २८४

दर्शनावरणीय } २१९ ३४

—के बन्धहेतु २२५ २२६

—के नौ भेद २८६

—की उत्कृष्ट स्थिति २९१

—की बन्ध स्थिति २९१

दशदशमिका (प्रतिमा) १ ६

दान १८ २२७ २३१ २७७

—की विशेषता २७७

—सद्गुणों का मूक है २७७-

—के चार भग २७७

—में द्विधि की विशेषता २७७-

—में द्रव्य की विशेषता २७७

—में दाता की विशेषता २७८

—में पात्र की विशेषता २७८

दानाभ्युदाय (कर्म) २८७ २९२

दासीवास प्रमाणातिक्रम

(मतिचार) २९९ २७३

दिककुमार १८१

—का चिह्न १४५

दिगाभ्युदाय २१३ ३१७

दिगाचार्य ३ १

दिग्द्रव्य

—आकाश से भिन्न नहीं १८७

दिग्विस्तारति (मत्त) २९१ २९३

—के अतिचार २६९, २७३

दिन १४८

दिनभोजन } २४१  
दिवाभोजन }

—प्रशसनीय है, इस मान्यता के  
तीन कारण २४२

दीक्षाचार्य ३२२

दीपक २८२

दुःख १८२, २२९

—असाता वेदनीय का बन्वहेतु  
२२६

दुःख भावना २४७

दुःख वेदनीय (कर्म) २८६

दुःखर (नामकर्म) २८७, २९१,  
२९९

दुर्गन्ध १८५

दुर्भग (नामकर्म) २८७, २९७,  
२९९

दुष्पक्व आहार (अतिचार)  
२७०, २७५

दुष्प्रणिधान २६८

दुष्प्रमार्जित निक्षेप २२४, २२७

देव २२७

—के चार अतिचार १३७

—के कामसुख का वर्णन १४१

—का अवर्णवाद २३२

देवकुरु १२८

देवगति (नामकर्म) २९८

देवर्षि (लोकान्तिक देव) १५६

देवानुपूर्वा (नामकर्म) २९८

देवायु २८७, २८९

—के बन्वहेतु २२७

देवायुष्क (नामकर्म) २९८

देवी १४१

देशविरत ३२८

देशविरति (व्रत) २६१, २६३

—के अतिचार २६९, २७४

देशव्रत (अणुव्रत) २४२

देह (देव) १४६

दोषदर्शन २४६

—ऐहिक और पारलौकिक २४७

द्युति (देव की) १५०, १५१

द्रव्य २७, २०५, २०८

—पांच है १६५

—का साधर्म्य और वैधर्म्य १६६

—के स्थिति क्षेत्र का विचार १७२

—की स्थिति लोकाकाश में ही  
१७२

—अनन्तगुणो का अखण्ड समुदाय  
२०७

द्रव्यदृष्टि १७, ५५, १९८, १९९

द्रव्यधन्ध ७८

द्रव्यभाषा १८१

द्रव्यमन ९८१

द्रव्यलिङ्ग ३३९

द्रव्यवेद १११



- टीम है १११
- द्रव्यादिशा २१२
- का अर्थ २५२
- द्रव्याधिकरण २२३
- द्रव्याधिकरण ५७
- का विषय ५८
- संश्लेष विषयक ५९
- के विशेष त्रैलोक्य का स्वल्प ५९
- के टीम त्रैलोक्य का पारस्परिक  
मेव और सम्बन्ध ५९
- द्रव्यास्तिक ३३३
- द्रव्येन्द्रिय ८२
- के दो भेद ८२
- द्विचरम १५७
- द्विन्द्रिय (जीव) ८१
- की पचना ८७
- नामकर्म ९९९
- द्वीपकुमार १४३
- द्वीपमनुष्य १९७
- संख्या है १२८
- गुणनामवाक्य है १२८
- का ध्यान १२८
- की पचना १२
- की भावना १२९
- द्वीपसिद्ध १५
- द्वय २५८
- द्वयजुक्त (द्वयजुक्त) १७४

घ

- धनधान्य प्रमाणातिक्रम ( अति  
कार) २६९ २७१
- धरण (इन्द्र) ११९
- की स्थिति १५९
- धर्म ३ १ ३ ३
- का अर्थवाद २९७ २३७
- के अर्थ भेद ३ ३
- धर्मध्यान ३२९
- गुणान और उपादेय है ३२७
- के स्वामी ३२९
- के चार त्रैलोक्य की व्याख्या ३२९  
३३
- के स्वामियों के विषय में मतभेद  
३३
- धर्मस्वाध्यायतन्त्रानुमेला ३ ६  
३१०
- धर्मस्तिकार्य ३४९
- के विशेषधर्म के लिये त्रैलोक्य  
व्यवस्था
- धर्मोपदेश ३२२
- धातकी व्यवस्था १२८ १९
- का वर्णन १३१
- धारणा २२
- के भेद २३
- धूमप्रमा ११७
- नाम कर्त्ता १९

—मे नरकवास १२२

—मे लेश्या १२३

—मे वेदना १२३

—मे स्थिति १२५

—मे प्राणियगमन १२५

ध्यान ३१८, ३१९, ३२३, ३२४

—का कालमान ३०३, ३०५

—का अधिकारी ३२३

—के स्वरूप मे मतान्तर ३२५—  
३२६

—के चार भेद ३२७

ध्यान प्रवाह ३२६

ध्यानान्तरिका ३२५

ध्रुव २३, २५

ध्रौव्य १९३

न

नक्षत्र १४४

—की ऊँचाई १४६

नश्रत्व परीषद ३११, ३१२

—के विषय में मतभेद ३१२

—को अचेलक परीषद भी  
कहते हैं ३१३

नपुंसक

नपुंसकलिङ्ग

नपुंसकवेद

} १११, २८६

—का विकार ११२

—के विकार का उदाहरण ११०

—मे कठोरता और कोमलता का  
मिश्रण ११२

—के बन्ध कारण २३३

—उत्पादक कर्म २८९

नम्रवृत्ति (नीचैर्वृत्ति) २२८, २३७  
नय २११, ५१

—और प्रमाण का अन्तर ११

—के भेदों की तीन परंपराएँ ५१

—के निरूपण का क्या भाव है ५१

—विचारात्मक ज्ञान है ५२

—श्रुत ज्ञान होते हुये भी अलग  
देशना क्यों ५२

—न तो स्वतंत्र प्रमाण है और न  
अप्रमाण ही ५३

—श्रुत प्रमाण का अर्थ है ५३

—को श्रुतज्ञान से अलग कथन  
करने का कारण ५३

—का सामान्य लक्षण ५५

—के सक्षेप मे द्रव्याधिक और  
पर्यायाधिक दो भेद ५५

—के विषय मे शेष वक्तव्य ६४

—के पर्यायशब्द-नयदृष्टि, विचार  
मरणि सापेक्ष अभिप्राय ६५

—के दो भेद शब्द नय और अर्थ  
नय ६६

—के दो भेद ज्ञाननय और क्रिया-  
नय ६६

नयवाद ५१, ५०

- का दूसरा नाम अपेक्षाभाव ७२
- के कारण अंतःकरण भाग की  
विशेषता ५३
- आत्म प्रमाण में समाविष्ट है  
७१
- को आपस प्रमाण से पुनः कहने  
का कारण ५४
- की प्रतिष्ठा में है ७४
- ।रक (मरकापास) ११७
- और मारक का अन्तर ११२
- मरकागति (नामधर्म) ११९
- मरकामूर्ति ११८
- मारकों का निवासस्थान ११८
- अधोलोक में है ११८
- माघ है ११८
- के एक दूसरे के नीचे है ११८
- की मोटाई ११ ११
- के सात धनोदधिकरण ११
- के चर्चा आदि नाम १२
- का सत्यान उपाधिकरण के  
समान १११
- म मरकावासी का स्थान १२१
- में प्रदरों की संख्या १२
- म मरकावासी की संख्या १२२
- में कैरवा परिणाम शरीर  
१२२ १२३
- म कैरवा और विधिवा १२३
- म मर होनवाले प्राणियों का  
अन्त १२५

—में शिथिल और अनुप्य ही पैदा  
हो सकते हैं १२७

### मरकापु

—के मन्वहेतु २२७

### मरकापास १२१

—मर के बुरे के लक्ष्य लक्षणों  
होते हैं १२२

—का अस्वात १२२

### मरकामूर्ति (प्रतिमा) १ ७

भाग (दिश) १४९

भागकुमार १४३

—का चिह्न १४७

—की स्थिति १५

भाग्य २८२ १८४

### मरम

—पौरिक और रूप १

मरम (धर्म) १८४ २८५

—की ४२ प्रकृतियाँ २८७, २८९

—की स्थिति २९२

### मारक ११७

—का अन्वेषण पश्य होता है ५९

—अपुनः ही होते हैं १११

—के शिवा परिणाम शरीर

१२२ १२३

—के शिवा विधिवा १२१ १२४

—के तीन शिवाएँ १२४

—अपुनः ही जायुंवाले होते हैं

११२ ११५

—की स्थिति ११८, १२५, १६२

—मर कर न देव बनते हैं न  
नारक १२५

नारकानुपूर्वी (नामकर्म) २९९

नारकायु } २८७, २८९, २९९  
नारकायुष्क }

नारद (देव) १४५

नाराच (संहनन) २९९, ३२३

नाश ३३३

निःशल्य २५९

निःशीलत्व २२७, २३४

निःश्रेयस ३०१

निःसृतावग्रह २४

—देखो निश्चित

निकाय १३७

निक्षेप ९, २२३, २२४

—के नाम आदि चार भेद और  
उनकी व्याख्या ११, १२

—के अपत्यवेक्षित आदि चार भेद  
और उनकी व्याख्या २२४, २२५

निगोदशरीर १७७

निग्रह ३०१

नित्य १९५, १९६, १९७

नित्य अवक्तव्य १९९

नित्यत्व १६७

नित्यानित्य १९९

नित्यानित्य अवक्तव्य १९९

निदान (शल्य) २५९

निदान (आर्तध्यान) ३२८

निदानकरण २७८, २७६

निद्रा २८६

निद्रानिद्रा २८६

निद्रावेदनीय (कर्म) ३२०

निद्रानिद्रावेदनीय (कर्म) ३२०

निन्दा २३६

निबन्ध ४४

निरन्तर सिद्ध ३४९

निरन्वय क्षणिक १९४

निरन्वय परिणाम प्रवाह ६८, ६९

निरोध ३००

निर्ग्रन्थ ३३७, ३३८

—के पाँच भेद ३३७

—की विशेष विचारणा ३३८

—के यथाख्यात सयम ३३८

—में श्रुत ३३८

—तीर्थ (शासन) में होते हैं ३३९

—में लेख्या ३३९

—का उपपात ३४०

—के सयम प्रकार ३४१

निर्जरा २९३, २९५, ३३५

—फलवेदन और तप से होती हैं  
२९५

—की परिभाषा ३३५

—मोक्ष का पूर्वगामी अंग है ३३५

निर्जरानुपेक्षा ३०६, ३०९

निर्वैका १०

निभयता २४३  
 निर्माण (नामकर्म) २८७ २९१  
 २९८  
 निर्बलता २२३ २२४  
 —के दो अर्थ २२४  
 निर्बाण १२५  
 निर्बुद्धीन्द्रिय ८२  
 निर्बेद ३ ३ ७  
 निर्बलत्व २०७ २३४  
 निश्चित २४  
 निश्चितवाही २७ २४  
 निश्चयदृष्टि  
 —संसारी इत्यस्य प्रतिष्ठ है २७२  
 निश्चय द्विधा (भाषाद्विधा) २५२  
 निषद्यापदीयह ३११ ३१३  
 निषध (पर्येत) १०८ १३१  
 निष्प्रिय  
 —वर्मान्दिकाय आदि तीन इत्य  
 ११८ ११९  
 निमग्न ६ ०२३ २२६  
 —द्वयान् भेद २०  
 निमग्नविद्या ३९  
 निमग्न २०६ ३३९  
 नीचगांध (कर्म) २ १  
 —के अर्थ ३ २८ २९९  
 नीचैर्गोत्र ०२९  
 नीचैर्गुणि (नक्षत्रगुणि) २३८  
 —के अर्थ १ ८ १३९

नीला (द्वयान्) १८५  
 नैगम (अर्थ) ५१ ५३ ५७  
 —का उदाहरण ५७  
 —सामान्यवाही है ५९  
 —का विषय सब से विज्ञान ५  
 नैषादिक ६८  
 नोकवाय } २८६  
 नोकवाय आरिष मोहनीय } २८९  
 नोकवाय वेदनीय } २९९  
 न्यप्रोद्यपरिमण्डल (संस्थान)  
 २९९  
 न्यायवदान १९७ १७९  
 न्यास (देखा निक्षेप) ९  
 न्यासापहार (अतिचार) १६९  
 ५  
 पक्ष १८८  
 पक्षी १  
 पशुप्रमा ११७ (विचरत्य के-  
 लिय देखो धूमप्रमा)  
 पशु बहुल (काण्ड) १९  
 पञ्चेन्द्रिय ८१  
 —की संख्या ८७  
 पञ्चद्विध आति (नामकर्म) २९८  
 पङ्क (रेख) १८६  
 पशुप्रमा १  
 —की आलचार के लिये संज्ञ  
 का अर्थ १०

परनिन्दा २०८, २३६

परप्रशंसा २२८, २३६

परमाणु १६८

—रूपी मूर्त है १६८

—के प्रदेश (अश) नहीं होते  
१६९, १७१, १८९

—का परिमाण सबसे छोटा है  
१७१

—द्रव्य मे निरग है पर्याय रूप से  
नहीं १७२

—एक ही आकाश प्रदेश में स्थित  
रहता है १७४

—अन्त्यद्रव्य, नित्य, तथा सूक्ष्म, एक  
वर्ण, एक गन्ध, एक रस, और दो  
स्पर्श वाला होता है १८९

—अतीन्द्रिय है आगम और अनु-  
मान से साध्य है १८९

—भेद से ही उत्पन्न होता है १९०

—किसी का कार्य नहीं १९१

—की उत्पत्ति सिर्फ पर्याय दृष्टि  
से १९१

—द्रव्य दृष्टि मे नित्य है १९१

परमाधार्मिक देव १२४, १२६

पररूप (परापेक्षा) १९७, १९८

परलिंग ३४७

परविचाह करण ( अतिचार )

२६९, २७०

परव्यपदेश (अतिचार) २७०, २७६

पराघात (नामकर्म) २८७, २९१,  
२९८

परिग्रह २४०, २३३, २५८

—देवो का १५३

परिणाम १८३, २०४, २११

—बौद्ध मतानुसार २११

—नैयायिक मतानुसार २११

—जैन मतानुसार २११

—द्रव्यो और गुणो का २२

—के भेद और आश्रय विभाग  
२१२

परिणामी नित्यता ६९

परिणामि नित्यत्ववाद

—जड और चेतन दोनो में लागू  
होता है १९५, १९६

—का साधक प्रमाण अनुभव है  
१९६

परिदेवन (रुदन) २२६, २३०

परिहार (प्रायश्चित्त) ३००

परिहार विशुद्धि (चारित्र्य) ३१६,  
३१७, ३३८, ३४८

परीषद् ३१०, ३११, ३१२

—के नाम ३११

—एक आत्मा में एक माय  
१९ तक पाये जा सकते हैं ३११

—वाईस होते हैं ३११, ३१२

परीषद्जय ३०१

परोक्ष १८

—ज्ञान दो १८

—का सम्बन्ध वर्तमानांतर में १९

पर्याप्त (नामकर्म) २८७ २९

पर्याप्त २७

—का ग्रन्थ के साथ अधिनाभाव  
सम्बन्ध २७

सुसंज्ञित परिभाषा है २५

पर्याप्तद्वि ५५ १९८ १९९

पर्याप्त शिष्टकर्म { ५५ ३ ३३३

पर्याप्तस्विकाय { ५५ ३ ३३३

—का विषय कथन ५१

—के चार भेद ५७

—संतत्य विषयक ५४

के दो भेद व्यवहार और निश्चय

३१

पश्चात्तम १२८

पारिभाषिका (संज्ञाति) ९३

पाप २१५

पापमकृति ७

पारिभाषिकी क्रिया ९२

पारिभाषिक (भाष) १० ७ ३४

—के तीन भेद ३८

के भेदा की व्याख्या ७१

—के अनेक भेद ७२

पारिभाषिकी क्रिया १

पारिषय (वेद्य) १३

पिच्छमकृति (१५ है) ७५

पिपासावरीषह (सूया) ११२

पिच्छाब्द १४६ १४६

—के १५ प्रकार १४६

पीडा (हरिप्रवर्ण) १८५

पुच्छिह (बेजो पुच्छपक्षे)

पुच्छे २८९

पुष्प २१५

पुष्पपाप

—का अन्वयार्थ ८

—इन्द्रपुष्प इन्द्रपाप ८

—नाभपुष्प नाभपाप ८

पुष्पमकृति २९७

—४२ है ९८

पुद्गल (अस्तिकाय) १९४

—अवयव रूप तथा अवयव प्रथम

रूप है १६४

—बहु सजा त्रिफ बीन घासों में

हैं प्रसिद्ध है १६५

—के स्थान में बीनतर घासों में

प्रधान प्रकृति परमाणु आदि

कथ्य हैं १६

—ही कभी अवशिष्ट मूर्त है १६६

१६८ १७१

—निरय अवशिष्ट १६६

—क्रियाधीन और अनन्त अस्तित्व

रूप है १६४

—के अन्वय अन्वयार्थ अन्त

प्रसिद्ध है १६९ १

—के लक्षण विषय रूप नहीं १७

प्रभञ्जन (इन्द्र) १३९

प्रभाव

—देवों का १५१

प्रमत्तयोग २४९

—अदृश्य है २५२

—ही वास्तव में हिंसा है २५३

प्रमत्त सयत ३२७

प्रमाण २, ११, १८

—की चर्चा १८

—के दो भेद १८

प्रमाणाभास १७

प्रमाद २५१, २७९, २८१

—असयम है २७९

प्रमोद (भावना) २४६, २४८

प्रयोग क्रिया २१९

प्रयोगज (शब्द) १८६

—के छह प्रकार हैं १८६

प्रवचन भङ्गित २२८, २३६

प्रवचनमाता

—आठ हैं ३३९

प्रवचन घट्सलत्व २२८, २३६

प्रवीचर १४१

प्रवृत्ति

—संज्ञान और अज्ञान २२२

प्रव्राजक ३०६

प्रशसा २३६

प्रशम ६

प्रस्तर १२२

प्राण

—नि श्वास वायु १८१

—दस हैं २१९

प्राणत

—इन्द्र १४०

—स्वर्ग १४४

—का स्थान १४४

—में उत्कृष्ट स्थिति १६०

प्राणवध २४९

—दृश्य है २५२

प्राणातिपातिकी क्रिया २१९

प्रात्ययिकी क्रिया २१९

प्रादाषिकी क्रिया २१९

प्राप्यकारी (इन्द्रिय) ३२

प्रायश्चित्त ३१८, ३१९, ३२०

—के नौ प्रकार ३२०

—के दस भेदों का कथन ३२१

प्रायोगिक (बन्ध) १८७

प्रेष्य प्रयोग (अतिचार) २६९,

२७४

व

वकुश (निर्ग्रन्थ) ३३७

—के दो प्रकार ३३९

—विवर्ण के लिये देखो पुलाक

वन्ध (कर्म का) ७, २८२

—द्रव्यवन्ध ८

—भाववन्ध ८



पातञ्ज १९

पौषपोषबास २६१ २६४

—के अतिचार २७ २०५

प्रकीर्णक (वेद्य) १३९

प्रकृति (बन्ध) २८ २८३ २८३

प्रकृति सूक्ष्म २९५

—मूल प्रकृतियों का नहीं सिद्ध

उत्तर प्रकृतियोंका ही २९४ २९५

प्रचक्ष्णा

प्रचक्ष्णावेदनीय } २८९ २८७

प्रचक्ष्णाप्रचक्ष्णा

प्रचक्ष्णाप्रचक्ष्णा वेदनीय २८९ }  
२८७

प्रचक्ष्णा ३१२

ब्रह्मापरीपह ३११ ३१४

प्रणीतरस मोक्षम वर्जन २८५

प्रतर (सूक्ष्म भेद) १८८

प्रतिबन्धक १२

प्रतिच्छिन्न (वेद्य) १४६

प्रतिरूप

—इय १४

—वेद्य १४६

प्रतिरूपक व्यवहार (प्रतिचार)

१ २७२

प्रतिमयता बुद्धिसिद्ध (निबन्ध)

३३८

—विचारण के लिय देसा पुताक

प्रत्यक्ष १८

—के भव १८

—का सत्त्वान वर्तमान्तर में १९

—साध्यवहारिक १९

प्रत्यभिज्ञान २

—साधिकाय का बाधक है १९६

प्रत्याख्यान २८६

प्रत्याख्यानानुबन्धीय २८९

प्रत्येक (उत्तीर नामकर्म) २८७

२९, २९८

प्रत्येक बुद्धबोधित ३४६

—की अपेक्षा में सिद्धों का विचार

३४८

प्रत्येकबोधित ३४८

प्रक्षीय

—का जीव के संकोच विकास में

उदाहरण १७९

प्रवेश

—का मन्तव्य १७

—जीव परमाणु में प्रतर १७१;

—परमाणु परिमित भाग को कहते

हैं १७१

प्रवेश (बन्ध) २३८ २८ २८३

२८४

—का वर्जन २९५

—के आचार वर्जस्वल्प और

माया

—के बार में प्रमीतर २ ६

: प्रचक्ष्णाद्वय ७

प्रभञ्जन (इन्द्र) १३९

प्रभाव

—देवों का १५१

प्रमत्तयोग २४९

—अदृश्य है २५२

—ही वास्तव में हिंसा है २५३

प्रमत्त सयत ३२७

प्रमाण २, ११, १८

—की चर्चा १८

—के दो भेद १८

प्रमाणाभास १७

प्रमाद २५१, २७९, २८१

—असमम है २७९

प्रमोद (भावना) २४६, २४८

प्रयोग क्रिया २१९

प्रयोगज (शब्द) १८६

—के छह प्रकार हैं १८६

प्रवचन भङ्गित २२८, २३६

प्रवचनमाता

—आज हैं ३३९

प्रवचन वत्सलत्व २२८, २३६

प्रवीचर १४१

प्रवृत्ति

—मज्ञान और अज्ञान २२२

प्रव्राजक ३०६

प्रशसा २३६

प्रशम ६

प्रन्तर १२२

प्राण

—निश्वास वायु १८१

—दस हैं २१९

प्राणत

—इन्द्र १४०

—स्वर्ग १४४

—का स्थान १४४

—में उत्कृष्ट स्थिति १६०

प्राणवध २४९

—दृश्य है २५२

प्राणातिपातिकी क्रिया २१९

प्रात्ययिकी क्रिया २१९

प्रादाधिकी क्रिया २१९

प्राप्यकारी (इन्द्रिय) ३२

प्रायश्चित्त ३१८, ३१९, ३२०

—के नौ प्रकार ३२०

—के दस भेदों का कथन ३२१

प्रायोगिक (बन्ध) १८७

प्रेष्य प्रयोग (अतिचार) २६९,

२७५

व

वकुश (निर्ग्रन्थ) ३३७

—के दो प्रकार ३३९

—विवर्ण के लिये देखो पुलाक

वन्ध (कर्म का) ७, २८२

—द्रव्यवन्ध ८

—भाववन्ध ८

पातञ्ज ११

पौषघोषवास २६१ २६४

—के अतिचार २७ २७५

प्रकीर्णक (देव) ११२

प्रकृति (बन्ध) २८ २८१ २८१

प्रकृति सूक्तम् २९५

—यूक्त प्रकृतियों का नहीं सिद्ध

उत्तर प्रकृतियोंका ही २९४ २९५

प्रकृष्टा  
प्रकृष्टावेदनीय } २८६ २८७प्रकृष्टाप्रकृष्टा  
प्रकृष्टाप्रकृष्टा वेदनीय २८६ }  
२८७

प्रकृष्टना ३२१

प्रज्ञापरीपह ३११ ३१८

प्रजीतरस भोजन वर्जन २४५

प्रतर (स्कन्ध मेव) १८८

प्रतिक्रमण १२

प्रतिच्छिन्न (देव) १४६

प्रतिरूप

—इन्द्र १४

—इव १४६

प्रतिरूपक व्यवहार (अतिचार)

२६९ २७२

प्रतिभेयता कुशील (निर्दिष्ट)

३३८

—विचार के लिय देना पुलाक

प्रत्यक्ष १८

—के घेव १८

—का लक्षण स्व्यमास्तर में १९

—साम्बन्धकारिक १९

प्रत्यभिज्ञान २

—साम्बन्धकार का साधक है १९६

प्रत्याख्यान २८६

प्रत्याख्यानानुबन्धीय २८९

प्रत्येक (शरीर नामकर्म) २८७,  
२९, २९८

प्रत्येक बुद्धबोधित ३४६

—की अपेक्षा से सिद्धों का विचार  
३४८

प्रत्येकबोधित ३४८

प्रतीय

—का जीव के संकोच विकास में  
उदाहरण १७६

प्रवेष्टा

—का मतस्वर १७

—जीव परमाणु में अन्तर १७१;

—परमाणु परिमित भाव को दर्शाते  
हैं १७१प्रवेष्टा (बन्ध) २३८ २८ २८६  
२८४

—का वर्धन २९५

—के आचार कर्मस्वर जीव  
भारता २९

—के बारे में प्रश्नोत्तर २९६

प्रवेष्टोक्तय ७

प्रभञ्जन (इन्द्र) १३९

प्रभाव

—देवो का १५१

प्रमत्तयोग २४९

—अदृश्य है २५२

—ही वास्तव में हिंसा है २५३

प्रमत्त सयत् ३२७

प्रमाण २, ११, १८

—की चर्चा १८

—के दो भेद १८

प्रमाणाभास १७

प्रमाद २५१, २७९, २८१

—असयम है २७९

प्रमोद (भावना) २४६, २४८

प्रयोग क्रिया २१९

प्रयोगज (शब्द) १८६

—के छह प्रकार हैं १८६

प्रवचन भङ्गित २२८, २३६

प्रवचनमाता

—आठ हैं ३३९

प्रवचन वत्सलत्व २२८, २३६

प्रवीचार १४१

प्रवृत्ति

—सजान और असजान २२२

प्रव्राजक ३०६

प्रशसा २३६

प्रशम ६

प्रस्तर १२२

प्राण

—नि स्वास वायु ६८१

—दस है २१९

प्राणत

—इन्द्र १४०

—स्वर्ग १४४

—का स्थान १४४

—में उत्कृष्ट स्थिति १६०

प्राणवध २४९

—दृश्य है २५२

प्राणातिपातिकी क्रिया २१९

प्रात्ययिकी क्रिया २१९

प्रादाबिकी क्रिया २१९

प्राप्यकारी (इन्द्रिय) ३२

प्रायश्चित्त ३१८, ३१९, ३२०

—के नौ प्रकार ३२०

—के दस भेदों का कथन ३२१

प्रायोगिक (बन्ध) १८७

प्रेत्य प्रयोग (अतिचार) २६९,

२७४

व

वकुश (निर्ग्रन्थ) ३३७

—के दो प्रकार ३३९

—विवरण के लिये देखो पुलाक

वन्ध (कर्म का) ७, २८२

—द्रव्यवन्ध ८

—प्राणवन्ध ८

—एक प्रकृति के बन्ध के समय  
 विचिरोपी ऐसो और प्रकृतियों  
 का भी २३८

—ऐसे होता है २८२  
 —के प्रकार २८३

**बन्ध (पौर्णलिक)**

—के दो भेद १८७  
 —के हेतु १९९  
 —से उपशुकादि स्वप्न बनते हैं  
 २

—के अपवाद २  
 —की विस्तृत प्रक्रिया २ २ ५  
 —के विषय में श्वेताम्बर विष्णुम्बरों  
 में मतभेद २ १  
 —का भाष्यवृत्ति और शर्वादि  
 सिद्धि के अनुसार कौण्डिक २ २

—सबुध और विषुबुध २ ५

**बन्ध (अतिचार) २९९ २७२**

बन्धकस्त्रे ३४५  
 बन्धतस्त्र २७९

बन्धन (नामकर्म) ७ २९

बन्धहेतु २७९ ३४३  
 —पाँच हैं २७९  
 —की संख्या के बारे में तीन  
 परंपराएँ २७९

**बन्धि (राम्य) २३९**

—की स्थिति १५९

—और बहुविध का अन्तर २४

बहुविध (अवग्रह) २३ २४

बहुसुत भक्ति २२८, २३६

बाहर (नामकर्म) २८७ २९१  
 २९८

बाहर संपराय ३१५

—में २२ परीपह ३११

बाह्यतप २३१ २३५

—ईश्या का बन्धहेतु २२७

बाह्यतप ३१८

—के चर्चों की व्याख्या ३१९

बाह्योपधि व्युत्सर्ग ३२३

बुद्धबोधित ३४८

बुध (ग्रह) १४७

बाधितुर्धर्मत्वानुमेक्षा ३ ६ ३१७

**बौद्धदर्शन**

—के अनुसार आत्मा ६८

**ब्रह्म**

—वा व्युत्सर्ग २५७

ब्रह्मबोध (धर्म) ३ ३, ३ ६

—निरूपवाद है २५५

ब्रह्मबोध गुणवत् २६३

—के अतिचार २६९, २७२

ब्रह्मब्रह्मस (वेद्य) १४६

ब्रह्मलोक (स्वर्ग) १४४

—का स्थान १५

—में उत्कृष्ट स्थिति १६

भ

भक्तपान संयोगाधिकरण २२५

भजना (विकल्प) १७४

भद्रोत्तर (तप) ३०६

भय { २८६,

भयमोहनीय } २८९

—का वन्व कारण २३३

भरतवर्ष १२८

भवन १४८

भवनपति १३७

—के दश भेद १३८

—में लेख्या १४०

—का स्थान १४४

—कुमार क्यों कहलाते हैं १४४

—के चिह्न आदि १४५

—की उत्कृष्ट स्थिति १५८

—की जघन्य स्थिति १६२

भवप्रत्यय (भवधिज्ञान) ३८

—के स्वामी ३८

भवनवासिनिकाय १४३

—देखो भवनपति

भवस्थिति १३५

—पृथ्वी आदि की १३५

भव्यत्व ६८, ७२

—का नाश मोक्ष में ३४४

भाज्य ४७, १००, २७२, ३११

भाव ६७

—पाँच हैं ६७

—के कुल ५३ भेद ७१

भावबन्ध ७८

भावभाषा १८१

भावमन १८१

भावलिङ्ग ३३९

भाववेद १११

—तीन हैं १११

भावहिंसा (निश्चयहिंसा) २५२,

२५३

भाषाधिकरण २२३

—के भेद २२३

भावेन्द्रिय ८२, ८७

—के दो प्रकार ८२

भाषा ९

—दो प्रकार की १८१

—पौद्गलिक १८१

—शब्द का भेद १८६

भाषासमिति ३०२

—और सत्य में अन्तर ३०५

भास्वत (देव) १४५

भिक्षुप्रतिमा ३०६

भीम

—इन्द्र १४०

—देव १४६

भुजपरिसर्प १२५

भुजग (देव) १४५

भूत (देव) १४३, १४६

—के ती प्रकार १४८

मृतयादिक (द्वेष) १४५

मृतानन्द (इन्द्र) १४६

—की स्थिति १५७

मृतानुफन्त्या २६, २३१

मृतोत्तम (द्वेष) १४६

मूमि ११०

मेघ १९ १९९

—के पाँच प्रकार १८८

भैरवजप २६५

भोगभूमि २२०

भोगशाली (द्वेष) १४५

भोगान्तराय २९२

भोगोपभोगप्रल २०

—के प्रतिचारों का व्याख्या २७५

म

महल (ग्रह) १४०

मति { १९ २ ८६ २४९

मतिप्र न }

—परालप्रमाण १८

—के एतार्थक शब्द १९

—वर्तमान विषयक है १९

—वा अन्तरय कारण २

—के दृष्टि द्वय और अतिश्रिय से  
वो कारण ११

—के चार भेद २१

—के चौबीस भेद २१

—के ७८८ भेद ६

—के २३६ भेद ३२

—का विषय ४४

मतिज्ञानापरण २८४ २८९

मत्स्य १२५

मध्यम (परिणाम) १ ३

मध्यमशक { ११८

मध्यलोक }

—का आकार सागर के समान  
११८

—वा वर्णन १२०

—म असक्यात द्वीप समुद्र हैं  
१२०

मल २१

—का रक्षण ७८

—के दो प्रकार भावमल और  
द्रव्यमल ७८

—को अतिश्रिय भी कहते हैं ८३

—का इन्द्रियों से पृथक उपपादना  
८५

—को अतिश्रिय कहन का कारण  
८६

—उत्तर व्यापी है ८६

—बालि लसो है ८७

—सहित और रहित जीवों का  
फरक ८७ ८८

मनःपथप्रमाण १९ ४२ ३४९

—प्रत्यक्षप्रमाण १८

—के दो भेद ४२, ४१

—के दाना महोंमें अज्ञात ४२ ४

—और अविज्ञान का अन्तर ४३

—का विषय ४४, ४६

मन पर्ययज्ञानाचरण २८७

मनुष्य १२५

मनुष्यगति (नामकर्म) २९८

मनुष्यजाति

—का स्थिति क्षेत्र १३३

—के दो भेद आर्य और म्लेच्छ १३३

मनुष्य वक्ष (देव) १४६

मनुष्यलोक १३३

मनुष्यानुपूर्वी (नामकर्म) २९८

मनुष्यायु (कर्म) २८७, २८९, २९८

के बन्धहेतु २७७

के बन्धहेतुओं की व्याख्या २३४

मनोगुप्ति २४३, २४४, ३०२

मनोज्ञामनोज्ञ रससमभाव २४५

मनोज्ञामनोज्ञस्पर्शसमभाव २४५

मनोदुष्प्रणिधान (अतिचार)

२६९, २७४

मनो निसर्ग २२९

मनोयोग २१४

मनोरम १४५

मनोहरेन्द्रियावलोक वर्जन २४५

मन्दकर्म २८, २९

—की धारा को समझने के लिये सकोरे का दृष्टान्त ३०

मरण १८५

मरणाशंसा (अतिचार)

२७०, २७६

मरुत (देव) १४५

मरुत (लोकान्तिक) १५६

—का स्थान १५६

मरुदेव (देव) १४५

मरुदेवी ३३२

मलपरीषद्—३११, ३१४

महाकादम्ब (देव) १४५

महाकाय

—इन्द्र १४०

—देव १४६

महाकाल

—इन्द्र १४०

—देव १४६

महाघोष (इन्द्र) १३९

महातम प्रभा ११७

—विवरण के लिये देखो

धूम प्रभा

महादेह (देव) १४६

महापुरुष

—इन्द्र १४०

—देव १४६

महावेग (देव) १४६

महाव्रत २४२, २६२

महाशुक्र (स्वर्ग) १४८

—का स्थान १५०



—सं उत्कृष्ट स्थिति १५७

महाभक्ततोमर (तप) ३०६

महासिंहबिक्रीकृत (तप) ३ ६

महास्कन्धिक (द्वेष) १४६

महास्कन्ध १७४

महाद्विमवत् १२८ १३१

मोहन्य (स्वर्ग) १४४

—का स्वान १७६

—सं उत्कृष्ट स्थिति १६

मोहोपश (द्वेष) १४५

महोरय १४३

—के वर प्रकार १४५

माघकी १२

माघम्या ११

माण्डिमरु

—द्वय १४

—द्वेष १४६

माया ३२५, ३२६

मास्तर्य-२२६ २२९

—वर्तितार १७ १७६

माध्यस्थ वृत्ति २७६ २४८

मात्र (कपाय) २१८

मानुष २२६ २८६

मानुषोत्तर (पक्ष) १२८ १३६

माया (कपाय) २१८

—तिर्यक मानु का बन्धहेतु

२२७ २३४

माया क्रिया ३९

मास्यामित्री (संकेतना) २६७

मार्ग प्रमाणात् २२८ २३६

मार्गाध्ययन ३१

मार्ग्य (घण्ट) ३ ३, ३ ५

मापतुष ३३२

मात्र (काठ) १४८

मिथानुराग २७ २७६

मिथुन २५७

मिथ्यात्व (मोहनीय) २८१ २८६

मिथ्या वर्तन २७९, २८ २८१

मिथ्यात्व क्रिया २१९

मिथ्यात्व मोहनीय २८८

मिथ्या वर्तन (घण्ट) २५९

मिथ्यावर्तन ७८, २८१

—के दो नव वनमिगुहीत और

वमिगुहीत २८१

मिथ्यावर्तन क्रिया २२

मिथ्यावृत्ति ४९

मिथ्योपदेश (वर्तितार)

२६९ २७

मिथ (क्षायोपशमिक माय) ६७

मिथ (योन) ९६

मिथ मोहनीय २८८

मीमांसा (द्वेष) १८५

मीमांसक ६८

मीमांसा द्वय

—वितारणा द्वय १९

—अनुयोग द्वय १२

मुक्तजीव ३४४, ३४५

—लोक के अन्त तक ऊँचे  
जाता है २४४

मुक्तावली (तप) ३०६

मुखरपिशाच (देव) १४६

मुहूर्त (क्षोभड़ी काल) १४८

मूढता २८१

मूढदशा २८१

मूर्छा २५८

मूर्त ८३

मूर्ततत्त्व १६८, २४२

मूर्ति १६७

—इन्द्रिय ग्राह्य गुण १६८

मूलगुण २६२, ३३७

मूलगुण निर्वर्तना २२४

मूलजाति (द्रव्य) १९५

मूल द्रव्य १६५

—का साधर्म्य-वैधर्म्य १६६

मूल प्रकृति २८४

—के आठ भेद २८४, २९४

मूलप्रकृति बन्ध २८४

मूलव्रत २६२

मृदु (स्पर्श) १८५

मेरु (पर्वत) ११८, १२८

—का सक्षिप्त वर्णन १२९

मेरुकान्त (देव) १४५

मेरुप्रभ (देव) १४५

मैत्रीवृत्ति २४६, २५०

मेथुन २५७

—का भावार्थ २५७

मोक्ष २, ३३५, ३४३

—के साधनो का स्वरूप २

—पूर्ण और अपूर्ण ३

—के साधनो का साहचर्य ३

—और उसके साधनो में क्या

अन्तर ४

मोक्षतत्त्व ३३५, ३४२

मोक्षमार्ग २

मोक्षाभिमुख (आत्मा) ३३६

मोक्षाभिमुखता ३३६

मोह २५८

मोह } कर्म २८४, २८५

मोहनीय } ३४२

—के २८ भेद २८६

—की स्थिति २९२, २९३

मौख्य (अतिचार) २६९, २७४

म्लेच्छ १२८, १३४

य

यक्ष १४३, १४५

—के १३ प्रकार १४६

यक्षोत्तम (देव) १४६

यतिधर्म ३०३

—के १० प्रकार ३०३, ३०५

यथाख्यात (चारित्र)

—के दूसरे नाम अथाख्यात और

तथाख्यात भी हैं ३१८

यदृच्छोपखण्डि ४८

यद्वमद्वय (तप) ३ ३

यद्य १२८७ २९१ २९८

यद्यःकीर्ति

यद्यस्वत (वेद्य) १४५

याचना परोपह ३११ ३१३

युग १४८

योग २, २१४ २८१ ३३१

—कर्मबन्ध का हेतु २७

—के प्रकृति और प्रवेश का बन्ध

२८ २८४

—के तीन भेद २१४

—आत्मक कर्मो २१४

—के भेद और कर्मभेद २१५

—का भूमन्व और भगुमन्व २१५

—का स्वामि भेद से कल भेद

२१७

योगनिग्रह ३ १

योगनिराध ३५५

—की प्रथिमा १३५

योगदयता २३५

यामि १ ९७

—के मन्व प्रकार ७ ९८

—में ईश होनेवाले दोष ९७

९८

—और जन्म में घेर ९८

र

रति { २८६, २८९  
रतिमोहनीय }

—के बन्धहेतु २३३

रतिप्रिय (वेद्य) १४५

रतिभ्रष्ट (वेद्य) १४५

रत्नप्रभा ११७

—के तीन काण्ड हैं १२७

—के तीन काण्डों की स्थिति १२३

—में १३ प्रस्तर हैं १२२

—में द्वीप समूह आदि का सम्बन्ध

१२६

—घण्ट के सिद्धि देवों भूमप्रभा

रत्नावली (तप) ३ ६

रम्यकवर्ष १२८

रस

—पंच १८५

—नामकर्म २८७ २९

रसत (इन्द्रिय) ८१

रस परिस्वारा (तप) ३१८

—का स्वल्प ३१९

रहस्याभ्यासपान (अतिथार)

२६९ २७१

राशस १४३ १४६

—के सात प्रकार १४३

राशस राशस १४६

राग २५८

रात

—का व्यवहार १४८

रात्रिभोजन विरमण २४१

—वान्तव में मूलव्रत नहीं २४१

—अहिंसाव्रत में ने निष्पन्न २४१

रामचन्द्र ५७

राहु १८९

रिष्टा १२०

रुक्मी (पर्वत) १२८, १३१

रुक्ष (स्पर्श) १८५

रूप

—का अर्थ १६८

—का मद ३०५

रूपयज्ञ (देव) १४६

रूपशक्ति २०६

रूपशाली (देव) १८५

रूपानुपात (अतिचार) २६९, २७४

रूपी ४४, १६६, ३०१

रैवत (देव) १४५

रौगन्विता (आर्तध्यान) ३२८

रोगपरीपह ३११, ३१४

रौद्र (ध्यान) ३२७, ३२९

रौद्र (नरकावास) १२१

—का निरूपण ३२८

—शब्द की निरुक्ति ३२९

—के चार प्रकार ३२६

—शेष विवरण के लिये देखो

आर्तध्यान

रौरव (नरकावास) १२१

ल

लक्षण ७५

—और उपलक्षण का अन्तर ७५

लघु (स्पर्श) १८५

लघ्वि १०९

लघ्वीन्द्रिय ८२

लवण १२७

लवणसमुद्र १२०

लाङ्गलिका (वक्र गति) ९३

लान्तक (स्वर्ग) १४४

—का म्यान १५०

—की उत्कृष्ट स्थिति १६०

लाभ

—का मद ३०५

लाभान्तराय (कर्म) २९२

लाल (रग) १८५

लिङ्ग (चिह्न)

—द्रव्य-भाव ३३९

—को लेकर निर्ग्रन्थ की

विचारणा ३३९

लिङ्ग } (चेद) १११, ३४६

लिङ्ग }

—तीन हैं १११

—की अपेक्षा से सिद्धों का

विचार ३४७

लेक्ष्या

—औदयिक भाव ६८, ७२

—नरको में ११७, १२३

- उयोत्तिष्ठो मे १३७
- मदनपति नीर व्यवहार मे १४
- वैमानिकों मे १५५
- के द्वारा निर्वाणों का विचार

३३९ ३४

केस्या विशुद्धि (देवों मे) १५३  
लोक ११८

- तीन है ११८
- स्थिति का स्वल्प ११९
- स्थिति के बारे मे महाक का  
बुद्धान्त ११९
- का अर्थ है पाँच अस्तिकाय  
१७३

लोकनाली १५२

लोकपाल (देव) १३९

लोककण्ठि ५७ ५९

लोककाश १७५

लोकानुमेता ३ ३ ३

लोकान्त ३४४

लोकान्त प्राप्ति ३४४

लोकान्तिक (देव) १५६

—का स्थान ब्रह्मलोक १ ६

—की मन्त्र जातिवा १५६

लोम २१८

लोमप्रत्याख्यात २४३

लौकिक ८६ ५

४

लक्षणगति ११ १२

—के तीन प्रकार पाणिमुक्ता  
आदि ९३

—का काव्यमान १३

लक्षणगुप्ति ३ २

लक्षणगुप्तिप्रमाण (अतिचार)  
२६९ २७४

लक्षण निरुद्ध २२५

लक्षणमध्य (तप) ३ ६

लक्षणपर्यन्त माराच संहसन २९८  
३२३

लट (देव) १४६

लघ २२९ २७१

—बसातावेदनीय का बन्धनेल  
२०६

—अतिचार २६९

लघ परीपह ३११ ३१२

लघविद्याच (देव) १४६

लघाधिपति (देव) १४६

लघाहार (देव) १४६

लघाया २५२

लघ्य

—पाँच है १८५

—नामपर्यन्त २८७ २९

लघ्यमा (काष्ठ की पर्याय) १८२

लघ्यमान

—अवधिमान ४९

—तप ३ ६

वर्षघर (पर्वत) १२८

चलय १२७

चस्तु

—द्रव्यपर्याय रूप २७

—उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है  
१९५

वह्नि (लोकान्तिक) १५६

—का स्थान १५६

वाग्योग

—का स्वरूप २१४

वाचना ३२२

वातकुमार १४३

—का चिह्न १४५

वामन (संस्थान) २९९

वालुकाप्रभा ११७

—विवरण के लिये देखो घूमप्रभा

वासिष्ठ (इन्द्र) १४०

वासुदेव ११४

विकल्पगुण (चेतनादि) २०८

विक्रिया ११८

विग्रह गति ९०

विघ्न (देव) १४६

विघ्नकरण २२८

—अन्तराय का बन्धहेतु २३७

विन्नय ३२९

विचार ३३१, ३३२

विचारदशा २८१

विचिकित्सा २६६, २६७

विजय (स्वर्ग) १४४

—में उत्कृष्ट स्थिति १६०

विज्ञान

—का मद ३०५

वितर्क ३३१, ३३३, ३३४

वितत (शब्द) १८७

विदारणक्रिया २२०

विदेहवर्ष १२८

विद्युत्कुमार १४३

—का चिह्न १४५

विधान १२, १३

विनय (तप) ३१८, ३१९

—और वैयावृत्य में अन्तर ३१९

—के चार भेद ३२१

विनय सम्पन्नता २२८, २३५

विनायक (देव) १४६

विपर्ययज्ञान ४८

—के तीन प्रकार ४८

विपाक २९३

—शुभ और अशुभ २९७

विपाक विचय (धर्मध्यान)

३२९, ३३०

विपाकोदय ७०

विपुलमति ४२

—और ऋजुमति में अन्तर ४२

विप्रयोग ३२७

विभङ्गज्ञान (अवधिज्ञान) ४९

विरत (सम्यग्दृष्टि) ३३५, ३३६

विरति १४

विरुद्धराज्यातिक्रम (भक्तिषार)

२६९ २७२

विबिक्तशाय्यासन ३१८ ३१९

विदशाबसु (वेद्य) १४५

विषय ४४

—मति और धृति का ४४

—मति और धृति का सर्वश्रेष्ठ ४५

—प्रबन्धि का ४५

—मनःसंयम का ४६

—केवलज्ञान का ४६

विषयसरक्षणानुबन्धी (रौद्र

ध्यान) ३१९

विरुद्धम् (चौकड़ी) १२७

विसंवाह } २२८ ३५

विसंवाहन }

—अधुननाम कर्म का बन्धहेतु  
२२८

विसंभ्रुश (बन्ध) २ ४

विसर्ग २७२

विद्याधोमति (नामकर्म) २८७  
२९

—प्रवृत्त २९८

—मप्रवृत्त २९९

वीतरागस्य ३४१

वीर्य २९१

—का मन्त्र ३ ५

वीर्यान्तराय ३४३

वृत्तिपरिहृतयाम (तप) ३१८

३१९

वेणुधारी (इन्द्र) १३०

वेणुदेव (इन्द्र) १३९

वेद (विद्य) १११

—द्रव्य और भाव १११

—के विचार की उत्तमता ११२

वेदना (वेदों में) १५४

वेदनीय (कर्म) २८४ २८५

—के दो धर्म गुण वेदनीय—

और दुःखवेदनीय २८६

—की उत्कृष्ट स्थिति २९२

—की पञ्चन्य स्थिति २९३

—से ११ परीपह ३११

वेदान्त दर्शन ६८ १६८

वेदमन्त्र (इन्द्र) १४

वैक्य (शरीर) १ १ २ २९८

—ब्रह्मसिद्ध और कृत्रिम १ ९

—विशेष विवरण के लिये देखो

बीचारिक

वैक्य अकार्याग २९८

वैक्यकृत्रिम १ ७

—कृत्रिम वैक्य का कारण १ ९

—का मनुष्यों और तिरिचों में

संभव १ ९

वैजयन्त (व्यर्ग) १४४

—म उत्कृष्ट स्थिति १९

वैजयन्त १९५

—मूल द्रव्यो का १६६

चैमानिक १३७

—के वारह भेद १३८

—के दो प्रकार कलोपन्न और  
कल्पातीत १४४, १४९

—में लेश्या का नियम १५४

—में उत्कृष्ट स्थिति १५९

—में जघन्य स्थिति १६०

चैवावृत्त्य ३१८, ३१९

—के दशभेद ३२१

चैराग्य २४६, २४९

चैशेषिकदर्शन ६८, १६५, १६९,  
१७९, १८३

चैससिक (बन्ध) १८६, १८७

च्यञ्जन ३३१

—उपकरणेन्द्रिय २८

अक्षर ३२५

च्यञ्जनावग्रह २९, ३२

—किन इन्द्रियो से ३२

व्यतिक्रम २६८

व्यतिपातिकभद्र (देव) १४६

व्यन्तर (देवनिकाय) १३७

—के आठ भेद १३८

—में लेश्या १४०

—का स्थान १८५

—के चिह्न १४६

—की जघन्य उत्कृष्ट स्थिति १६३

व्यपरोपण २८९

व्यय १९३

व्यवहार } ५१, ५७, ५९  
व्यवहारनय }

—सामान्यग्राही ५९

—का विषय सग्रह से भी कम ५९.

व्यवहारदृष्टि १७२

व्याकरण ३११

व्यावहारिक निर्ग्रन्थ ३३७

व्यवहारिक हिंसा (द्रव्यहिंसा) }  
२५२

व्युत्सर्ग ३१९, ३२०

—आभ्यन्तर तप ३१८

—प्रायश्चित्त ३२०

—के दो प्रकार ३२३

व्युपरतिक्रिया निवृत्ति ( शुक्ल-  
ध्यान ) ३३१ ३३२

—देखो समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति

व्रत २२४, २४०, २७०

—के दो पहलू निवृत्ति और  
प्रवृत्ति २४०

—सिर्फ निष्क्रियता नहीं २४१.

—के दो भेद अणुव्रत और  
महाव्रत २४२

—की भावनाएँ २४३

व्रतानतिचार २२८ २३५

व्रति अनुकम्पा २२६ २३१

व्रती २५९



सु

शक (इन्द्र) १४

शङ्खा (मतिखार) २६३

शातार (स्वर्ग) १४३

शमैखर (ग्रह) १४७

शब्द १८३

—पीद्गालिक है युक्त नहीं

१८४ १८५

—के प्रकार १८३

शब्द (नय) ५१ ६ ६१

—के काक लिय उपसर्गादि

भेद से बर्त भेद के

उदाहरण ६२

शब्दानुपात (मतिखार) २१९

२७४

शब्दोच्छेद ३५

शब्दा परीच ३११ ३१३

शरीर १ १ २

—वाच है १

—का स्पृश-सूक्ष्म भाव १ २

—के उपादान द्रव्य का परिणाम

१ ३

—के आरम्भक द्रव्य १ २

—एक सात एक जीव के कितने

१ ५

—का मुख्य प्रयोजन उपभोग है

१ ७

—की जन्म सिद्धता और

कृषिमता १ ९

—बेवों के १५२

—पीरूपकिक ही है १८१

—नामकर्म २८७ २८९

शरीरबहुता (निर्धर्म्य) २३९

शक्तिरा ममा ११७

—दसो वृमममा

शास्य २५९

—तीन है २५९

शिक्षामत २६२

शिकरी पर्वत १२८ १३१

शीत (स्पर्श) १८५

शीतपरीच ३११ ३१२

शीत २२८ २३४ २७

शीतमत्तानतिखार २२८ २३५

शुक

—स्वर्ग १४३

—सूक्ष्म १४७

शुक्ल { ३२४

शुक्ल ज्ञान { ३२७

—गुण्यान और ज्ञानदेव है ३२७

—का निरूपण ३३

—के चार प्रकार ३३१

शुभ { २८७ २९८

शुभनाम { २९१

—के बन्वहेतु २२८

शुभयोग २१५

- पुण्य का वन्ध हेतु २१५
- के व्यापार २१५, २१६
- ता कार्य पुण्य प्रकृति का वन्ध २१६

शुक्ति १८७,

- शैक्ष ३०१, ३०२
- की वैयावृत्त्य ३२१

शैक्षक ३०१

शैला १२०

शैलेशी (अवस्था) ३

शैलेशीकरण ३२५

शांक

- अनता वेदनीय का वन्धहेतु २२६

शोक ( मोहनीय ) २२९, २८६, २८९

- का आन्त्रव २३३

शोचन (नरकावास) १०१

शौच २३१, ३०५

- सात वेदनीयका वन्धहेतु २२६
- धर्म ३०३

श्रद्धान ५

श्रावक २६१, २७०, ३२२, ३३५, ३३६

- धर्म के १३ भेद २७१

श्राविका ३०२

श्रुत } १६ १८ ८६  
श्रुतज्ञान } ३४९

- परोक्ष प्रमाण १८
- मतिपूर्वक होता है ३५
- मतिज्ञान का कार्य ३५
- और मतिज्ञान में अन्तर ३५
- के अनेक भेद ३६
- का शास्त्र में उपचार ३८
- का विषय ४४, ४५
- विद्यागत्मक ज्ञान है ५०
- नर्वाण में स्पर्शकग्नेवाला विचार ५३
- का अचर्णवाद २२७, २३२
- का मद ३०५

श्रुतज्ञानावरण (कर्म) २८७

श्रुतसमुद्देश ३०६

श्रुतोद्देश ३०६

श्रोत्र ८१

श्लेष (पुद्गल) वन्ध २००

- सदृश और विसदृश २००

श्वेतभद्र (देव) १४६

श्वेताम्बर

- और दिगम्बर सप्रदायो की उत्पत्ति की जड़ में नग्नत्व परीपह विषयक मतभेद ३१२

स

संकमण २९४

संक्रान्ति ३३१

सन्धिपत्र ११८

संख्या १२ ११ १४९

—की ब्यपता से सिद्धों का विचार १४९

संख्यात १९९

संख्याताणुक (सङ्ग) १७४

संख्येय १९९

संमह

समहमय } ५१ ५४ ५८

—की सामान्य लक्षणों के आभास पर विद्याभ्यास और सतिष्कता ५८

—सामान्य छाहरी है ५९

—का नियम नैगमसे कम है ५९

संम्राडक (सूत्रकार) २१३

संघ

—का अर्थात् २२७ २३२

—की संवाक्य ३२३ ३२९

—के चार प्रकार ३२३

समर्प १८७

समसाधुसमाधिकरण

२२८ २३६

सघात (सङ्ग) १९ १ ९

—नामकर्म २८० २९

संघा ८८

सङ्घी ८७

सङ्घमम (अध्यापक) २८६ २८

सङ्घि २

सङ्घि (सङ्घ) ३१४

समधारण संज्ञा ८८

संश्रययोग ३२७

संमूर्च्छित (ब्रह्म) ९६ ९७

—बाधोपीय ९९

समूर्च्छिन् } ११९

समूर्च्छिम } ११९

—बीज गुणमय ही होते हैं ११९

संयम ३ ३, ३ ५ ३४

—के १७ प्रकार ३ ५

—में उत्तम भाव का कथन ३४

संयमार्थसंयम २२७ २३१ २७४

संयोग ३२३ ३९४

—के दो भेद ३२५

संरक्षण ३२१

संरम्भ २९३

सलेकना (घल) २६१ २६३ २६४

—आत्महत्या नहीं २६४

—कम नियम है २६५

सयत् ७ ९ २२ ३

—के प्रयास ३

—के नतीज से ७ और विचार से ६९ उपाय है ३ १

संयगानुप्रस्ता ३ ६१ ९

संयुक्त (योगि) ९६ ७

संयोग ६ २७८ ३१९ ३३६

—की उत्पत्ति २४९

संसार

—वया हूँ ७८

संसारानुमेक्षा ३०६, ३०९

संसारी

—जीव के प्रकारों का कथन ७८

संस्तारोपक्रमण २६८

संस्थान १८३, २९०

—के दो प्रकार इत्यन्व और

अनित्यत्व १८७

—नामकर्म २८७

संस्थान विचय ( धर्मध्यान )

३१९, ३३०

संहनन ३२३

—नामकर्म २७८, २९०, २९९

संहरण सिद्ध ३४९

संहार १७२

सकषाय २१७

सचित्त ९६

सचित्त आहार २७०, २७५

(सचित्त निक्षेप २७०, २७५

सचित्तपिधान २७०, २७६

सचित्तसबद्ध आहार २७०,

२७५

सचित्त संमिश्र आहार २७०,

२७५

सत् १२, १९३, १९४

—का उपपादन १३

—के विषय में मतभेद १९३,

१९४

—कूटस्यनित्यनिरुन्वय विनाशी

आदि नहीं १९४

—(वस्तु) के शाश्वत और

आशाश्वत ऐसे दो अश १९४

सत्कारपुरस्कार परीषद् ३११,

३१४

सत्पुरुष

—इन्द्र १४०

—देव १४५

सत्त्व ११७, २४६

सत्य ३०३, ३०५

—और भाषा समिति का अन्तर

३०५

सत्यवत

—की पाँच भावनाएँ २४३

सत्याणुवत २६३

—के अतिचार २६९

—के अतिचारों व्याख्या २७१

सदृश (बन्ध) २०४

सद्गुणाच्छादन २२८, २३६

सद्वेद्य २२५, २८५, २९७

सनत्कुमार (इन्द्र) १४०

सप्तमरी १९९

सप्तसप्तमिका (प्रतिमा) ३०६

सफेद (रंग) १८९

सम (बन्ध) २०४

समचतुरस्र संस्थान २९८

समनस्य (समनस्य)

समनोद ३२२  
 —की वैयाकरण ३२१  
 समन्तानुपातन क्रिया २१९  
 समम्बाहार ३२५  
 समभिरुद्ध (मय) १ १२  
 स्वमय ८९ २ ९  
 समादान क्रिया २१९  
 समाधि ३२६  
 समारम्भ २२३  
 समिति ३ १  
 —पाँच है ३ २  
 —और गुण में अन्तर ३ ३  
 समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति  
 (शुक्लस्थान) ३२५ ३३० ३३७  
 वेदो म्युपरतक्रियानिवृत्ति  
 समुद्रसिद्ध ३५  
 सम्यक्कारिण २ ३  
 —पूर्व और अपूर्ण ३  
 सम्यक्त्व ७  
 —निश्चय और व्यवहार ६  
 —के सिद्ध ६  
 —ही वाग्वि का मूल है २६६  
 शेष विवरण के द्विय वेदो  
 सम्यग्दर्शन  
 सम्यक्त्व क्रिया २१  
 सम्यक्त्व भिष्यारण (तनुभव)  
 २८६  
 सम्यक्त्व (मोहनीय) २८९

—के पाँच भेद १६  
 —और अत्यन्तान का अन्तर १७  
 —का न्यायशास्त्र में अर्थ १७  
 सम्यग्दर्शन २  
 —की उत्पत्ति के हेतु १, ७  
 —निर्णय और अविगम ७  
 —का उत्पत्तिक्रम ७  
 —का निर्देश, स्वामित्व साधन १३  
 —के अन्तरय और बहिष्कृत कारण १३  
 —का अधिकरण १३  
 —की स्थिति विज्ञान सत्ता, संख्या क्षेत्र १३ १४  
 —का स्पर्शन १४  
 —के क्षेत्र और स्पर्शन का अन्तर १४,  
 —का काल अन्तर १८  
 —का भाव १५  
 —का सम्भवदुत्व १६  
 —के अतिचार १६६  
 —के अतिचारों की व्याख्या २६६  
 सम्यग्दृष्टि ७९ ३३ ३१५ ३३६  
 सराग स्वयम २२७ २३७  
 सरागसंघमादि योग ७६ २३१  
 सर्वज्ञ ३१५, ३१५, ३२६

सर्वज्ञत्व ३६२, ३६३  
 सर्वतोभद्र (देव) १८६  
 सर्वदर्शिन्य ३४२  
 सर्वार्थसिद्ध १४४, १६०  
 मन्वितर्क ३३१  
 सहजचेतना ३४२  
 सहसानिक्षेप २०४, २२५  
 सहस्रार (स्वर्ग) १४४  
 —का म्यान १५०  
 —में उल्लुष्ट स्थिति १६०  
 सांख्य दर्शन ६८, ६५, १६८,  
 १७९  
 सांप्रदायिक (कर्म) २१७  
 —के आन्वयो के भेद २१८  
 साकार (उपयोग) ७६  
 —के आठ भेद ७६  
 साकार मन्त्र भेद (अतिचार)  
 ४ २६९, २७२  
 सागरूपम १५८, १५९  
 सातावेदनीय २८८, २९८  
 —के बन्ध कारण २२६  
 —देखो सुखवेदनीय  
 सादि (संस्थान) २९९  
 साधन (कारण) १२  
 —सम्यग्दर्शन का १३  
 साधर्म्य १६५  
 —मूल द्रव्यो का १६६  
 साधारण (गुण) २०८

—नामकर्म २८७, २९९  
 —नामकर्म की व्याख्या २९०  
 साधारण शरीरी १७८  
 साधु २२८, ३२२  
 —की वैयावृत्य ३२१  
 साध्वी ३२२  
 सानत्कुमार (स्वर्ग) १८४  
 —का स्थान १५०  
 —में उल्लुष्टस्थिति १६०  
 सान्तर सिद्ध ३४९  
 सामानिक (देव) १३८  
 सामायिक २६१, ३१६, ३४८,  
 २६४  
 —के अतिचार २६९, २७४  
 —चारित्र्य का स्वरूप ३१७  
 —मयम में निर्यन्त्र ३३८  
 सारस्वत (लोकान्तिक) १५५  
 —का म्यान १५६  
 सिंह १२५  
 सिद्धत्व ३४४, ३४४  
 सिद्धशिला १५४  
 सिद्धमानगति ३४५  
 —के हेतु ३४५  
 सीमन्तक (नरकावास) १२१  
 सुख १, ५, १५०, १५१, १८१  
 —के दो वर्ग १  
 सुख वेदनीय २८६  
 (देखो साधु-३-३)

सुधानुबन्ध ( मतिबहार ) २७	२७३
सुखामास ८	१
सुगन्ध १८५	
सुषाय ( इन्द्र ) ११९	
सुवर्णकुमार १४३	
—का चिह्न १४५	
सुमद्र ( देव ) १४६	
सुमग ( नामकर्म ) २८७ २९१	२९८
सुमनामद्र ( देव ) १४६	
सुमेठ १४४ ( देवा मेठ )	
सुकुप ( वंश ) १४९	
सुकुस ( देव ) १४९	
सुस्वर ( नामकर्म ) २४७ ११	२९८
सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ( शुक्ल प्यान ) ३२७ ३३१ ३३२ ३३९	
सूरमत्य	
—अत्य और आधेयिक १८७	
—अरमान और अरमान का पर्याय	१८९
सूक्ष्मसपराय	
—गुणस्थान २९३ ३१४, ३४८	
—गुणस्थानमें १४ परीपह ३११	
—वाचि ३१६ ३१७	
—नयक ३३८	

सुत्रकार २ ९, २ ९	
सूर्य	
—इन्द्र १४	
—ग्रह १४४	
—की ऊँचाई १४६	
—में उत्कृष्टस्थिति १६३	
सैबक	
—नाम, स्थापना इत्य और	
मात्र १ १ १ १२	
सेवार्थ ( संस्थान ) २९९	
सौख्य १८३	
—देवो वृत्तत्व	
सौधर्म ( स्वर्ग ) १४४	
—का स्थान १४९	
—में उत्कृष्टस्थिति १५	
सुकम्बिक ( देव ) १४६	
सुकम्ब १७४	
—बड़ सुधुवाय रूप १९	
—कार्य और कारण रूप १९	
—की उत्पत्ति के कारण १९	
—अवयवो इत्य ही १९	
—विशेषो के लेकर अन्तर्गत- प्रदेशी तब होते हैं १९	१९१
—वाजुप और अवाजुप होते हैं	
	१९१
—वाजुप आदि के बनने में	
कारण १९१	

स्कन्ध शाली ( देव ) १४५  
 स्तनित कुमार १४३  
 --का चिह्न १४५  
 स्तेन आहृतादान ( अतिचार )  
 २६९, २७२  
 स्तेय ( चोरी ) २५६  
 स्तेयानुबन्धी ( रौद्रध्यान ) ३२९  
 स्त्यानगृह्णि २८६, २८८  
 स्त्री १२५  
 स्त्री कथावर्जन २४५  
 स्त्री परीषद् ३११, ३१३  
 स्त्री पशु पण्डक संवित शयना-  
 सन वर्जन २४५  
 स्त्रीलिंग १११  
 स्त्रीवेद १११, २८९  
 --द्रव्य और भाव १११  
 --का विकार ११२, ११२  
 --के वन्धकारण २३३  
 --नोकपाय चारित्र्य मोहनीय  
 २८६  
 स्थापना ९  
 स्थावर ७८  
 --के भेद ७९  
 --का मतलब ७९  
 --नामकर्म २८७, २९०, २९९  
 स्थावरत्व ७९  
 स्थावरदशक

--स्यावर नामकर्म की पिण्ड  
 प्रकृतिर्था २९०  
 स्थिति ( डार ) १२, १३  
 स्थिति ( वायु )  
 --मनुष्यो की १२८, १३५  
 --तिर्यंचो की १२८  
 --भव भेद और काय भेद से  
 १३५  
 स्थिति ( वन्ध ) २८०, २८३, २८३,  
 २९२  
 स्थिति ( स्थिरता ) १७८, १७९  
 स्थिति ( ध्रौव्य ) ३३३  
 स्थिर ( नामकर्म ) २८७, २९०,  
 २९८  
 स्थिरज्योतिष्क १४९  
 स्थूल ( शरीर ) १०२  
 स्थूलत्व १८३  
 --अत्य और आपेक्षिक १८७  
 स्थौल्य १८३  
 --देखो स्थूलत्व  
 स्नातक ( निर्ग्रन्थ ) ३३७, ३३८  
 --में यथाख्यात समय ही २३८  
 --में श्रुत नहीं होता ३३९  
 --के विराघना नहीं होती ३३९  
 स्निग्ध ( स्पर्श ) १८५  
 स्पर्श  
 --आठ हैं १८५



स्पर्श (भामहर्षि) १८७	१९
स्पर्शन (द्वार) १२	
स्पर्शक (इन्द्रिय) ८१	
स्पर्शन क्रिया २१	
स्मृति १	
स्मृत्यनुपस्थापन (भक्तिचार)	
	२६९ २७५
स्मृत्यन्तर्धान (भक्तिचार) २६	
	२७३
स्वगुणाच्छब्द २१७	
स्वयमूर्तमय (समुद्र) ११९	
स्वरूप १९८	
स्वस्वक्रिया ७२	
स्वाध्याय (तप) ११८ ११९	
—क पाँच भेद १२२	
स्वामित्य १५ ११	
ह	
हरि (इन्द्र) ११९	
हरिवच (क्षेत्र) १२८	
हरिसद (इन्द्र) ११९	
हास्यप्रत्यावधान १४१	
हास्य	१८७
हास्यप्रोहनीय	२८
—क वचन वारण १३३	
हादा (द्वय) १४५	

हिसा २४ २४१ २४९ २५१	
—की सक्षोपता भावना पर अत्र	
लक्षित है २५२	
—उच्य २५२	
—व्यावहारिक २५	
—याव २५२	
—प्रमत्त योग ही है २५३	
—की क्षोपक्षपता और अक्षोपक्ष	
ता २५४	
—में असत्यादि सभी बाप समा	
जाते हैं २५९	
हिसालुबन्धी (रौद्रध्यान) १२९	
हिन्दुस्तान ५८	
हिमयत् (वान) १२८ १३०	
हिरण्य सुवर्णप्रमाणातिक्रम	
(भक्तिचार) ११ १७१	
हीनाधिकमानाग्मान (भक्तिचार)	
	१६९ २७२
हीनमान (अवधि) ७७	
हुह (सस्यान) २९९	
हुह (वेद्य) १६५	
हुहयगम (वेद्य) १६५	
हुमयतवप १२८	
हुरण्यपठवप १२८	

# शुद्धिपत्रक

## परिचय

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
८.	१९.	—मूलनाम.	—मूलनाम
४	२२	समुपधापि	समुपवायं
५	३	—गमख्य	—गमाख्य
५	१६	अयं	अयं
६	२६.	युज्जराती	गुज्जराती
७	२६	समाञ्ज	सामञ्ज
८	२३	मादरसगुणे-	मादरसगुले-
९	८	है ।	है ?
१०	२१.	गण	गुण
१०	२४	'पर्याप्त'	'पर्याय'
११	२.	एकदन्वस्मिभो	एकदन्वस्मिआ
११	१८	परिणाम	परिणाम
१२.	२५	सविस्तर के	सविस्तर परिचयके
१३	१३	दद्यमानस्व	दद्यमानस्व
१३	१६.	सख्येयस्यार्थ स्या-	सख्येयस्यार्थस्य
१६	१२	प्रसिद्ध	प्रसिद्ध
१७	८	उमास्वाति	उमास्वाति
१८	२१	विभज्य	विभज्य
१८	२२.	—करिणैव माह	—करिणैवमाह
१९	२१.	बद्धर्थ	बद्धर्थ
१९	२४	मोक्षमार्ग	मोक्षमार्ग
२०	३	ब्रह्मसूत्र	ब्रह्मसूत्र
२१	११	भाष्य विरोधी	भाष्याविरोधी
२३	१७	स्मरण	स्मरण

२३	२७	साधभाषित -	अग्निभाषित
२४	३	कुम्भा रे ।	कुम्भा रे <sup>३</sup>
२८	४	अथेत	अथेत
३	५	छम्पाद	अपवाद
३२	६	मायना	मायना
३३	९	गनाए	- क्माए
३२	२४, २५	ब्राह्मण	ब्राह्मण
३३	२९	और पू ९	और पू १८ २९
३३	२९	—मुपम्लभाह	—मुपम्लभाह
३६	३	उजेक	उजेक
३७	७	दार्शनकम्भ	दार्शनकम्भ
३९	२२	धीकम्भ	धीकम्भ
३९	२६	अमिमल से	अमिमल
४	२९	न येकाह—	नयेकाह—
४	२९	स्वयोथा—	स्वयोथा—
४	२९	गुणी (म्ये)	गुणी
४	२९	बुपुबुपिका	बुपुबुपिका
४	२९	प्रसंगेक	प्रसंगेक
४२	६	गणितमा भमल	गणि सम्भ्रममल )
४९	८	विदसेन	विदसेन
४७	१७	मिन्नी बान	मिन्नी हो घेठा अत
४८	९	मिन्नीकेली	मिन्नीकेली
५२	९	प्रवर्तता	प्रवर्तता
६५	२	एक लप—	एक लपलपक अनुगामी बृहरे लप—
६	१	नासे	नासे
७	२७	करते हैं	करते हैं
७१	३	पर से	परसे कात अर्पये सेर नहीं पवत । इन तीन रूपों में स्वर्ग की शब्द और

७१	६	( ८ २६ )	( ८. २६ ) है
७१	१५	सूत्रपाठ	सूत्रपाठ
७१	२५	बसली है	असली है
७७	३	साक्षात् या	साक्षात् या
९४	९.	पढना या स्वव पढाने	पढाना या स्वय पढने

### सूत्रपाठ

९८	अतिम	अयोपशममनि०	अयोपशमनि०
९९	१.	विशुद्ध	विशुद्ध
१००	७	—पञ्ज	पञ्च
१००.	१९	त्वानी	त्वानि
१०१	१३	प्रथम नत्र का टिपण अनावश्यक है ।	
१०६	१०	वंशधरपर्दता	वंशधरपर्वता
१०९	८	औपापा०	औपपा०
१०९	१४	उच्छ्वासा हार—	उच्छ्वासाहार—
११	११	पपाता नुमाव—	पपातानुभाव—
११०	४	—पञ्चदश—	—पञ्चदश—
११३	१३	सूत्रको इस प्रकार पढें	—सुखदु खजीवितमरणोप- ग्रहाश्च ।
११५	६.	काल—	काल—
११६	७	पञ्चविंशति—	पञ्चविंशति—
११७	१३	० स्यायुपा	० स्यायुष
११९	५	० दशनम्	दर्शनम्
१२०	१९	शद्ध	शब्द
१२४	१५.	० बन्ध्यत्या—	० बन्ध्यप्रत्या—
१२६	११	भार्गा—	मार्गा—
१२७	१५	युगपदेकस्मिन्नकाष्णविंशते	युगपदेकस्मिन्नैकाष्ण- विंशतेः
१२७	२०	कार को यथा—	कार को अथा—
१२७	२१	यथाख्यात	अथाख्यात

## विशेषण

३	२१	विशेष	विशेष
४	५	उत्कृष्ट	उत्कृष्ट
४	१६	तिर्यग्	तिर्यग्
५	१८	विरति	विरति
६	१९	अमात्रिक	अमात्रिक
	५	मोक्षमार्ग	मोक्षमार्ग
९	२	जीवात्मीवादि	जीवात्मीवादि
१५	१५	सब मध्यम कास	सब कास मध्यम
१७	१	करते	करते
२८	१	करते	करते
३६	१	अपेक्षा होने पर भी समान	अपेक्षा समान होने पर
४७	२२	को शक्ति	की शक्ति
४८	१२	शक्तियों	शक्तियाँ
४८	१४	अभाव ही	अभाव है।
५९	५	प्रकार	प्रकार
६	१६	आत्मना यही	आत्मना नहीं
६४	१७, २	अस्तु	अस्तु
६	१८	एक अक्षर	एक अक्षर का उदय लक्ष्य एक पर और दूसरे अक्षर
७९	६	तियत्र	तिर्यत्र
७७	११	छो	छो
७८	१	विशिष्ट	विशिष्ट
९६	७	अस्तु	अस्तु
१	१६	शरीर	शरीर
१११	१५.	अभिव्यक्ति	अभिव्यक्ति
१४	१	मृत्यु	मृत्यु
१७	५	मनुष्य का	मनुष्य का

१८		नरकमभूमि	नरकभूमि
१०	१०	(शकर)	(कंकड)
१६	८	यनघान	घनघात
१०	८	रम	रम
१४	१	नरक	नरक
१७	१०	अभयप्रमात	अभयवसाय
१७	८	पूर्वपरायता	पूर्वापरायता
१८	३	हैमवतवर्ष	हैमवतवर्ष
२८	८.	घातकी	घातकी
२८	११	ग्लेन्ड	ग्लेन्ड
३१.	३	गुरु	गुरु
३३	अतिम	परिणाम	परिमाण
३३	१०	पीतलेश्य	पीतलेश्य
३८	०	रत्नोपपन्न	रत्नोपपन्न
४६	६.	जोष	जोष
५९	२	दक्षिणार्थ	दक्षिणार्थ
६०.	१२	पत्न्योपमधिक	पत्न्योपमधिक
६०	१६	स्थिति	उत्कृष्टस्थिति
६६	५.	हो सकृता	वैधर्म्य हो सकृता
६७	४	जीवितत्त्व	जीवितत्त्व
७६	१७.	नहीं है ?	नहीं है ।
७९	११	आधेय	आधेय
८१	१०	वाली	वाले
८२	८.	परस्परों—	परस्परों—
८८	७	वाली	वाला
९३	२०	तदात्म्य	तदात्मक
१६	१०	शिक्षक	शिक्षक
९६	१४	दृष्ट	दृष्टा

२१८	२३	सम्यन—	सामाना—
२१		अभ्यस्तम्प	अभक्तम्प
२१६	१४	पथसमथ	पथार्थमथ
२१७	२२	प्राचाग्नेय	प्राचाग्नेन
२१		प्रयोग	प्रयोग
२२४	७	ओषदान	ओष दान
२३४	८	नियत्र	नियत्र
२३६	१	वैद्याहुरव	वैद्याहुरव
२३९	३	मुष्पमाव	मुष्पमाव
२३९	१	इत्थरपारि	इत्थरपरि
२७५	२१	—समिभय ।	सामिभ
२७६	१६	तप	७ तप
२८२	कृतिम	परिचल	परिचाम
२८७	३	अनवाप्त,	अनवाप्त और पसान
२९६	२	समान	सम्यन
२ ७	१६	—वसाम क	—वसाम से
	"	अभ्यवसाय की	अभ्यवसाम से
३ ६	४	होने होने वा	होने या
३ ४	१८	प्रदत्त	उत्तकी
३ ४	२१	विन्दन	विन्दन
३ ८	३	ही	हो
३ ८	अंतिम	७ महाविद्या—	३ अद्यजित्वा—
३ ९	१२ १३		बैते तप और ध्याग के कारण प्रा क्रिया हुआ इतना अथ निकाल रे
३ ९	१८	तप	तप
३१४	१५	हा वच	हो बैते
३२६	११	अथवा समय	अथवा उससे अधिक समय
३३३	१९	करके एक अर्थ पर	करके एक अर्थ पर से दूसरे अर्थ पर
३४५	१६	वा के	वा





